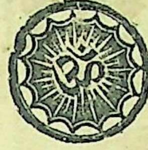
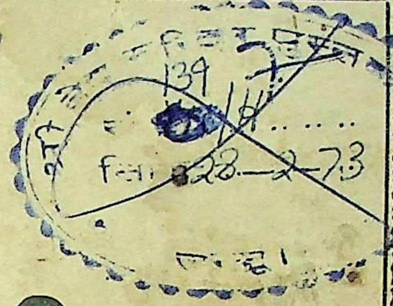
mi

124/H

28.2.73





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

का

वेदाङ्क

(१)

वर्ष १२]



[अङ्क १, २

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

कार्त्तिक, मार्गशीर्ष २०१७ वि०
नव[illegible], दिसम्बर १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद [illegible] सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मू०—भारत में ५)
वी० पी० से ५·६५ नये पैसे
विदेश में ६)
इस अङ्क का १)

वेदाङ्क के लेखों की सूची

❀ ओ३म् ❀

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, कार्त्तिक-मार्गशीर्ष सं० २०१७ वि०, नवम्बर-दिसम्बर १९६० ई० { अङ्क १,२

परमदेव की उपासना से अभीष्ट की सिद्धि

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यविं द्यवि॥

ऋ० १।४।१॥



पदार्थः—जैसे दूध की इच्छा करने वाला मनुष्य दूध दोहने के लिये सुलभ दुहाने वाली गौओं को दोह के अपनी कामनाओं को पूर्ण कर लेता है, वैसे हम लोग (द्यवि द्यवि) सब दिन अपने निकट स्थित मनुष्यों को (ऊतये) विद्या की प्राप्ति के लिये (सुरूपकृत्नुम्) परमेश्वर जो कि अपने प्रकाश से सब पदार्थों को उत्तम रूपयुक्त करने वाला है उसकी (जुहूमसि) स्तुति करते हैं।

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे मनुष्य गाय के दूध को प्राप्त हो के अपने प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, वैसे ही विद्वान् धार्मिक पुरुष भी परमेश्वर की उपासना से श्रेष्ठ विद्या आदि गुणों को प्राप्त हो कर अपने अपने कार्यों को पूर्ण करते हैं॥

[ऋषिदयानन्द-वेदभाष्य से]

ईश्वर का साक्षात्कार

[ले०—श्री स्वा० आत्मानन्द सरस्वती जी महाराज, वैदिक साधना आश्रम—यमुनानगर (अम्बाला)]

नवीन न्याय के आरम्भ काल में परम ईश्वरभक्त उदयनाचार्य हुए हैं। आपने ईश्वरसिद्धि विषय पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "न्याय-कुसुमाञ्जलि" लिखा है। आपने लिखा है कि जिस भगवान् की शैव लोग शिव नाम से, वेदान्ती ब्रह्म नाम से, बौद्ध लोग बुद्ध नाम से, प्रमाण पटु नैय्यायिक कर्ता नाम से, जैन लोग अर्हन् नाम से और मीमांसक लोग कर्म नाम से उपासना करते चले आए हैं, ऐसे सर्व-सम्प्रदाय प्रसिद्ध भगवान् की सत्ता के विषय में किसी को सन्देह क्या हो सकता है? इस लिए यद्यपि ईश्वर सिद्ध ही है, उसकी सिद्धि की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु फिर भी उसकी प्रमाणों से पुष्टि की आवश्यकता है, क्योंकि इस प्रसिद्ध विषय में भी कभी किसी को सन्देह हो सकता है।

प्राचीन काल में भी ऐसे लोग चार्वाक, बृहस्पति आदि प्रसिद्ध थे, जो ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते थे, और इस वर्तमान काल में भी वैज्ञानिकों की कई शाखाएं और साम्यवादी आदि कई नवीन लोग ऐसे हैं जिनका ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं। उदयनाचार्य न्यायशास्त्र के विद्वान् थे। आपने ईश्वरसिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लिया है। इसके लिए आपने एक कारिका में ८ हेतुओं का आरम्भ में ही उल्लेख किया है, इन ८ हेतुओं की पुष्टि द्वारा ईश्वर की सिद्धि कर अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है। हम इस लेख में उनके केवल एक हेतु पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे, और वह है—"कार्य"। उनकी वह कारिका नीचे उद्धृत है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच साध्यो विश्वविद्व्ययः॥

कार्य, आयोजन, धृति आदि, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य और संख्याविशेष—इन ८ हेतुओं से ईश्वर की सिद्धि होती है।

कार्य—इस विषय को आजकल सब मतवादी और वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं कि यह सृष्टि कभी बनी है। इसकी रचना के काल के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, परन्तु रचना के विषय में नहीं। जो लोग अब भी ऐसा नहीं मानते कि यह सृष्टि कभी बनी है, वे विज्ञान के परिमार्जित सिद्धान्त से दूर जाकर ही ऐसा कह सकते हैं, उसके प्रकाश में उन्हें ऐसा कहने का अवकाश नहीं है।

विश्व के महान् भण्डार में जब दृष्टि डालकर देखते हैं तो अनेकों लोक-लोकान्तर चमकते दिखाई देते हैं। सब लोकों की अपनी भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ हैं, ऐसा हमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की परिस्थितिओं को देखकर प्रतीत होता है। उनके स्वरूप और उनकी रचनाओं के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके कार्यक्रम और उनकी गति विधियों में भी महान् अन्तर प्रतीत होता है। इन लोकों की इस विशेष रचना को देखकर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन लोक-लोकान्तरों को किसी ने बनाया है या ये अपने आप ही बनकर आकाश के गर्भ में आ खड़े हुए हैं।

मनुष्य को कार्य जगत् में यह देखने में आता है कि कोई भी कार्य बिना उपादान कारण के नहीं बनता। कुछ उसके सहकारी कारण भी होते हैं और प्रत्येक कार्य के साथ कोई बनाने वाला चेतन भी अवश्य देखने में आता है, जिसे कर्ता कहते हैं।

मनुष्य एक घड़ी को बनाता है। उस घड़ी का उपादान कारण लोहा है। उसके पुर्जों को बनाने और जोड़ने के यन्त्र आदि सब साधन घड़ी के निमित्त कारण हैं और घड़ी को बनाने वाला चेतन पुरुष कर्ता है। यह एक उदाहरण है। संसार में जितने भी पदार्थ किसी भी चेतन प्राणी से बनाये जाते हैं, उन सबके निर्माण का यह ही प्रकार देखने में आता है। जिन लोक-लोकान्तरों का हमने ऊपर नाम लिया है, वे सभी बने हुए पदार्थ ही हैं परन्तु मानव के हाथों नहीं बने। इनका उपादान प्रकृति है, यह तो सब किसी न किसी रूप में मानते ही हैं। काल, देश, अवस्था आदि निमित्त कारणों के

विषय में कोई विवाद नहीं। मतभेद देखने में आता है तो इसी विषय में कि इनका कर्ता कोई चेतन विभु आत्मा है या नहीं।

ऊपर दिखलाए गए जगत्-प्रसिद्ध कार्य-समुदाय के साथ कर्ता को देखकर तो यही सिद्ध होता है कि जहाँ कार्य देखते हैं और कर्ता नहीं देखते वहाँ भी कोई अदृश्य कर्ता अवश्य होना चाहिए। क्योंकि जिन कार्यों का कर्ता देखा जाता है, जिस प्रकार उनकी रचना बुद्धिपूर्वक और व्यवस्था में हुई है, उसी प्रकार उन पृथिवी आदि लोकों की रचना भी बुद्धिपूर्वक और व्यवस्था में ही हुई है, इसलिए उनका भी कोई चेतन बुद्धिमान् कर्ता होना चाहिए और वह चेतन कर्ता ही ईश्वर है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि जगत् के जितने कार्यों के साथ कर्ता देखने में आता है वहाँ सब जगह उस कर्ता चेतन का शरीर के साथ सम्बन्ध भी देखने में आता है। परन्तु पृथिवी आदि कार्यों के साथ शरीरधारी कर्ता देखने में नहीं आता, अतः उन्हें किसी कर्ता ने नहीं बनाया।

हमारा निवेदन है कि यह स्थापना ठीक नहीं है। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति का शरीर के साथ उतना ही सम्बन्ध है जितना घड़ी बनाने में यन्त्रों का। जिस प्रकार घड़ी बनाने में चिमटा, पेचकस आदि उपकरणों का उपयोग है, उनसे चेतन पुरुष काम लेता है, उसी प्रकार शरीर से भी। क्योंकि शरीर में चेतन के न रहने पर जिस प्रकार घड़ी के निर्माण में कुछ यन्त्रों की उपयोगिता नहीं, इसी प्रकार शरीर की भी उस समय उसके निर्माण में कोई उपयोगिता नहीं। शरीर आत्मा का एक साधन मात्र है। आत्मा को शरीर और अन्य यन्त्र आदि साधनों की घड़ी की रचना में इसलिए आवश्यकता पड़ी कि वह अणु है और उसकी साक्षात् घड़ी के पुर्जों तक पहुँच नहीं। परन्तु ईश्वर तो लोक लोकान्तरों के प्रत्येक अणु में व्यापक है और स्वतः एव उन्हें रचना के अनुकूल गति दे सकता है। इसलिए उसे इनकी रचना में शरीर आदि साधनों की आवश्यकता नहीं।

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि ये लोक लोकान्तर बने ही नहीं। ये अनादि काल से ऐसे ही चले आ रहे हैं। केवल इनमें कुछ परिवर्तन समय समय पर क्षण क्षण में स्वयं ही होते रहते हैं। इन मतों के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि इस वैज्ञानिक युग में अब इनके लिए कोई अवकाश नहीं रहा। क्योंकि अनेक धातु उपधातु आदि पदार्थ बने हुए ऐसे मिलते हैं जिनके निर्माण के काल का निर्धारण हो चुका है। और इसी आधार पर सृष्टि के निर्माण-काल का भी निर्धारण किया जा रहा है।

अब पृथिवी आदि लोक लोकान्तर भी उस अवस्था में नहीं रहे जिस अवस्था में रचनाकाल में थे। शनैः शनैः उनकी शक्ति का भी क्षय हो रहा है। कोई समय ऐसा आ सकता है जब ये सब सूक्ष्म गर्भ में विलीन हो जायेंगे।

हम पहिले लिख आये हैं कि इन लोक लोकान्तरों के गुण, कर्म और स्वभाव सब भिन्न हैं। प्रकृति अथवा उपादान कारण से जब इन लोक लोकान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ, इन सब में इस भेद की सृष्टि कैसे हुई, यह ही विचारणीय विषय है।

सूर्य, चन्द्रमा और पृथिवी इन तीन लोकों को हम इन अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं। सूर्य और चन्द्रमा के स्वभाव में उतना ही अन्तर प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है जितना रात और दिन में। पृथिवी और इन दोनों लोकों के भी कार्यक्रम और स्वरूप में महान् अन्तर है। पृथिवी अपने सारे ही कार्यक्रम में इन दोनों लोकों की सहायता के बिना सर्वथा असमर्थ है। इसी प्रकार सूर्य की सहायता के बिना चन्द्रमा की सत्ता ही असम्भव हो जाती है। इस प्रकार इन तीनों के स्वभाव और कार्यक्रम में महान् अन्तर है। जब ये तीनों लोक एक ही उपादान कारण से बने हैं तो इनमें यह इतना बड़ा अन्तर क्यों?

यह कहा जा सकता है कि उपादान कारण का विश्लेषण आरम्भ में इसी प्रकार से हुआ कि विभिन्न गुणों की न्यूनता और अधिकता के कारण ये तीनों लोक विभिन्न स्वभाव वाले बन गए। यह हम मान लेते हैं, ऐसा ही हुआ होगा। परन्तु हमारा प्रश्न इसके सम्बन्ध में नहीं। हमारा प्रश्न तो यह है कि ऐसा हुआ क्यों? कारण स्वयं जड़ है, उसे यह

अष्टाङ्ग योग में निचली भूमियों को सात्त्विक बनाते हुए ऊंची भूमियों में आरोह (Ascent) होता है। उन ऊंची भूमियों की सात्त्विकता की अधिकता के अनुसार ही दिव्यता की वृद्धि होती है। उन ऊँची भूमियों की सात्त्विकता और दिव्यता को लेकर अवरोह (Descent) में नीची भूमियों को सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है और फिर उन नीची भूमियों की उस सात्त्विकता और दिव्यता को लेकर ऊँची भूमियों को आरोह द्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊँची सारी ही भूमियाँ, सारे अङ्ग और उनकी क्रियाएँ अर्थात् बाह्याभ्यन्तर सारा ही जीवन सात्त्विक और दिव्य बन जाता है।

इन आठ अंगों को पृथक् पृथक् साधने का विधान न समझना चाहिये वरन् आरम्भ से ही एक साथ सब अंगों को साधना चाहिए; क्योंकि जिस प्रकार निचले अङ्ग ऊपर वाले अङ्गों की सहायता करते हैं इसी प्रकार ऊपर वाले अङ्ग निचले अङ्गों की दृढ़ भूमि करने में सहायक होते हैं। ध्यान और समाधि—धारणा की ही ऊँची अवस्थाएँ हैं। अतः आरम्भ में केवल धारणा का ही फल हो सकता है।

यम-नियम के बिना कोई अभ्यासी योग का अधिकारी नहीं हो सकता। ये न केवल अभ्यासियों के लिए ही वरन् सब आश्रम वालों के लिए अत्यावश्यक हैं। इनमें यमों का सारे समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिये इनके पालने में सब मनुष्य परतन्त्र हैं अर्थात् यह सब मनुष्यों का परम कर्त्तव्य है।

संसार में फैली हुई भयंकर अशान्ति के नाश का केवल मात्र उपाय यमों का यथार्थ रूप से पालन करना है। यम के अर्थ ही शासन और व्यवस्था रखने वाले के हैं। इनके पालन से संसार की अवस्था ठीक रह सकती है। यह शंका कि क्षत्रिय शासकादि अहिंसा का और गृहस्थी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, यमों को यथार्थ रूप से न समझने के कारण उत्पन्न होती है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

यो. २।३०॥

यम पाँच है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अहिंसा—शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है। इससे बचना अहिंसा है। गौ अश्व आदि पशुओं का उचित रीति से पालन-पोषण करके प्राणहरण न करते हुए उनसे नियमित रूप से दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है। पर यही जब उनकी रक्षा का ध्यान न रखते हुए सेवा आदि क्रूरता के साथ ली जाय तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोगनिवारणार्थ औषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं हैं, यदि ये बिना द्वेष आदि के केवल प्रेम से उनके कल्याणार्थ किए जायँ। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि की मनोवृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं। प्राणों का शरीर से वियोग करना सबसे बड़ी हिंसा है। श्री व्यास जी महाराज ने अहिंसा की व्याख्या इस प्रकार की है कि सर्वकाल में सर्वप्रकार से सब प्राणियों का चित्त में भी द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमों का मूल है, उसी के साधन तथा सिद्धि के लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसा का निर्मल रूप बनाने के लिए ग्रहण किये जाते हैं।

अहिंसा तथा अन्य सब यमों के विपरीत आचरण करने में मुख्य कारण अपने को छोटे से भौतिक शरीर में ही संकुचित रूप में देखना है। इसलिए योगियों के लिए तो अहिंसा का उच्चतम स्वरूप प्राणिमात्र में अपनी ही आत्मा को व्यापक रूप में देखना है। यथा :—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

यजु० ४०।६, ७॥

जो (साधक) सम्पूर्ण भूतों को (अपनी) आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी अपनी आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिये सब भूत (अपनी) आत्मा ही हो गए, उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।

इस विशाल व्यापक दृष्टि के सम्बन्ध में यह शंका न करनी चाहिए कि इस समत्व बुद्धि से तामसी-राजसी प्रकृति वाले प्राणियों के प्रति व्यवहार में कठिनाई आयेगी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के स्वयं अपने अन्तःकरण में तामसी, राजसी और सात्त्विक तीनों प्रकार की वृत्तियों का उदय और क्षय होता रहता है। जिस महान् योगी ने इन संकीर्ण भावों को हटा दिया है, वह सारे अन्तःकरणों तथा उनकी वृत्तियों को अपने ही अन्तःकरण और वृत्ति जैसे रूप में देखता है। जिस प्रकार अपनी तामसी राजसी वृत्तियों के निरोधपूर्वक सात्त्विक वृत्तियों के उदय करने का यत्न करता है, इसी प्रकार सारे अन्तःकरणों की तामसी, राजसी वृत्तियों के हटाने (क्षय करने) और सात्त्विक वृत्तियों के उठाने (उदय करने) की चेष्टा करता है।

हिंसा तीन प्रकार की है। (१) शारीरिक—किसी प्राणी का प्राण हरण करना अथवा अन्य प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना (२) मानसिक—मन को क्लेश देना। (३) आध्यात्मिक—अन्तःकरण को मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुणी वृत्ति से मिश्रित होती है। किसी प्राणी की किसी प्रकार की हिंसा करने के साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है अर्थात् अपने अन्तःकरण को हिंसा के क्लिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं में सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है।

यथा :—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
यजु० ४०।३॥

जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तः करण को मलिन करने वाले हैं) वे मरकर उन लोकों में (योनियों में) जाते हैं जो असुरों के लोक कहलाते हैं और घने अन्धेरे से ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियों में जाते हैं।

शरीर तथा मन की अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है क्योंकि शरीर और मन तो आत्मा के करण (साधन) हैं जो मनुष्य को उसके कल्याणार्थ दिए गए हैं। इसलिए हिंसक अधिक दया का पात्र है। उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेने की भावना रखना हिंसा है। इसलिए जिस पर हिंसा की जाती है उस तथा हिंसक दोनों के कल्याणार्थ हिंसा पाप को हटाना चाहिए। योगी में अहिंसा व्रत की सिद्धि से आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सन्निधि से ही हिंसक हिंसा की भावना को छोड़ देता है। मानसिक शक्ति वाले मानसिक बल से हिंसा को हटा दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्ति वाले जहाँ तक उनका अधिकार है उस सीमा तक इन शक्तियों को हिंसा के रोकने में प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशों का परम कर्त्तव्य संसार में अहिंसा व्रत को स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्र से, जो उसके पास शरीर-रक्षा के लिए है, अपने ही शरीर पर आघात पहुँचाने लगे तो उसके शुभ-चिन्तकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसके हितार्थ उसके हाथ से वह शस्त्र हरण कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक, शरीर रूपी शस्त्र से, जो उसको उसकी आत्मा के कल्याण के लिये दिया गया है, दूसरों को तथा अपनी ही आत्मा को हिंसा-रूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकार से उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमों की सुव्यवस्था रखनेवाले शासकों का परम कर्त्तव्य है कि उसके शरीर का उससे वियोग करें। यह कार्य अहिंसाव्रत में बाधक नहीं है वरन् अहिंसाव्रत का रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेने की भावना से मिश्रित है तो

हिंसा की सीमा में आ जाता है। अहिंसा के स्वरूप को इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिए कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाश में अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमों में, और तम रूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकार में हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितर्कों में प्रवृत्ति होती है। धर्मस्थापन के लिये युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, उससे बचना हिंसारूपी अधर्म में सहायक होना है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
गीता २।३१॥

स्वधर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है, क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
गीता २।३२॥

हे पार्थ! यों अपने आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है। वेद में भी ऐसा बतलाया गया है यथा:—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

जो संग्राम में लड़ने वाले हैं, जो शूरवीरता से शरीर को त्यागने वाले हैं और वे जिन्होंने सहस्रों दक्षिणाएँ दी हैं, तू उनको (अर्थात् उनकी गति को) भी प्राप्त हो।

अपनी दुर्बलता के कारण भयभीत होकर अत्याचारियों के अत्याचार सहन करना, अपनी धन सम्पत्ति को चोर डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज धर्म को दुर्जनों द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है बल्कि हिंसा का पोषक कायरतारूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्र धर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा व्रत का यथाथ रूप से पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकों की हिंसा बढ़ाने में भागी होता है।

उदाहरणार्थ डाकू, संगठन और मृत्यु से निर्भयता—इन दो शक्तियों को लेकर निकलते हैं। जो पुरुष मृत्यु के भय से अपना धन और सम्पत्ति बिना मुकाबिला किये हुए आसानी से दे देते हैं, वे उनके दूसरे स्थानों में डाका डालने और लूटने के उत्साह और हिम्मत को बढ़ाकर उनकी इस प्रकार की हिंसा में पाप के भागी बनते हैं। जो वीर पुरुष उनसे अधिक मृत्यु से अभयरूप, आत्मबल और संगठनरूप दिव्यशक्ति रखते हैं और संगठित होकर निर्भयता के साथ उन डाकुओं का मुकाबिला करते हैं, वे अपने प्राणों को खोकर भी उन अत्याचारियों के दूसरे स्थान में डाका डालने के उत्साह और हिम्मत को कम करते हैं, वे उनकी हिंसा को घटाकर अहिंसारूपी पुण्य के भागी बनते हैं। यदि वे इस संग्राम में सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्ति के ऐश्वर्य को भोगते हैं और यदि बलिदान हो जाते हैं तो स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष के क्षत्रियों में यह प्रथा थी कि जब वे अत्याचारी विधर्मी यवनों के मुकाबिले में अपने धर्म और देश को बचाने की कोई आशा न देखते थे तो उनके छोटे-छोटे बच्चे तथा स्त्रियाँ आग की चिता में भस्म हो जाते थे और वे वीर क्षत्रिय हाथों में तलवारें लेकर एक-एक सैकड़ों अत्याचारियों को तलवार के घाट उतार कर बलि हो जाते थे। इस प्रकार धर्म और देश-रक्षा के परम कर्त्तव्य को अपने अन्त समय तक पूरा कर जाते थे। पर वीरता के साथ-साथ उनमें एक संकीर्णता और स्वार्थ का दुर्गुण भी था, जो उन्होंने असंख्य गरीब और नीची जाति कहलाने वाले अपने भाइयों को उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रीय और आर्थिक अधिकारों से वञ्चित करके उनके अन्दर से मनुष्यत्व के अभिमान के संस्कार तक को निकाल दिया था। यह स्तेयरूप पाप ही उनकी असफलता का कारण हुआ। यदि वे इस स्वार्थमयी संकीर्ण दृष्टि का परित्याग करके इन सब असंख्य भाइयों में अपने जैसी शूरवीरता तथा धर्म-प्रेम और देशभक्ति उत्पन्न करने का यत्न करते

तो बहुत सम्भव है भारतवर्ष का इतिहास आज के इतिहास से कुछ और ही विचित्र रूप में लिखने योग्य होता। संसार में सारे राष्ट्रों की स्वतंत्रता का भी मूल उपाय यही हो सकता है कि पराधीन राष्ट्र के सारे व्यक्ति संगठित रूप में निर्भय होकर दृढ़ संकल्प करलें कि यदि जीना है तो स्वतन्त्र राष्ट्र के वायुमण्डल में ही श्वास लेंगे अन्यथा स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि हो जायँगे।

अहिंसा और सत्य के अवतार महात्मा गांधी ने जब एक गाय के बछड़े की अत्यन्त रुग्णावस्था में सारे शरीर में कीड़े पड़जाने और उसका कष्ट असहनीय हो जाने पर उसके बचने की कोई सम्भावना न देखी, तब उनकी सत्त्वप्रधान बुद्धि ने इसीको विवेकपूर्ण अहिंसा निश्चय किया कि उसके आत्मा को उस असहनीय कष्टसे बचाने के लिए किसी ओषधि द्वारा शीघ्र उसके रुग्ण शरीर से पृथक् कराने में सहायता की जाय। पर यही कार्य यदि कोई चिकित्सक रोगी की चिकित्सा से तंग आकर अथवा कोई सम्बन्धी उसकी सेवा शुश्रूषा से बचने के लिए तमरूपी प्रमाद से करे तो वह घोर हिंसा में प्रवृत्त हो जावेगा। एक राष्ट्र द्वारा अहिंसा महाव्रत के पालन का सब से बड़ा उदाहरण सम्राट् अशोक के समय में मिलता है।

सर्वसाधारण के लिए अहिंसारूपी व्रत के पालन करने में सब से सरल कसौटी यह है कि "Do to others as you want others do to you" अर्थात् दूसरों के साथ व्यवहार करने में पहले यह भली प्रकार जांच लो कि यदि तुम इनके स्थान पर होते और वे तुम्हारे स्थान पर तो तुम उनसे किस प्रकार का व्यवहार कराना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यह सिद्धान्त सत्य और अस्तेयादि यमों में भी घट सकता है।

हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारा जीवन प्राणिमात्र के लिए सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई ऐसा कार्य न होने पावे जिससे किसी को किसी प्रकार का दुःख पहुँचे।

हिंसा के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसका जीवन कितना मनुष्यसमाज के लिए उपयोगी अथवा हानिकारक है, क्योंकि मनुष्यजीवन में ही आत्मोन्नति की जा सकती है। अर्थात् खटमल, जूं, मच्छर, पिस्सू आदि हिंसक जन्तुओं की अपेक्षा साधारण कीट आदि की हिंसा अधिक बड़ी है। उनकी अपेक्षा साधारण जानवरों की, साधारण जानवरों की अपेक्षा उपयोगी पशुओं की, उपयोगी पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों की। साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उन उच्च कोटि के मनुष्यों की जिनका जीवन पवित्र और उत्कृष्ट हो, जिन से देश, समाज और प्राणिमात्र को अत्यन्त लाभ पहुँच रहा हो।

अहिंसासिद्धि

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

यो २।३५ ॥

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियों का वैर छूट जाता है। जब योगी की अहिंसा-पालन में दृढ़ स्थिति हो जाती है तब उसके अहिंसक-प्रभाव से उसके निकटवर्त्ती सब हिंसक प्राणियों की भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है।

अहिंसानिष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करने से कि उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरण से अहिंसा की सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेग से बहने लगती है कि उसके निकटवर्त्ती तामस हिंसक अन्तःकरण वाले भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक वृत्ति को त्याग देते हैं।

किसी किसी हिंसक में भी हिंसा की भावना इतनी उग्र हो जाती है कि अपने निकटवर्त्ती अहिंसक में भी हिंसावृत्ति उत्पन्न कर देती है। जब कभी दो ऐसे मनुष्यों का सम्पर्क हो जाता है जिनमें परस्पर दो विरोधी भाव, अहिंसा अर्थात् अच्छाई और हिंसा अर्थात् बुराई, अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे हुए होते हैं तब उन दोनों में बड़ा भारी संघर्ष चलता है। अन्त में जो अधिक शक्तिवाला होता है, वह दूसरे को परास्त कर देता है अर्थात् उस पर अपना प्रभाव डाल देता है। उदाहरणार्थ अहिंसा और हिंसा के स्वभाव वाले दो ऐसे व्यक्तियों का, जो अपने गुण और अवगुण में परिपक्वता प्राप्त किये हुवे हैं, दैवयोग से सम्पर्क हो जावे तो एक लम्बे समय तक

उन दोनों में संघर्ष चलेगा। अहिंसक हिंसक के प्रति भलाई करता रहेगा और हिंसक अहिंसक के लिये बुराई। यदि हिंसक अपने इस बुरे स्वभाव में अधिक प्रबल है तो अहिंसक को भी हिंसक बना देगा। अर्थात् हिंसक को बराबर बुराई करते हुये देखकर उसमें भी द्वेष के भाव उत्पन्न हो जायेंगे। वह विचारेगा कि इस दुष्ट के साथ हम बराबर भलाई करते चले आये हैं किन्तु यह बुराई करता ही रहता है। इसको इसकी बुराई की सज़ा देनी चाहिए। उसके प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है और वह उसके साथ बुराई करने लगता है। यह अहिंसक की हार और हिंसक की जीत समझना चाहिये। और यदि अहिंसक का भलाई का स्वभाव अधिक बलवान् है तो वह अपना प्रभाव हिंसक पर डाल सकेगा अर्थात् हिंसक विचार करेगा कि मैं इस मनुष्य के साथ बुराई ही करता रहा हूँ और यह उसका उत्तर भलाई से ही देता रहा है। उसके द्वेष के भाव दूर हो कर उसके मन में सद्भावना उत्पन्न हो जायगी और वह अहिंसक के प्रति भलाई करने लगेगा। इस प्रकार अहिंसा को हिंसा पर विजय प्राप्त हो जाती है।

देश के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान और भारतवर्ष दोनों स्थानों में साम्प्रदायिक हिंसा की भावना इतने उग्र रूप से फैल रही थी कि अहिंसा-निष्ठ महात्मा गांधी का सारा प्रयत्न उसके रोकने में विफल हो रहा था। अन्त में अपने प्राणों की बलि देकर दोनों स्थानों में इतने व्यापक रूप से फैली हुई हिंसा को पूर्णतया रोकने में सफल हुए।

शेष ४ यमों और योगांगों की व्याख्या किसी अगले लेख में की जावेगी॥

गायत्री

[ले०—*श्री डा० सत्यकाम जी भारद्वाज, नई देहली*]

गायत्री की महिमा वेदों, तथा अनेक आर्ष ग्रंथों और गीतादि में भी मुक्त कण्ठ से की हुई पाई जाती है। स्यात् ही कोई ऐसा अभागा वैदिकधर्मी होगा जो गायत्री को बड़ी श्रद्धा तथा पवित्र भाव से न देखता हो। आजकल ऐसा देखने में आता है मानो वेदों का प्रतिनिधित्व गायत्री ही कर रही है, क्योंकि जब कभी किसी से पूछा जाय कि तुम्हें वेद का कोई मंत्र भी आता है तो और नहीं वह गायत्री मंत्र तो सुना ही देता है वा उससे इतना जानने की आशा तो अवश्य की ही जाती है। आर्ष काल में तथा अब भी जब किसी व्यक्ति को उपनयन वा जनेऊ पहिनाया जाता है तो उसे गायत्री की दीक्षा देने की प्रथा है। इसकी पुष्टि बृहदारण्यक (५।१४।४) में की है—"इसी सावित्री गायत्री का उपदेश दे"। इसी ब्राह्मण की पांचवीं कण्डिका में शंका उठाकर ऋषि कहते हैं:—

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवं विद्वदिव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं च न पदं प्रति॥

अर्थात् यदि कोई अनुष्टुप् सावित्री का उपदेश देने को कहे और कहे कि अनुष्टुप् 'वाक्' है, तब भी ऐसा न करे किन्तु सावित्री गायत्री का ही उपदेश करे क्योंकि अनुष्टुप् का उपदेश देने से गायत्री के एक पद का फल भी उसे प्राप्त नहीं होता।

यह स्थान उपनिषत्कारों ने गायत्री को दिया। महर्षि दयानन्दजी ने भी इसी पद्धति को अपनाया और सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में यही लिखा—"प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़के-लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मंत्र का उपदेश कर दें"। ऋषि दयानन्द जी

ने अपने जीवन काल में भी कई योग्य तथा जिज्ञासुओं को गुरुमंत्र दिया तो वह मंत्र केवल गायत्री ही होता था।

अथर्व वेद का एक प्रसिद्ध मंत्र है जिसका देवता गायत्री है। वह मन्त्र गायत्री को इन सुन्दर शब्दों में वर्णन करता है :—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्व वेद कां. १९ सू. ७१ मं. १ ।।

इस मंत्र में गायत्री को साधारण अर्थों में वेदमाता कहा है। यह है गायत्री की वेद-महिमा !

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ३, खण्ड १२ श्लोक प्रथम में गायत्री की महिमा इन शब्दों में की गई है:—

गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किं च, वाग्वै गायत्री, वाग्वा इद ँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।।

अर्थात् यह सब भूत, वतमान वा भविष्य सब गायत्री है अथवा यह जितना भी भूत वा प्राणी वर्ग है यह सब गायत्री ही है। गायत्री "वाक्" है और इस सब प्राणीवर्ग का यह "गायन" करती और उसकी रक्षा करती है। छान्दोग्य उपनिषद् गायत्री को प्राणीमात्र के चलाने वाली तथा उसकी रक्षा करने वाली मानती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय का १४ वाँ सारा का सारा ब्राह्मण गायत्री की महिमा का वर्णन करता है यथा :—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरिति अष्टावक्षराण्य-
ष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्...।।

अर्थात् २४ अक्षरी गायत्री का एक 'पद' है "भूमिरन्तरिक्षं द्यौः।" ये आठ अक्षर होते हैं और ये तीनों लोक गायत्री का एक 'पद' हैं।

पुनश्च

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्य-
ष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्...।।

अर्थात् गायत्री के दूसरे आठ अक्षरों का एक 'पद' ऋक्, यजुः तथा साम अर्थात् विश्व की त्रयीविद्या पुञ्ज बनता है।

और—**प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्ष-**
राण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्...।।

अर्थात् प्राण, अपान, व्यान यह आठ अक्षरों का पुंज गायत्री का एक और पद है। इस पद में संसार के सारे प्राणिसमूह समा गये। पाठक देखें कि ऋषि के इस कथन से गात्री के बाहर कुछ छूटा ही नहीं। यह सम्मति बृहदारण्यक उपनिषद् की गायत्री के विषय में है। गीता के १०वें अध्याय में जहाँ विभूतिओं का वर्णन किया गया है, वहाँ ३५वें श्लोक में छन्दों में गायत्री ही विभूति बताई है। पाठ है—"गायत्री छन्दसामहम्"। अर्थात् छन्दों में मैं गायत्री हूँ अथवा छन्दों में सब से ऊंची वा अच्छी गायत्री है।

अब विचारणीय यह है कि यह गायत्री क्या है ? गायत्री को सावित्री इसलिये कहते हैं क्योंकि गायत्री मंत्र का देवता सावित्री है। गायत्री का जो प्रायः अर्थ लिया जाता है वह है—

(भूर्भुवः स्वः) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

यजु० २२।९, ३०।२, ३६।३।।

इन सब मंत्रों का देवता सावित्री ही है। गायत्री मंत्रों की विशेषता यह है कि इसके २४ अक्षर होते हैं, त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर और जगती के ४८। वेद में ये तीनों छन्द प्रायः इकट्ठे ही वर्णन किये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि गायत्री मंत्र में ये जो २४ अक्षर हैं क्या इनमें ही इतनी शक्ति है जो ऋषिओं ने वर्णित की। हमारे सम्पर्क में ऐसे कई व्यक्ति (विशेष कर देवियाँ) आये हैं जिन्होंने लाख लाख बार इस मंत्र का जाप अर्थसहित किया है। पर हमें खेद है कि इतना तप करने के उपरान्त भी उनके व्यवहार में अन्य लोगों की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। उन पर इस सावित्री

गायत्री का कोई भी प्रभाव नहीं देखने में आया। तो फिर गायत्री है क्या? जिसकी इतनी महिमा गाई गई है। इसलिये हमें सब ज्ञानविज्ञान के आदि स्रोत वेद की शरण लेनी होगी और देखना होगा कि गायत्री के विषय में वेद भगवान् क्या कहते हैं :—

(१) दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो......द्विष्मः। पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥

यजु० २।२५ ॥

(२) अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ यजु० ५।२ ॥

(३) उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः ॥ यजु० ८।४७ ॥

(४) वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषङ्गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा...... अन्तरिक्षमसि.........आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा...द्यौरसि......यजमानाय ॥

यजु० ११।५८ ॥

(५) वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसा... रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा...आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसा....॥

यजु० ११।६० ॥

(६) वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा... रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा......आदित्यास्त्वा छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा......॥

यजु० ११।६५ ॥

(७) विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥ यजु० १२।५॥

(८).........गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥यजु० १३।३४॥

(९) वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। यजु० २३।८॥

इत्यादि इत्यादि

पाठक इन मंत्रों पर कुछ ध्यान दें तो स्वतः साक्षात् हो जायेगा कि यह गायत्री आदि छन्द केवल २४, ४४ तथा ४८ अक्षर-समूह तक सीमित नहीं, यह तो विश्व को चलाने वाले विधान तथा साधन हैं। पहिले मंत्र पर विचार कीजिये, इस मंत्र का देवता विष्णु है। इस मंत्र में विष्णु के ३ क्रमों का वैज्ञानिक वर्णन है। यह मंत्र बताता है कि दिवि (द्युलोक में) विष्णु जगती छन्द से व्यवहार कर रहा वा चला रहा है, अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् छन्द से और पृथिवी लोक में गायत्री छन्द से व्यवहार कर रहा है। दूसरे मंत्र (यजु० ५।२) का देवता भी विष्णु वा यज्ञ है। इस मंत्र में अग्नि तथा विद्युत् उत्पन्न करने के लिये बताया कि वृषणौ (वृष शक्तिबन्धने) अर्थात् दो शक्ति-बन्धन (poles) बनाने होंगे। उसी से उर्वशी, गतिशीला विद्युत् तथा आयु (एति प्राप्नोति सर्वानिति आयुः। उणा० १।२ तथा २।११९) अर्थात् सब कुछ प्राप्त करने के साधन

चुम्बकादि तथा अनेक प्रकार के शब्द-साधन (पुरूरवाः) इन गायत्री आदि छन्दों के मन्थन से उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि पाठक उल्लिखित मंत्रों को ध्यान से देखें तो निम्न बातें स्पष्ट होती हैं:—

(१) ३ छन्दों अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दों का इकट्ठा वर्णन है।

(२) ३ लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ एक २ छन्द के साथ जोड़े गये हैं।

(३) ३ अग्निओं—अग्नि, इन्द्र तथा द्यौको भी एक २ छन्द के साथ इकट्ठा किया गया है।

(४) गायत्री को पृथिवी लोक से और अग्नि (heat) से, त्रिष्टुप् को अंतरिक्ष (atmosphere) तथा इन्द्राग्नि (electricity) और (gaseous ions) से तथा जगती को दिव्य लोक (space) तथा द्यौ वा irradiation से जोड़ा गया है।

(५) गायत्री को वसुओं से, त्रिष्टुप् को रुद्रों से तथा जगती को आदित्यों से सम्बन्धित किया है। मंत्र कहते हैं कि गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों द्वारा वसु, रुद्र और आदित्य संसार से धूपयन्तु (धूप संदहने) अर्थात् संदहन करते हैं वा छृन्दन्तु अर्थात् संदीपन कर रहे हैं।

अब विचार उठता है कि क्या यह कोई अन्य गायत्री वेद में अभिप्रेत है अथवा यह वही गायत्री है जिसे सर्वधारण प्रतिदिन जपते वा मनन करते हैं ?

प्रायः गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का सम्बन्ध जब वसु, रुद्र वा आदित्यों से किया जाता है तो इन छन्दों के अक्षरों की गणना के अनुसार २४, ४४ तथा ४८ वर्षों के ब्रह्मचर्य काल से जोड़ा जाता है। इसकी पुष्टि के लिये छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक का १६ वां खण्ड साक्षी है। पाठ है :—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसवः एते हीदुंसर्वं वासयन्ति ॥

छा० ३।१६।१ ॥

इसी प्रकार छा० ३।१६।२ से ६ तक त्रिष्टुप् तथा जगती के रुद्र तथा आदित्य, ४४ तथा ४८ वर्षों के ब्रह्मचर्य को बताया है। यहाँ वसु, रुद्र और आदित्यों को प्राण कहा है।

इन में यह कहा कि पुरुष का प्रातः काल उसके जीवन के पहिले २४ वर्ष हैं। २४ अक्षर की ही गायत्री है; 'गायत्र' प्रातःकाल का 'सवन' है। इससे उसके वसु भी उसके अनुकूल हो जाते हैं। वसु ही प्राण हैं। वही अपने बल से सब को शरीर में वास करा रहे हैं। अर्थात् प्राण निकलने पर सब कुछ निकल जाता है।

इसी प्रकार जीवनकाल के ४४ वर्ष त्रिष्टुप् के अक्षरों के समान हैं। यह जीवन का मध्यकाल है और उसके रुद्ररूपी प्राण उसके शारीरिक रोगों को रुलाने वाले होते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। और जो ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करता है वह अति उत्तम कोटि का है। वह जगती छन्द के ४८ अक्षरों के समान है। इसमें आदित्यरूपी प्राण उसकी रक्षा करते हैं। इत्यादि छान्दोग्योपनिषद् ने भी इन २४, ४४ तथा ४८ अक्षरों के गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती और वसु, रुद्र तथा आदित्यों को सम्बन्धित किया।

परन्तु ऊपर जो वेद के मंत्र दिये गये हैं वे तो पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से सन्बन्ध रखते हैं। तो इन दोनों का सामञ्जस्य कैसे हुआ ? वेद के मंत्रों के अर्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं। यह वेद की महिमा है। वेद का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को ऊँचा करना और प्रभुप्राप्ति कराना है। ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में यही लिखा है कि "परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है" वा "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।" यही वेदों के मंत्रों का आध्यात्मिक स्वरूप है। इसीलिये ऋषियों ने इन गायत्री आदि का आध्यात्मिक भाव लेकर ही मनुष्य को उन्नत करने और परमेश्वर को प्राप्त कराने को ही मनुष्यों के आगे रखा और उसे प्राथमिकता दी। पर उन मंत्रों का आधिदैविक अर्थ भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था, जैसा आज दुर्भाग्य

से ओझल हुआ है। उन्होंने जब सृष्टि की रचना वा उसके चलाने वाले विधान तथा साधनों को साक्षात् किया तो उन्होंने वेद के आधिदैविक अर्थ भी किये और उसी रूप में ऊपर लिखे बृहदारण्यक वा छान्दोग्योपनिषत् के गायत्री के आधिदैविक स्वरूप का वर्णन किया।

अब विचार करने की और आवश्यकता यह है कि ऋषियों ने गायत्री का आधिदैविक अर्थ क्या किया? उनकी दृष्टि में गायत्री क्या है? बृहदारण्यक में ऋषि गायत्री की लक्षणा यूं करता है:—

सा (गायत्री) हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम......॥ बृ. उ. ५।१४।४॥

अर्थात् इस (गायत्री) ने "गयों" की रक्षा की वा कर रही है और निश्चय रूप में प्राण ही "गय" हैं। इसलिये यह प्राणों की रक्षा करती है। गयों (प्राणों) का त्राण करने के कारण ही इसका नाम गायत्री हुआ। यह लक्षणा ऋषि ने की। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यही कहा है—

सर्वं भूतं गायति (प्राणयति) च त्रायते च।

अर्थात् चूंकि यह प्राणियों में प्राण डालती तथा उनकी रक्षा करती है, इसलिये गायत्री है।

इन लक्षणाओं से स्पष्ट सिद्ध होता है कि गायत्री आधिदैविक रूप में परमात्मा का वह विधान है जिसके द्वारा संसार में विश्व को चलाने वाले प्राणों (energies और forces) को नियमित कर प्राणियों की रक्षा हो रही है। इसी कण्डिका में ऋषि कहता है **"प्राणो वै बलम्"** अर्थात् प्राण बल (force) हैं। प्राण जहाँ शक्ति का स्रोत होते हैं, वहाँ वह बड़े घातक भी हो सकते हैं, यदि संयत न हों। और उनसे रक्षा भी करनी आवश्यक है।

हमारे सूर्य (प्राणपुञ्ज) से अत्यंत घातक प्राण (जैसे आल्फा α, बीटा β, गामा, एक्स और अल्ट्रा वॉयलैट) किरणों के रूप में हमारी पृथिवी की ओर अत्यन्त अचिन्त्य वेग से आते हैं और उनमें हमारी पृथिवी की भी क्षति करने की शक्तियाँ होती हैं, तो उस पर जीवनधारी हम कोमल प्राणिओं का तो क्या कहना। सूर्य के अतिरिक्त विश्व में घूमते अत्यन्त घातक तथा भयानक परमाणु-समूह पृथिवी की ओर आ रहे हैं जिन्हें जगती छन्द वा जगत् में व्यापक (cosmic rays) कहा जा सकता है। इन भयानक घातक रश्मियों वा प्राण-परमाणुओं से बचाने वा रक्षा करने का कोई प्रबन्ध वा विधान भगवान् ने अवश्य बना रखा है, जिसकी कृपा से हम सब बचे हुये हैं। वह विधान वा वह कृपा इन छन्दों की है।

उणादिकोष (४।२१९) के सूत्र **'चन्देरादेश्च छः'** के अनुसार छन्द की व्युत्पत्ति चदि धातु से हुई जिसका अर्थ है अत्यन्त आनन्दित होना वा चमकना। इसीलिये सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा—

चन्दति हृष्यति येन दीप्यते वा तत् छन्दः।

अर्थात् जिसके द्वारा आनन्द प्राप्त हो वा चमके, वह छन्द है। गायत्री छन्द के कारण पृथिवी पर आनन्द है। गायत्री का सम्बन्ध पृथिवी से है। इसे आगे और स्पष्ट करेंगे। छन्द का दूसरा अर्थ—आवरण वा ढकना के भाव में लिया जाता है। वह छदि धातु से लिया जाता है। अतः छन्द वह हुआ जो ढके रहे, चहुँ ओर लिपटा रहे और आवरण बना रहे। यह अर्थ भी गायत्री छन्द में पूर्ण सार्थक है, क्योंकि गायत्री पृथिवी को ढक कर पृथिवी तथा पार्थिव प्राणियों की रक्षा कर रही है। छन्द की व्युत्पत्ति एक तीसरे अर्थ में भी है, वह है 'छदिर ऊर्जने' अर्थात् बल तथा प्राण डालने वाली वा प्राण-पुञ्ज हो। इसी अर्थ में विष्णु दिव्यलोक में जगती (विश्व-व्यापी (Cosmic rays) छन्द (प्राण-पुञ्जकणों) से काम कर रहा है। अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् (अर्थात् ultraviolet, X-rays तथा electric ions) छन्द द्वारा इन्द्र के रूप में काम चला रहा है और पृथिवी पर गायत्री छन्द (gaseous ions) वायु-मण्डल तथा पृथिवी का अपना महान् चुम्बक, (earth's gigantic magnet) द्वारा इन घातक रश्मियों से रक्षा कर रहा है (यजु०२-२५)। पृथिवी का अपना चुम्बक उन घातक विश्वव्यापी

प्राणकणों (cosmic positive particles) को पृथिवी से दूर धकेल देता है और अन्य भयानक रश्मियां पृथिवी के वायुमण्डल को, जो पृथिवी को हजारों मील दूर तक, चारों ओर कम्बल के समान लपेटे हुये है, चीरती चीरती पृथिवी तक पहुँचती हुई स्वयं बहुत सी छिन्न भिन्न होकर निर्बल हो जाती हैं और उनकी घातकता दूर हो जाती है और उनकी सूक्ष्म मात्रा में रह गया अंश स्थावर तथा जंगम प्राणिओं के जीवन का आधार बन जाता है। यह सब पृथिवी की रक्षा करने वाली गायत्री भगवती की कृपा है। इस ही भाव को लेकर छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि कहता है :—

गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग् वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ।

छा. ३।१२।१ ॥

अर्थात् गायत्री ही सब भूत वा प्राणिवर्ग है, यह स्थावर-जंगम प्राणी गायत्री की कृपा से ही 'गायति' अर्थात् प्राणवान् हैं (अन्यथा यह मर जावें) क्योंकि यह उनकी रक्षा करती है।

यह श्लोक हमारे ऊपर लिखे गायत्री के स्वरूप को पूर्ण रूप से सार्थक करता है और गायत्री का यह आधिदैविक स्वरूप है। गायत्री के हमारे ऊपर लिखे स्वरूप की आज के सब astrophysists पुष्टि करते हैं।

वेदों में अनेक २४ अक्षरी गायत्री मंत्र होते हुये भी **"भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्"**, मंत्र को सब गायत्री मंत्रों का मुखिया क्यों स्वीकार किया। इसका कारण केवल यही है कि इस मंत्र का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप गायत्री के वास्तविक उत्पादक तथा रक्षक स्वरूप को ठीक निरूपण करता है। इस मंत्र का आधिदैवत यही है कि भूः (पृथिवी) भुवः (अन्तरिक्ष) तथा स्वः (द्यु) लोक हैं। इनको परमात्मा की सावित्री (उत्पादक) शक्ति या संविधान जो विश्व में प्रकाशमान (manifest) वा प्रकट हो रहा है और पवित्र वा कल्याणकारी है, (वरेण्यं) सब पदार्थों को अपनी ओर (centrepetal force द्वारा) खींच कर सब को (धीमहि) धारण कर रहा है। वही प्रभु को सावित्री शक्ति (धियः) हम सबको धारण करने वाले केन्द्र प्राणों को सदा (प्रचोदयात्) क्षोभयुक्त वा उत्तेजित करती रहे जिससे हमारी रक्षा होती रहे।

अथर्ववेद के **"स्तुता मया वरदा वेद माता०"** मन्त्र में इस भाव की और विस्तार तथा सुन्दर रूप में स्तुति की है। इस मन्त्र में यह उपदेश है कि (वरदा) सब पार्थिव पदार्थों को प्राप्त कराने वाली (वेदमाता) विज्ञान और विधान तथा सत्ता (विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्) की निर्मात्री तथा सावित्री शक्ति के गुणों को जानो और उसका स्तवन वा प्रसार करो। इस पवित्र उत्पादक शक्ति के मनन से विद्वानों के हृदय पवित्र होकर उनमें, संसार वा प्राणी मात्र की सुख-संवृद्धि के लिये विचार और कर्मभावना उत्पन्न होती है। जिससे संसार भर की आयु, प्राण, पशु, कीर्त्ति, प्रजा आदि की वृद्धि और रक्षा होती है। आजकल के विज्ञान-वेत्ताओं की बुद्धियों की अपवित्रता के कारण ही, परमाणु बम वा उद्जन बम प्राणी मात्र का नाश करने वाले आसुरी अस्त्र बन रहे हैं। प्रभो ! अन्त में आप से यही प्रार्थना है कि आज के बड़े बड़े राज्य-मुखिओं के हृदय भगवती गायत्री (पावमानी द्विजानाम्) पवित्र करे, और आप (भर्गः वरेण्यः) जो स्वयं पवित्र और वरने वा प्रेम करने योग्य हैं, इन लोगों और हम सब की बुद्धिओं को पवित्र करें और परस्पर के प्रेम-भाव को (प्रचोयात्) प्रेरणा करें। तब ही आपकी गायत्री शक्ति का संसार में गायन होगा और संसार की रक्षा होगी ॥

ज्ञानी ही ज्ञान के तत्त्व को जानता है

(ले०—श्री स्वा० गङ्गागिरि जी महाराज, आचार्य गुरुकुल रायकोट, लुधियाना)

वैदिक यज्ञ का समझना सुगम नहीं है। यह बड़ा कठिन काम है। जैसे परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है, ऐसे ही वेद का विधान किया हुआ यज्ञ भी व्यापक है। वेद में यज्ञ का स्वरूप इस प्रकार है:—

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना
दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना
यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

ऋ० १०।६७।२॥

इस मंत्र में यज्ञ की महिमा का भगवान् ने वर्णन किया है। (ऋतं शंसन्तः) ऋत की प्रशंसा करने वाले (ऋजु दीध्यानाः) सरलता से विचारने वाले (दिवः पुत्रासः) प्रकाश के पुत्र (असुरस्य वीराः) वरुण के वीर अर्थात् भगवान् के भक्त (अङ्गिरसः) अङ्गी आत्मा के रस को जानने वाले महात्मा जन पूर्ण ज्ञानी (विप्रं पदम्) मेधावी पदवी को (दधानाः) धारण करने वाले (यज्ञस्य प्रथमं धाम) यज्ञ के मुख्य धाम को (मनन्त) मनन करते हैं, विचारते हैं।

यज्ञ का मुख्य धाम क्या है? ऋषि दयानन्द जी महाराज संस्कारविधि में लिखते हैं:—"मनुष्यों को योग्य है कि—सब मंगल कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें।" इससे सिद्ध होता है, यज्ञ का धाम परमात्मा है। प्रभु को कौन जान सकते हैं? इस भाव का मन्त्र में निरूपण है। प्रभु के प्यारों का सबसे प्रथम गुण प्रभु की उपासना है। ऋतं शंसन्तः = ऋत की प्रशंसा करने वाले प्रभु के भक्त को सबसे पूर्व ऋतमानी और ऋतगामी होना चाहिये। ऋत का अर्थ है–सृष्टि-नियम। जब मनुष्य सृष्टि-नियम का चिन्तन करेगा और मनन करेगा तो स्वयं भी अपना जीवन सृष्टि-नियम के अनुकूल बनायेगा और आचरण करेगा। सृष्टि-नियम के अध्ययन से स्रष्टा का और उसकी सर्वव्यापकता का भान होगा। तब वह पाप कर्म करने से बच जायेगा। वेद में इस बात को कहा भी है:—

"ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति।"

ऋ० ४।२३।८॥

अर्थात् ऋत का चिन्तन पापों का नाश करता है।

पाप करने के लिये मनुष्य ऐसे स्थान को खोजता है जो बिलकुल एकान्त हो, जहाँ उसे कोई भी देखने वाला न हो। जब भगवान् की सर्वज्ञता सर्वदर्शिता और सर्वव्यापकता का भान करेगा, तब सर्वत्र भगवान् का अनुभव करेगा तो वह पाप करने से रुकेगा। अतः उसे पाप करने के लिये एकान्त स्थान न मिलेगा और इस प्रकार वह पाप करने से बच जायगा। ऋतज्ञानी और ऋतमानी होने के साथ साधक को 'ऋजुदीध्यान होना चाहिये। इस लिये ऋत का ध्यानी होना आवश्यक है। अर्थात् कुटिलता का त्याग करके सरलता का धारण और चिन्तन करना चाहिये। कुटिलता का नाम ही पाप है जिससे मनुष्य के आत्मा में गाँठें पड़ जाती हैं। झूठ को छिपाने के लिये अनेक पेच करने पड़ते हैं। सत्य में सीधापन होता है। किसी तरह हेर फेर नहीं करना पड़ता है। अतः यज्ञ के धाम को मनन करने के लिये अभिलाषी को ऋजु (सरल) विचारों का होना चाहिये। अर्थात् प्रभु के प्यारों का दूसरा गुण है–कुटिलता को त्याग कर, उनका विचार तथा आचार और व्यवहार सरलता से होना चाहिये। अज्ञानी और मूढ़ जन भी सरल होते हैं।

आज कल के वायुमण्डल में तो सरल होना मूर्खता का लक्षण है, यह समझना मनुष्यों की भूल है। जो मूढ होगा वह ऋत का चिन्तन कैसे करेगा। सरलता के साथ ज्ञान का होना भी आवश्यक है। अतः वेद ने सरलता के साथ ज्ञान विशेषण दिया है। दिवस्पुत्रासः = अर्थात् प्रकाश के पुत्र। प्रभुभक्त प्रकाश के पुत्र होते हैं। अर्थात् प्रभुभक्तों में तीसरी विशेषता यह होती है कि वे उल्लू के स्वभाव वाले

न हों। जिस प्रकार पुत्र को पिता की सम्पत्ति पर मान होता है, इसी प्रकार भक्तों को प्रकाश पर = ज्ञान पर = भगवान् के इस विशिष्ट गुण पर मान होता है। और अपने आपको असुरस्य वीराः = वह प्राणप्रदाता अंतर्यामी वरुण के वीर हैं अर्थात् भगवान् के वीर समझें। प्रभु के भक्तों का चौथा गुण यह होता है कि वह अपने आपको भगवान् के वीर सैनिक समझते हैं। इन लोगों का यह कार्य हो जाता है, कि वह अपने स्वामी के आदेश के प्रसारक होने चाहियें। प्रभु के प्यारे प्रभु की संतान के रक्षक बन जाते हैं। जब मनुष्य अपने आपको ऋतानुसारी, सरलाचारी, ज्ञानाधार प्रभु का आदेश-कारी बना ले, उसके "अङ्गिराः" होने में क्या संदेह है? अर्थात् इन गुणों के होने पर यह पाँचवीं विशेषता उसमें अपने आप ही आ जाती है। अंगिरा का भाव है अंगी के रस वाला। जीवात्मा का नाम अंगी है। आत्मा जब बाह्य-सुखवृत्ति वाला होता है तब वह आँख, नाक, कान द्वारा इन्द्रियों के रस को लेना चाहता है। उसे भोजन में स्वाद मिलता है। सुगन्धित, सुरभित पदार्थों में उसे सुख की प्रतीति होती है। उसे शब्द मीठे और प्यारे लगते हैं। उसे रूप में आकर्षण का भान होता है। नर्म-नर्म गदेले उसे सुख देते हैं। अनेक प्रकार के पदार्थ उसकी इन्द्रियों के द्वारा उसे सुख सुविधा पहुँचा रहे हैं। उस समय बाहिर के विषयों के साथ सन्नद्ध होने के कारण बाहिर ही के विषय में रहता है। उसको यही प्रतीत होता है कि मनुष्य का जन्म सारे विषयसुखों के लिये ही हुआ है, विषयसुख ही जीवन का उद्देश्य है।

परन्तु सूक्ष्मता से विचारें तो प्रतीत होता है कि यह ठीक नहीं है। क्योंकि एक जो पदार्थ देवदत्त को सुख पहुँचाता है वही यज्ञदत्त को दुःख पहुँचाता है। तो उसे दुःख का हेतु भी मानना पड़ेगा। एक ही समय में किसी वस्तु में दो विरोधी धर्म रह नहीं सकते हैं। जैसे-एक वही जल ठण्डा और गर्म नहीं हो सकता है। कालभेद से यदि किसी पदार्थ में विरुद्ध धर्मों की सत्ता मानी जाए तो निमित्त के कारण ऐसा मानना होगा। जैसे साधारणतया जल शीतल होता है। अग्नि के संयोग से रूप निमित्त को पाकर वह गर्म हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों में सुख या दुःख में कोई एक धर्म अवश्य नैमित्तिक है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों में सुख या दुःख में कोई एक पदार्थ में धर्म अवश्य नैमित्तिक है। इस बात को दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। मिश्री सबको मीठी लगती है। वही दूसरे समयमें मनुष्य को बुरी लगती है। इससे यह प्रतीत होता है कि बाह्य पदार्थों में जो सुख का भाव होता है वह उनका स्वाभाविक धर्म नहीं, नैमित्तिक है। इस बात को यों लीजिये। एक मनुष्य को आम बहुत प्रिय लगते हैं। वह खूब खाता है। उससे उसे रक्तातिसार हो जाता है। अब उसे आमों से घृणा हो जाती है और अब वह अन्य वस्तु में स्वाद खोजने की धुन में लगता है। इससे भी प्रतीत होता है कि आम भी नितान्त सुख का कारण नहीं है। तनिक अवस्थाओं पर विचार कीजिये। कच्ची दशा में खट्टा होता है, पक कर वह प्रायः मीठा हो जाता है। पकने के बाद गलने सड़ने लगता है। तब उसे खाने को चित्त नहीं चाहता है। आम का खट्टा मीठापन स्वाभाविक नहीं है, नैमित्तिक है। दृष्टान्त से स्पष्ट प्रतीत होता है कि—प्राकृतिक पदार्थों में जो सुख प्रतीत होता है, वह उन पदार्थों का स्वाभाविक धर्म नहीं है, वरन् नैमित्तिक है। इस तत्त्व को जानकर आत्मा अंदर की ओर झुकता है। फिर उसे रस आने लगता है।

यह रस आत्मा का अपना नहीं है। यदि यह रस आत्मा का निजी होता तो आत्मा उसकी खोज में बाहिर क्यों टक्कर मारता? यह रस आत्मा के अंदर सर्वव्यापक परमात्मा का है। परमात्मा रसमय है। नहीं नहीं परमात्मा रस का स्वरूप है। उपनिषद् में कहा भी है :—

रसो वै सः। रसं ह्येवायम् आनन्दी भवति।
तै० उ० ब्रा० व० ११।

परमात्मा सचमुच रस है। रस आनन्दघन है। परमात्मा को प्राप्त करके प्राप्त करने वाला आनन्द-मय बन जाता है। इस रस को प्राप्त कर आत्मा अङ्गिरा कहाता है। क्योंकि उस समय वह प्राप्तव्य

परमात्म-रस को प्राप्त कर रहा होता है। इस वास्ते वेद ने इस अवस्था के सम्बन्ध में कहा है। 'विप्रं-पदमङ्गिरसो दधानाः' = अंगिरा की मेधावी पदवी को धारण करने वाले विप्र होते हैं। सचमुच बुद्धिमान् मेधावी, धारणावती बुद्धि वाला वही है जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जो अंगिरा नहीं बना, रसों के रस परमात्मा का जिसने अंग-अंग में रस नहीं लिया, वह मेधावी नहीं।

मेधा = धारणावती बुद्धि की सत्ता उसमें कैसे मानी जाए, जिसकी बुद्धि ने उस परम रस को धारण नहीं किया। जो अंगिरा की मेधावी पदवी को धारण कर लेता है, वह सत्यमेव यज्ञाधिकारी बनता है, परम पूज्य परमात्मा के धाम का मनन चिन्तन करता रहता है।

प्रज्ञा-प्रसाद
अथवा
जीवन का परम उत्कर्ष

[ले०—श्री० डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री—वाराणसी]

जीवन क्या है ? क्यों है ? इसका परमलक्ष्य क्या है ? इस महान् प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि—

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जीवनं मतम् ।[1]

अर्थात्, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति, उत्तरोत्तर समुत्थान ही जीवन है, यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

इस उत्तरोत्तर प्रगति में जीवन को क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओं में से होकर जाना पड़ता है। वास्तविक आदर्श का अपरिज्ञान, मोह, प्रमाद और आलस्य का ही नाम तामस अवस्था है। लक्ष्य की अस्थिरता, अनिश्चय, अशान्ति, अवसाद और मिथ्या अभिमान का ही नाम राजस अवस्था है। परमलक्ष्य की स्पष्ट प्रतीति, निश्चय, तत्परता, अध्यवसाय, शान्ति और प्रसन्नता को ही सात्त्विक अवस्था कहते हैं।

उक्त सात्त्विक अवस्था के परम उत्कर्ष को ही **'प्रज्ञा-प्रसाद'** समझना चाहिए। **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८), **'जीवा ज्योतिरशीमहि'** (ऋग्० ७।३२।२६) इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं का वास्तव में अभिप्राय उक्त 'प्रज्ञा-प्रसाद' से ही है।

'प्रज्ञा-प्रसाद' के स्वरूप और स्थिति का विभिन्न दृष्टियों से सुन्दर वर्णन शास्त्रों में यत्र-तत्र मिलता है। उदाहरणार्थ, निम्नस्थ प्रमाणों को देखिए :—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

अर्थात्, साधक ज्ञान द्वारा प्रज्ञा-प्रसाद को पाकर ही विशुद्ध परमतत्त्व के साक्षात्कार में समर्थ होता है।

समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्त्ति। न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्ति।

(योगसूत्र १।४८ पर व्यास-भाष्य)

१- तु० "प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः" (ऋग्० १०।५९।१)। "कृधी न ऊर्ध्वांञ्चरथाय जीवसे" (ऋग्० १।३६।१४)। 'भद्रादभि श्रेयः प्रेहि' (ऐतरेय-ब्राह्मण १।१३)।

अर्थात्, विशुद्ध सात्त्विक अवस्था में जिसका चित्त समाहित (=समाधान या समाधि को प्राप्त) हो चुका है, उसकी प्रज्ञा को ही **ऋतम्भरा** कहा जाता है; क्योंकि वह सत्य को ही धारण करती है और उसमें विपर्यास या मोह का गन्ध भी नहीं रहता।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

(भगवद्गीता २।६५)

विशुद्ध और प्रसन्न चित्तवाले मनुष्य की ही बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

प्रज्ञा-प्रसाद की स्थिति का ही वर्णन निम्नस्थ पद्यों में किया गया है—

सौम्या मनःस्थितिः

अभिमानेन दम्भेन दर्पेण परिवर्जिता।
शान्ता न मायया स्पृष्टा संयमेन पुरस्कृता ॥१॥
श्रद्धया च विवेकेन सत्यमार्गानुसारिणी।
लोककल्याणबुद्ध्यैव ज्ञानोपार्जनकारिणी ॥२॥
हितबुद्ध्या समस्तानां प्राणिनां या समन्विता।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टचारित्र्यपरिपोषिणी ॥३॥
नैराश्येन विनिर्मुक्ता यासौ सौम्या मनःस्थितिः।
सन्तुष्टा च प्रसन्ना च सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४॥

(रश्मिमाला ५८)

अभिमान से, दम्भ से और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पृष्ट और संयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्यमार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियों के हित की बुद्धि से समन्वित,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चारित्र्य को पुष्ट करने वाली,
नैराश्य से रहित, सन्तुष्ट और प्रसन्न
जो सौम्य मनःस्थिति है—
वही मेरी अक्षय निधि है।

प्रज्ञा-प्रसाद की पृष्ठ-भूमि में ही नैराश्य, आदर्शहीनता, लक्ष्यहीनता, रिक्तता, लघुता, अवसाद, अशान्ति और वैषम्य से परिपूर्ण मानव-जीवन में आशा, विश्वास, प्रकाश, पूर्णता, औदार्य, मनःप्रसाद और स्थिर शान्ति की भावनाओं को पुष्टि और नवीन प्रेरणा प्राप्त हो सकती है।

वैदिक सिद्धान्तों की दृष्टि से, हमारी समझ में, जीवन का परम आदर्श, परमलक्ष्य यही है। इसी की प्राप्ति में जीवनकी वास्तविक चरितार्थता निहित है।

हमारे जीवन के काले और श्वेत दिन

[ऋग्वेद, मण्डल ६, सूक्त ९ की धारावाहिक व्याख्या]

[ले०—*श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार, गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय*]

[1]अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥ १ ॥

---

१. मन्त्रार्थ—(अहः च कृष्णम्) एक काला दिन है, (अहः अर्जुनं च) और दूसरा श्वेत दिन है। ये दोनों (वेद्याभिः) अपनी ज्ञातव्य घटनाओं के साथ (रजसी) द्यावापृथिवी में (विवर्तेते) घूमते रहते हैं। (राजा न जायमानः) राजा के समान प्रकट होता हुआ (वैश्वानरः अग्निः) वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्य या आत्मा (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (तमांसि) काले दिन के अन्धकारों को (अवातिरत्) विच्छिन्न कर देता है [तब श्वेत दिन आता है]।

एक काला दिन है और एक श्वेत दिन है। ये दोनों अपने-अपने ज्ञातव्य घटनाचक्रों के साथ द्यावा-पृथिवी के अन्दर घूमते रहते हैं। घनघोर निशा की कालिमा से भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है, नक्तंचर जीव इतस्ततः घूम रहे हैं, सर्वत्र काले दिनों का साम्राज्य छाया हुआ है। इतने में ही प्राची में वैश्वानर सूर्य की ज्योति झाँकती हुई दिखाई देती है। सूर्यदेव राजा बन कर गगनमण्डल के सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं। देखते ही देखते काले दिन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और अपनी शुभ्र मुस्कराहट से सब को धवल करता हुआ श्वेत दिन सुशोभित होने लगता है।

इस प्राकृतिक घटनाचक्र के समान ही हमारे जीवनों में भी काले दिन और श्वेत दिन आया करते हैं। कभी ऐसा समय आता है जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है, निराशा की काली घटाएँ छा रही होती हैं, मार्ग नहीं दीखता, हम किंकर्तव्यविमूढ़ हुए होते हैं। अनेकों ऐसे दिन आते हैं जब हमारा मन शोकातुर होता है, नाना चिन्ताएं हमें सता रही होती हैं, उनसे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। कभी धनहानि का दुःख है, कभी मानहानि का दुःख है, और कभी अपने किसी प्रियजन के वियोग के कारण आँखों के आगे अँधेरा छा रहा है। यह संसार असार दीखता है, जीवन दूभर प्रतीत होता है। ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं जब अन्तरात्मा की वाणी सुनाई देनी बन्द हो जाती है, आत्मसूर्य पर मोह का आवरण छा जाता है और हम कुमार्ग पर चलने लगते हैं। ये सब जीवन के काले दिन हैं।

पर ये काले दिन सदा नहीं रहते। शीघ्र ही श्वेत दिन का आगमन होता है। जीवन के इन निराशा, भय, शोक, अज्ञान, अविवेक, तामसिकता के अन्धकारों को चीरकर आत्मसूर्य की दिव्य ज्योति उदित होती है। वैश्वानर आत्मा राजा बनकर हृदयास[illegible] पर विराजमान होते हैं। इन्द्रिय रूप सब प्रजा[illegible] को प्रकाश मिल जाता है। एवं कभी काला दि[illegible] और कभी श्वेत दिन यह चक्र मनुष्य के जीवन[illegible] चलता रहता है।

आज दुर्भाग्य से मेरा जीवन भी काले दिन [illegible] क्रीडास्थल बन गया है। कालिमा से ग्रस्त होकर [illegible] कुछ भी नहीं देख पा रहा—

[2] नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं
न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि
परो वदात्यवरेण पित्रा ॥ २ ॥

जीवन के पट को बुनने के लिए ताना कौन स[illegible] तनूँ और बाना कौन सा डालूँ, यह मैं कुछ भी नहीं जान पा रहा। न ही मुझे यह समझ में आ रहा [illegible] कि संसार में जीवन पट को बुनने वाले जो सिद्ध हस्त बुनकर हैं, वे किस नमूने के जीवनपट को बुन[illegible] हैं, जिससे मैं उसी नमूने को सामने रख कर अप[illegible] जीवन को भी उसके अनुरूप बुन सकूँ। अब मैं किससे पूछूँ, किसे अपना गुरु बनाऊँ? कौन स[illegible] ऐसा ज्ञानी पुत्र है जो काल की दृष्टि से अपने पित[illegible] से 'अवर' होता हुआ भी ज्ञान की दृष्टि से उससे 'पर' हो गया है। वही पुत्र, वही सद्गुरु, मुझे जीवनपट को बुनने के विषय में वक्तव्य ज्ञान दे सकता है। अतः मैं उसी की खोज में हूँ। पर ऐसे अद्भुत ज्ञानी को मैं कहाँ पाऊँ? जगत् के किस कोने में जाकर ढूँढूं? महान् राजनीतिज्ञों में उसकी खोज करूँ या समाज सुधारकों में पाने का यत्न करूँ! दीनों की कुटियों में देखूँ या धनियों के राजभवनों में खोजूँ? नगरों की खाक छानूँ या हिमालय की कन्दराओं में जाकर दृष्टि दौड़ाऊँ? नहीं, नहीं, वह इनमें से किसी स्थान पर नहीं मिलेगा। मेरा गुरु

२. (न अहं तन्तुं विजानामि) न मैं ताने को जानता हूँ, (न ओतुं विजानामि) न बाने को जानता हूँ, (समरे अतमानाः) संसार-संग्राम में गति करते हुए विद्वज्जनरूपी जुलाहे (यम्) जिस जीवन-पट को (वयन्ति) बुनते हैं, उसको भी (न विजानामि) मैं नहीं जानता। (कस्यस्वित् पुत्रः) भला किसका पुत्र है, जो (अवरेण पित्रा परः) ज्ञान में अपने पिता को 'अवर' करके तथा स्वयं 'पर' होकर (इह) इस संसार में (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश कर सकता है।

तो मेरे अन्दर ही बैठा हुआ है—

स इत् तन्तुं स विजानात्योतुं
स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा
अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन् ॥ ३ ॥

मेरा शरीरस्थ आत्मा ही मेरा गुरु है। उसका नाम वैश्वानर अग्नि है, क्योंकि वह शरीर की सब प्रजाओं का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। वह जीवन-पट के ताने को भी जानता है, बाने को भी जानता है, और किस नमूने का जीवन-पट बुना जाना चाहिए यह भी जानता है। वह अमर है, 'अमृतस्य गोपाः' है, तो भी वह शरीर में जन्म लेता है। वह अपने जन्मदाता पिता से 'अवर' भी है और 'पर' भी है। उसका शरीर बाद में उत्पन्न होने से वह पिता से अवर है, किन्तु आत्मरूप में वह पिता से भी पहले विद्यमान था। और ज्ञान में भी वह पिता का पिता है। वह समय-समय पर मुझे वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता भी रहता है, किन्तु मैं ही काले दिन के आसुरी कोलाहल से बधिर हुआ रहने के कारण उसकी दिव्यवाणी को सुन नहीं पाता।

उस आत्मरूपी वैश्वानर ज्योति को शरीर में स्थापित करने वाले प्रभु मुझे निरन्तर कह रहे हैं—

अयं होता प्रथमः पश्यतेमम्
इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो
ऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥ ४ ॥

"यह आत्मा श्रेष्ठ 'होता' है, जीवनरूपी यज्ञ का संचालक है। तुम इसे देखो, यह मर्त्य शरीर में रहने वाली अमर ज्योति है। यह आत्मा शरीर में प्रकट होकर स्थिर होकर उसमें बैठा हुआ है और शरीर की वृद्धि के साथ बढ़ रहा है, महिमान्वित हो रहा है।"

और, शरीर में केवल यह आत्मरूपी ज्योति ही नहीं है—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं
मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः ।
विश्वे देवाः समनसः सकेता
एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु ॥ ५ ॥

देखने के लिए, ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सब मनुष्यों के अन्दर एक अन्य ध्रुव, वेगवत्तम ज्योति निहित है, जिसे 'मन' कहते हैं। इस मन से 'समनाः' होकर देवजन सम्यक् प्रकार से किसी क्रतु को— अर्थात् किसी बड़े संकल्प को, तदनुकूल विचार को तथा तदनुकूल महाकर्म को करने में समर्थ होते हैं। संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने कोई

---

३. (स इत्) वह आत्मा ही (तन्तुं विजानाति) ताने को जानता है। (स ओतुं विजानाति) वही बाने को जानता है। (सः) वही (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु में समय-समय पर (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता है, (यः अमृतस्य गोपाः) जो अमरता का संरक्षक आत्मा (अवः चरन्) एक रूप से अवर होता हुआ भी (अन्येन परः) दूसरे रूप से 'पर' होकर (पश्यन्) देखता-भालता हुआ (ईं चिकेतत्) इस सबको जानता है।

४. (अयम्) यह आत्मा (प्रथमः होता) श्रेष्ठ 'होता' है—जीवनयज्ञ का संचालक है, (इदम्) इसे (पश्यत) देखो। (मर्त्येषु) मरणधर्मा शरीरों के अन्दर (इदम् अमृतं ज्योतिः) यह अमर ज्योति है। (अयं सः अमर्त्यः) इस अमर आत्मा ने (जज्ञे) शरीर में जन्म लिया है, (ध्रुवः आनिषत्तः) यह शरीर में स्थिर रूप से आकर स्थित हो गया है, और (तन्वा) शरीर के साथ (वर्धमानः) महिमा को प्राप्त हो रहा है।

५. (दृशये) ज्ञान-दर्शन के लिए (ध्रुवं ज्योतिः मनः) एक ध्रुव ज्योति मन भी (निहितम्) शरीर के अन्दर निहित है, जो कि (पतयत्सु अन्तः जविष्ठम्) गति करने वाले पदार्थों में सबसे अधिक वेगवान् है। (विश्वे देवाः) समस्त देवजन अथवा समस्त इन्द्रियगण (समनसः) उस मन से युक्त होकर (सकेताः) सज्ञान होकर (साधु) सम्यक् प्रकार से (एकं क्रतुम्) किसी महासंकल्प को (अभिवियन्ति) आगे ले जाते हैं।

नवीन उज्ज्वल कार्य किये हैं, उन सब के अन्दर यह मनरूपी ज्योति जाज्वल्यमान रही है। इसी ज्योति के कारण वे कोई महासंकल्प कर सके, उस संकल्प की पूर्ति के लिए विचारशृंखला को फैला सके, योजनाएँ बना सके, तथा जब तक उन्हें कार्यसिद्धि नहीं मिल गई, तब तक उन योजनाओं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध और कार्यसंलग्न रह सके।

बाह्य सामाजिक महापुरुषों के समान ही शरीर नगरी में जो आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रिय-रूपी महापुरुष बैठे हुए हैं, वे सब भी ज्ञानग्रहण-रूपी महाकार्य को इस मनोरूप ज्योति के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार कर पाते हैं।

यह सब ठीक है। पर मेरी तो अवस्था ही भिन्न है—

वि[६] मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्
वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः
कि स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥६॥

मेरे दोनों कान इधर-उधर भाग रहे हैं, मेरी आँखें इधर-उधर भाग रही हैं, मेरी नासिका, मेरी रसना, मेरी त्वचा, मेरी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ इधर-उधर जा रही हैं। ऐसा हो क्यों न, क्योंकि हृदय में निहित मेरी आत्मज्योति ही धूमिल हो गई है। उसके धूमिल पड़ जाने से मन भी तम-अच्छन्न श्रेष्ठ क्रतु-श्रेष्ठ संकल्प-न करता हुआ नाना कुत्सित विचारों में उलझ गया है। ऐसी अवस्था में भला मैं क्या कोई ऊँची ज्ञान की बात बोलूँ, क्या कोई उच्च मनन-चिन्तन करूँ? मेरी शरीर-नगरी का, मेरी देवपुरी अयोध्या का, सारा साम्राज्य ही अस्त-व्यस्त हो गया है। राजा के सो जाने से किसी राज्य की जो अवस्था हो जाती है, वही अवस्था आत्म-रूपी सम्राट् के सो जाने से मेरी शरीर-नगरी की हो गई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि मेरा आत्मसम्राट् जागरित होकर मनरूपी सचिव को प्रकाश तथा प्रेरणा प्रदान करने लगे, जिससे प्रेरित होकर मन समस्त इन्द्रियों को अपनी उच्च वृत्तियों से प्रभावित कर सके। अतः मैं तो अपने आत्मा को जगाने के लिए बार बार पुकार मचा रहा हूँ—

[७]विश्वे देवा अनमस्यन् भियाना—
स्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरो अवतु ऊतये नो
अमर्त्यो अवतु ऊतये नः ॥ ७ ॥

हे मेरे आत्मन्! हे मेरे वैश्वानर राजन्! तुम क्यों अन्धकार से आवृत हो गये? तुम्हारी ही ज्योति से तो मेरे शरीर के सारे देव ज्योतिष्मान् बने हुए थे। जैसे असमय में ही अकस्मात् सूर्य के पूर्णग्रहण को प्राप्त हो जाने पर, अन्धकारग्रस्त हो जाने पर पशु-पक्षियों में कोलाहल मच जाता है, उनके चेहरे पर उद्विग्नता के चिह्न दिखाई देने लगते हैं, वैसी ही गति हे मेरे आत्मन्, तुम पर पूर्णग्रहण लग जाने से, तुम पर अन्धकार छा जाने से, मेरे शरीरस्थ सब देवों की हो गई है। तुम सूर्य हो, मन चाँद है, तुम्हारी ही ज्योति से वह प्रकाशित है। तुम्हीं बुझ गये, तो मन भी बुझ गया। न तुम्हारा प्रकाश रहा, न मन का प्रकाश रहा, यह अवस्था देख सब इन्द्रियदेवों में खलबली मच गई है।

---

६. (मे कर्णा) मेरे दोनों कान (वि पतयतः) इधर उधर भाग रहे हैं, (चक्षुः वि पतयति) आँख इधर उधर भाग रही है, (इदं ज्योतिः) यह आत्मरूपी ज्योति भी (यत् हृदये आहितम्) जो हृदय में निहित है, (वि पतयति) इधर उधर भाग रही है। (मे मनः) मेरा मन (दूरे आधीः) बहुत दूर नाना चिन्ताओं में (विचरति) भटक रहा है। ऐसी अवस्था में (किंस्विद् वक्ष्यामि) भला मैं क्या कोई ऊँची बात बोल सकूँगा, (किमु नू मनिष्ये) क्या कोई उच्च चिन्तन कर सकूँगा।

७. (अग्ने) हे आत्मन्! (तमसि तस्थिवांसं त्वाम्) तुझे अन्धकार के आवरण के अन्दर स्थित हुआ देख कर (विश्वे देवाः) सब देव, सब इन्द्रियगण (भियानाः) भयाकुल हो (अनमस्यन्) नमस्कार कर रहे हैं, और पुकार मचा रहे हैं कि (वैश्वानरः) यह सब का नायक आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाये, (अमर्त्यः) यह अमर आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाये।

प्रकाश न पाकर वे भी निस्तेज हुए जा रहे हैं। वे सब भयभीत हुए हुए, आपके शरणागत होकर आपको नमस्कार कर रहे हैं और पुकार मचा रहे हैं—हे देव, तुम्हारे प्रकाश के बिना हम जीवित नहीं रह सकते, तुम अपनी इस क्रीडा को बन्द करो, अधिक देर हमें अन्धकार में न रखो, अपनी रश्मियों से आवरण को छिन्न-भिन्न कर हँसते हुए हमारे सम्मुख प्रकट हो जाओ। तुम अमर हो, तुम हमारे कर्णधार हो, तुम हमारे रक्षक हो, रक्षा करो, रक्षा करो ॥

ऋत क्या है ?

[ले० —डा० मुंशीराम जी शर्मा, एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्., कानपुर]

वैज्ञानिकों ने अणु-विश्लेषण में क्षिप्रातिक्षिप्र गतियों का जाल देखा है। क्या ये गतियाँ निरपेक्ष हैं ? क्या इनका कोई अधिष्ठान नहीं है ? दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि इनका संचालक कौन है ? गति, अधिष्ठान और संचालक तीनों के समाधान में प्रत्येक युग के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तत्पर रहे हैं। वे सब एक ही निर्णय पर पहुँचे हों, ऐसा नहीं है। किसी ने संचालक को विशेष महत्व दिया है और किसी ने गति एवं अधिष्ठान को। अंग्रेजी के तीन शब्द माइन्ड, मोशन और मैटर इन तीनों के पर्याय हैं। स्पिनोजा इन्हें ईश्वर (God), चेतना (Thought) तथा विस्तार (Extension) कहता है। कान्ट प्रथम के सम्बन्ध में अज्ञेय शब्द का प्रयोग करता है। अन्य दो को वह सदाचार का नियम (Moral law) तथा प्राकृतिक नियम (Natural law) कहता है। गीता अन्य दो को प्रथम की प्रकृतियाँ कहती है :—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
गीता अ० ७।४; ५॥

आचार्य रामानुज इनमें व्याप्य-व्यापक अथवा शरीर और शरीरी का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। स्पिनोजा ने इससे मिलती-जुलती बात लिखी है। उसकी दृष्टि में चेतना और विस्तार ईश्वर के गुण हैं। पाश्चात्य एवं पौरस्त्य अद्वैतवादी एक अन्तिम निरपेक्ष सत्य के अतिरिक्त अन्य सबको सापेक्ष कहते हैं।

ऋग्वेद (१०-१९०) अभीद्ध तप से ऋत एवं सत्य का आविर्भाव माना गया है। अभीद्ध तप निरपेक्ष सत्य है। ऋत को गति और सत्य को अधिष्ठान माना जा सकता है। नीचे हम ऋत के सम्बन्ध में वैदिक विचार प्रस्तुत करेंगे।

यजुर्वेद के पंचम अध्याय में ईश्वर को ऋत का धाम और स्वयं ज्योति कहा गया है। ऋत में चेतना पर आश्रित गति और कर्म दोनों ही आते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं—सहज या निरपेक्ष और सापेक्ष। मैं जब तक हूँ, तब तक शरीर चलता रहेगा। ईश्वर विभु है, सर्वव्यापक है, अतः अपने व्याप्य का संचालन करता रहेगा और उसके अस्तित्व या निर्वाह का भी हेतु होगा। पर शरीर-निर्वाह के लिए जो श्रम और कार्य मनुष्य को करने पड़ते हैं, ब्रह्माण्ड की क्षति-पूर्ति के लिये मानव जो अपनी ओर से यज्ञ करता है और अग्नि में हव्य डालता है, उसका वहन, विकिरण, कार्य-सम्पादन भी तो ईश्वर करता है। प्रथम निरपेक्ष रूप में वह विभु और द्वितीय सापेक्ष रूप में वह वह्नि कहा जाता है।

जो अवस्था कर्म की है, वही ज्ञान की भी। अपने निरपेक्ष रूप में प्रभु स्वभावतः सबसे सूक्ष्म होने के कारण शीघ्र व्यापनशील एवं प्रचेता, प्रकृष्ट ज्ञान-सम्पन्न है। दूसरों को ज्ञान भी वह स्वभावतः देता है, पर सापेक्ष रूप में वह विश्व की गतिविधि को जानने वाला भी है। श्वात्र होने से प्रचेता और तुथ होने से वह विश्ववेदा कहा जाता है। श्वात्र उसका निरपेक्ष गुण है, तुथ सापेक्ष।

भाव के क्षेत्र में भी यही बात है। प्रभु स्वभावतः उशिक् है, कमनीय स्वरूप है, कवि है—शब्द एवं अर्थ

के सामंजस्य की निधि है। यह उसका निरपेक्ष रूप है। सापेक्ष दृष्टि से प्रभु का भाव-गत रूप अङ्घारि तथा बम्भारि है। जीव जो पाप करते हैं और परिणामतः विनाश को प्राप्त होते हैं, उन पापों का शत्रु होकर प्रभु जीवों को पाप करने से रोकता है और जीवों पर दयालु या वत्सल होने के कारण उनका पालन, पोषण और धारण करता है। एक भाव इसके साथ और भी जुड़ा हुआ है। प्रभु जहाँ कमनीय है, वहाँ घोर भी है, जहाँ शिव है वहाँ रुद्र भी है।

सेवा के क्षेत्र में प्रभु स्वभावतः सेवकों का रक्षक है, पर सापेक्ष रूप से वह निरन्तर ब्रह्माण्ड एवं जीवों के अन्तस्तल का शोधन एवं मार्जन भी करता रहता है।

राजक्षेत्र में निरपेक्षतः वह सम्यक् रूप से शोभायमान (सम्राट्) तथा कृश, दग्ध एवं दीन-हीनों का आधार (कृशानु) है, सापेक्ष रूप में वह मानवों की परिषद् के योग्य तथा पवमान है। मनुष्यों के नियम-निर्माण, विधि-विधान तथा शासन-व्यवस्था को वही विवाद, संघर्ष, युद्ध आदि द्वारा पवित्रता की ओर ले जाता है।

न्याय क्षेत्र में जहाँ वह नभ, अप्रतीत होने पर भी सबका प्रतक्वा साक्षी तथा द्रष्टा है—सबके पाप-पुण्यों का यथावत् फलदाता है, वहाँ सापेक्षतः मृष्ट होकर हव्यसूदन भी है, एक-एक के हव्य का शोधक और विभागकर्ता भी है।

सापेक्षरूप में प्रभु समुद्र और विश्वव्यचा है। प्राकृतिक क्षेत्र में सबका समुद्रवण तथा विश्वभर का विस्तार उसी से हुआ है और परिणामतः सब उसी की ओर द्रवित होते हैं तथा उसी में समा जाते हैं। निरपेक्षतः वह अज है, अजन्मा है, प्रपञ्च या विस्तार के साथ सम्बद्ध चतुष्पात् नहीं, एकपात् है, अनन्त है। चर एवं अचर द्विविध जगत् में हीनता आती रहती है, पर प्रभु अहि है, हीनता-रहित है। ऋत के ही ये दो रूप हैं। इन्हीं को गति एवं परम गति कहा जा सकता है। परम गति केन्द्र रूप प्रभु में है जो निरपेक्ष है और ऋत का धाम है, परन्तु गति सापेक्षरूप में विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति, प्रगति-परागति, धन-ऋण, गुणा-भाग आदि विविध रूपों में दिखाई देती है। स्थूल गति के अतिरिक्त जो सूक्ष्म मानसिक या वैद्युतिक अंतरिक्ष स्थानीय गति है, वाणी की गति है, ऐश्वर्य, शोभा या कान्ति की गति है अथवा जो विराम (सद) में गति है—वह भी ऋत के ही नाना रूप हैं।

ऋत की ये सभी गतियाँ पुनः दो भागों में विभाजि[त] की जा सकती हैं, एक प्राचीन, द्वितीय प्रतीचीन; ए[क] अभ्युदय की ओर ले जाने वाली, दूसरी निःश्रेयस की ओ[र] उन्मुख; एक प्रवृत्ति, दूसरी निवृत्ति। परमार्थ एवं व्यवहा[र] दो दिशाओं की ओर खुले हुए यही ऋत के दो द्वार है[ं]। प्रभु इन द्वारों को सन्तापित न करें—इन्हें सुख-पूर्व[क] खुले रखें जिससे हम पितृयाण मार्ग पार करते हुए देवया[न] में भी प्रवेश कर सकें। पितृयाण अभ्युदय का मार्ग है [जो] विविध ऐश्वर्यों के उपभोग की ओर ले जाता है। देवया[न] तृतीयधाम स्वर्ग से भी ऊपर ले जाता है।

प्रभु समस्त मार्गों के अधिपति हैं। वे ही विशेषरू[प] से पार करने वाले हैं। देवयान मार्ग पर वही स्थिर-धीर[?] गति से चलाने वाले हैं। इस मार्ग में चलते हुए मेरा [भी] ही कल्याण करें।

ऋत के विवध स्वरूपों का जो विस्तार ऊपर वर्णि[त] हुआ है, वह चेतन जगत् एवं प्राकृतिक जगत् दोनों [से] सम्बन्धित है। ऋत का तन्तु दोनों ओर विस्तृत हुआ है पर अपने मूल स्थान से जब यह चल पड़ता है तो चा[रों] दिशाओं में फूट कर चार कोनों का निर्माण करता है[।] नीचे लिखे मन्त्र में इसका वर्णन हुआ है :—

चतुः सक्तिः नाभिः ऋतस्य सप्रथाः। सनो विश्वायुः सप्रथाः सनः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषो ऽपह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ यजु० ३८-२०॥

ऋत की चार कोणों वाली नाभि चतुर्दिक फैली हु[ई] है। वह हमारी समस्त आयु में विस्तीर्ण है। वह विश्व[-] भर की आयु में विस्तीर्ण है। हम इसके द्वेष और ह्व[र] (कौटिल्य) दो कोणों से पृथक् रहें और अन्य दो कोणों का सेवन करें।

मन्त्र के शब्दों से स्पष्ट है कि ऋत के चार कोणों में दो निषेधपरक हैं। अतः इनसे अन्य अर्थात् भिन्न दो कोण विधिपरक होने चाहियें। द्वेष का विपरीत प्रेम है तथा कुटिलता का विपरीत सरलता है। ऋत के विस्तृत तन्तुओं में हमें द्वेष और कुटिलता से हटना है तथा प्रेम और सरलता को अपनाना है।

द्वेष और कुटिलता मानव विकास में बाधा उपस्थित करते हैं। द्वेष वह जलन है जो मेरे अन्तस्तल को जलाती हुई शरीर पर तो प्रभाव डालती ही है, मेरे सम्पर्क में आने वालों को भी प्रभावित करती है। कुटिलता मेरे चिन्तन

तथा कर्म-कलाप को स्वाभाविक नहीं रहने देती। इससे मुझे भी कष्ट होता है और दूसरों को भी।

द्वेष और कुटिलता से दुर्गुण बढ़ते हैं तथा सद्गुणों का विनाश होता है। जिसके प्रति द्वेष है, उसके लिये अन्दर से शाप निकलेंगे, अनिष्ट करने पर ध्यान जायगा तथा उससे जो द्वेष करते हैं वे साथी बनेंगे। इस प्रकार द्वेष अपना एक पूरा परिवार बना लेगा। परिणाम यह होगा कि जिससे मैं द्वेष करता हूँ, वह मुझसे द्वेष करने लगेगा, मुझे शाप देगा, मेरा अनिष्ट साधन सोचेगा और मुझसे द्वेष रखने वालों का साथ देगा। दो व्यक्तियों का द्वेष बढ़कर दो दलों के पारस्परिक द्वेष में परिणत हो जायगा। यह द्वेष संघर्ष का रूप धारण कर भीषण युद्ध की विकरालता उत्पन्न करेगा, जिसमें न जाने कितने व्यक्ति हताहत होंगे, कितनी स्त्रियाँ विधवा होंगी, कितने घर उजड़ जायेंगे। कितने नगर वीरान होंगे, कितना दुराचार फैलेगा और वह आगे इसी संघर्ष-परम्परा को बढ़ाता हुआ कितने विनाश का कारण बनेगा।

कुटिलता भी इसी प्रकार मेरे स्वभाव का नाश करती हुई दूसरों पर प्रभाव डालती है और उन्हें भी स्वभाव में नहीं रहने देती। मैं किसी के साथ तिरछी चाल चलता हूँ तो वह भी मेरे साथ वैसी ही-चाल चलेगा। परिणाम दोनों ही के लिये अहितकर होगा। मैं किसी के साथ दुराव करता हूँ तो वह भी मेरे साथ दुराव करेगा। मैं किसी से झूठ बोलता हूँ, तो वह भी या तो मुझसे झूठ बोलेगा या सम्पर्क रखना बन्द कर देगा। इससे शंका, संशय, भय आदि दुर्भाव उत्पन्न होंगे तथा पारस्परिक सौहार्द में विघ्न भी पड़ेगा। क्रिया और प्रतिक्रिया का जाल, इस प्रकार मानव को उसकी सहज, सरल स्थिति से इतनी दूर ले जायगा कि वह अन्ततोगत्वा टूट जायगा। मानव मानव न रहकर या तो दानव और पिशाच बन जायगा या मिट्टी में मिल जायगा। चेतन का यह पराभव कितना दयनीय है। सरलता का परित्याग कैसे अन्धकूप में गिराने वाला है।

भारतीय साधना और सूर साहित्य में हमने जिस हरिलीला की व्याख्या की है, वह जहाँ राधा और कृष्ण, सीता और राम, माया और ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष के युग्म वाली है, वहाँ इस युग्म का एक-एक अंश भी अपनी युग्मता की विशेषता रखता है। शिव और रुद्र, पालन और प्रलय के रूप में उसका प्रकाश सर्वत्र हो रहा है, जो एक तत्व के ही दो पार्श्व कहे जा सकते हैं। प्रेम द्वेष का ही दूसरा पार्श्व है, सरलता कुटिलता का ही विपरीत रूप है। मन्त्र में इसीलिए शक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थान से सरकेंगे, तो हम उससे अन्य, भिन्न या विरोधी स्थान पर ही पहुँचेंगे। ऋण का दूसरा पार्श्व धन है। निषेध का दूसरा पार्श्व विधि है। मन्त्र के अनुसार हमें एक से हटना है और दूसरे का सेवन करना। द्वेष ऋणात्मक है। हिंसा और धोखा उसके दो पार्श्व हैं :—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरायोपयामसि।
पक्षेभि: अपिकक्षेभि: अत्र अभि संरभामहे ॥

प्रेम भावात्मक है। इसके भी दो पार्श्व हैं :—समर्पण और अनन्यता।

प्रेम और सरलता जीवन के दो भावपूर्ण पार्श्व हैं। एक हमें महत्ता, विस्तार, औदार्य तथा विश्वबन्धुत्व की ओर ले जाता है, तो दूसरा हमें स्वभाव में स्थिर कर देता है, अपनेपन से पृथक् नहीं होने देता, हम केन्द्रस्थ रहते हैं, इधर-उधर नहीं भागते। केन्द्रस्थ रहना और परिधि को अपना ही विस्तार समझना विकास के दो मौलिक फल हैं, जिनकी उपलब्धि प्रत्येक विकास-पथ के पथिक के लिये वाञ्छनीय है।

ऋग्वेद नवम मण्डल के ११३ वें सूक्त में आर्जव या सरलता के साथी चार गुणों का वर्णन है :—

आपवस्व दिशाम्पते आर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः।
इन्द्राय इन्दो परिस्रव ॥

सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप (द्वन्द्व-सहन)—जहाँ सरलता होगी वहाँ ये चारों गुण भी विद्यमान होंगे। ऋत की नाभि की भाँति उसका एक कोना आर्जव भी इन चार गुणों रूपी चार कोनों वाला है। द्वेष का विपरीत प्रेम भी चार कोनों वाला है। जहाँ प्रेम है, वहीं सुख, प्रकाश, निर्भयता और कल्याण है। प्रेम में सब आत्मीय जान पड़ते हैं। विश्वंभर बन्धुत्व के नाते में आबद्ध हो जाता है। यही उदारता और व्यापकता है। "उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति"। ऋग्वेद के इस मंत्र में इन्हीं चार अवस्थाओं का

संकेत है। ऋत की नाभि की चार सूक्तियाँ उसकी सन्तति में बड़ी दूर तक चली गई हैं।

पहले मन्त्र में वर्णित कर्म, ज्ञान और भाव वैयक्तिक हैं; राज्य, न्याय, सेवा आदि सामाजिक हैं। यह चेतनक्षेत्र है। पृथ्वी से द्यौ पर्यन्त प्राकृतिक क्षेत्र है। मन्त्र में उसका वर्णन समुद्र के प्रतीक द्वारा हुआ है। ऋत का यह विशाल विस्तार सत्य या सत्ता को अधिष्ठान बनाकर हुआ है। गति निराधार नहीं होती। उसका कोई न कोई आधार होता है। ऋत और सत्य का भी इसलिये एक युग्म है। ऋत स्वयं युग्मवती है। मन-गति का मिथुनीभाव प्राकृतिक क्षेत्र में संकोच एवं प्रसारण में प्रकट होता है। इन्हीं को निमेष और निर्निमेष दृष्टि भी कहते हैं। ग्रहों की गति में भी यह युग्म दिखाई देता है। सूर्य की किरणें किसी फलक पर प्रतिबिम्बित होकर लौट जाती हैं। ग्रहों में शत्रु-मित्र भाव भी है। अग्नि की भेदक शक्ति में शोधक एवं पावक दोनों ही गुण विद्यमान हैं। वायु आदि भी मल का अपहरण तथा जीवन का संचार दोनों गतियाँ रखते हैं। वृक्ष यदि दिन में कार्बन ग्रहण करते हैं तो ऑक्सीजन उत्पन्न भी करते हैं। पत्तियाँ यदि पीली पड़ कर झड़ जाती हैं, तो नवीन हरी पत्तियों के निकलने का मार्ग भी साफ कर देती हैं।

चेतन क्षेत्र में प्राण और अपान ऋत के ही दो रूप हैं। पर ऋत का जो योग विकास-पथ में दृष्टिगोचर होता है वह चेतन क्षेत्र के अन्तःकरण की विशिष्टता है। द्वेष और कुटिलता अथवा प्रेम और सरलता के विचरण का वही क्षेत्र है। वहीं से चलकर ऋत के ये चार रूप शारीरिक एवं सामाजिक चेष्टाओं में प्रतिफलित होते हैं। द्वेष और कुटिलता मानव को गिराते तथा [illegible] और सरलता उसे उठाते हैं।

प्राकृतिक क्षेत्र के आकर्षण और विकर्षण चेतन [illegible] के प्रेम और द्वेष के ही अपर रूप हैं, पर वहाँ कुटिल[illegible] चाल में नहीं आ पाती, सरलता ही बनी रहती है। [illegible] और पिंड अपने सहज रूप से इधर-उधर नहीं भागते [illegible] घड़ी में लगी हुई चाबी की भाँति वे अपनी सहज ग[illegible] में किसी के बाँधे हुए चले जा रहे हैं और प्रलय पर्य[illegible] चले जायेंगे। बीच में जो खण्ड प्रलय आ जाती है, व[illegible] भी उनकी गति का एक सहज रूप है।

मानव का कल्याण द्वेष से प्रेम की ओर तथा कु[illegible]लता से सरलता की ओर चलने में है। सत् का आ[illegible]र्भाव इसी पथ पर चलने से होता है। ऋत के निषे[illegible]त्मक पार्श्वों को छोड़कर तथा उसके विधिपरक [illegible] भावात्मक पार्श्वों को पकड़कर ही मानव अपना विक[illegible] कर पाता है।

ऋत की प्रथमजा बुद्धि है, जिसके प्राप्त होते [illegible] वाणी का समस्त विभाग, निखिल वाङ्मय प्रकाशित [illegible] उठता है। निर्मल, निरावरण ज्ञान सत्त्व की वि[illegible] अवस्था है। सत् का यह आविर्भाव एवं सत् में स्थि[illegible] प्रभु के साथ हमारी सन्धि कराने वाले हैं। सत् को [illegible] छोड़कर जब हम आत्मस्थ होते हैं, अशुभ एवं शुभ दो[illegible] से दूर, तब हम ऋत के तन्तु से पृथक् हो जाते हैं। ऋ[illegible] के वितत, विस्तृत, फैले हुए प्रशस्त एवं अप्रशस्त त[illegible] को चीरकर ही हम आत्मतत्व के दर्शन कर पाते हैं औ[illegible] जो मूल में थे, वही हो जाते हैं। ऋत का धाम, अभी[illegible] तप भी वही है।

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ईश्वर है या जीव ?

[ले०—श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक, विद्यामार्तण्ड]

शङ्का—

आर्याभिविनय में ऋषि दयानन्द ने ईश्वर का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि ईश्वर "नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव" है। परन्तु कपिलमुनि ने सांख्यदर्शन में पुरुष अर्थात् जीवात्मा को "न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" (सांख्ये० १-१९) सूत्र द्वारा नि[illegible] शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कहा है। इस प्रकार दोनों कथन कै[illegible] सत्य या सङ्गत हो सकते हैं ?

समाधान—

सांख्यदर्शन के जीवात्मा को "नित्यशुद्धबुद्धमु[illegible]

स्वभावस्य" कथन में 'नित्य' शब्द नित्यशुद्धबुद्धमुक्त का विशेषण अर्थात् नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त हो तो अन्त में स्वभाव शब्द व्यर्थ है। क्योंकि इससे पूर्वसूत्र "प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्" (सांख्ये० १–१८) पुरुष अर्थात् जीवात्मा का बन्ध प्रकृति के द्वारा हो अर्थात् प्रकृति उसको बान्धती है, ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति परतन्त्र है जड़ होने से। इस पर यदि कहा जावे कि पुरुष ही स्वयं प्रकृति के साथ बन्ध जावे तो ऐसा भी नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष-जीवात्मा नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्य-मुक्त है। उसका 'तद्योग' अर्थात् प्रकृतियोग—प्रकृति के साथ योग नहीं हो सकता। तब सूत्र में स्वभाव शब्द निरर्थक हो जाता है। अतः स्वभाव शब्द यहाँ किसी विशेषार्थ को लक्षित कराता है। वह यह कि स्वभावना अर्थात् निज भावना आकाङ्क्षा या प्रवृत्ति है। वह स्वभावना, निजाकाङ्क्षा या निज प्रवृत्ति नित्य अर्थात् शाश्वतिक बनी रहती है। शुद्ध-पवित्र, बुद्धज्ञानवान्, मुक्त-बन्धन रहित होने की।

आर्याभिविनय में ऋषिदयानन्द के द्वारा ईश्वर को "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव" कथन में स्वभाव शब्द स्वसत्ता निजसत्ता का वाचक है। क्योंकि इसके पूर्व का वचन है ईश्वर "सच्चिदानन्दस्वरूप" है। स्वरूप शब्द के साहचर्य से स्वभाव शब्द स्वसत्ता का अर्थ देता है। इस प्रकार ऋषिदयानन्द के द्वारा प्रयुक्त स्वभाव शब्द और कपिलमुनि के द्वारा प्रयुक्त स्वभाव शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में हैं, उनके भिन्न-भिन्न वक्ता और भिन्न-भिन्न क्षेत्र होने से। जैसा कि एक 'अज' शब्द ईश्वर, जीव, प्रकृति के साथ प्रयुक्त होने से† भिन्न-भिन्न अभिप्राय को प्रदर्शित करता है। ईश्वर के साथ 'अज' शब्द शरीर न धारण करने वाला, जीव के साथ पुनः-पुनः शरीर धारण करने वाला नित्यचेतनतत्त्व, प्रकृति के साथ अकार्य-कारणरूप अर्थात् कार्य का उपादान कारण अर्थ देता है। जैसे यहाँ एक 'अज' शब्द होता हुआ भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति के साथ भिन्न-भिन्न आशय में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'स्वभाव' शब्द भी ऋषिदयानन्द प्रदर्शित ईश्वर के साथ और कपिलमुनि प्रदर्शित पुरुष अर्थात् जीवात्मा के साथ भिन्न-भिन्न अर्थ या अभिप्राय में प्रयुक्त है। ऋषि दया-नन्द के कथन में स्वभाव शब्द स्वसत्ता के अर्थ में अर्थात् ईश्वर नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त स्वसत्ता वाला है। कपिलमुनि के कथन में स्वभाव शब्द स्वभावना निजा-काङ्क्षा के अर्थ में अर्थात् पुरुष या जीवात्मा शुद्ध-पवित्र, बुद्ध-ज्ञानवान् मुक्त-बन्धन रहित नित्य स्वभावना शाश्वतिक निजाकाङ्क्षा रखने वाला है। अतएव स्वयं प्रकृति के साथ बन्धन में आना नहीं बन सकता। परन्तु यह बन्धता है, न बन्धने की स्वभावना रखता हुआ भी। इसका कारण आगे कहा जाने वाला अविवेक है। जो इसकी स्वभावना को दबा देता है।

इस प्रकार स्वभाव शब्द ऋषिदयानन्द के कथन में ईश्वर के साथ और कपिलमुनि के कथन में जीवात्मा के साथ प्रयुक्त होकर भिन्न-भिन्न लक्ष्य को प्रदर्शित करता हुआ अपने-अपने क्षेत्र में सार्थक और अविरोधी है। ऋषिदयानन्द द्वारा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ईश्वर है' कथन में 'नित्य' शब्द शुद्ध बुद्ध मुक्त के साथ समस्त एवं सम्बद्ध है कि 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्त' यह स्वभाव स्वसत्ता जिसकी है।* और कपिलमुनि के 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्त' स्वभाव जीव है कथन में 'नित्य' शब्द स्वभाव के साथ समस्त सम्बद्ध है, स्वभाव स्वभावना निजाकाङ्क्षा शुद्धबुद्ध-मुक्त होने में जिसकी है।‡

सांख्यमत में जीवस्वभाव से न बद्ध और न मुक्त है यह स्पष्ट कहा गया है "व्यावृत्तोभयरूपः" (सां०२।१६०) तथा "नैकान्ततो बद्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते" (सां०३।७१)

---

† अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त-भोगामजोऽन्यः॥ (श्वेताश्वतरो० ४।५)

* नित्यशुद्धबुद्धमुक्तः—इति स्वभावः स्वसत्ता यस्य तथाभूतः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः (दयानन्द प्रयुक्त)

‡ नित्यः शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो यस्य तथाभूतः।

औचित्य

[ले०—श्री पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक, देहली]

अंग्रेजी में कहावत है 'परमात्मा पर विश्वास रखो और जो ठीक और उचित हो उसे करो।' इसका अभिप्राय है कि उचित बात कहने और करने में आगा-पीछा न करना चाहिए। ऐसा करते हुए परमात्मा का वह हाथ कर्त्ता के शिर पर होता है। परन्तु साधन की पवित्रता पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। कार्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह निकृष्ट साधनों से सम्पन्न किया जायगा, तो उसकी अच्छाई नष्ट हो जायगी। जो व्यक्ति महत्ता की सोपान पर चढ़ते हैं वे औचित्य का पग-पग पर ध्यान रखते हैं और उचित कार्य करने का उनका स्वभाव बन जाता है। यही सच्चरित्रता की आधार-शिला होती है।

औचित्य की मर्य्यादा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् विचार, शुद्ध आजीविका, शुद्ध प्रयत्न, शुद्ध जागरूकता और शुद्ध ध्यान से स्थिर रहती है। वेदों और उपनिषदों में इस मर्य्यादा के रक्षण के बड़े उत्तम उपाय बताए गए हैं। यजुर्वेद में बताया गया है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। ३१-१८।

मुण्डकोपनिषद् में भी इसी उपाय का संकेत किया गया है। अर्थात् सत्य, तप, सत्यज्ञान और ब्रह्मचर्य से मनुष्य दुखों से छूटकर परमात्मा के दर्शन करता है। विचारों की पवित्रता, वाणी की मधुरता, सत्यता और शुभ कर्मों में हमारा सत्ज्ञान प्रतिलक्षित होना चाहिए। जीवन की उन्नति के लिए विचारों की पवित्रता और सदाचार ही पर्याप्त नहीं है, शुद्ध आजीविका और शुद्ध प्रयत्न भी अनिवार्य है। इस प्रसंग में निम्नलिखित वेदमन्त्र ध्यान देने योग्य है।

शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सोम्य।
(ऋ० ५।१।१५)

ईमानदारी से धन कमाओ और पूर्णतया पवित्र बनकर उसका उपभोग करो।

पवमानः सो अद्यनः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः॥ (ऋ० ९।६७।२२)

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये॥ (अथर्व० ६।३१

इन मन्त्रों में समस्त जीवन को पवित्र बनाने अ अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए इस दिशा हार्दिक प्रयत्न करने की प्रेरणा की गई है। यह बताया गया है कि जब तक हम जागरूक न रहेंगे त तक न तो सत्ज्ञान की प्राप्ति कर सकेंगे और न ही उसक उचित उपयोग कर सकेंगे।

औचित्य की रक्षा के लिए मनुष्य का ज्ञानवा सदाचारी और कर्तव्यपरायण होना आवश्यक है ज्ञान, सदाचरण और कर्तव्यभावना स्वतः शक्ति होते हैं शक्ति बल में नहीं अपितु औचित्य में ही निहित हो है। इस बात को हृदय में धारण करके मनुष्य को साहस पूर्वक अपने कर्तव्य को पूरा करने में संलग्न रहन चाहिए। ठीक समय, ठीक स्थान और ठीक व्यक्ति व ही लक्ष्य बनाने से औचित्य की शोभा और महत्ता स्थि रहती है।

यदि हम किसी व्यक्ति पर उसकी भूल अंकित करन चाहें तो हमें ठीक काम करते हुए ही वह भूल अंकि करनी चाहिए। लोग हमारी बातों पर उतना ध्यान नह देते जितना आचरण पर देते हैं। औचित्य को सम रखने वाले व्यक्ति का जीवन निरीक्षण का जीवन होत है, अतः उसे जीवन की महत्ता और शोभा बनाए रखन के लिए किसी अवस्था में भी औचित्य की मर्यादा भं न करनी चाहिए।

किसी भी व्यक्ति को मनमानी करने की स्वतन्त्रत नहीं होती। उसे केवल यह स्वतन्त्रता होती है कि वह उचित कार्य करे।

महापुरुषों और महान् जातियों के इतिहास औचित्य से ही प्रकाशित होते हैं। छल-कपट और पशु-बल से दूसरे देशों को दास बनाकर अंग्रेजों ने अपनी जाति के इतिहास को काला बनाया, परन्तु उन्हीं अंग्रेजों ने औचित्य की भावना से प्रेरित होकर वा परिस्थितियों से विवश होकर उन देशों में से अधिकांश को उनकी छीनी

हुई राजनैतिक सत्ता हस्तान्तरित करके अपनी जाति के इतिहास में उज्वल अध्याय भी जोड़ा। भारतवर्ष इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि मनुष्य चिन्ता और व्याकुलता से मुक्त रहना चाहे तो उसे उस काम से पृथक् रहना चाहिए जिसे वह गलत समझता हो वा जिसके गलत होने का उसे सन्देह हो। ठीक काम के ठीक समय अगर ठीक स्थान पर करते रहने से मनुष्य चिन्ताओं और परेशानियों से मुक्त रहता और पवित्रानन्द का उपभोग करता रहता है।

औचित्य की रक्षा के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें दृढ़ता, कर्त्तव्यपरायणता, निर्भयता और आत्मत्याग मूर्धन्य स्थान रखते हैं। ऐसे व्यक्ति जन-साधारण में घुले-मिले होते हुए भी उनसे ऊपर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ठीक बनने की विशेष चिन्ता रखते हैं। एक बार जब अमेरिका के एक महापुरुष के समक्ष प्रधान बनने का प्रस्ताव रखा गया तो उन्होंने कहा "मैं प्रधान बनने की अपेक्षा ठीक व्यक्ति बनना पसन्द करता हूँ।" यदि पद और सम्मान की लूट और वोट में व्यक्ति इस तथ्य को सामने रखे तो वह अपना और अपने समाज का बहुत हित कर सकता है। महात्मा भरत के सामने एक ओर अयोध्या का राज्य था और दूसरी ओर औचित्य था। उन्होंने दूसरी बात को चुना।

जब हम संसार के रंगमंच पर औचित्य और अनौचित्य के दृश्य देखते हैं तो अवाक् रह जाते हैं। राम ने पिता के वचन को सत्यसिद्ध करने और भरत ने अपने भ्रातृ प्रेम और अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए राज्य को गेंद की तरह ठुकरा दिया। मुगल-सम्राट शाहजहाँ ने राज्य के लिए अपने भाइयों का वध किया और उसका पुत्र औरंगजेब अपने पिता से भी एक पग आगे बढ़ गया था। उसने न केवल भाइयों का वध ही कराया अपितु अपने पिता को भी बंदी बनाया। हनुमान ने भगवती सीता को रावण की कैद से मुक्त करके उन्हें महात्मा राम के पास पहुँचा देने की प्रेरणा की परन्तु सीता ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया। क्योंकि हनुमान की पीठ पर बैठकर जाने से परपुरुष का स्पर्श होता था और चोरी छुपके भाग जाने से राम की वीरता प्रमाणित होने से रह जाती थी। महात्मा सुकरात जेल के भीतर मृत्यु दण्ड पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके मित्रों और प्रशंसकों ने उन्हें चुपके से जेल से निकल जाने की योजना बनाई। जब सुकरात को यह योजना बताई गई तो उन्होंने जेल से भाग जाने से साफ इन्कार कर दिया। जब दूसरे महायुद्ध में मुसोलिनी मित्रराष्ट्रों के बंदी बना लिए गए तो हिटलर के आदमी उन्हें चुपचाप निकाल कर ले गए। बगदाद का खलीफा अपने दो पुत्रों तथा उनके अध्यापक को इसलिए पुरस्कृत करता है कि शाहज़ादे गुरुभक्त थे और वे अपने गुरु की जूतियाँ उठाने में गर्व अनुभव करते थे। परन्तु आज शिष्यगण गुरुजनों को अपमानित करते, मारते-पीटते और यहाँ तक कि उनकी हत्या तक करने में संकोच नहीं करते। हाँगकाँग का एक दूकानदार एक ग्राहक का सिला हुआ कोट न केवल वापस ही लेता है अपितु कपड़े का मूल्य भी ग्राहक को इसलिए लौटा देता है कि कोट को सिलाई में त्रुटि रह गई थी।

क्या उचित है और क्या अनुचित है इसका ठीक निश्चय मौलिक सच्चाइयों और विशेषताओं से होता है। अविद्या, अज्ञान, अन्ध-विश्वास तथा निकृष्ट सामाजिक मर्यादाएँ और प्रथाएँ मनुष्य को भूल-भुलैयों में डालकर उसकी औचित्य और अनौचित्य में भेद करने की क्षमता को कुण्ठित कर देती हैं। मनुष्य में सत्य, न्याय आदि मौलिक गुणों के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है और झूठ, अन्याय आदि के प्रति घृणा होती है। अतः जिस कर्म, प्रथा या मर्यादा से सत्य और न्याय की रक्षा हो वही सत्कर्म औचित्य से परिपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए धर्म के नाम पर पशुबलि धर्म माना जाता है परन्तु सत्य और न्याय की कसौटी पर परखे जाने पर वह कर्म अधर्म और दुष्कर्म है। इसी प्रकार अन्य बातों के सम्बन्ध में निर्णय करना चाहिए।

वेदों में अध्यात्म-विद्या

[ले०—श्री पं० रामानन्द जी शास्त्री, पटना]

भूतलवासी प्राणियों में ज्ञान (विद्या) के कारण मनुष्य श्रेष्ठ है। ज्ञान से ही यह परमात्मा के नजदीक है। ब्रह्म का विशेषण है ज्ञानम्—"सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म"! शास्त्रकार कहते हैं—"नास्ति विद्यासमं चक्षुः" विद्या के समान मार्ग-प्रदर्शन करने वाली कोई चीज नहीं है। वेदव्यास बड़ी ज़ोरदार भाषा में बोल रहे हैं:—

न लोके दीप्यते मूर्खः
　केवलात्मप्रशंसया।
अपि चापिहितः श्वभ्रे
　कृतविद्यः प्रकाशते॥
असदुच्चैरपि प्रोक्तः
　शब्दः समुपशाम्यति।
दीप्यते त्वेव लोकेषु
　शनैरपि सुभाषितम्॥
...　　...　　...
एतस्मात् कारणात् प्रज्ञाम्
　मृगयन्ते पृथग् विधाम्।
प्रज्ञालाभो हि भूतानाम्
　उत्तमः प्रतिभाति मे॥

मानसिक विद्या से अध्यात्म विद्या बड़ी है। गीता का आदेश है।

"आध्यात्मविद्या विद्यानाम्"

जितने महापुरुष हो गये हैं, उन्होंने अपने आत्मिक बल से ही लोक में अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। बुद्ध, मूसा, ईसा, शंकर, दयानन्द एवं गांधी अपनी अध्यात्मिकता से ही विश्व में अभिपूजित हैं। तलवारधारियों द्वारा अधिकृत साम्राज्य काल के गर्त में विलीन हो गया, किन्तु अध्यात्मवाद की विजय-वैजयन्ती आज भी लहरा रही है।

भारत चिरकाल से अध्यात्मविद्या का पक्षपाती रहा है। वशिष्ठ ने विश्वामित्र को डाँटकर कहा कि:—

"धिक् २ क्षत्रबलं ब्रह्मतेजो महाबलम्"

यूरोप तथा इस देश के विज्ञान जो यूरोप के विचारों से प्रभावित हैं, उनकी धारणा है कि अध्यात्मज्ञान वैदिक युग में प्रचलित नहीं था। वैदिक ऋषि अग्नि, वायु, सूर्य आदि भौतिक वस्तुओं की उपासना करते थे एवं कर्मकाण्ड के व्यर्थ झंझटों में लिप्त रहते थे। उपनिषत्कालीन राजऋषियों ने कर्मकाण्ड से अपने को विमुक्त कर अध्यात्मविद्या की धारा इस लोक में प्रवाहित की तथा इन्हीं ऋषियों ने लोकोत्तर आत्मवाद का भी सृजन किया।

यूरोपीय विद्वानों का उद्देश्य यह है कि हिन्दू जनता की श्रद्धा मूल वेदों से हट जाय। जब मूल नष्ट हो जायेगा तो वृक्ष अपने आप ही नष्ट हो जायेगा। सारे भारतीय शास्त्र उद्घोष करते हैं कि हमारा स्रोत वेद है।

वेद से ही सारी विद्यायें निकली हैं। अर्थात् वेद ही सब शास्त्रों का उपजीव्य है। इसलिए विदेशी विचारकों का कुठाराघात वेद पर था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी मैक्समूलर को लाखों रुपया एतदर्थ देती थी कि वे वेदों का भाष्य ऐसा तैयार करें कि भारतीयों की श्रद्धा वेद से चली जाय। इसलिये मीठा ज़हर दिया गया। इस जहर का असर भारतीयों पर खूब पड़ा। महान सुधारक प्रातःस्मरणीय श्रीराजाराममोहन राय वेदों की जगह उपनिषद् एवं गीता पढ़ने का उपदेश दिया करते थे। राजाजी का विश्वास था कि वेद केवल कर्मकाण्ड तथा याज्ञिक क्रियाओं से भरा पड़ा है। आत्मा को उठाने वाली कोई शिक्षा संहिता भाग वेद में नहीं है। अब विचारना है कि क्या वेद में अध्यात्मवाद की चर्चा नहीं है! सर्वप्रथम ईशोपनिषद् को ही लेता हूँ। यह सम्पूर्ण उपनिषदों की माँ है। इसी के मन्त्रों के आधार पर ही सारी उपनिषदें रची गयी हैं। यह यजुर्वेद अध्याय ४० के मन्त्रों का संग्रह है। दो-तीन मन्त्रों को छोड़कर इशोपनिषद् के सारे मन्त्र यजुर्वेद के ही हैं। यह कोई प्रलाप करे कि यजुर्वेद तो अर्वाचीन है अतः इसका प्रमाण नहीं होना चाहिये। किन्तु वस्तुतः चारों वेद एक ही समय प्रकट हुए। अस्तु, थोड़ी देर के लिए यह भी बात मान ली जाय तो भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि सब वेद अध्यात्मवाद के स्रोत हैं।

ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते'—इसमें आत्मा और पर-

मात्मा की सत्ता का उल्लेख है। इन दोनों से परे प्रकृति की कल्पना वृक्ष की उपमा देकर की गयी है। ऋग्वेदीय शुनः शेप सूक्त में कहा गया है कि:—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय—हे वरुण! हम लोग अधम, मध्यम तथा उत्तम इन तीनों पाशों से आबद्ध हैं अतः हमारे इन बन्धनों को ढीला कीजिये। यहाँ पर तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण के पाशों का उल्लेख है। बहुवचन होने से किसी एक मनुष्य की प्रार्थना नहीं हो सकती है। सायण आदि की ऐतिहासिक कल्पना निर्मूल है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। इसमें स्पष्ट है कि मृत्यु की विभीषका से त्राण पाने के लिये परमात्मा से बढ़कर दूसरा मार्ग नहीं है। यहाँ परमात्मा को आदित्यवर्ण कहा गया है। प्रसिद्ध विचारक डांटे ने कहा है कि ईश्वर की उपमा सूर्य से बढ़कर कोई हो ही नहीं सकती है।

ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त में योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद—अर्थात् सृष्टि के अध्यक्ष परमात्मा को तुमने नहीं जाना तो क्या जाना। ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् में केवल ऋचा-पाठ की भर्त्सना की गयी है। कहा गया कि तुम इसके तत्व को जानो।

तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति—

उस ईश्वर के जान लेने पर ही सारी विद्या ज्ञात है।

न तं विदाथ य इमा जजान
अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्या च
असुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

इसमें नास्तिकवाद की निन्दा की गयी है। भगवान् वेद कहते हैं—भौतिक तमःतोम से आच्छन्न इस जगत् के निर्माता को नहीं जानते हैं। क्या इन मन्त्रों में लोकोत्तर की चर्चा नहीं है? गायत्री हमें ज्ञानी बनने के लिये सृजनहार के तेज को ध्यान करने की शिक्षा देती है। हमारे भीतर भी ज्योति है किन्तु जब तक उस महान् ज्योतिः पुञ्ज से सम्बन्ध नहीं होगा तब तक हम ज्योतिष्मान् नहीं हो सकते हैं। यहाँ थोड़ा संकेत किया गया। विशेष जानकारी के लिए हमारे विज्ञ पाठक स्वयं ही वेदों का उहापोह करेंगे तब तो प्रचुर अध्यात्म रस-धारा मिलेगी।

परम-उत्कृष्ट विज्ञान
वेद

[ले०—*श्री पं० भगवद्दत्त जी, बी. ए., रिसर्चस्कालर, देहली*]

वेद-महत्त्व—वेद ज्ञान की चरम-सीमा है। वेद से अधिक ज्ञान न था, न आगे हो सकता है। वेद के नीरजसतम ऋषि अगाध-बुद्धि और स्थिर-प्रज्ञ थे। वे क्रान्तदर्शी थे।

विज्ञान और यान्त्रिक उन्नति—विज्ञान और यान्त्रिक-उन्नति में भूतलाकाश का अन्तर है। यान्त्रिक उन्नति विज्ञान का साधन बनती है, पर विज्ञान नहीं है। वर्तमान मनुष्य यान्त्रिक उन्नति को ही विज्ञान मानता है, यह उसकी महती भ्रान्ति है।

विज्ञान–निश्चयात्मक–जो बदलता है, वह एकान्त सत्य नहीं होता। पाश्चात्य "विज्ञान" के निष्कर्ष प्रायः बदलते रहते हैं, अतः ये यथार्थ-ज्ञान की कोटि में नहीं आ सकते। इनके नाम पर विज्ञान की डिण्डिभि-पीटना सर्वथा हेय है।

वेद के प्रति अश्रद्धा के कारण

प्रथम कारण—गत अनेक शतियों में संस्कृत पढ़ने वाले वेद की संज्ञाओं से नितान्त अपरिचित होते गए। वेद-विद्या ह्रासोन्मुख रही। वररुचि, दुर्ग, स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव, उवट और सायण ने सम्पूर्ण वेद-ज्ञान नहीं खोला। वे कहीं-कहीं ही वेद-विज्ञान का सर्वतोव्यापी स्पष्टीकरण कर पाए हैं।

द्वितीय कारण—योरोप में सन् १८०० के समीप से एक तरङ्ग उठी। तदनुसार पुराना ज्ञान सब अधूरा था। अहंमन्य योरोपीय वैज्ञानिकों का नया ज्ञान सर्वोपरि था। इस विषय पर उनके कुछ लेख देखिए—

(क) विलियम हेज़लिट (सन् १७७८-१८३०) पुरातन ग्रन्थों के पाठ के विषय में लिखता है—

He is a borrower of sense. He has no ideas of his own, and must live on those of other people.........the habit of supplying our ideas from foreign sources 'enfeebles all internal strength of thought,' pp. 47, 48.

(ख) जाह्न टिण्डल (सन् १८२०-१८९३) पुरातन (classical) और वैज्ञानिक (scientific) पद्धति की विचार-धारा के सम्बन्ध में लिखता है—

1. "These two methods are the classical and the scientific." p. 94

But though we are still a long way from this complete intellectual mastery of nature, we have conquered vast regions of it,......we live upon a ball of 800 miles in diameter, swathed by an atmospere of unknown height. This ball has been molten by heat, chilled to a solid, and sculptured by water.

Here the dead languages, which are **sure to be beaten** by **science** in the purely intellectual fight have an irrestible claim. p. 95.

(ग) जे. वि. एस. हाल्डेन (जन्म सन् १८९२) उसी धारा में बहता हुआ लिखता है—

It seems to me vitally important that the scientific point of view should be applied, so far as possible to politics and religion. p. 189 notes.

Now the method of science, which involves doubt, has been conspicuously successful over a certain field p. 113.

पूर्वोद्धृत तीनों लेखकों ने सब प्राचीन ज्ञान व विज्ञान के बाहर अथवा विपरीत माना है। वेद निस्संदेह प्राचीन-ज्ञान है। अतः आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले लोग जब इस प्रकार के लेखों को पढ़ते और पढ़ाते हैं तो उनकी श्रद्धा वेद पर से उठ जाती है।

हेज़लिट का शास्त्र-पाठ पर प्रहार, टिण्डल का संस्कृत आदि भाषाओं को मृत-भाषा कहकर बौद्धिक-युद्ध में उनके परास्त हो जाने का संकेत और हाल्डेन का वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि को ज्ञान-मार्ग में सर्वोपरि मानना भारतीय छात्र को उसके पूर्वजों के ज्ञान से विमुख करने के प्रधान कारण बने हैं। इन लोगों ने लेख अपने अज्ञान के कारण लिखे हैं।

(घ) इनके अतिरिक्त योरोप के मतान्ध ईसाई लेखक भी इस विषय में अग्रसर रहे हैं। उनके अनेक प्रलाप हमने अपने 'वेद-विद्या-निदर्शन' के प्रथमाध्याय में लिखे हैं। यहाँ एक अन्य लेख उद्धृत करते हैं—

न्यूयार्क से मुद्रित होने वाले ग्रन्थ—An Introduction to Mythology में लिविस स्पैन्स लिखता है— Savagery in the Vedas and Brahmans—Although the Vedas of India are 'sacred' works, principally repositories of devotional hymns, they bear traces of this barbarism which permeates all Mythology. p. 20.

Despite the lofty moral sentiments of the Vedas, and their spiritual character, we may discern in them traces of barbarism. p. 256.

योरोप से उत्पन्न हुआ यह भयङ्कर वात्या-चक्र भारत की ऋषि-भूमि पर अपना काम कर रहा है।

दयानन्द सरस्वती—ऐसे अनर्गल प्रलाप का एकमात्र विरोध और खण्डन श्री स्वामीजी ने किया। इस युग के वे ही प्रधान-पुरुष थे, जिन्होंने वेद में भौतिक और ईश्वर-विषयक ज्ञान की चरम-सीमा मानी, अथवा वेद को सब सत्यविद्याओं का पुस्तक माना।

एक सत्यविद्या का निदर्शन-उद्भिज्ज-सृष्टि

१. ऊर्क्

धात्वर्थ—यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ऊर्जे त्वा, ये दो पद मिलते हैं। यहाँ ऊर्जे पद का श्री स्वामीजी कृत अर्थ है—पराक्रमोत्तमरसलाभाय। पाणिनि मुनि ने पुरातन वैयाकरणों के आधार पर अथवा भीमसेनाचार्य ने धातुपाठ के अर्थ-प्रदर्शन में महती सूक्ष्मेक्षिका से ऊर्ज् को चुरादि गण, परस्मैपदीय धातु मानकर उसका अर्थ बल-प्राणनयोः किया है। इस प्रकार ऊर्ज् धातु के दो अर्थ बल और प्राण-दान अथवा जीवन-दान माने गए हैं।[1] ऊर्ज् पृथिवी में प्राण-दान करता है।

निरुक्त में—यास्कीय निघण्टु २।७ में ऊर्क् पद अन्न नामों में पढ़ा गया है। ऊर्क् कैसा अन्न है और इससे अनेक पदार्थों को किस प्रकार जीवन-दान मिलता है, इसका विवेचन आगे किया जाता है।

१. ऊर्ज् का आपः सम्बन्ध

ऊर्क् = आपः रस—ब्राह्मण ग्रन्थों में आपः की बहुविद्यता का वर्णन प्रायः मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ७।१।१।१५ में बह्व्यो ह्यापः कही गई है।

(क) आपः की यह बहुविद्यता आप्य परमाणुओं के संयोग-विभाग का फल है।[2] ऐसा एक फल ऊर्क् है। कौषीतकि ब्राह्मण कहता है—ऊर्ग्वा आपो रसः १२।१॥ अर्थात् ऊर्क् आपः का रस है। आपः का रस क्या होता है, यह अन्वेषणीय है।

(ख) यजुर्वेद १८।४१ की व्याख्या में माध्यन्दिन शतपथ का प्रवचन है—आपो वा ऊर्जः। अद्भ्यो ह्यूर्ग्जायते ९।४।१।१०॥ अर्थात्—आपः ही ऊर्ज् हैं। आपः से ही ऊर्क् उत्पन्न होता है।

यह किन कारणों और किन स्थितियों में उत्पन्न होता है, यह खोज योग्य है।

(ग) यजुर्वेद १।३० के व्याख्यान में भी शतपथ में यही भाव प्रकट किया गया है—यो वृष्टाद् ऊर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह १।२।२।६॥ अर्थात् जो वृष्ट से ऊर्क्-रस उत्पन्न होता है।

इससे स्पष्ट है कि बरसने से यह रस उत्पन्न होता है।

(घ) मै० संहिता में अधिक स्पष्ट रूप से प्रवचन है—

दूषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः। तस्यापोऽप्सरसा ऊर्जो नाम।

अर्थात्—आपः ही अप्सरा हैं। [ये आपः] ऊर्ज् नाम वाली हैं। आपः निवास—ऋग्वेद ७।४९ आपः सूक्त है उसके चतुर्थ मन्त्र में—

विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति। पाठ है। अर्थात्—जिन आपः में सम्पूर्ण देव ऊर्ज् का मद लेते हैं।

इससे स्पष्ट है कि ऊर्ज् में मद है।

२. आग्नेय सम्बन्ध

अब आई आग्नेय सम्बन्ध की बात। ऋग्वेद में मन्त्र है—

ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् १।९६।३॥

अर्थात्—ऊर्ज् के पुत्र भरत-अग्निः को देव धारते हैं।

जिससे उत्पन्न पदार्थ भरत-अग्निः है, वह स्वयं भी आग्नेय प्रभाव युक्त है।

मै० संहिता में एक अन्य मन्त्र है—

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वान् अग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह।

विश्वा आशा दीद्यद् विभाहि—ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे १।६।२॥

अर्थात्—आधिदैविक पक्ष के अनुसार यह अग्नि ऊर्ज् का दाता है।

अन्तरिक्ष में उत्पत्ति—ऊर्क् की उत्पत्ति द्यु और अन्तरिक्ष में होती है। इस विषय में भी ब्राह्मण और संहिता ग्रन्थ स्पष्ट कहते हैं—

ऊर्गिति देवाः [उपासते]। श० १०।५।२।२०॥

अर्थात्—ऊर्ग् को देव उपासते हैं।

---

१. श्री स्वामीजी के अजमेर और राम लाल कपूर ट्रस्ट के संस्करणों में (ऊर्जे) का आर्य भाषा में अर्थ है—'पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिए।' परन्तु यजुः १।३० के संस्कृत भाष्य में 'अन्नाय रसाय पराक्रमाय च' अर्थ है।

२. इस संयोग-विभाग का ज्ञान वर्तमान साइंस वालों को भी है। यथा—two principles, the tendency of matter to combine (संयोग) and disintegrate (विभाग) under the influence of chemical and physical forces,...An outline of the universe, Vol. (२), p. 255. किन भौतिक कर्मों द्वारा यह संयोग विभाग होता है, इसका ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को नहीं है।

पुनः मैत्रायणी संहिता का प्रवचन है—

ये अग्नयो दिवो ये पृथिव्याः समागच्छन्ती-इषम्-ऊर्जं वसानाः १।६।७॥

अर्थात्—जो अग्नियां द्युः से, तथा जो पृथिवी से आती हैं, इष और ऊर्ज् के वास धारण किए हुए।

इससे ज्ञात होता है, आग्नेय परमाणु आपः के रस ऊर्ज् को वासवत् धारण करते हैं।

सूर्य धारक—कपिष्ठल संहिता में प्रवचन है।

देव सूर्येषमूर्जं दधातन १।१४॥

अर्थात्—हे देव सूर्य, इष और ऊर्ज् को धारण कर।

ऊर्क् पृथिवी पर जीवन का कारण—मैत्रायणी संहिता का निम्नलिखित पाठ द्रष्टव्य है—

ऊर्जा पृथिवीं यच्छत। इति। अस्यामूर्जम् अदधात। तस्माद् इमां प्रजा उपजीवन्ति ४।१।१३॥

अर्थात्—ऊर्जा को पृथिवी में रखा। अतः इस ऊर्क् पर प्रजाएं जीती हैं।

पृथिवी-त्वक् का गुण-परिवर्तन—कभी यह पृथिवी अलोमिका और काल्वली थी। वर्षा से पृथिवी में ऊर्ज् आया। यह ऊर्क् ही उद्भिज्ज के प्राण-धारण का कारण बना। इसी के कारण से प्रथम बीज बने।

कपिष्ठल संहिता में भी मैत्रायणी संहितावत् पाठ है—

ऊर्जा पृथिवीं गच्छत १।११॥

ओषधियों में—इस ऊर्ज् से ओषधियाँ ऊर्जस्वती बनीं। इस लिए वेद का कथन है—

ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्। ऋ० १०।१६९।१॥

ऊर्ज् की विवृद्धि—अन्तरिक्ष में शतशः पशु वास करते हैं। वे पशु ऊर्क् की वृद्धि का कारण बनते हैं। कपिष्ठल सं० में कहा है—

ऊर्जा वा एष पशुभिर्विवृध्यते योऽप्सु भस्म प्रवपति ३१।२॥

अर्थात्—ऊर्जा ही निश्चय से [अन्तरिक्षस्थ] पशुओं से वृद्धि पाता है। जो आपः में भस्म बीजता है।

आपः का भस्म क्या है, तथा आपः में भस्म—वपन की माया अभी मेरी समझ में नहीं आई, **ऊर्क् विभाग**—ऊर्क् का कभी विभाग हुआ था। उसके विषय में कपिष्ठल संहिता में कहा है—

देवा वै यत्रोर्जं व्यभजन्त तत् उदुम्बरोऽजायत ३०।८॥

अर्थात्—देवों ने निश्चय जहाँ ऊर्ज् का विभाग कि[या] वहाँ उदुम्बर उत्पन्न हुआ।

लगभग यही पाठ मैत्रायणी संहिता में भी है—

देवा यत्रोर्जं व्यभजन्त तत्र उदुम्बरा उदति[ष्ठत्]
३।१

यह विभाग कितने प्रकार का है। इस विभाग[के] क्या-क्या कारण हैं। इसका ज्ञान सारी उद्भिज्ज-सृष्टि [की] उत्पत्ति का ज्ञान है।

संयोग-विभाग तथा परमाणुओं का क्रमान्यत्व-अणुओं का संयोग-विभाग एक विचित्र माया है। [इस] संयोग-विभाग में क्रमान्यत्व भी होता रहता है। अणु[ओं] के क्रमान्यत्व से ही कोटिशः बीज और कोटिशः पदा[र्थ] उत्पन्न हो रहे हैं। एतद्विषयक एक अत्यन्त महत्त्वपू[र्ण] सिद्धान्त योग दर्शन के व्यास भाष्य में वर्णित है। यथा-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ३।१५॥

अर्थात्—पदार्थों के परिणामान्यत्व (Chemica[l] change) में अणुओं का क्रमान्यत्व हेतु है।

ऊर्जो नपात्—जिस प्रकार अपां नपात्, तनू नपा[त्] स्वतन्त्र पदार्थ हैं, उसी प्रकार ऊर्जो-नपात् (मै० सं[०] ४।४।७) भी कोई स्वतन्त्र भौतिक रचना है।

ऊर्क् स्वरूप—प्रश्न होता है, ऊर्क् क्या है। [इस] के द्वारा पृथिवी-त्वचा में क्या रस आ गया। क्या वह [र]परीक्षण द्वारा देखा जा सकता है। निस्सन्देह वेद-वि[द्] जब तक ऊर्क् आदि पदार्थों को वैज्ञानिक विधि से परीक्ष[ण] में नहीं ला सकते, तब तक उनकी विद्वत्ता का प्रमा[ण] नहीं हो सकता। मुझे विश्वास है, कि ऊर्क् का स्वरू[प] जाना जा सकता है। यह ऊर्क् पृथिवी में किस रूप [में] रह कर उद्भिज्ज और जेरज और अण्डज आदि प्राणि[यों] में सूक्ष्म अन्न का काम देता है; यह अन्वेषण योग्य है।

उद्भिज्ज-सृष्टि में सहायक अन्य पदार्थ—उद्भि[ज्ज] सृष्टि में सोम की बड़ी सहायता हुई है और अब भी सद[ा] होती रहती है।

२ सोम-विप्रुष

जैमिनीय ब्राह्मण में एक महान् तथ्य का प्रवचन है-

सोमं वै राजानं यत् सुपर्ण आहरन् समभिन[त्] तस्य वा विप्रुषो अपतरंत्ता एवेमा ओषधयोऽभवन् सर्वा उ ह वै सौम्या ओषधयः। १।३५५॥ अर्था[त्] सोम राजा को जो सुपर्ण ने द्यौः से लाते हुए तोड़ा, [त]

(इ)सके छींटे गिरे, वे ही ये ओषधियाँ बनीं ।

सोम के छींटे जल-भूमि के संयोग तथा विभिन्न संपी-(ड)नों के प्रभाव से बहुविध बीजों में परिणत हुए ।

वृत्र-वध और सोम वृत्र-वृध के समय भी सोम पृथिवी (प)र आ गया ।

सोम के स्राव में वृत्र सहायक हुआ, इसका उल्लेख (तै)० सं० ६।५।९ में भी है—

इन्द्रो वृत्रमहन्। तस्य शीर्षकपालम् उदौब्जत्। (स) द्रोणकलशोऽभवत्। तस्मात् सोमः समस्रवत। (स)हारियोजनोऽभवत्।

वृत्र-वध और सोम—वृत्र वध के समय भी सोम पृथिवी पर आ गया ।

उद्भिज्जों में सोम—अनेक उद्भिज्ज साक्षात् सोमांश का परिणाम हैं । ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रवचन है—

इन्द्रो वृत्रमहन्। तस्य यो नस्तः सोमः समधावत् तानि बभ्रुतूलानि अर्जुनानि ।

अर्थात्-इन्द्र ने वृत्र को मारा । उस का जो नासिका से सोम बहा, वे बभ्र भूरे रङ्ग वाले बालों के गुच्छों वाले अर्जुन हुए ।

जैमिनि ब्राह्मण १।३५४ में लगभग यही पाठ है । काठक संहिता ८७।१७ का पाठ भी द्रष्टव्य है ।

ताण्ड्य ब्राह्मण ८।४।१ में सोम का द्यु—लोक में होना लिखा है । वहाँ से जब वह नीचे आया, तो पूतिका, और उस के पुण्यों से अर्जुन, और गिरे अंशों से प्रप्रोथ उत्पन्न हुए ।

सृष्टि-कर्म में सोम की अत्यधिक महिमा है, अतः कहा है—अग्निषोमाविदं सर्वम्, इति शान्तिपर्व २९४।३३॥

सुपर्ण के समान गायत्री छन्द से भी सोम नीचे उतरा। सोम का स्वरूप अध्ययन-योग्य है । वैदिक-विद्या इस विज्ञान के विना अधूरी है । सोम का द्यु—लोक से अवरोह एक विचित्र माया है । वृत्र द्वारा मेध्या आपः प्रक्षरण—वृत्र द्वारा जो मेध्या आपः प्रक्षरित हुए, वे दर्भ बने, ऐसा कथन शतपथ ७।२।३।२ में है ।

मै० सं० में प्रवचन है—

इन्द्रो वै वृत्रं अप्सु अध्यहन्। तासां यद् यज्ञियं मेध्यम् आसीत् तदुदक्रामत् । ता इमा ओषधयोऽभवन्। तासां वा एतत्तेजो यद् दर्भाः। एता वै शुष्का आपः। पृ० २५१ ।

अर्थात्—वृत्र-वध के समय आपः का मेध्य भाग कूद कर बाहर निकला । वे ही ये औषधियां बनीं ।

सोम, वृत्र और इन्द्र के योग से कर्कन्धु, बदर और कलम् की उत्पत्ति का जैमिनीय ब्राह्मण २।१५६ में वर्णन है ।

सोम, ओषधि और पशु—जिस प्रकार ऊर्ज् और पशुओं का सम्बन्ध है, वैसे ही सोम, औषधियों और पशुओं का भी सम्बन्ध है । वह अगले वचनों में द्रष्टव्य है-

(क) ओषधयो वै पशुपतिः । तस्माद् यदा पशवः ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति । शतपथ ६।१।३।२०॥

(ख) पशुर्वै प्रत्यक्षं सोमः । श० ५।१।३।७॥

(ग) एते वै पशवो यद् व्रीहयश्च यवाश्च । मै० सं० ४।३।६॥

३. जल-भूमि संयोग–

जल-भूमि का संयोग भी उद्भिज-सृष्टि में एक प्रधान अङ्ग है । योग दर्शन ३।१४ के व्यास भाष्य में यह तत्त्व वर्णित है । मद्रचित भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वितीय भाग, अध्याय तीन इस विषय पर देखना चाहिए ।

पर्जन्य के योग से औषधियों की उत्पत्ति जैमिनि ब्राह्मण २।१५७ में वर्णित है ।

४. चान्द्र प्रभाव भी उद्भिज–

उत्पत्ति में कारण है । इस विषय में काव्य ग्रन्थों के टीकाकार मल्लीनाथ ने रघुवंश ४।५८ की टीका में दो आर्ष प्रमाण दिए हैं । यथा—

अत्र पराशरः—
पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य या कला ।
सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने ।।इति
व्यासश्च—
अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते । इति,

५. सूर्य–रश्मियां

सूर्य रश्मियां भी उद्भिज–सृष्टि में सहायक हैं ।

डार्विन-मत की असत्यता

सकल योरोप और अमेरिका, तथा इस देश के पाश्चात्य प्रभाव-प्रभावित लोग डार्विन के प्रमाण-शून्य मत पर मुग्ध हो रहे हैं। उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि उद्भिज-संसार में सम्पूर्ण बीजोत्पत्ति पृथक् पृथक् और स्वतन्त्र हुई । पुनः कल्पनाओं के आधार पर यह कैसे मान लिया जाए कि जेरज और अण्डज आदि में एक जाति की उत्पत्ति दूसरी जाति से होती गई । विद्वान् इस मेरे संकेत पर गम्भीर विचार करें और सत्य मार्ग पर आ जाएँ ॥

वेद में गणित विद्या के मूल

[ले०—श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, गाज़ियाबाद]

उपक्रम—

सब सत्यविद्याओं का आदिमूल परमेश्वर है, यह बात ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के प्रथम नियम में बताई है। वे सब सत्य विद्या क्या हैं ? या उन्हें कहाँ से जाना जा सकता है ? यह बात तीसरे नियम से बताई गई—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। यदि हम सत्यविद्याओं को जानना चाहें, तो उसके लिये वेद का पढ़ना-पढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिये ऋषि ने आर्यों का यह परम धर्म बताया है।

यथार्थरूप में वेद को समझने के लिये वेद के अङ्गों का ज्ञान लेना आवश्यक है, ऐसा प्राचीन ऋषियों ने कहा। वेद के छह अंगों में ज्योतिष भी एक है, और उसको वेद का चक्षु कहा गया है—'ज्योतिषामयनं चक्षुः'। इस अंग को जाने बिना वेदार्थ के लिये प्रवृत्त होना ऐसा ही है जैसे नेत्रहीन का पथ प्रवेश। हम वेदार्थ के लिये अन्धे के समान प्रवृत्त न हों, इसलिये ज्योतिष का ज्ञान अपेक्षित होता है, कारण यह है कि इसके जाने बिना इस विषय के जो मूल संकेत वेद में हैं, उनको हम यथार्थरूप में समझ नहीं सकते। गणित, ज्योतिष का ही एक रूप है, वेद में निश्चित रूप से उसके मूल आधार का वर्णन होना सम्भव है, खोज से इस विषय के अनेक तत्त्वों की जानकारी वेद द्वारा की जा सकती है। यहाँ ऐसे कतिपय स्थलों का निर्देश यथामति प्रस्तुत किया जाता है।

संख्या गणित का आधार—

साधारण रूप से यह स्पष्ट है कि समस्त गणित का आधार संख्या है। संख्या द्वारा ही गणित का अंकन निरूपित होता है। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि संख्या का व्यवस्थानुसार विविध प्रस्तार ही गणित है। गणित के आधारभूत नियम केवल दो हैं—जोड़ और घटाना। अन्य समस्त गणित के नियम और क़ायदे इन्हीं दो का विस्तार अथवा प्रकारान्तर हैं, यह सब गणना संख्या पर आधारित है। इसका केन्द्र बिन्दु 'एक' है। इसको अनन्त राशि तक जहाँ एक ओर बढ़ाया जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर उसी प्रकार घटाया भी जा सकता है, इसमें पहले को 'जोड़' और दूसरे को 'घटाना' समझना चाहिये, ये दोनों छोर अनन्त हैं, इनकी कोई सीमा नहीं, क्योंकि इकाईयाँ अनन्त हैं। इनके लिये 'छोर' पद केवल व्यवहार की दृष्टि से प्रयोग कर दिया जाता है।

मूलभूत 'एक' संख्या निरपेक्ष है, यह किसी भी इकाई का संकेत करती है। अन्य संख्याओं की इसी की अपेक्षा से कल्पना की जाती है, इसी कारण द्वित्व आदि समस्त संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं, इस रूप में संख्या का विवेचन दर्शन शास्त्रों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है, अपेक्षा बुद्धि जन्य होने पर भी कुछ संख्या ऐसी हैं, जिनका अस्तित्व मूल संख्या के समान आधार भूत संख्याओं में गणना किया जाता है। ये संख्या हैं—दो से नौ तक, इस प्रकार एक से नौ तक की संख्या अपने साथ शून्य को लेकर समस्त गणित का आधार हैं, वेद में इन संख्याओं का अनेकशः उल्लेख है, उन सब स्थलों का यहाँ निर्देश करना तो लेख के कलेवर को व्यर्थ बढ़ाना है, कोई भी व्यक्ति वेद में इन निर्देशों को सरलता से देख सकता है।

अब हम गणित के सबसे पहले नियम जोड़ के विषय में कुछ निर्देश प्रस्तुत करना चाहते हैं। द्वित्व आदि संख्या जोड़ के अनन्तर ही अपने अस्तित्व को प्राप्त कर पाती हैं, इस लिये जोड़ गणित का सबसे पहला नियम है, जोड़ द्वारा संख्याओं का ढेर हो जाने पर ही घटाने की कल्पना हो सकती है, 'आय' के बिना 'व्यय' असंभव है, गणित में साधारण जोड़ के अतिरिक्त इसके अन्य अनेक प्रकार हैं, इनमें से 'वर्ग' और 'गुणा' ये भी प्रकार हैं। वेद से गणित की इन विधियों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश प्रस्तुत करना इस लेख का लक्ष्य है।

वर्ग—

इसका नियम यह है, कि संख्या की कोई इकाई उसी से गुणा कर दी जाय, अथवा उस संख्या को उतनी ही बार परस्पर जोड़ दिया जाय जितनी वह संख्या है, तो वह उस संख्या का वर्ग होता है। दो को दो से

गुणा कर दिया जाय, अथवा जोड़ दिया जाय, तो चार होता है, यह दो का वर्ग है। यजुर्वेद [१८।२४] में इसके लिए एक अद्भुत सिद्धान्त उपदिष्ट है। यजुर्वेद के इस समस्त संदर्भ का अभिप्राय गणित की दृष्टि से केवल इतना है, कि विषम संख्याओं का प्रारम्भ से यथाक्रम जोड़, दो से लगाकर क्रमानुसार संख्याओं के वर्ग को बनाता चला जाता है। गिनती में प्रारम्भ से जितनी विषम संख्या जोड़ी जायेंगी, उतनी संख्या का वह वर्ग होगा। जैसे प्रारम्भ से एक और तीन का जोड़ चार है, इसमें एक और तीन ये दो विषय संख्या जोड़ी गई हैं, इसलिए यह जोड़ दो का वर्ग होगा। इसी प्रकार इन दो में अगली विषम संख्या पांच जोड़ दी जाय, तो यह तीन विषम संख्याओं का जोड़ होगा, इसलिये वह जोड़ [१+३+५=९] तीन का वर्ग होगा।

मन्त्र में एक के आगे विषम संख्याओं का दो-दो बार उल्लेख है, जिसका अभिप्राय है—उस संख्या तक के जोड़ में आगे की संख्या मिला दी जावे, तब पिछला जोड़ जिस संख्या का वर्ग है, अगली संख्या मिलाकर वह पहली संख्या से अगली का वर्ग बन जायगा।

मन्त्र के पद यहाँ से प्रारम्भ होते हैं—'एका च मे तिस्रश्च मे' एक और तीन इन दोनों विषम संख्याओं का जोड़ 'चार' होता है, जो संख्या 'दो' का वर्ग है, क्योंकि यह दो विषम संख्याओं का जोड़ है। मन्त्र में इससे अगले पद हैं—'तिस्रश्च मे पञ्च च मे' इसका अर्थ हुआ–तीन तक की विषम संख्याओं के जोड़ में तीन से अगली विषम संख्या 'पाँच' को जोड़ दीजिये, इसका फल होगा—'नौ' यह दो के आगे की संख्या 'तीन' का वर्ग है, क्योंकि यह यथाक्रम तीन विषम संख्याओं [१+३ +५] का जोड़ है।

इसी प्रकार मन्त्र आगे चलता है—'पञ्च च मे सप्त च मे' पहले के समान इसका अर्थ हुआ–पाँच तक की विषम संख्याओं के जोड़ में 'सात' और मिला दीजिये, योगफल होगा—'सोलह' पाँच तक की विषम संख्याओं का जोड़ (=नौ), तीन का वर्ग हुआ है, उसमें पाँच से अगली संख्या सात जोड़ कर 'सोलह' योगफल तीन से अगली संख्या 'चार' का वर्ग हो गया, क्योंकि यह यथाक्रम चार विषम संख्याओं [१+३+५+७] का जोड़ है।

इसके आगे मन्त्र में पद है—'सप्त च मे नव च मे' पूर्ववत् इसका भी यह अर्थ होगा—सात तक की विषम संख्याओं के जोड़ में सात से अगली विषम संख्या 'नौ' को और जोड़ दीजिये, सात तक का जोड़ 'सोलह' है, उसमें 'नौ' और जोड़कर योगफल 'पच्चीस' हुआ, 'सोलह' चार का वर्ग था, यह उससे अगली संख्या पाँच का वर्ग है, क्योंकि यह पाँच विषम संख्याओं [१+३ +५+७+९] का जोड़ है। इसी प्रकार मन्त्र में आगे पद हैं—'नव च मे एकादश च मे' पहले के समान अर्थ स्पष्ट है—नौ तक की विषम संख्याओं के जोड़ में नौ से अगली विषम संख्या 'ग्यारह' और जोड़ दीजिये। योगफल 'छत्तीस' पाँच से अगली संख्या 'छह' का वर्ग होगा, इस प्रकार कहीं तक जोड़ते चले जाइये, यथाक्रम संख्याओं का वर्ग बनता चला जायगा।

इतने से मन्त्र का अर्थ समझने की प्रक्रिया स्पष्ट हो चुकी है, इसी प्रकार आगे-आगे विषम संख्याओं को पिछले योग में जोड़ते जाने से यथाक्रम संख्याओं का वर्ग निकलता आयेगा, और जितनी विषम संख्याओं का वह जोड़ होगा, उतने का ही वह वर्ग होगा। यह इस मन्त्र में वर्ग निकालने का एक सिद्धान्त प्रकट किया गया है, मन्त्र में इस प्रकार 'तेंतीस' तक की संख्याओं का उल्लेख है, जो 'सत्रह' संख्या तक के वर्ग को बताता है, क्योंकि एक से लगाकर तेंतीस तक विषम संख्या 'सत्रह' होती हैं, इनका जोड़ 'सत्रह' का वर्ग होगा।

मन्त्र में यहीं तक गणना क्यों की गई, इससे पहले ही इसे क्यों न समाप्त कर दिया गया, अथवा कुछ और आगे क्यों न उल्लेख किया गया? इसका वैज्ञानिक समाधान अभी मेरे मस्तिष्क में नहीं है। कल्पना अनेक की जा सकती हैं। यह भी एक कल्पना सामने आती है—वैदिक साहित्य में देवता तेंतीस माने गये हैं [देखें—ऋ० १।१३९।११ तथा ३।६।९], उनका स्वरूप चाहे जो कुछ हो, यहां मुख्य तात्पर्य संख्या से है। उन तेंतीस में समस्त आधिभौतिक जगत् परिगणित हो जाता है। आत्मा का परिवेष्टन सूक्ष्म शरीर बताया गया है, जिसमें बुद्धि अहंकार को एक मानकर 'सत्रह' तत्त्व स्वीकार किये गये हैं, आत्मा के इस वेष्टन का शास्त्रों में वर्णन है। इस संख्या [सत्रह] से अध्यात्म जगत् परिगणित हो जाता है। वर्ग के निर्देश में इन दोनों संख्याओं का ऐसा

सामञ्जस्य है, जो आध्यात्मिक और अधिभूत जगत् को अपने में समेटे हुए है, सम्भव है इन संख्याओं पर प्रकरण की समाप्ति से इस प्रकार के अर्थों की उद्भावना की ओर संकेत अभीष्ट हो। पर यह कल्पनामात्र है।

गुणा—

ज्योतिर्विद्या के अनेक अंगों का उल्लेख वेद में उपलब्ध होता है। ज्योतिष का आधार गणित है, और उस रूप से गणित के अनेक प्रकारों के संकेत वेद में देखे जाते हैं, यहां हम 'गुणा' के विषय में ऋग्वेद के कुछ प्रसंग प्रस्तुत करते हैं।

ऋग्वेद [२।१३।९] की ऋचा में पद हैं—'शतं... दश साकं' इनका अर्थ है—सौ...दस साथ। विचारणीय है कि यहाँ सौ और दस का जोड़ है अथवा गुणा? यदि जोड़ है तो फल होगा—एक सौ दस, और गुणा है तो फल होगा—एक सहस्र। जोड़ मानने पर इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि सौ का दसबार आपस में जोड़, तब फल वही होगा, जो सौ को दस से गुणा करने पर होता है। वस्तुतः गुणा समान संख्याओं के उतने जोड़ का ही नाम है, और ऐसा जोड़ का वह एक संक्षिप्त प्रकार है।

आचार्य सायण ने इन पदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेद की एक ऋचा [६। ४७।१८] को उद्धृत किया है। उसमें पद आये हैं—'शता दश' इसका अर्थ किया गया है—'सहस्र-संख्याकाः'। इससे स्पष्ट है कि यहां सौ के साथ दस का गुणा अभिप्रेत है। इस ऋचा का देवता इन्द्र है, और इस रूप में यह सूर्य का वर्णन है, स्पष्ट कहें, तो उसकी सहस्र किरणों का यह निर्देश किया गया है। पहली ऋचा [२।१३।९] का भी देवता इन्द्र है। 'इन्द्र' किस महीने के आदित्य का नाम है, यह इस लेख की अन्तिम पंक्तियों तक स्पष्ट हो जायगा। फलतः छठे मण्डल की ऋचा के 'शता दश' पदों के सहस्र अर्थ के अनुसार 'शतं दश साकं' का अर्थ भी 'सहस्र' किया गया है, जो दोनों संख्याओं के परस्पर गुणा किये जाने का संकेत करता है।

एक और ऋचा [५।२९।७] में 'त्री शतानि' पद हैं। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'तीन सौ' किया है, एक सौ तीन नहीं। इससे स्पष्ट होता है, यहाँ सौ के साथ तीन का गुणा करना अभिप्रेत है। ऋग्वेद की एक ऋचा [६।२७।६] में 'त्रिंशच्छतम्' पद है। इसमें दो भाग हैं—'त्रिंशत्' और 'शतम्' इनका अर्थ—तीस सैकड़ा अर्थात् 'तीस सौ' [३०००] किया गया है, इससे स्पष्ट है यहाँ तीस और सौ का परस्पर गुणा होना अभीष्ट है। यदि इन संख्याओं का परस्पर जोड़ माना जाय, तो अर्थ—एक सौ तीस—होगा। ऋचा के अर्थ का स्वारस्य या सामञ्जस्य सहस्रों की संख्या में संगत प्रतीत होता है। ऋग्वेद [६।६६।२] के 'द्वि' और 'त्रिः' पद द्विगुण एवं त्रिगुण अर्थ को ज्ञात कराने के लिये प्रयुक्त हैं, यहाँ गुणा की भावना का प्रत्यायन स्पष्ट है।

ऋग्वेद [२।१।८] में 'सहस्राणि शता दशा' ये पद हैं। इन संख्याओं में दस के गुणा एवं दस के भाग की भावना निहित है। दस का दसगुणा सौ और सौ का दस गुणा सहस्र है। इसी प्रकार सहस्र को दस से भाजित करें तो सौ और सौ को दस से करें तो दस होता है। यह दाशमिक प्रणाली का सुन्दर उदाहरण है। दश, शत, सहस्र और अयुत आदि पदों का एकाधिक बार प्रयोग वेद में उपलब्ध है।

ऋग्वेद [१।१५५।६] में गुणा की भावना को प्रकट करने के लिये दो संख्याओं का बड़ा आकर्षक प्रयोग हुआ है। वहाँ पद हैं—'चतुर्भिः साकं नवतिं' इनको जोड़ने से संख्या ९४ (चौरानवे) होती है, और गुणा कर देने से ३६० (तीन सौ साठ), इस ऋचा का देवता 'विष्णु' है। वैदिक द्वादश आदित्यों में एक का नाम विष्णु है। वर्त्तमान प्रचलित मासों में से किस मास के आदित्य का क्या नाम है, यह निम्न निर्दिष्ट चित्रक से स्पष्ट है—

प्रचलित राशि नाम	प्रचलित मास नाम	ऋग्वैदिक आदित्य नाम	याजुष मास नाम	यजुर्वेद के अनुसार ऋतु नाम उनके स्थल
मीन	चैत्र	धाता	मधु	वसन्त, यजु०
मेष	वैशाख	अर्यमा	माधव	१३।२५,
वृष	ज्येष्ठ	मित्र	शुक्र	ग्रीष्म, यजु०
मिथुन	आषाढ़	वरुण	शुचि	१४।६,
कर्क	श्रावण	इन्द्र	नभ	वर्षा, यजु०
सिंह	भाद्रपद	विवस्वान् अथवा दक्ष	नभस्य	१४।१५,
कन्या	आश्विन	पूषा	इष	शरद्, यजु०
तुला	कार्तिक	पर्जन्य	ऊर्ज	१४।१६,
बृश्चिक	मार्गशीर्ष	अंश	सह	हेमन्त, यजु०
धन,	पौष	भग	सहस्य	१४।२७,
मकर	माघ	त्वष्टा	तप	शिशिर, यजु०
कुम्भ	फाल्गुन	विष्णु	तपस्य	❀ १५।५७

चित्रक से स्पष्ट है, कि विष्णु संवत्सर का अन्तिम आदित्य है। इस पर सूर्य का वार्षिक क्रान्त वृत्त पूरा हो जाता है। ऋचा का देवता विष्णु है, इस रूप में प्रस्तुत ऋचा द्वारा सूर्य के पूर्ण वृत्त का वर्णन किया गया है। एक वृत्त एक वर्ष में पूरा होता है, जो साधारण रूप से ३६० दिन के लगभग का है। फलतः एक वर्ष के क्रान्त-वृत्त के दिनों का निर्देश ऋचा में है, जो नव्वे का चार के साथ गुणा करने पर प्राप्त होता है। भगवद्गीता [१०।२१] में श्रीकृष्ण ने विभूति वर्णन प्रसंग में जो कहा है—'आदित्यानामहं विष्णुः' वह भी उक्त अर्थ की ओर संकेत करता है।

जितने उदाहरण ऋग्वेद से यहाँ दिये गये हैं, प्रायः उन सब स्थलों में 'साकं' पद का प्रयोग उपलब्ध होता है, जिसका साधारण अर्थ साथ या सहयोग है। यद्यपि 'साकं' पद का प्रयोग 'जोड़' के लिये भी है, पर उक्त स्थलों में वह गुणन की भावना को प्रकट करता प्रतीत होता है। आज कल गणित के 'भिन्न' नामक नियम के प्रयोग में गुणा को प्रकट करने का सबसे मूर्द्धन्य चिह्न 'का' का उपयोग देखा जाता है। यह कहना तो कठिन है कि गणित में यह प्रक्रिया कितनी पुरानी है, पर ऐसी कल्पना की जा सकती है कि कदाचित् यह वेद में गुणा का भाव प्रकट करने वाले 'साकं' पद का अवशिष्ट चिह्न हो। जो हो, हम केवल इतना प्रकट करना चाहते हैं, कि वेद में गणित के संकेत बहुत स्पष्ट रूप में उपलब्ध हैं।

उक्त ऋक्पदों का सायणकृत अर्थ, उस का विवेचन—

'चतुर्भिः साकं नवतिं' [१।१५५।६] पदों का अर्थ आचार्य सायण ने चौरानवें (९४) ही किया है। उसने संख्याओं का गुणा न मानकर जोड़ माना है और इस ९४ संख्या का सूर्य वृत्त के साथ सामञ्जस्य बैठाने का निम्नलिखित रूप से प्रयत्न किया है—

संवत्सर	१	
अयन	२	
ऋतु	५	[हेमन्तशिशिरयोः समासेन = हेमन्त और शिशिर को एक मानकर, ६ की जगह ५ गिनी हैं।
मास	१२	
अर्धमास (पक्ष)	२४	
अहोरात्र	३०	
याम (प्रहर)	८	
मेषादि लग्न (दैनिक)	१२	
योग	९४	

आचार्य सायण की व्याख्या में कहाँ तक सामञ्जस्य है, यह विचारणीय है। ९४ संख्या की पूर्ति के लिये किसी एक आधार या सिद्धान्त का आश्रय नहीं लिया गया। एक संवत्सर को पहले अलग मानकर आगे उसके चार अवान्तर विभागों की संख्या को जोड़ दिया गया है, उसमें भी वास्तविक छह ऋतुओं की जगह केवल पाँच गिनती में ली गई हैं, अन्यथा योग ठीक न बैठता। वर्ष के चार अवान्तर विभागों के आगे 'अहोरात्र' रूप में एक मास के विभाग का ही उल्लेख किया है और आगे

❀ प्रचलित महीनों के साथ वैदिक आदित्य नामों का यह सन्तुलन विष्णु पुराण, २ अंश, १० अध्याय के आधार पर दिया गया है।

के दो विभाग तो एक दिन के ही आधार पर हैं। यद्यपि वैदिक साहित्य में वर्ष के द्वादश आदित्यों का स्पष्ट उल्लेख है, पर उनके साथ उस काल में मेषादि लग्न के सामञ्जस्य के प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके।

ऋचा के अन्य अर्थ का आधार—

इसके विपरीत जो अर्थ ऋचा का हमने ऊपर प्रदर्शित किया है, उसका आधार गणित का एक सामान्य नियम कहा जा सकता है। किसी भी वृत्त का चतुर्थांश ९०° अंश का माना जाता है, जिसे समकोण कहते हैं, इसका माप त्रिकोणमिति त्रिज्या से किया जाता है। प्रस्तुत ऋचा में सूर्यक्रान्तवृत्त के चतुर्थांश ९०° अंश को ही आधार माना गया है, जो रेखागणित से भी आगे बढ़कर त्रिकोणमिति के गणित की ओर संकेत करता है। इससे परिणाम निकलता है कि वृत्त के चतुर्थांश ९०° अंश को चार से गुणा किया गया है, और क्रान्तवृत्त साधारण रूप से ३६० दिन में पूरा होता है, इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।

उपसंहार—

ज्योतिष सिद्धान्तों के वर्णन के रूप में वेदों में गणित का पर्याप्त एवं विस्तृत वर्णन है। इसके लिये ऋग्वेद का 'अस्य वामीय' [१।१६४] सूक्त तथा उसके आगे-पीछे के दो तीन सूक्त अत्यन्त विचारणीय हैं। इन सूक्तों में ज्योतिष सिद्धान्तों के आधारभूत मूल तत्त्वों का विशद वर्णन है। लेख की कलेवर-वृद्धि का भय हमें वहाँ से इस विषय के कुछ भी अंश प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण करने के लिये बाधित करता है। वेदों में अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रसंग पर्याप्त हैं, विद्वान् उनका अवलोकन कर सकते हैं।

अपराजित[1] = द्युः = द्यौः — लोक

[ले० पण्डिता सुवर्चा एम. ए.—रिसर्च स्कालर]

तीन लोक—आर्य वाङ्मय में तीन लोक अति प्रसिद्ध हैं। वे हैं, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्यौः-लोक। पृथिवी लोक की प्रभूत-माया हमारे सामने है। अन्तरिक्ष लोक भी कुछ-कुछ ज्ञात है। पर द्यौः-लोक का हमारा ज्ञान अति स्वल्प है। अतः यहाँ द्यौः-लोक विषयक वेद-विद्या के संकेत एकत्र कर रही हूँ।

वेदों में प्रायः द्यावापृथिवी सूक्तों में तथा कहीं-कहीं स्वतन्त्र भी द्यौः का आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है। इसका अध्ययन वेद-विद्या के ज्ञान में बहुत उपादेय और वैदिक विज्ञान का उत्कृष्ट निदर्शन है।

अर्थ—द्यौः लोक का अर्थ है तेजोमय लोक। ब्राह्मण ग्रन्थ में अति स्पष्ट रूप से कहा है—

अद्युतदिव वा अद इति तद्दिवो दिवत्वम्। तां० २०।१४।२॥

अर्थात्—चमकते हुए के समान निश्चय वह था, यही दिव का दिवत्व है।

इस निर्वचन में दिव् का चमक से सम्बन्ध बताया गया है। वैदिक सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम में यह तीसरा लोक है। प्रथम उत्पत्ति महदण्ड अथवा प्रजापति पुरुष से पृथिवी लोक की हुई। दूसरी उत्पत्ति अन्तरिक्ष लोक की और तीसरी द्यौः-लोक की हुई।

योरोपीय ज्ञान—वर्तमान पाश्चात्य ज्ञान में लोक-उत्पत्ति का यथार्थ वर्णन कहीं नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले सारे लोग पहले सूर्य का अस्तित्व मानते हैं। तदनु पृथिवी आदि का। पर पुराना सारा संसार वैदिक पक्ष को ही मानता था। देखिए यूनान के ज्ञात इतिहास में प्राचीनतम लेखक हेसिअड लिखता है—

Chaos first Come into existence; then arose the broad bosomed earth, the firm abode of all things......the earth produced the starry Heaven. (Theog. 116 ff.)

अर्थात्— पहले प्रलय था। तब प्रथित भूमि अस्तित्व

१. जै० ब्रा० ३।३४७॥

में आई। यही सब भूतों का स्थिर निवास स्थान है। भूमि ने ताराओं वाले स्वर्ग को उत्पन्न किया।

कौन सन्देह करेगा कि इस वचन में वैदिक भाव का अनुवादमात्र नहीं है।

द्यौः सृजन—

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड में सृष्टि-उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है, याज्ञवल्क्य और माध्यन्दिन ने महती कृपा करके इस श्रेष्ठ विज्ञान को सुरक्षित कर दिया। वहाँ तीसरे आण्ड से द्यौः—सृजन विषयक निम्नलिखित प्रवचन है—

१. अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ते रश्मयोऽभवन्। अथ यत् कपालमासीत् सा द्यौरभवत्॥

अर्थात्—जिस आण्ड से आदित्य का सृजन हुआ, उसका जो कपाल था, उस कपाल में जो रस लिप्त था वे रश्मियां हुईं और जो कपाल था वह द्यौः हुई।

रश्मियां आदित्य से स्वतन्त्र बनीं। इनमें से अनेक रश्मियां आदित्य में एकत्र हुईं। पर वर्तमान में सूर्य अपनी रश्मियों का सृजन और संहार भी करता है।[1] अन्य रश्मियां सम्पूर्ण द्यौः—लोक में व्याप्त हो गईं। द्यौः से बाहर नहीं गईं, क्योंकि द्यौः की परिधियाँ इन्हें रोकती थीं। वस्तुतः रश्मियां भौतिक हैं और इनकी माया विलक्षण है।

वह कपाल क्या था, उसमें परमाणुओं का कैसा-कैसा संयोग विभाग था, वह किस रूप में था। ये सूक्ष्म भाव गम्भीर-दृष्टि चाहते हैं। इतना सत्य है कि वह द्य परिधि युक्त थी।

द्यौः में व्याप्त ये रश्मियां ही हैं, जो पाश्चात्य लोगों द्वारा (Cosmic rays) कही जाती हैं। जगत् के आरम्भ से ये आज तक अपना कार्य समान रूप से कर रहीं हैं।

२. सुवः महाव्याहृति—इस उत्पत्ति के समय शब्द-ब्रह्म की जो माया घटी, उसका उल्लेख तित्तिरि प्रोक्त ब्राह्मण में है। यथा—

सः सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत् २।२।४।३॥

अर्थात्—वह प्रजापति स्वः यह पद बोला और इस पर उसने दिव को सृजा।

सम्पूर्ण—लोक व्याहृतियों के साथ उत्पन्न हुए। प्रत्येक सृजन में जो ध्वनियां उठीं, वे दैवी वाक् का अङ्ग हैं।

द्यौः की पूर्वावस्था—

पहले द्यौः अति संक्षिप्त थी। इस विषय में वाजसनेय याज्ञवल्क्य का प्रवचन माध्यन्दिन द्वारा दोहराया गया है—

सर्मान्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः इति उन्मृश्या हैव द्यौरास १।४।१।२२॥

अर्थात्—पृथिवी और द्यौः आदि लोक अति समीप के समान पहले थे। द्यौः लोक पृथिवी से हाथ उठाकर छूआ जा सकता था।

द्यौः का दूरगमन—

यह दूरगमन वीतये[2] ध्वनि के साथ हुआ। यह रहस्य शतपथ ब्राह्मण के इसी प्रकरण, अनेक शाखा-प्रवचनों और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा खोला गया है।

दूरगमन का समय परिमाण—इस दूर-गमन में कितना समय लगा, यह जानने योग्य है। उस समय सूर्य, चन्द्र आदि सभी स्थिर नहीं हो पाये थे। अतः समय की मात्रा कैसे नापी जाए। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका भी उल्लेख है।

द्यौः का प्रथन—पृथिवी समतल न थी। उस का प्रथन बहुधा कथित है।[3] इसी प्रकार द्यौः का प्रथन भी वर्णित है। ऋग्वेद का मन्त्र है—

अतो द्यावा पृथिवी अप्रथेताम् १०।१४९।२॥

अर्थात्—इससे द्यावा पृथिवी प्रथित हुए। यह प्रथन क्या था, यह अति दुरूह विषय है।

अष्टधा-दिव—

यह दिव बहुविध हो गया। यजुर्वेद का मन्त्र है—

सोऽष्टधा दिवमन्वाततान ८।६२॥

अर्थात्—आठ प्रकार के द्यौः को विस्तृत किया। ये आठ प्रकार दिशाओं के कारण हो सकते हैं और अन्यथा भी।

---

१. सूर्यो रश्मिं यथा सृजा। ऋ० ८।३२।२३॥

२. सामवेद पूर्वार्चिक १।१॥ बृहद्देवता ८।१३० में उचित कहा है—सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्।

३. देखो, वेदविद्या-निदर्शन, पृ० ९९।

वेद-विद्या में एक प्रश्न अत्यन्त आवश्यक और जटिल है। पृथिवी मण्डल कितने कोस ऊपर तक है। उस से ऊपर कहाँ से अन्तरिक्ष आरम्भ होता है। और अन्तरिक्ष की समाप्ति तथा द्यौः का आरम्भ कहाँ से समझा जाता था, ये गम्भीर प्रश्न उत्तर चाहते हैं।

पुनः द्यौः से परे अगले चार लोक कितने आकाश में हैं, यह भी गम्भीर प्रश्न है।

स्वरूप

१. परिमण्डला—अब द्यौः के स्वरूप का प्रश्न उठता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पृथिवी, आदित्य और चन्द्र परिमण्डल हैं और द्यौः भी परिमण्डला है। इसका स्पष्ट वर्णन जैमिनीय ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है। यथा—

स एष प्रजापतिः अग्निष्टोमः परिमण्डलो भूत्वा अनन्तो भूत्वा शये। तदनुकृतीदम् अपि अन्या देवताः परिमण्डलाः। परिमण्डल आदित्यः, परिमण्डलः चन्द्रमाः, परिमण्डला द्यौः, परिमण्डलमन्तरिक्षम्, परिमण्डला इयं पृथिवी १।२५७॥

अर्थात्—वह यह प्रजापति अग्निष्टोम परिमण्डल रूप होकर अनन्त (गोल ?) होकर ठहरा। उसी का अनुकरणरूप अन्य देवता भी परिमण्डल हैं। आदित्य, चन्द्रमा, द्यौः, अन्तरिक्ष और यह पृथिवी परिमण्डल रूप हैं।

यह विचार सर्वथा युक्त प्रतीत होता है।

२. चतुरस्रा—इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर इसको चतुरस्रा भी कहा है। यथा—

चतुरस्रो ह्यसौ लोकः। काटक संकलन। पृष्ठ १६।

अर्थात्—वह द्यौः लोक चतुरस्र है।

इसी विचार की ध्वनि अन्यत्र भी है—

चतुरस्रतः स्वर्गं निर्मलं ह्यग्निसन्निभम्। वृद्ध गोतमस्मृति १५।३५॥

यहाँ चतुरस्रा का क्या अभिप्राय है, क्या यह बात परिमण्डला के विरुद्ध है, इस पर मैं विचार कर रही हूँ।

द्यौः के वर्ण

१. हरिणी— इस विषय में शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन है—

हरिणीव हि द्यौः १४।१।३।२९॥

अर्थात्— हरित वर्ण वाली अर्थात् स्वर्णमयी के समान द्यौः है।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी प्रवचन है—

(असुराः) हरिणीं दिवम् (अकुर्वन्) १।२३॥

अर्थात्—असुरों ने दिव को हरिणी, सुवर्णमयी किया। यह कैसे किया यह अगले अध्ययन का विषय है।

हरि-धाया—पूर्व तथ्य का आधार ऋग्वेद का निम्न उद्धृत मन्त्र है—

द्याम् इन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम्। अधारयत्....................... ॥३।४४।३॥

अर्थात्—द्यौः को इन्द्र ने हरित वर्ण को धारण करने वाली किया।

ये पूर्वलिखित द्यौः रश्मियां हैं, जो द्यौः को हरितवर्णा अथवा सुवर्णमयी बनाती हैं।

२. शुक्ला, पुण्डरीकवर्णा—शतपथ ३।२।१।३ तथा ५।४।५।१४ से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि द्यौः के वर्ण को शुक्ल अथवा पुण्डरीक भी कह सकते हैं।

द्यौः में रश्मि गति—

द्यौः की रश्मियों का स्वरूप उनकी गति के प्रकार, उनका दिव्यत्व तथा उनके कर्म (energy) का मूल कारण ज्ञातव्य है—ये विषय विज्ञान की पराकाष्ठा है।

उग्रा-द्यौः

जब लोक बन रहे थे तब वे अध्रुव, अप्रतिष्ठित अथवा अस्थिर थे। इसका विशद वर्णन वेद-विद्या-निदर्शन के पृष्ठ ३१६ पर लोक-क्रन्दन शीर्षक के नीचे मिलता है। वेद ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है—

१. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा।

अर्थात्—जिसने उग्रा द्यौः को और पृथिवी को दृढ़ किया।

यजुर्वेद ५।१३॥ में भी यही भाव है—

२. अच्युतक्षिद् असि दिवं दृंह।

अर्थात्—द्यौः लोक को दृढ़ करो।

यदि द्यौः तथा ये लोक उग्र रहते, तो कभी के नाश को प्राप्त हो गये होते। अतः वेद में द्यौः आदि के स्तम्भन का बहुधा वर्णन मिलता है।

द्यौः स्तम्भन—

आगे दृढ़ीकरण अथवा स्तम्भन विषय के थोड़े से मन्त्र दिये जाते हैं। वह स्तम्भन अथवा स्थिरी-करण किन-किन उपायों तथा पदार्थों से हुआ, इसके विषय-

में निम्न-उद्धृत मन्त्र देखने योग्य हैं।

१. ऋषभ द्वारा—एक मन्त्र में ऋषभ द्वारा स्तम्भन कहा गया है—

अस्तभ्नात् द्यामृषभो अन्तरिक्षम्। तै० सं १।२।८॥

अर्थात्—स्तम्भित किया द्यौः को ऋषभ ने और अन्तरिक्ष आदि को।

यहां ऋषभ क्या है इसका विवेचन पुनः करूंगी।

२. असुर-द्वारा—एक अन्य मन्त्र में असुर द्वारा यह स्तम्भन कहा है—

अस्तभ्नाद्याम् असुरः। ऋ० ८।४२।१॥

अर्थात्—स्तम्भित किया द्यौः को असुर ने।

असुर विषयक टिप्पण

(क) पूर्व लिख चुकी हूँ कि असुरों ने द्यौः को हरित वर्ण किया।

(ख) अभी इस द्वितीय प्रमाण द्वारा दर्शाया है कि असुर ने द्यौः को स्तम्भित किया।

(ग) तथा अगले मन्त्र में द्यौः—लोक को आरोहण करते हुए असुर रौहिण का वर्णन है—

यः सप्तरश्मिवृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिंधून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥

अर्थात्—इन्द्र ने द्यौः को चढ़ते हुए रौहिण असुर को नष्ट किया। इत्यादि स्थानों में द्यौः के साथ असुर सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है।

३. सविता द्वारा—पुनः ऋग्वेद में कहा है कि सविता ने द्यौः को दृढ़ किया।

अस्कम्भने सविता द्याम् अदृंहत् १०।१४९।१॥

अर्थात्—आधार रहित स्थान में सविता ने द्यौः को दृढ़ किया।

४. इन्द्र द्वारा—इन्द्र ने द्यौः का स्तम्भन किया इसका वेद में वर्णन है।

(क) अवंशे द्याम् अस्तभायत्। ऋ. २।१५।२॥

अर्थात्—वंश रहित स्थान में द्यौः को [इन्द्र ने] स्तम्भित किया।

(ख) अस्तभ्नात् मायया द्याम् अवस्रसः। ऋ. २।१७।५॥

अर्थात्—स्तम्भित किया माया से द्यौः लोक को [इन्द्र ने] पतन से।

(ग) स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं। २।१८।१२१॥

अर्थात्—स्तम्भित किया द्यौः लोक को [इन्द्र ने]।

५. अज द्वारा—पुनः अज द्वारा स्तम्भन का वर्णन है—

अजः............तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।

अर्थात्—अज ने स्तम्भित किया द्यौः को सत्य मन्त्रों से १।६७।३,५,६।

सत्य मन्त्रों अर्थात् छन्दों (vibrations) से अन्तरिक्ष और द्यौः दोनों स्तम्भित हैं।

६. सूर्य द्वारा—दशम मण्डल में सूर्य द्वारा द्यौः का ऊपर की ओर स्थापन कहा गया है—

सूर्येणोत्तभिता द्यौः। ८५।१॥

अर्थात्—सूर्य ने द्यौः को ऊपर की ओर स्थापित किया हुआ है।

स्तम्भन के आधार—

इस स्तम्भन के जो आधार बने उनके विषय में शतपथ में कहा है—

(प्रजापतिः) जीमूतैश्च नक्षत्रैश्च दिवम् अदृंहत। ११।८।१।२॥

अर्थात्—प्रजापति ने जीमूतों और नक्षत्रों से द्यौः को दृढ़ किया।

द्यौः लोक में नक्षत्र—

पूर्व लिखा गया है कि द्यौः का दृंहण नक्षत्रों से भी हुआ। वैदिक वाङ्मय में बहुधा इसका उल्लेख मिलता है। उसके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

(क) युवमेतानि दिवि रोचनानि। ऋ. १।९३।५॥

अर्थात्—हे अग्नि और सोम, तुमने द्यौः लोक में दीप्त नक्षत्रों को धारण किया।

पुनः कहा है—

(ख) बद्धवे रोचना दिवि। ऋ. १।८१।५॥

अर्थात्—इन्द्र ने द्यौः लोक में दीप्त नक्षत्रों को स्थापित किया। इससे निश्चित होता है कि नक्षत्रों का क्षेत्र द्यौः लोक में है।

तीन द्यु-लोक अथवा त्रिवृत द्यु—

वेद में बहुधा त्रिरोचना अथवा त्रि-द्यु का उल्लेख मिलता है। उससे दो अभिप्राय लिये जा सकते हैं, चाहे तीन द्यौः हैं अथवा एक ही द्यौः त्रिवृत है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है—

कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान १।३५।७॥

अर्थात्—किस द्यौः को (इस सूर्य की) रश्मि व्याप्त होती है। इस मन्त्र द्वारा भी द्यौः की बहुविधता पष्ट है।

तीन-द्यौः विषयक मन्त्र आगे दिये जाते हैं—

१. तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाम् । ऋ० १।३५।६॥

अर्थात्—तीन द्यौः लोक हैं, सविता के समीप दो हैं। ऋग्वेद में अन्यत्र भी कहा है—

२. तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् ७।८७।५॥

अर्थात्—तीन द्यु इसके अन्दर रखे गये हैं।

एक अन्य मन्त्र में भी यही भाव स्पष्ट होता है—

३. तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः। ऋ० ७।१०२।४॥

अर्थात्—तीन द्यु-लोक तीन प्रकार से स्रवित करते हैं आपः को।

जिस प्रकार इन अनेक मन्त्रों में द्यु-तीन कहे गये हैं, उसी प्रकार द्युस्थ नक्षत्रों के रोचन स्थान भी तीन ही कहे गये हैं। यथा—

१. तिस्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना । ऋ० १।१०२।८॥

अर्थात्—तीन भूमियां हे नृपते [इन्द्र] और तीन रोचन स्थान आप स्थापित करते हो।

पुनश्च ऋग्वेद में कहा है—

२. उत यासि सवितस्त्रीणि रोचना ५।८१।४॥

अर्थात् हे सविता दीप्त तीन लोकों को प्राप्त होते हो।

त्रिवृत विषयक ब्राह्मण संकेत—पृथिवी त्रिवृत है, अन्तरिक्ष त्रिवृत है, इसी प्रकार द्यु भी त्रिवृत है। ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रवचन है—

आदित्येन दिवा नक्षत्रैस्तेनासौ लोकस्त्रिवृत्। १०।१।१॥

अर्थात्—आदित्य, दिव और नक्षत्रों से द्यौः लोक त्रिवृत है।

बहुत सम्भव है कि त्रिदिव से त्रिवृत-द्यु लोक का अभिप्राय है। यदि आदित्य को द्यु के निचले स्थान में माना जाए तो नक्षत्र द्यु के सबसे परले स्थान में मानने पड़ेंगे।

ज्योतिः-पुंज द्यौ—

मैत्रायणी संहिता (पृष्ठ १८९) पर अन्तरिक्ष में भास, दिव में ज्योति और दिशाओं में तेज माना गया है। आदित्य और नक्षत्रों के कारण दिव ज्योतिः-पुंज है।

आपः से व्याप्त—द्यु लोक आपः से व्याप्त है, आपः परमाणु इसमें अपनी परम माया दिखाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है—

(क) आपो वै द्यौः। ६।४।१।९॥

(ख) द्यौर्वाऽअपां सदनं। दिवि ह्यापः सन्नाः ७।५।२।५६॥

स्पष्ट है कि द्यु में आपः परमाणुओं का राज्य है। यही आपः परमाणु आदित्य में अपनी माया दिखाते हैं। सूर्य-ताप इन्हीं का परिणाम है। यह रहस्य योरोप और अमरीका के वैज्ञानिकों को अभी तक समझ नहीं आया।

द्यु में छन्द—

द्यु-स्तम्भन विषयक पाँचवे प्रमाण में पूर्व लिख चुके हैं कि द्यौः को स्तम्भित किया सत्य मन्त्रों से। मैंने सत्य मन्त्रों से छन्दों का अभिप्राय लिया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में द्यौः को छन्द, अक्षर पंक्ति छन्द, विष्पर्धा छन्द, शम्भूः छन्द, त्रिष्टुप् छन्द, गायत्री छन्द, और बृहत् छन्दमय कहा है। द्यौः में आपः आग्नेय परमाणु इन्हीं छन्दों में चक्कर काटते हैं।

द्यु-लोक घृत से आवृत—

द्यु की परली परिधि घृत परमाणुओं के संघात की है। घृत आपः और अग्नि का कौन सा रूप है यह मैं अभी निर्णीत नहीं कर सकी। उस घृत से द्यु-लोक पूर्ण आवृत है। उससे परे दूसरे लोक हैं। वेद में लिखा है—

(क) घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते। ऋ० ६।७०।४॥

(ख) घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्। यजु० ५।२८॥

(ग) घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम्। यजु० ६।१६॥

इसी भाव को एक दूसरे प्रकार से भी प्रकट किया गया है। यथा—

दिव्यं घृतम्। ऋ० २०।१२।३॥

अर्थात्—दिव में होने वाला घृत।

दिव की चोटी

इन्द्र का स्तुति-गान करते हुए ऋग्वेद में कहा है—
त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयः। १।५४।४॥

अर्थात्—हे इन्द्र तुमने बृहत् द्यु की चोटी को भी कंपाया।

द्यु के अश्मन् का ऋग्वेद में अन्यत्र उल्लेख है—

दिवो अश्मानमुपनीतमृभ्वा।१।१२१।९॥

अर्थात्—द्यु लोक से ऋभु ने अश्मा को लाया।

द्यु के पर्वत—

दिव की चोटी लिखी जा चुकी है। द्यु के अश्मा भी लिखे गये हैं। अब द्यु के पर्वत देखिए। ऋग्वेद कहता है—

धूनुथ द्यां पर्वतान्।५।५७।३॥

अर्थात्—हे मरुतो आपने कंपाया द्यु के पर्वतों को।

इससे ज्ञात होता है कि मरुतों का क्षेत्र द्यु तक फैला हुआ था। यद्यपि मरुतों का स्थान अन्तरिक्ष में है, तथापि उनका विस्तार और उनके कर्म द्यु तक फैलते हैं।

द्यु से वृष्टि—

वर्तमान विज्ञान में वृष्टि विद्या का बड़ा अधूरा वर्णन है। समझा जाता है कि पृथिवी के आवरण (atmosphere) से ही वृष्टि का सम्बन्ध है। यह ठीक नहीं। आदित्यात् जायते वृष्टिः। वृष्टि आदित्य से आती है इसीलिये ऋग्वेद में कहा है—

दिवो वृष्टिम्।२।२८।१५॥

अर्थात्—दिव वृष्टि को लाते हैं।

जीमूत और वृष्टि—पहले स्तम्भन के आधार प्रकरण में शतपथ के प्रमाण से लिख चुकी हूँ कि जीमूतों से द्यौः स्तम्भित है। वस्तुतः ये जीमूत द्यु में हैं; और वहीं से वृष्टि को अन्तरिक्ष में भेजते हैं। और अन्तरिक्ष से मारुत वृष्टि को पृथिवी पर भेजते हैं।

योरोप और अमरीका को साईन्स का बड़ा अभिमान है, इस अभिमान की आड़ में उन्होंने वैदिक-ज्ञान की महती अवहेलना की है। यदि आर्य-लोग वेद के आधिदैविक पक्ष का यथार्थ, गम्भीर तथा ब्राह्मण और दर्शन की सहायता युक्त स्वाध्याय करेंगे, तो इन विषयों पर दिन-दिन अधिकाधिक प्रकाश पड़ेगा। तभी ऋषि दयानन्द सरस्वती का कथन सत्य सिद्ध होगा—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है॥

दीर्घ आयु

[ले०—श्री० आयुर्वेदाचार्य पं० सूरम चन्द्रजी वैद्य—दक्षिण पटेल नगर-देहली]

आधुनिक शरीर-शास्त्र वैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की आयु १५० वर्ष तक हो सकती है, अधिक नहीं। इनका ऐसा मत सकारण है। आधुनिक विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है और इसका मूल आधार डार्विन का विकासमत है। अतः आधुनिक विज्ञान के ३०० अथवा ४०० वर्षों के अल्पकालिक इतिहास में १५० वर्ष से अधिक आयु वाले मनुष्य न दिखने के कारण आधुनिक वैज्ञानिक १५० वर्ष से अधिक आयु होना सम्भव नहीं समझते।

यदि ये लोग आयुर्वेदीय सत्शास्त्रों, योग आदि आर्ष विद्याओं एवं प्राचीन भारतीय इतिहास से अभिज्ञ होते तो ऐसा एकदेशीय और सत्य से विपरीत मत प्रकट न करते। चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थ, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ तथा अन्य वैदिक साहित्य ऐसे प्रबल प्रमाणों से ओत-प्रोत हैं कि जिनसे १५० वर्ष से कहीं अधिक दीर्घ आयु सिद्ध होती है। परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गत १००-१५० वर्षों में विकास मतानुयायी पाश्चात्य लेखकों एवं उनके एतद्देशीय शिष्यों ने भारतीय साहित्य और इतिहास के विरुद्ध इतना मिथ्या प्रचार किया कि उसके प्रभाव से इस देश के अधिकांश पठित लोगों को भारतीय साहित्य और इतिहास की सत्यता पर ही संदेह हो गए हैं। फलतः दीर्घायु के सिद्धान्त पर भी प्रायः अविश्वास हो गया है। इस अविश्वास का एक अन्य कारण भी है। वर्तमान युग में योग आदि प्राचीन विद्याओं और ब्रह्मचर्य के अभाव तथा सदाचार और स्वास्थ्य के नियमों के अतिक्रमण के कारण स्वास्थ्य और आयु का इतना ह्रास हो चुका है कि प्राचीन काल के ऐश्वर्य की कल्पना करनी भी कठिन है।

अब इस विषय का सप्रमाण दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रामाणिक माने गए मानव धर्मशास्त्र में लिखा है—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥
मनु० १।८३॥

अर्थात्—सतयुग में मनुष्य नीरोग और सब प्रकार से पूर्ण-काम थे। तब मानव आयु ४०० वर्ष थी। त्रेता में वह आयु परिमाण ३०० वर्ष, द्वापर में २०० वर्ष और कलि में १०० वर्ष हो गया। प्रतियुग मानव आयु पाद-पाद न्यून होती जाती है।

इसी श्लोक का रूपान्तर महाभारत शान्तिपर्व में इस प्रकार है—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिष्वेतेषां पादशो ह्रसते वयः॥२४।२४॥

आयुर्वेदीय चरक संहिता के विमान-स्थान के तृतीय अध्याय में भी इसी आशय के निम्नलिखित श्लोक उपलब्ध हैं—

युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥३१॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥३२॥

कैसा सुन्दर वैज्ञानिक वर्णन है। डार्विन के विकास-मत पर यह एक भारी चोट है।

ऋषि और देवों की आयु अति दीर्घ—

ऊपर लिखे प्रमाणों से मनुष्य की आयु ४०० वर्ष तक सिद्ध होती है। परन्तु ऋषियों और देवों की आयु इससे भी अधिक दीर्घ होती है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए मनुस्मृति में मनुष्य की सामान्य आयु बताने के पश्चात् अन्यत्र लिखा है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च॥४।९४॥

अर्थात्—ऋषियों ने दीर्घ-सन्ध्या (योगाभ्यास) द्वारा दीर्घजीवन प्राप्त किया।

यहाँ "दीर्घायु" का अभिप्राय निश्चितरूप से ४०० वर्ष से अधिक आयु का है।

देवों का आयुर्दैर्घ्य शतपथ ब्राह्मण के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

द्राघीयो हि देवायुषꣳ।
ह्रसीयो मनुष्यायुषꣳ॥ ७।३।१।१०॥

अर्थात्—देवों की आयु मनुष्यों की अपेक्षा दीर्घ होती है।

मनुष्य ऋषि, देव आदि का पार्थक्य—

वास्तव में प्राचीन इतिहास और साहित्य के गम्भीर अध्ययन से मनुष्य, ऋषि, देव आदि की पृथक् जातियाँ सिद्ध होती हैं। इस पार्थक्य के भाव को समझे बिना दीर्घजीवन का रहस्य नहीं जाना जा सकता।

वात्स्यायन मुनि न्यायदर्शन के सूत्र १-१-७ पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

आप्तः खलु साक्षात् कृतधर्मा।
......ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।

यहां वात्स्यायन मुनि ने ऋषि, आर्य (भारतीय मनुष्य) और म्लेच्छों (अपभ्रंश भाषाएं बोलने वाली जातियों का भेद दर्शाया है।

आयुर्वेदीय चरक संहिता के निम्नलिखित श्लोकों से यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है—

यथामराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसाय विधिः पुरा॥७८॥
न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा॥७९॥
[चरक चि० अ० १]

अर्थात्—जिस प्रकार देव अमृत से, नाग (जाति विशेष) सुधा से दीर्घजीवी हुए उसी प्रकार अति प्राचीन काल में महर्षि लोग रसायन सेवन से चिरजीवी हुए वे वार्धक्य, दौर्बल्य, रुग्णता और मृत्यु से सहस्रों वर्षों तक रसायन सेवी होने के कारण बचे रहे।

इन श्लोकों में अमृत, सुधा और रसायन-सेवन तीन पृथक् साधन दीर्घ-जीवन-प्राप्ति के बताए हैं। मनुष्य, ऋषि, देव आदि के भेद को समझने के लिए निम्नलिखित शास्त्रीय उद्धरण भी ध्यान देने योग्य हैं—

(१) इमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यन्तीति। ऐ० ब्रा० ६।१॥

(२) ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन्। ऐ० ब्रा० ६।१॥

(३) त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्याः असुराः।
बृ० उ० ५।२॥

पूर्व उद्धृत प्रमाणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ऋषि, देव, नाग आदि में से ऋषि सबसे अधिक दीर्घजीवी हुए। यदि यह कहा जावे कि प्राचीन भारतीय इतिहास ऋषियों का ही इतिहास है तो अत्युक्ति नहीं। अतः इस विषय के गहन अध्ययन के निमित्त अब ऋषियों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक मौलिक तथ्यों पर प्रकाश डाला जाता है।

ऋषियों के लक्षण—

वायु पुराण में सम्भवतः प्राचीन ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर लिखा है—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत्संनियतस्तस्मिन्ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
५९।७९॥

अर्थात्—'ऋष' धातु गति, श्रुति, सत्य तथा तप अर्थक है। इस धातु में ब्रह्मा ने ये अर्थ संनिहित किए। जिस में ये सब गुण हो वह ऋषि होता है। चरक संहिता के सूत्रस्थान के निम्नलिखित श्लोक इसी भाव को खोलकर बताते हैं—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥१८॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते, तेषां वाक्यमसंशयम्,
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥१९॥
[अध्याय ११]

अर्थात्—रज और तम से रहित (सत्त्वगुणस्थ) तपोज्ञान युक्त, त्रिकालज्ञ, अमल और अव्याहत ज्ञान वाले, आप्त, शिष्ट, विबुद्ध अथवा परम ज्ञानी ऋषि होते हैं। इनका ज्ञान निर्भ्रान्त सत्य होता है।

ऋषियों की उत्पत्ति—

अथर्ववेद में लिखा है—

यत्र ऋषयः प्रथमजाः। ७।१४॥

अर्थात्—ऋषि प्रथम उत्पन्न होते हैं।

श्री० प्रशस्तपादाचार्य वैशेषिक दर्शन ४।२।६ के भाष्य में लिखते हैं—

शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च।
.... ।
ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा
अयोनिज-शरीरविशिष्टा......... ।

अर्थात्—शरीर योनिज और अयोनिज दो प्रकार का होता है।......सर्ग आदि में ऋषियों, प्रजापतियों और मनु आदि के शरीर अयोनिज थे।......।

महाभारत सभापर्व ८/२६ में भी "अयोनिज" शरीर का एक प्रकारान्तर "योगज" शरीर वर्णित है।

अब यह विद्वानों के विचार का विषय है कि जिन ऋषियों ने सर्ग आदि में अपने शरीर योगज शक्ति से स्वयं निर्माण किए और जो रज और तम से मुक्त होने के कारण काल के प्रभाव से भी परे थे उनकी आयु कितनी लम्बी हुई होगी।

वास्तव में ऐसे महर्षियों की ही आयु सहस्रों वर्ष वर्णित है। परन्तु योगविद्या की विभूतियों से परिचित और ईश्वर की अपार सत्ता में विश्वास रखने वाले विद्वान् को ही इस तथ्य का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस युग के विकास मतावलम्बी नास्तिक की बुद्धि में यह बात नहीं समा सकती।

प्राचीन ऋषि-वंशावलियाँ—

उपलब्ध प्राचीन वंशावलियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जहाँ राजाओं की वंशावलियों में भिन्न-भिन्न राजाओं के राज्यकाल प्रायः १०० से १५० वर्षों तक जाते हैं वहाँ ऋषि-वंशावलियों में ऋषियों की आयु एक सहस्र अथवा दो सहस्र वर्ष तक भी पहुँच जाती है। ऋषियों के ऋषित्व और उनके दीर्घ जीवन के रहस्य को समझे बिना यह बात बुद्धिगम्य नहीं हो सकती। यही कारण है कि अतिपरिश्रमी अंग्रेज ऐतिहासिक भी इन प्राचीन ऋषि-वंशावलियों को संदेह की दृष्टि से देखते हुए लिखता है—

It is generally Rishis who appear on such occasions in defiance of Chronology and rarely that kings so appear [A. I. H. T. P. 141]

अर्थात्—ये प्रायः ऋषि हैं जो ऐसे अवसरों पर दिखते हैं और जिनके जीवन-परिमाण से प्राचीन भारतीय इतिहास का तिथिक्रमभङ्ग हो जाता है। राजाओं के विषय में तिथि भङ्ग अत्यल्प है।

यदि पार्जिटर महोदय को ऋषि और मनुष्य का भेद ज्ञात होता तो वे ऐसा भ्रान्त उल्लेख न करते। स्वामी दयानन्द सरस्वती को यह भेद ज्ञात था। इसी कारण से

उन्होंने निम्नलिखित ऋषि-वंशावली सत्य मानी है—

ब्रह्मा
|
वसिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
कृष्णद्वैपायन व्यास

स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में पृष्ठ २०९ पर लिखते हैं—

"जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किए यह बात झूठी है, क्योंकि व्यास जी के पिता, पितामह, प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारों वेद पढ़े थे।"

अब आर्य विद्वान् इस बात का उत्तर दें कि आदि-काल (ब्रह्मा) से महाभारत (कृ० द्वै० व्यास) तक के सहस्रों वर्ष लम्बे काल को वे ब्रह्मा आदि की पाँच पीढ़ियों में विभक्त करें तो प्रत्येक ऋषि की आयु कितनी बैठती है। युगों की न्यून से न्यून आयु गिनने पर भी इन में से किसी ऋषि की आयु एक सहस्र वर्ष से कम नहीं हो सकती। पराशर जी दाशरथि राम के काल में हुए और महाभारत के काल में भी जीवित थे। अतः उनकी आयु दो सहस्र वर्ष के लगभग अवश्य थी। अब विद्वानों के विचारार्थ आयुर्दैर्घ्य विषयक कुछ ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है—

(१) आयुर्वेदीय चरक संहिता, विमान स्थान अध्याय तृतीय में लिखा है—

आदि काले हि अदिति सुत समौजसो·····सत्या-र्जवानृशंस्यदानदम-नियम तप उपवास ब्रह्मचर्य व्रत-परा व्ययगतभयराग-द्वेष मोह लोभ क्रोध शोक मान रोग निद्रा तन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः। ॥२८॥

अर्थात्—आदि सृष्टि में जप, तप, होम आदि के करने वाले, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन करने वाले तथा भय, राग, द्वेष आदि से रहित अमितायु पुरुष हुए।

यहाँ 'अमितायु' का अर्थ अपरिमित आयु है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र रुद्रदत्त वृत्ति २।१।१ में उद्धृत कात्यायन मुनि के निम्नलिखित वचन से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

"अपरिमितं प्रमाणाद् भूय इति"

अर्थात्—जिस युग में मानव आयु का जो परिमाण हो, उस युग में उस परिमाण से अधिक आयु भोगने वाला 'अमितायु' कहलाता है।

(२) चरक संहिता में अन्यत्र उल्लेख है कि—

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्याः महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुर मितायुषः ॥च० १।२।२०॥

अर्थात्—च्यवन आदि वार्धक्य प्राप्त महर्षि इन कल्याणकारी रसायनों के सेवन से अमितायु हुए।

यहाँ रसायन का विशेष महत्त्व दर्शाया है।

(३) शांखायन आरण्यक का पाठ है कि—

तत उ ह दीर्घतमा दशपुरुषायुषाणि जिजीव। २।१७॥

अर्थात्—दीर्घतमा ऋषि दश पुरुषायु (एक सहस्र वर्ष) जीवित रहा।

[न्यूनतम पुरुषायु सौ वर्ष मानी गई है]

(४) ऐतरेय आरण्यक में लिखा है—

भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवी-तमस्तपस्वितम आस। १।२।२॥

अर्थात्—भरद्वाज ऋषियों में अनूचानतम, दीर्घ जीवितम और तपस्वितम था।

भरद्वाज के आयुर्दैर्घ्य के विषय में विशेष जानकारी के लिए मेरा 'आयुर्वेद का इतिहास' देखें।

(५) आचार्य द्रोण (भारद्वाज) की वय के विषय में महाभारत द्रोण पर्व का निम्नलिखित श्लोक विशेष ध्यान देने योग्य है—

आकर्ण पलितः श्यामो वयसा अशीति पञ्चकः।
संख्ये पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडषवर्षवत्॥

अर्थात्—(भारत युद्ध में) ४०० वर्ष का वृद्ध द्रोणाचार्य सोलह वर्ष के युवा के समान युद्ध कर रहा था।

(६) वाल्मीकि रामायण में मार्कण्डेय ऋषि के विषय में लिखा है—

मार्कण्डेयः सुदीर्घायुः। दाक्षिणात्य पाठ
बाल० ७१।४॥

अर्थात्—मार्कण्डेय अति दीर्घ आयु वाले थे।

उसी मार्कण्डेय के विषय में महाभारत में उल्लेख है कि—

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
आ० पर्व १८०।५, ३९, ४०॥

अर्थात्—मार्कण्डेय बहुत वर्षों तक जीने वाले थे ।

इसी सम्बन्ध में महाभारत में पुनः लिखा है—

दीर्घसायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दसरणं तथा ।
आ० १८७।५१॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर, मार्कण्डेय ऋषि दीर्घायु और स्वच्छन्दमरण वर युक्त थे ।

रामायण के काल से महाभारत के काल तक जीवित रहने वाले इस महान् ऋषि की आयु का अनुमान विद्वान् स्वयं करें ।

(७) प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग की शमन-हुई-ली कृत जीवनी (बील का अंग्रेजी अनुवाद, सन् १८८८) का निम्नलिखित पाठ दीर्घजीवन विषयक एक आश्चर्यजनक ऐतिहासिक उदाहरण उपस्थित करता है—

......अगले दिन वह (ह्यून सांग) तेहेक राज्य की पूर्वी सीमा पर पहुँचा और एक बड़े नगर में प्रविष्ट हुआ ।......। इस वन में सात सौ वर्ष का एक ब्राह्मण रहता था। वह आकृति में लगभग तीस वर्ष का दिखता था । उसका रूप-रङ्ग पूर्ण था । उसकी बुद्धि देव-प्रकृति की थी । उसकी तर्क शक्ति अपार थी ।........, वह वेद और शास्त्रों के अध्ययन में विख्यात था । उसके दो शिष्य थे । जिनमें से प्रत्येक एक सौ अथवा अधिक आयु का था । इति

[अध्याय २ पृ० ७४–७५]

वेद और शास्त्रों के प्रमाणों को काल्पनिक बताने वाले क्या इस विदेशी निष्पक्ष यात्री के साक्ष्य को भी नहीं मानेंगे ।

वेदों में आयुर्दैर्घ्य विषयक मन्त्र—

वेद के प्रमाण के बिना यह विषय अधूरा दिखेगा । अतः ऐतिहासिक प्रमाणों के पश्चात् अब यहां कुछ ऐसे वेद-मन्त्र उद्धृत किए जाते हैं कि जिनमें दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई है—

(१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः ।
यजु० ३६।२४॥

अर्थात्—सब कर्म करते हुए दीर्घ जीवन प्राप्त करो ।

(२) ....अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।
भूयश्च शरदः शतात् ।

अर्थात्—दुःख रहित होकर हम सौ वर्ष अथवा इससे भी अधिक जीवें ।

(३) शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं
हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः
शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥अथर्व०
३।११।४॥

अर्थात्—हे मनुष्य तू उन्नति करता हुआ सौ शरद् ऋतु, सौ हेमन्त और सौ वसन्त ऋतु जीवित रह ।

अनेक विद्वान् ऐसे वेद-मन्त्रों से यह अभिप्राय निकालते हैं कि वेद के अनुसार सौ वर्ष की आयु प्राप्त करना एक उच्चतम आदर्श है क्योंकि वेदों में बारम्बार सौ वर्ष जीने की प्रार्थना है । परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तव में वेद ने न्यूनतम आयु सौ वर्ष बताई है । इससे न्यून आयु निन्दनीय कही है । इस कारण से सौ वर्ष जीने की प्रार्थना अनेक बार की गई है ।

ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र इसी अभिप्राय का द्योतक है—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि
मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरुचीरन्तर्मृत्युं
दधतां पर्वतेन ॥ ऋ० १०।१८।४ ॥

अर्थात् जीवों के लिए यह सीमा स्थापित करता हूँ ।......उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीओ । (सौ वर्ष से पूर्व) यदि मृत्यु आवे तो मृत्यु के मार्ग में पर्वत खड़ा कर के उसे रोको ।

वेद में सहस्रायु होने की प्रार्थना

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से सहस्रायु होने के लिए प्रार्थना की गई है—

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं
कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः
सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ अथर्व १७।१।२७ ॥

अर्थात्—मैं प्रजापति ब्रह्मा के कवच तथा कश्यप की ज्योति और वर्चस से ढका हुआ, वृद्धावस्था को प्राप्त

पूर्ण शक्तिशाली श्रेष्ठ कर्म करता हुआ सहस्र वर्ष आयु वाला संसार में विचरूँ।

दीर्घ जीवन के उपाय—

दीर्घ आयु के प्रमुख साधनों के विषय में इस लेख के पूर्वभाग में स्थान स्थान पर संकेत हैं। परन्तु इस तर्क प्रधान युग में संकेत मात्र से संतोष नहीं हो सकता। यह स्वाभाविक है कि इस लेख को पढ़ने के पश्चात् पढ़ने वालों के मनों में प्रायः यह प्रश्न उठेंगे—

(१) प्राचीन काल में योगाभ्यास, रसायन आदि द्वारा किस प्रकार दीर्घ जीवन प्राप्त किया जाता रहा है?

(२) आजकल इन साधनों का ज्ञान होने पर भी स्वास्थ्य और आयु का इतना ह्रास क्यों हो गया है?

(३) जिन 'च्यवन प्राश' आदि रसायनों के सेवन से च्यवन आदि महर्षि पुरा काल में सहस्रों वर्ष जीवित रहे उन ही रसायनों के प्रयोग से आज अभीष्ट लाभ क्यों नहीं होता?

(४) इस युग में आयु और स्वास्थ्य के अत्यधिक ह्रास के क्या कोई अन्य कारण विशेष भी हैं?

इस विषय के ऐसे प्रश्नों का उत्तर यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा सकता। अतः इसी पत्रिका में इस आशय का एक सविस्तर लेख पुनः प्रकाशनार्थ प्रस्तुत किया जावेगा। [इस विषय में जो विद्वान् शास्त्रीय रीति से अपने विचार अनुकूल वा प्रतिकूल उपस्थित करना चाहें वे वेदवाणी में अपने विचार उपस्थित कर सकते हैं। विद्वान् लेखक के प्रस्तुत विचारों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है—सम्पादक]

2/61

भाषा-विज्ञान और ऋषि दयानन्द

[*ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, अध्यक्ष—म० द० स्मारक, वेदानुसन्धान विभाग, टंकारा*]

साम्प्रतिक विद्वानों का मत है कि भाषाविज्ञान आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के मस्तिष्क की अभूतपूर्व उपज है। भारतीय प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्य इस विज्ञान से याथातथ्य-रूप में परिचित नहीं थे। यद्यपि निरुक्तशास्त्र भाषा विज्ञान का ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु वास्तविकरूप में उसका भाषाविज्ञान से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उसमें दर्शाए गए शब्द-निर्वचन प्रायः काल्पनिक और सन्दिग्ध हैं।[1]

हमारी दृष्टि में पाश्चात्य विद्वानों तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानों की उक्त धारणा सर्वथा निर्मूल है। भारतीय आचार्य भाषाविज्ञान के न केवल वर्त्तमान सभी मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों से ही परिचित थे, अपितु भाषाशास्त्र के कई एक ऐसे भी सिद्धान्त भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, जिनका परिज्ञान वर्तमान के भाषाविज्ञों को अभी तक नहीं है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त अनेक प्रकार के ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। आवश्यकता है, उन सब को संकलित करके वर्तमान भाषाविज्ञान के सदृश स्वतन्त्र रूप देने की। जिस प्रकार के ग्रन्थों में भाषाविज्ञान के सिद्धान्त निर्दिष्ट हैं वे निम्न हैं—

१—समस्त शिक्षाग्रन्थ और उनकी व्याख्याएँ।
२—समस्त संस्कृत व्याकरणशास्त्र तथा उनकी व्याख्याएँ।
३—मीमांसा ग्रन्थ और ऊपर लिखे गए व्याख्या ग्रन्थ।
४—निरुक्तशास्त्र तथा उनकी टीकाएँ।
५—वैदिक शाखा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्।
६—प्रातिशाख्य तथा उनकी व्याख्याएँ।
७—भरत नाट्यशास्त्र तथा उसकी व्याख्याएँ।
८—प्राकृत-पालि-अपभ्रंश आदि के व्याकरण तथा उनकी व्याख्याएँ।

---

१. द्र० श्री डा० राजवाडे द्वारा संपादित निरुक्त की भूमिका, श्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा कृत ऐटीमोलोजी आफ यास्क नामक ग्रन्थ। उक्त दोनों के समस्त उद्धरणों के लिए देखिए वेदवाणी वर्ष ९ अङ्क १—२ (वेदाङ्क सं० ५) पृष्ठ १३३—१५५ तक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का लेख। दोनों के निर्मूल आक्षेपों के उत्तर के लिए मेरी वैदिक छन्दोमीमांसा' का द्वितीय अध्याय और ऋषिदयानन्द की पद प्रयोग शैली ग्रन्थ भी देखना चाहिए।

हमने उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों का भाषाविज्ञान की दृष्टि से यथाशक्ति जो अनुशीलन किया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उक्त भारतीय ग्रन्थ भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आज भी अनेक ऐसे रहस्यों को प्रकट करने में समर्थ हैं, जिन्हें वर्तमान भाषाविद् नहीं जानते। वर्तमान भाषाविज्ञों ने इस अमूल्य भारतीय वाङ्मय का न तो इस दृष्टि से पूर्ण अवगाहन ही किया है और न वे इन ग्रन्थों के वास्तविक महत्त्व को समझ ही पाए हैं। इसलिए उक्त ग्रन्थों में भाषाविज्ञान सम्बन्धी विप्रकीर्ण सामग्री को यथोचित रूप में संग्रह करके उसे वर्तमान भाषाविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों के समान स्वतन्त्र रूप देने की महती आवश्यकता है।

भाषाविज्ञान और ऋषि दयानन्द

हमने भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों का जितना अनुशीलन किया है, उसके आधार पर हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि ऋषि दयानन्द ने इस भाषाविज्ञानरूप महत्त्वपूर्ण विषय का भी गम्भीर अनुशीलन किया था। वे भाषाविज्ञान-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे। यद्यपि ऋषि दयानन्द ने भाषाविज्ञान पर साक्षात् कुछ नहीं लिखा, पुनरपि उन्होंने पूना के व्याख्यान (उपदेशमञ्जरी नाम से संगृहीत) तथा सं० १९३२ (सन् १८७५) के प्रथम सत्यार्थप्रकाश में प्रसंगवश इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत किए हैं। आज हम उन्हीं संकेतों को भाषाविज्ञान में रुचि रखने वाले विद्वानों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। निश्चय ही भाषाविज्ञान के विद्वानों को आश्चर्य होगा कि आज से ८५ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने इस विज्ञान का कितना गम्भीर अनुशीलन किया था और किस प्रकार उसके अनेक मूलभूत सूक्ष्म सिद्धान्तों का थोड़े से सीधे सादे शब्दों में वर्णन किया था।

१—पूना के १२ जुलाई १८७५ के वेदविषयक व्याख्यान में ऋषि दयानन्द ने कहा था—

क—संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है।

ख—अंग्रेजी सदृश भाषाएँ उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं।

ग—एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश[1] होकर उत्पन्न होती है।

घ—'वयम्' इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'वी' यह शब्द उत्पन्न हुआ। उसी तरह 'पितरः' से 'पेतर' और 'फादर', 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम से 'आदम' इत्यादि।

ङ—ऐसे ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार भी होते हैं।

टिप्पणी—ये सारे उद्धरण उपदेशमञ्जरी के (पृष्ठ ३९) पर एक स्थान से ही उद्धृत किए हैं। इनका क-ख वर्गीकरण मात्र हमने किया है।

२—संवत् १९३२ (सन् १८७५) के प्रथम सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा था[2]—

प्रश्न—देशभाषा भिन्न-भिन्न सब कैसे बन गईं और किससे बनीं। उत्तर—

च—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत है। क्योंकि—

छ—संस्कृत जब बिगड़ती है, तब अपभ्रंश कहाता है।[3] फिर अपभ्रंश से सब देशभाषा होती है। जैसे कि—

ज—'घट' से 'घड़ा', 'घृत' शब्द से 'घी', 'दुग्ध' से 'दूध', 'नवनीत' से 'नैनू',[4] 'अक्षि' शब्द से 'आँख', 'कर्ण' शब्द से 'कान', नासिका' शब्द से 'नाक', जिह्वा' शब्द से 'जीभ', 'मातर', से 'मदर',

---

१. यहाँ तथा सत्यार्थप्रकाश के उत्तर उद्धरण में अपभ्रंश शब्द सामान्यरूप से विकार को प्राप्त सभी भाषाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश शब्द से सम्प्रति व्यवहृत भाषाविशेष के लिए नहीं है।

२. सत्यार्थप्रकाश (सं० १९३२), संस्कारविधि (सं० १९३२) तथा पञ्चमहायज्ञविधि (सं० १९३२) के प्रथम संस्करणों में अनेक ऐसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण अंश हैं, जिनका उत्तरकालीन परिष्कृत संस्करणों में उल्लेख नहीं मिलता। ३. यहाँ भी अपभ्रंश शब्द पूर्ववत् विकार को प्राप्त भाषामात्र के लिए व्यवहृत हुआ है, भाषाविशेष के लिए नहीं। ४. किन्हीं प्रदेशों में 'नैनी' शब्द भी व्यवहृत होता है।

'यूयम्' शब्द से 'यू', 'वयम्' शब्द से 'वी', 'गूढ' शब्द से 'गोड' इत्यादि जान लेना। और

झ—एक पदार्थ के बहुत नाम हैं। जैसे कि 'गौः' नाम गाय [के] 'ग्मा' ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षोणी, क्षितिः, अवनिः, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इडा, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातुः, गोत्रा' ये २१ नाम पृथिवी के हैं।[1] सो भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषा बन जाती है। और

ञ—एक नाम बहुत अर्थों का होता है। जैसे कि सिंह, वानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव और चोर का नाम 'हरि' है। इस से भी भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न भाषा होती है। क्योंकि किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का व्यवहार किया[2], किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया, किसी देश में हरि शब्द से घोड़े को लिया, किसी देश में हरि शब्द से सूर्य को लिया, किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया। इस हेतु भाषा भिन्न भिन्न हो गई। और

ट—मनुष्यों के उच्चारण भेद से भिन्न भिन्न भाषा हो जाती हैं। जैसे कि 'ज्ञ्' ये दोनों अकार में मिलने से यह अक्षर 'ज्ञ' होता है। सो आजकल इसका लेख ऐसा हो गया है—'ज्ञ'। इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गए। गुजराती लोग गकार और नकार का [ग्न-ऐसा] उच्चारण करते हैं, महाराष्ट्रादिक दाक्षिणात्य लोग द और न का [द्न-ऐसा] उच्चारण करते हैं, और अन्य लोग गकार और यकार का [ग्य-ऐसा] उच्चारण करते हैं। तथा

तालव्य 'श' मूर्धन्य 'ष' और दन्त्य 'स' इन तीनों के स्थान में बंगाली लोग तालव्य शकार का उच्चारण करते हैं। मध्य और पश्चिम देश वाले तीनों के स्थान में दन्त्य सकार का उच्चारण करते हैं। तथा—

ठ—किसी की जीभ कठिन होती है। वह प्रायः शब्दों का अन्यथा उच्चारण करता है[3]। और—

ड—किसी देश में विद्या का लेश न होय, उस देश में संकेत, व्यवहार करने के हेतु शब्दों का कर लेते हैं कि इस शब्द से इसको जानना और इस शब्द से इसको जानना[4]। जैसे दाक्षिणात्य लोगों ने घी का नाम 'तूप' रख लिया और उत्तर देशवासियों ने घी का नाम 'चोखा' रख लिया और गुजरातियों ने चावल का नाम चोखा रख लिया। इससे भी देश देशान्तर की भाषा भिन्न-भिन्न हो गई।

ढ—इसी प्रकार के अन्य कारणों को भी विचार लेना।

टिप्पणी—'च' से लेकर 'ढ' पर्यन्त उद्धरण सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२) के पृष्ठ २५०-२५१ तक एक स्थान पर ही हैं। हमने इनका पृथक् पृथक् रूप में वर्गीकरण मात्र किया है। तथा 'ट' संकेतित उद्धरण में [ ] कोष्ठान्तर्गत तीन पाठ अर्थज्ञान की सुगमता के लिए बढ़ाए हैं।

३—सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण सं० १९३२) में पुनः लिखा है—

ण—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत। पृष्ठ ३०९।

त—संस्कृत के बिगड़ने से गिरीश (ग्रीक), लाटीन, अंग्रेज और अरब देशवालों की भाषा बन गई। पृष्ठ ३०९।

थ—सब देश देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए।...........संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। पृष्ठ ३२७।

द—संस्कृत शब्द बिगड़ के देश भाषा होती है। पृष्ठ ३२७।

ध—इससे इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और

---

१. द्र० निघण्टु १।१॥

२. उत्तर वाक्यों की तुलना से प्रकट होता है कि यहां पाठ कुछ भ्रष्ट हो गया है। यहां 'क्योंकि किसी देश में हरि नाम से सिंह पशु का व्यवहार किया' ऐसा पाठ होना चाहिए।

३. ऐसे शब्दों को भारतीय भाषाविज्ञान में 'यदृच्छा शब्द' कहा जाता है।

४. ऐसे विकारों को भारतीय भाषाविज्ञान में 'अशक्तिज' कहा गया है।

भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है[1] । पृष्ठ ३२७ ।

टिप्पणी— 'ण' से 'ध' तक के उद्धरण भी प्रथम सत्यार्थप्रकाश (सं० १९३२) के एकादश समुल्लास के हैं।

उक्त उद्धरणों का स्पष्टीकरण

संसार की मूलभाषा—'क' 'च' और 'ण' उद्धरणों में एक ही बात कही गई है कि संस्कृत भाषा ही समस्त भाषाओं की मूल भाषा है[2] । आधुनिक भाषाविज्ञानवेत्ता इस बात से सहमत नहीं हैं । उन्होंने संसार की भाषाओं को भारोपीय (इण्डोयोरोपिन) सेमेटिक, हैमेटिक, अल्टिक आदि अनेक परिवारों में बांटा है । इतना ही नहीं, वे संस्कृत भाषा को भारोपीय भाषाओं की मूलभाषा भी नहीं मानते । उनके मत में भारोपीय भाषाओं की मूलभूत कोई अन्य भाषा थी, जो सम्प्रत्ति लुप्त हो गई है । संस्कृत भाषा उस लुप्त भाषा की पौत्री और ग्रीक आदि भाषाओं की स्वसा स्थानीय है ।

वस्तुतः भाषा विषयक उक्त विभाग और मत काल्पनिक हैं। कतिपय पाश्चात्य भाषाविद् भी अब यह स्वप्न लेने लगे हैं कि संसार की समस्त भाषाएं एक ही वंश-परम्परा की हैं। "ग्रे" लिखता है—"एक समय देखा जाएगा कि वर्तमान में पृथक् पृथक् माने गए प्रधान-प्रधान भाषा-परिवार (इण्डोयोरोपीन, हेमेटिक, सेमेटिक अल्टिक आदि) एक ही वंश परम्परा के सिद्ध हों।"[3]

पाश्चात्य विद्वानों ने भारोपीय परिवार की मूलभाषा भी संस्कृत को नहीं माना है, इसमें दो प्रधान कारण हैं। एक—ईसाई यहूदी पक्षपात । दूसरा—संस्कृत भाषा के वर्तमान अतिसंकुचितरूप के साथ अन्य भाषान्तरों की तुलना । यदि संस्कृत भाषा के आदिकालीन विपुल स्वरूप को सामने रखकर संसार की अन्य भाषाओं की तुलना की जाए तो संस्कृत भाषा निश्चय ही अपने गौरवपूर्ण विश्वभाषा-जननी के पद पर अधिष्ठित हो जाएगी। इस कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृतभाषा के विलुप्त अति-विपुल स्वरूप को पुनः प्रकाश में लाया जाय । यह महत्त्वपूर्ण कार्य किस प्रकार सम्भव हो सकता है, इसका निर्देश हमने 'ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली'[4] के पृष्ठ ४—१७ तक विशेषरूप से और शेष ग्रन्थ में सामान्यरूप से किया है । पाठकवृन्द इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का इस दृष्टि से अवश्य अवलोकन करें ।

२ भारोपीय भाषाओं का मूल—'ख' और 'त' उद्धरण में दर्शाया है कि अंग्रेजी तथा तत्सदृश अन्य योरोपियन भाषाएँ मूलतः संस्कृत भाषा से ही उत्तरोत्तर विकृत होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई हैं । दूसरे शब्दों में योरोपीय भाषाओं का मूल भी संस्कृत भाषा ही है। संस्कृत में किस प्रकार विकार होकर किस शब्द से कौन से शब्द बने, इसके कतिपय उदाहरण 'घ' और 'ञ' उद्धरणों में दर्शाए हैं ।

३ अरबी भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध—अर्वाचीन भाषाविद् अरबी भाषा को इण्डोयोरोपियन विभाग से सर्वथा पृथक् रखते हैं । उनके मत में अरबी का संस्कृत भाषा के साथ कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु यह मत चिन्त्य है । अरबी भाषा की संस्कृत भाषा से कई अंशों में महती समानता है । अरबी में भी संस्कृत के समान एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन होते हैं। दोनों के व्याकरण में भी कुछ समानता है। इतना ही नहीं, संस्कृत के कतिपय ऐसे भी शब्द हैं जो अरबी में अद्ययावत् सुरक्षित हैं । आदम शब्द संस्कृत के आदिम का और अल्लाह संस्कृत अल्ला (माता) का साक्षात् अपभ्रंश है ।

अरब देशवासी पुराने असुरों की सन्तान है। असुर लोग संस्कृतभाषी थे, यह भारतीय इतिहास से सिद्ध है[5] । ऋषि दयानन्द ने इसी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सम्मुख

---

१. इस प्रकरण के लिए देखिए लेख के अन्त में मुद्रित परिशिष्ट ।

२. यहां संस्कृत से अभिप्राय वेदभाषा से है। देखिए पुनः शोधित सत्यार्थ प्रकाश समु० ७। वहां लिखा है—'इस लिए संस्कृत में ही [वेदों का] प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेद भाषा सब भाषाओं का कारण है । ३. इस विषय के अधिक परिज्ञान के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत "भाषा का इतिहास" पृष्ठ २१९—२२२ (सं० २) देखना चाहिए।

४. यह पुस्तक 'महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुई है । मूल्य १।।) है ।

५. देखिए पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १ सं० २, पृष्ठ ९१ 'अरब लोग संस्कृतभाषी थे ।'

रखकर 'त' निर्दिष्ट उदाहरण में अरबी की भी संस्कृत परम्परा से उत्पत्ति स्वीकार की है।

४ भाषाएं विकृत हुईं, विकसित नहीं—प्रायः आधुनिक भाषावैज्ञानिक भाषाओं का विकास मानते हैं, परन्तु भाषा का इतिहास बताता है कि भाषाएं उत्तरोत्तर विकृत हुईं, उनमें उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, विकास नहीं हुआ। मैक्समूलर [L. S. L. Vol. 1, P. 36, 44, 48, 51, 272] शंकर पाण्डुरङ्ग (गौडवटो की भूमिका पृष्ठ ५६), बूलनर (प्राकृत प्रवेशिका, पृष्ठ ४५), ग्रे (Gray, P, 201) अरविन्द[1] आदि अनेक भाषावैज्ञानिक भाषाओं में उत्तरोत्तर ह्रास ही मानते हैं। भारतीय ऐतिहासिक पक्ष भी न केवल भाषा-विषय में, अपितु सभी विषयों में समूहावलम्बेन ह्रास पक्ष का ही प्रतिपादन करता है। भाषाओं में उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है, विकास नहीं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋषि दयानन्द ने 'ग' और 'छ' उद्धरण के 'एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है' वाक्य द्वारा किया है। किसी भी भाषा में अपभ्रंश = विकार का होना, उसके ह्रास को ही व्यक्त करता है, न कि विकास को। अतः भाषाओं में विकास मानना, अथवा उसमें हुए ह्रास के लिए विकास की दुहाई देना, भाषा के इतिहास और भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों के विपरीत है।

५ सभी अपभ्रंश नियमबद्ध नहीं होते—जर्मनी देश के कतिपय भाषाविज्ञों ने भाषाओं में होने वाले विकारों को नियमित घोषित करने का दुःसाहस किया है। उन्हें नियमित सिद्ध करने के लिए ग्रिम नियम, तालव्य नियम, आदि अनेक नियमों की सृष्टि की गई, परन्तु सभी अपभ्रंश = विकार नियमित सिद्ध न हो सके (द्रष्टव्य श्री पं० भगवद्दत्त जी विरचित भाषा का इतिहास, सं० २, पृष्ठ १३०—१७०)। भारतीय प्राचीन भाषाविज्ञ ऋषि मुनि और आचार्य भाषाओं में होने वाले विकारों में कुछ विकारों को नियमित स्वीकार करते हैं और कुछ विकारों को अनियमित मानते हैं। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भाषाविकारों की अनियमितता घोषित करने के लिए यदृच्छा[2] और अशक्तिज शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य आपिशलि और पाणिनि अपने शिक्षा सूत्रों में लिखते हैं—

यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्युः। आपि० प्रक० ६।

यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युः। पाणि० प्रक० ६।

६—भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए और उनसे यथार्थ परिणाम निकालने के लिए संस्कृत भाषा के विशालतम शब्दकोष और तत्तत् शब्दों के विपुल विविध अर्थों का परिज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा वर्तमान में अति संकुचित रूप में अवशिष्ट संस्कृतभाषा के साथ अन्य भाषाओं की, की गई तुलना, न केवल अधूरी रहेगी, अपितु तुलना करने वाले को पथभ्रष्ट भी कर देगी और उसके आधार पर जो सिद्धान्त कल्पित किए जाएँगे, वे सर्वथा भ्रान्त होंगे। हम यहाँ एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हैं—

बॉप जैसा प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक लिखता है—"कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्दों का संस्कृत के 'पितृ' और 'स्वसृ' शब्द से कोई दूर का भी संबंध नहीं है।" (द्र० वै० वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ ६६, ६७ सं० २)

विचारे बॉप को इतना भी ज्ञान नहीं था कि संस्कृत भाषा में पिता के लिए वाप और स्वसा के लिए भगिनी शब्दों का भी व्यवहार होता है। वाप शब्द का उल्लेख अमर कोश जैसे प्रसिद्ध और प्राथमिक कोश में मिलता है और भगिनी शब्द से साधारण संस्कृतज्ञ बालक भी परिचित है। इन्हीं प्रसिद्ध संस्कृत शब्दों में विकार होकर बङ्गला के 'बाप' और 'बोहिनी' शब्द बने हैं।

संसार की समस्त भाषाओं की संस्कृत भाषा से तुलना के लिए केवल संस्कृत के विपुल शब्दकोष और विपुल अर्थों का परिज्ञान भी पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ यह भी ज्ञात होना चाहिए कि किन एकार्थक (पर्याय) शब्दों में से किस शब्द का किस देश विशेष में प्रयोग होता

१. मैक्समूलर आदि के मूल उद्धरण और भाषा के ह्रास पक्ष के परिज्ञान के लिए श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भाषा का इतिहास (सं० २) का 'भाषा की वृद्धि वा ह्रास' अध्याय देखिए।

२—यदृच्छा शब्दः स्वेच्छार्थो व्युत्पत्तिरहितः। माघ० टीका १। ४। ६॥

है और किस अनेकार्थक शब्द का किस देशविशेष में किस अर्थ में व्यवहार किया जाता है, क्योंकि एकार्थक अनेक शब्दों में से कोई शब्द किसी देश में व्यवहृत होता है और कोई किसी देश में। इसी प्रकार अनेकार्थक शब्दों की भी व्यवस्था देखी जाती है। भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए ही यह बात अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भारतीय प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति.........हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। महाभाष्य १।१।१॥

अर्थात्—पूर्व निर्दिष्ट शब्द के महान् प्रयोग विषय में वे शब्द वहाँ वहाँ नियत देश वृत्तिवाले दिखाई पड़ते हैं। जैसे गत्यर्थक शव धातु का क्रिया रूप से प्रयोग कम्बोज में ही होता है, हम्म का सौराष्ट्र में, रंह का प्राच्य और मगध में, परन्तु [मध्य देशवासी] आर्य गम धातु का ही प्रयोग करते हैं।

शतपथ १।७।३।८ में भी लिखा है—

भव इति बाहीकाः शर्व इति प्राच्याः।

अर्थात्—[रुद्र के] भव नाम का प्रयोग बाहीक (सतलुज और सिन्ध, के मध्य) देश वाले करते हैं और शर्व का प्राच्य (प्रयाग से पूर्व) देश वाले।

केवल देश-विशेषों में ही शब्दों का विशिष्ट प्रयोग नहीं होता, अपितु जाति-विशेषों में भी नियत शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द के प्रयोग-विषय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

त्रयो लोकाः। महाभाष्य १।१।१॥

अर्थात्—देव मनुष्य और असुर जातियों में भी विभिन्न शब्दों का नियत प्रयोग देखा जाता है।

माध्यन्दिन शतपथ १०।६।४।१ तथा काण्व बृहदारण्यक उपनिषद् १।१।२ से भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—

हयो भूत्वा देवान् अवहत्, वाजी गन्धर्वान्, अर्वा असुरान्, अश्वो मनुष्यान्।

अर्थात् [घोड़ा] 'हय' नाम वाला होकर देवों को वहन करता है, 'वाजी' नाम से गन्धर्वों को, अर्वा नाम से असुरों को, अश्व नाम से मनुष्यों को।

वर्तमान अरब और मिश्र आदि देश के निवासी पुराने असुरों के वंशज हैं। असुरों में अश्व के लिए अर्वा शब्द का प्रयोग होता था। अरब देश अश्वों के लिए आज भी प्रसिद्ध है। अरब नाम अश्व वाची अर्वा का ही विकृत रूप है। यह निस्सन्दिग्ध है। अश्व का एक पर्याय ह्रेष भी है। इसी से अंग्रेजी के अश्व वाचक हार्स शब्द का संबन्ध है।

संस्कृत भाषा में अर्ध, नेम और सामि शब्द अर्ध के पर्याय हैं। मीमांसा १।३।५ के पिकनेमाधिकरण से ज्ञात होता है कि आर्यों में अर्ध शब्द का और म्लेच्छों में नेम शब्द का व्यवहार होता था। हिन्दी का आधा शब्द अर्ध का अपभ्रंश है और फारसी का नीम = न एम शब्द संस्कृत के नेम का। इसी प्रकार अंग्रेजी का (Semi) संस्कृत के सामि और लैटिन का Ordo अर्ध के साथ संबन्ध रखता है।[1]

इतना ही नहीं, विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में भी विभिन्न पर्याय शब्द नियत विषयक देखे जाते हैं और अनेकार्थक शब्द अर्थभेद से विभिन्न शास्त्रों में प्रयुक्त होते हैं। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए भगवान् पतञ्जलि ने चत्वारो वेदा से लेकर वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकम् तक अनेक विद्याग्रन्थों का निर्देश करके एतावाञ्छब्दस्य प्रयोग-विषयः लिखा है (महाभाष्य १।१।१॥)

अनेकार्थक एक शब्द किसी देश में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है और अन्य देश में उसका अन्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है। इस तथ्य को मीमांसा १।३।४ के आर्यम्लेच्छ प्रसिद्धि—अधिकरण में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

तत्र केचिद् दीर्घशूकेषु यवशब्दं प्रयुञ्जते, केचित् प्रियंगुषु। वराहशब्दं केचित् सूकरे, केचित् कृष्णशकुनौ। वेतसशब्दं केचिद् वञ्जुलके, केचिज्जम्ब्वाम्।

अर्थात्— कुछ लोग (=आर्य) दीर्घशूक (=जौ) के अर्थ में 'यव' शब्द का प्रयोग करते हैं, कुछ लोग (=म्लेच्छ) प्रियङ्गु (=लता विशेष) अर्थ में। वराह शब्द को कुछ लोग (=आर्य) सूवर अर्थ में, कुछ लोग

१. द्रष्टव्य—भाषा का इतिहास सं० २, पृष्ठ १९८।

(म्लेच्छ) काले पक्षि विशेष में। वेतस शब्द को कुछ लोग (=आर्य) बेंत अर्थ में, कुछ लोग (=म्लेच्छ) जामुन के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

इस प्रकार भारतीय प्राचीन भाषाविज्ञों ने एकार्थक अनेक शब्दों की देश, जाति और विद्याविशेष के भेद से नियत-वृत्तिता और अनेकार्थक शब्द की देश और जाति भेद से भिन्नार्थ-वृत्तिता के जो सिद्धान्त व्यवस्थापित किए हैं, उन्हीं के अनुसार ऋषि दयानन्द ने भी झ निर्दिष्ट उद्धरण में एकार्थक पर्याय शब्दों के विभिन्न देशों में नियत वृत्तिता और ञ निर्दिष्ट उद्धरण में अनेकार्थक शब्द का देशभेद से भिन्नार्थ-वृत्तिता की ओर संकेत किया है। ज निर्दिष्ट उद्धरण में 'गूढ' से अंग्रेजी के गॉड का जो संबन्ध दर्शाया है वह समानार्थक पर्यायों की नियत-वृत्तिता का उदाहरण है। गूढ शब्द संस्कृत भाषा में ईश्वर का भी पर्याय है, उसी से अंग्रेजी गॉड शब्द का निकटतम सम्बन्ध है।

७—भाषा के इतिहास में ध्वनि विकारों का जो महत्त्व है, वह किसी भी भाषाशास्त्रज्ञ से छिपा नहीं है। देश काल आदि के भेद से ध्वनि में विकार उत्पन्न होते हैं और उन विकारों का अपभ्रंशों की उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। अतएव भारतीय आचार्यों ने भाषा की रक्षा के लिए वर्णों के यथार्थ उच्चारण पर अत्यधिक ध्यान दिया है। उन्होंने इसे एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय शिक्षा ग्रन्थों में ध्वनिविकार किन-किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, इसकी अति सूक्ष्म विवेचना मिलती है। जिन दोषों के कारण ध्वनियाँ विकृत होकर वर्णान्तर को उत्पन्न करती हैं, अथवा भाषा में विकार उत्पन्न करती हैं, उनमें से उदाहरण के लिए हम दो दोषों का निर्देश नीचे करते हैं—

भारतीय आचार्यों ने निर्हत अथवा अधिक प्रयत्न और अर्धक अथवा अल्प प्रयत्न को उच्चारण दोषों में गिना है। इन दो उच्चारण दोषों का भाषा परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज और य दोनों वर्णों का तालु स्थान और बाह्य प्रयत्न समान है, परन्तु आभ्यन्तर प्रयत्न इन दोनों के भिन्न-भिन्न हैं। ज का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट= जिह्वा तालु के साथ पूर्ण स्पर्श है और य का ईषत् स्पृष्ट = जिह्वा का तालु के साथ नाममात्र का स्पर्श। इन दोनों वर्णों का यदि क्रमशः अर्धक और निर्हत दोष-युक्त उच्चारण किया जाए अर्थात् ज का स्पृष्ट प्रयत्न से उच्चारण न करके अर्धक दोष दुष्ट ईषत् स्पृष्ट उच्चारण किया जाए तो ज ध्वनि य ध्वनि में परिवर्तित हो जाएगी और यदि य वर्ण का ईषत् स्पृष्ट उच्चारण न करके निर्हत दोष दुष्ट (पूर्ण स्पृष्ट) उच्चारण किया तो य ध्वनि ज ध्वनि में परिवर्तित हो जाएगी। इन दोनों दोषों के कारण संस्कृत के अनेक पदों में ध्वनिविकार हुए हैं। यथा—

ज का य—जानाति = याणादि, जनपद = यणपद।
य का ज—यमुना = जमुना, यशोदा = जसोदा।

इसी उच्चारण भेद से होने वाले ध्वनिविकारों का सोदाहरण निर्देश ऋषि दयानन्द ने 'ट' निर्दिष्ट उद्धरण में किया है।

८—ध्वनिविकारों की उत्पत्ति में ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों की अस्वाभाविक कोमलता और कठोरता अथवा अन्य प्रकार के विकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय प्राचीन आचार्य इस रहस्य से पूर्ण विज्ञ थे। वे यह भी जानते थे कि ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों के सौष्ठव अथवा विकार के साथ भोजन छादन आदि का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव उन्होंने वेद के यथार्थ उच्चारण की रक्षार्थ वेदपाठियों के लिए ऐसे भोजनों और दन्तधावन आदि उपकरणों का विधान किया है, जिनसे उनके ध्वनिव्यञ्जक अङ्ग अपने यथार्थ रूप में रहें, विकृत न हों। यथोचित भोजन और दन्तधावन आदि के नियमों के परिज्ञान के लिए वाजसनेय प्रातिशाख्य तथा नारदीय शिक्षा आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

ध्वनिव्यञ्जक अङ्गों के विकार के कारण जो ध्वनि-विकार उत्पन्न होते हैं, उनका संकेत ऋषि दयानन्द ने 'ठ' निर्दिष्ट उद्धरण में किया है।

९—विद्या की न्यूनता अथवा अहम्मन्यता आदि के कारण भाषाओं में सांकेतिक शब्दों की प्रवृत्ति होती है। उन सांकेतिक शब्दों की विभिन्नता भी भाषाभेद में कारण होती है। यतः इन सांकेतिक शब्दों का मूलभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः इस प्रकार के शब्दों की अन्य भाषा के शब्दों के साथ की गई पारस्परिक तुलना भी किसी तथ्य को प्रकट करने में असमर्थ होती है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञों ने इन सांकेतिक शब्दों को यदृच्छा शब्दों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। अति प्राचीन

काल में संस्कृत भाषा में कोई सांकेतिक अथवा यदृच्छा शब्द प्रयुक्त नहीं होता था। समस्त नामकरण अन्वर्थ किया जाता था। उत्तर काल में जब संस्कृत भाषा में भी सांकेतिक = यदृच्छा शब्दों का प्रवेश पर्याप्त मात्रा में हो गया। तब उस समय के भाषाविज्ञों ने संस्कृत भाषा के शब्दों के वर्गीकरण में यदृच्छा शब्दों की भी गणना आरंभ की। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—क्रियाशब्दा जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः। ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

यदृच्छा शब्दों का संस्कृत भाषा में प्रवेश हो जाने पर भी अनेक आचार्यों ने यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग मानना स्वीकार नहीं किया। इसी दृष्टिकोण से भगवान् पतञ्जलि ने दूसरा पक्ष उद्धृत किया है—

न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। ऋलृक् सूत्रभाष्ये।

उपसंहार

ऋषि दयानन्द के भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जितने वाक्य उनके ग्रन्थों में उपलब्ध हुए, उनका संकलन हमने इस लेख में किया है। साथ में उनके वचनों की संक्षिप्त व्याख्या भी की है। इन दोनों के अवगाहन से प्रत्येक व्यक्ति भले प्रकार समझ सकता है कि ऋषि दयानन्द ने भारतीय तथा पाश्चात्य उभयविध भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का गहरा अनुशीलन किया था और वे भारतीय भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को योरोपियन सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा युक्तियुक्त समझते थे।

आशा है भाषाविज्ञान में रुचि रखने वाले महानुभावों को इस लेख से कुछ नया विचार अवश्य प्राप्त होगा॥

लेख का परिशिष्ट

महाभाष्य के एक वचन की अपूर्व व्याख्या

हमने इस लेख में "ध" संकेतित जो उद्धरण दिया है, वह ऋषि दयानन्द ने महाभाष्य के—

अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः (पस्पशाह्निक)

वचन की व्याख्या में लिखा है। ऋषि दयानन्द ने महाभाष्य के उक्त वचन की बड़ी सुन्दर एवं अपूर्व व्याख्या सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण, सं० १९३२), पृष्ठ ३२७ में की है। पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ उसे उद्धृत करते हैं।

ऋषि दयानन्द ने न वदेद् यावनीं भाषां वचन का खण्डन करते हुए लिखा है—

मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ गुण ही होता है। **अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः** यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्दज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए। क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का उपकार होता है। **और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है।** जितनी देशों की भाषा जाने, उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के देश भाषा सब होती हैं। इससे इनके ज्ञानों से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु महाभाष्य में लिखा कि अपशब्द ज्ञानपूर्वक शब्द ज्ञान में धर्म होता है अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ का संस्कृत शब्द जानेगा और उसके भाषा शब्द को न जानेगा तो उसके यथावत् पदार्थ का बोध और व्यवहार भी नहीं चल सकेगा।

एक वाक्य की व्याख्या

उक्त उद्धरण में एक वाक्य है—

संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है।

इस वाक्य को अगले वाक्य क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के सब देश भाषा होती है के साथ मिलकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द इन वाक्यों द्वारा यह बात प्रकट करना चाहते हैं कि यतः संस्कृत शब्द बिगड़ के ही देश-देशान्तर की भाषा बनीं, अतः अनेक देशों की भाषा जानने से उन-उन भाषाओं में जो शब्द संस्कृत से बिगड़ कर बने हैं उन शब्दों के जानने से उनके मूलभूत संस्कृत भाषा के उन लक्षों शब्दों का ज्ञान हो सकता है जो आज वर्तमान काल में अति-संकुचित हुई संस्कृत भाषा में लुप्त हो चुके हैं। ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य की पुष्टि महाभाष्य के सर्वे देशान्तरे वार्तिक की व्याख्या में सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः

पृथिवी के सातों महाद्वीप और देव असुर मनुष्य तीनों प्रकार की प्रजाओं में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों की ओर निर्देश करने से भी होता है। महाभाष्यकार के काल में भारत वर्ष में ही संस्कृत का साम्राज्य नहीं रहा था। यहाँ भी अनेक प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न हो गई थीं (देखो—'आणवयत्यादिनिवृत्त्यर्थम्' १।३।१ वार्तिक की व्याख्या)। तब उस काल में सप्तद्वीपा वसुमती को संस्कृत भाषा क्षेत्र बताना तभी संगत हो सकता है जब कि पृथिवी तात्कालिक सम्पूर्ण भाषाओं को संस्कृत की अपभ्रंश मा जाए और उन अपभ्रंशों के आधार पर उन-उन प्रदे में ही विशेष रूप से प्रयुक्त होने वाले संस्कृत के मूल श का परिज्ञान किया जाये ॥

विश्वेदेवाः

[ले०—श्री पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार, अम्बाला]

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८९, ९०, १०५, १०६, १०७ सूक्तों में देवता शीर्षक स्थान पर "विश्वेदेवाः" शब्द लिखा है। क्या मरुतः अश्विनौ आदि शब्दों की भाँति विश्वेदेवाः शब्द भी एक देवता से अधिक देवताओं को निर्दिष्ट करता है? यदि ऐसी बात है तो इस विश्वेदेवाः की सूची में कौन से देवता निर्दिष्ट किए गये हैं? निघण्टु में 'विश्वेदेवाः का अर्थ सर्वे देवाः लिखकर ऋग्वेद के मं. १।३।७ के मन्त्रभाग "विश्वेदेवास आगताः" लिखकर विश्वेदेवा का स्पष्टी-करण किया है। निघण्टु के इसी प्रकरण में विश्वेदेवाः से पहले देवाः—शब्द की व्याख्या व्युत्पत्ति 'दीव्यति दीपनार्थो दीप्यर्थोवा की है। इसके अनुसार आकाश में द्युलोक में, रहने वालों को देव कहते हैं और किसी भी स्थान में चमकने वाले तत्त्वों को भी देव कहते हैं। सुख शान्ति देने वाले जड़ चेतन पदार्थों को भी देव कहते हैं।

वेद संहिताओं में आये शब्दों के अर्थ वेदमन्त्रों में ही ढूँढने चाहिएँ। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम उपरि निर्दिष्ट सूक्तों में विश्वेदेवा शब्द से अभीष्ट वस्तुओं या तत्त्वों का अनुशीलन करें तो हमें विश्वेदेवाः शब्द के अर्थ समझने में सहायता मिल सकती है। विश्वेदेवाः शब्द के स्वरूप से यह तो स्पष्ट है कि इसका अर्थ 'परमात्मा' 'ईश्वर' या ब्रह्म नहीं है। हम लोग प्रति दिन संध्या-हवन में शान्तिपाठ के मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। वह इस प्रकार से हैं :—

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिः। विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः०

मन्त्र में परि-गणित द्यौः, अन्तरिक्ष, पृथिवी, ओषधि वनस्पति तथा ब्रह्म से व्यतिरिक्त शान्तियों को विश्वे-दे शब्द से निर्दिष्ट किया गया प्रतीत होता है।

इन निर्दिष्ट शान्तियों का विवरण या विस्तार हमें इन विश्वेदेवाः वाले सूक्तों में ढूँढना चाहिए।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८९ सूक्त का ७ वां मन इस प्रकार है—

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथे जग्मयः। अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे देवा अवसा गमन्निह ॥ आ नो भद्राः क्रतवो य विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो य सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥

इन दोनों मंत्रों में विश्वेदेवाः का स्वरूप निरू किया है।

(अग्निजिह्वाः) जिन की जीभ वाणी अग्नि समान है। प्रकाश देने वाली और मैल को जलाने वा तथा तत्त्वों को आत्मसात् करने वाली (मनवः) मन शील हैं। (सूरचक्षसः) उत्पादक ज्ञानवाले, (पृषदश्वाः) शीतल जल व घृत से युक्त होकर विचरते हैं। (पृश्नि मातरः) पृश्नि=आकाश जिनकी माता है, आका निवासी है। (मरुतः) वायु समान गति वाले, (शु यावानः) कल्याणकारी (विदथेषु जग्मयः) युद्धों त यज्ञों में जाने वाले।

दूसरे मंत्र में इन विश्वेदेवाः को (भद्रा) कल्या कारी, (क्रतवः) कर्मशील, (विश्वतोऽदब्धासः) च

ओर से अहिंसित अर्थात् अजातशत्रु (अपरीतासः) अनुकूल तथा ऊपर की ओर गति करने वाले, प्रतिदिन या सर्वत्र सब की रक्षा करने वाले कहा है।

हमारे देश में एक कहावत प्रचलित है, जितने कंकर उतने शंकर—इसी प्रकार से यदि हम यह कहें कि परमात्मा, आत्मा और प्रकृति को छोड़ कर—जितनी भी शक्तियाँ या विभूतियाँ हमें संसार में दिखाई देती हैं, या अनुभव होती हैं, उन सब को वेद संहिताओं में विश्वेदेवाः शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। यह शक्तियाँ किसी तत्त्व में प्रविष्ट होकर उसे पूर्ण करती हैं या किसी पूर्ण स्वतन्त्र पर निरपेक्ष तत्त्व से निकल कर बाहर फैलती हैं। यह भावना विश्व-सर्व तथा पूर्ण शब्दों से, जो कि वैदिक कोश में पर्यायवाची लक्षित होती हैं। विशन्ति प्रविशन्ति विविधशक्तयः प्रवृत्तयो वा यस्मात्, विशन्ति प्रविशन्ति शक्तयः प्रवृत्तयो यस्मिन् स विश्वः। स्रवन्ति सरन्ति शक्तयः प्रवृत्तयो यस्मात् यस्मिन् वा स सर्वः। यह दोनों शब्द त्रिलिंगी व्यापक अर्थवाले हैं। एकवचनान्त यह तीन शब्दों-प्रकृति, आत्मा तथा परमात्मा को द्योतित करते हैं। यह प्रवृत्तियाँ शक्तियाँ ही विश्वेदेवाः से निर्दिष्ट की जाती हैं।

विश्वेदेवाः किसी स्थानविशेष लोकविशेष में सीमित नहीं है। वह पृथिवीस्थानीय द्युस्थानीय अन्तरिक्षस्थानीय हो सकती हैं। दै० संध्या के मनसा परिक्रमा मन्त्रों में छः दिशाओं में इन्द्र आदि नामों से यह शक्तियाँ ही अभीष्ट हैं। इनकी इन विशेषताओं के कारण देव, इन्द्र, सोम, अग्नि, विष्णु आदि के एकवचनी होते हुए भी इनकी प्रवृत्तियों तथा शक्तियों को पितरः, रक्षितारः तेभ्यः, बहुवचन शब्द से निर्दिष्ट किया है। इन्द्र का एकवचन होना और पितरः रक्षितारः का बहुवचन होना ही इस बात का सूचक है कि इस मन्त्र में इन्द्र, अग्नि की प्रवृत्तियों तथा विभूतियों का निर्देश है।

इस दृष्टि से विश्वेदेवाः—देवताक मन्त्रों के अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिली है। गीता में इन विभूतियों तथा प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कृष्ण के विश्वरूप में दिखाया गया है। इन विश्वेदेवाः द्वारा निर्दिष्ट प्रवृत्तियों की एक विशेषता यह है कि यह प्रवृत्तियाँ कल्याणकारिणी व्यापकशील हैं। 'शन्नो देवी. मन्त्र में आपः शब्द से इन विभूतियों का ही प्रदर्शन किया गया है। आपः का अर्थ परमात्मा करने के स्थान पर परमात्मा की शक्तियों का निर्देश किया गया है। इसके विपरीत जो संहारकारिणी, अकल्याणकारिणी प्रवृत्तियाँ हैं, उनका इन विश्वेदेवाः से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका निर्देश वेद संहिताओं में किस एक शब्द से किया गया है—इस विषय में निश्चित जानकारी के बाद आगामी अङ्क में लिख सकूँगा। इस विषय में वैदिक विद्वानों द्वारा की गई सत्यान्वेषणयुक्त व्याख्या का मैं धन्यवाद हार्दिक स्वागत करूँगा ॥

अद्वैतवाद और वेद

[*ले०—श्री पं० बिहारी लाल जी शास्त्री उझियानी, बदायूं*]

अद्वैतवाद का नाम अद्वैतवादियों ने "वेदान्त" रक्खा हुआ है अर्थात् यह अद्वैतवाद ही वेद की अन्तिम शिक्षा है।

पर अपने इस मत की पुष्टि में अद्वैतवादी लोग अब तक वेद के नाम पर उपनिषदों के प्रतीक ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं। यहाँ तक कि अद्वैत वाद के मूल प्रचारक अथवा आविष्कारक भगवान् शंकराचार्य जी ने भी अपने भाष्य में सब "श्रुति प्रमाण" में उपनिषदों की पंक्तियाँ ही रक्खी हैं। मूल वेदमन्त्रों को तो किसी अद्वैतवादी ने स्पर्श तक नहीं किया।

यह तो चमत्कार ऋषिवर दयानन्द ने ही दिखाया है कि "धर्मं-जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" इस मनु वचन के अनुसार अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में मूल संहिताओं से ही वेदमन्त्र सामने रक्खे।

अच्छा, अब वेदमन्त्रों में भी देखना चाहिये कि "अद्वैतवाद" कहीं है वा नहीं ?

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में मन्त्र है:—

पुरुष एवेद ँ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। उता-

मृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ य० ३१।२॥

अर्थ—यह जो वर्त्तमान और भूत एवं भविष्यत् सब पुरुष ही है। वह अमृत का स्वामी है, जो कुछ अन्न से बढ़ता है, उस का भी स्वामी है।

इस मन्त्र में अद्वैतवादी कहते हैं कि स्पष्ट ही ब्रह्मोपादान कारण का वर्णन है। अतः यह सब जगत् जो भ्रान्तिमात्र प्रतीति हो रही है, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। परन्तु अद्वैतवादी यह भूल जाता है कि मन्त्र में पुरुष शब्द और अमृतत्व का ईशान शब्द भी विद्यमान हैं, जो अद्वैतवाद को चौपट करके स्पष्ट त्रैतवाद का वर्णन कर रहे हैं। श्रीमहीधराचार्य पुरुष शब्द के अर्थ पर प्रथम मन्त्र के भाष्य में एक श्रुति प्रस्तुत कर रहे हैं:—

इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः इति।

अर्थ—ये लोक "पुर" है। यही पुरुष जो पवित्र करता है, वह इस पुर में शयन करता है। इसीलिये पुरुष कहलाता है।

अब वह पुर जिसमें वह ब्रह्म व्यापक हैं, यह प्रकृति ही तो है। और अमृतत्व, जिसका वह स्वामी है, जीवों की मुक्ति है। और जो अन्न से अतिरोहण करता है, वह यह प्रत्यक्ष संसार है। तीन अनादि तत्त्व स्पष्ट वर्णित हो रहे हैं। यह सब कुछ पुरुष ही हैं, ऐसा वाक्य मुहावरा है। इस का वाच्यार्थ नहीं लिया जायगा, किन्तु लक्ष्यार्थ लिया जायगा। जैसा कहा जाय कि "पं० नेहरू ही कॉंग्रेस हैं" तो इसके अर्थ यह नहीं कि कॉंग्रेस नामक कोई संस्था नहीं है। यह वाक्य पं० नेहरू के महत्त्व, द्योतनार्थ है। अर्थात् कॉंग्रेस में उन की शक्ति काम कर रही है। यहाँ भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ब्रह्म की शक्ति से ही हो रहा है। जीव और प्रकृति उसके वशीभूत काम कर रहे हैं। वही रचयिता है सृष्टि का और पहले भी सृष्टि उसने रची और आगे भी रचेगा। यह प्रवाह यूँहीं चलता रहा है और चलता रहेगा। संचालक हैं प्रभु, और संचालित हैं जीव और प्रकृति। परन्तु कुछ बातों में जीव भी स्वतन्त्र हैं। कुछ भाग में वह स्वातंत्र्य से काम कर सकता है, परन्तु फल भोगने में ईश्वराधीन ही हैं। आचार्य महीधर लिखते हैं।

"अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन फलेन निमित्तभूतेन"।

अर्थात्—यह सब संसार जो दीख रहा है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही जगत् में परिणत हो गया है। इस पर महीधर जी भी शंका करते हैं—

यदा सर्वं पुरुषश्चेत्तर्हि परिणामीत्याशंक्याह-अमृतत्त्वस्यामरणा धर्मस्येशानः। मुक्तेरीशः।

अर्थात्—यदि ब्रह्म ही सब हैं तो वह परिणामी हो जायगा। इसलिये कहा है कि वह अमृत अर्थात् मुक्ति का स्वामी है अमरणधर्मा है।

किन्तु आचार्य महीधर जी का यह समाधान चिन्तनशील व्यक्ति को संतुष्ट नहीं कर सकता। जब वह अमृतत्व का ईशान है तो जगदवस्था में कैसे परिणत हो गया! और यदि जगदवस्था में परिणत होता रहता है तो एकरस निर्विकार अपरिणामी कहाँ रहा? वेदमंत्र की इस परस्पर विरुद्ध वाक्यता का क्या समाधान हुआ?

जब तक यह माना जायगा कि ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत होता है, तब तक वह अमृतत्व का स्वामी हो वा कुछ भी हो, परिणामी रहेगा। विकारी कहलायेगा। इसका समाधान एक ही है कि वह इस वर्तमान भूत भविष्यत् का संचालक है और अमृतत्व का स्वामी है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। जीव के समान वह कभी बंधन में नहीं फँसता। न उसे भ्रान्ति होती है। न यह संसार भ्रान्ति है। नाही प्रकृति जीव भ्रममात्र हैं।

यही सिद्धान्त है तो वेदवाक्यों का सुसंगत भाव है और संतोषदायक मान्यता है। पुरुष शब्द के होते हुए और इस के अर्थ "पुरि शेते" मानते हुए भी महिधर जी ने ब्रह्म को ही जगदवस्था में परिणत कर डाला। यह क्यों हुआ?

अद्वैतवादियों का रोबदान इन पर छाया हुआ था। वेदार्थ को अद्वैतवाद के पीछे घसीटना था। व्यंजनापूर्ण पुरुष शब्द होते हुए भी इस मन्त्र में अद्वैतवाद ढूँढना वेदार्थ रहस्य से दूर भागना है। ऋषि दयानन्द ने पुरुष शब्द पर निरुक्त प्रमाण उपस्थित किया है:—

"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा"

अर्थात्—पुरुष इसलिये उसका नाम है कि वह सब संसार में विराजमान है। सब संसार उससे पूर्ण है।

इस संसार में दो वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं, एक व्याप्य एक व्यापक। एक संचालित एक संचालक। प्रकृति व्याप्य है और ब्रह्म व्यापक। ईश्वर संचालक है, प्रकृति संचा-

लित। जीव शरीर में व्यापक है और शरीर व्याप्य। जीव शरीर का संचालक है और शरीर संचालित।

वह प्रभु अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का स्वामी है। वही मुक्तिदाता है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं :—"अमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति" वह मोक्ष का दाता है। जब ईश्वर मोक्ष का दाता है तो उस दान को लेने वाला भी तो कोई हुआ न?

बस जो मोक्ष लेने वाला है, वह है जीव।

दूसरा मन्त्र यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय का अन्तिम मन्त्र है।

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥

अर्थ—हिरण्मय (सुनहरी) पात्र से सत्य का मुख ढका है। जो यह सूर्य मण्डल में पुरुष है अर्थात् व्यापक तत्त्व है, जिससे सूर्य प्रकाशित हो रहा है, वह मैं हूँ।

इस अर्थ में उवटाचार्य जी और आचार्य महीधर ने "जो आदित्य मण्डल में पुरुष है, वह मैं हूँ" इस प्रकार उपासना करे ऐसा कहा।

एतां चोपासनां कुर्यात्। सूर्यमण्डलस्थः पुरुषोऽहमेवेत्यभेदेन चिन्तयेत्—

सूर्य मण्डल में जो पुरुष है, वह मैं ही हूँ, इस प्रकार ब्रह्म और जीव को भिन्न न समझ कर चिन्तन करे।

यह विधि अपनी ओर से जोड़ कर मन्त्र को अद्वैतपरक बना दिया, मन्त्र के शब्दों में तो अभेदवाद का चिह्न तक नहीं। भगवान् जीव को उपदेश दे रहे हैं :—

जो ज्योतिः शक्ति (प्रकाश, उत्पादन सृष्टि शोषण प्रलय) है, वह मैं हूँ। और अन्त में प्रभु ने अपना नाम और गुणा भी कह दिया, मेरा नाम ओ३म् है। मैं सर्वत्र व्यापक हूँ। सबसे बड़ा हूँ। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८ है :—

"वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहायां सद्यत्र
विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद ँ सं च विचैति सर्व ँ स
ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु"

इस मन्त्र में "एक नीडम्" और "ओतः प्रोतश्च" शब्दों में लोग अभेदवाद की गन्ध सूँघते हैं। अर्थात् प्रलय में सब ब्रह्ममय हो जाता है। परन्तु मन्त्र में "वेनस्तत् पश्यन्" और "प्रजासु" शब्द अद्वैतवाद की जड़ नहीं जमने दे रहे हैं। "वेनः पंडितः, विदितवेदान्तरहस्यः (उ., म.) उस ब्रह्म को देखने वाला है अर्थात् जानने वाला ज्ञाता एक और ब्रह्म जिसके आश्रित प्रलय में सृष्टि सूक्ष्म रूप में हो जाती है ज्ञेय, और जो सृष्टि प्रलयावस्था में सिकुड़ कर ब्रह्माधीन न रहती है और सृष्टि दशा में उसी ब्रह्म के आश्रय से व्यक्त हो उठती है, वह उपादान कारण प्रकृति, तीन पदार्थ द्योतित, हो रहे हैं। प्रजाओं में वह व्यापक है, ओत प्रोत हर ओर से समाया हुआ है जो जो पदार्थ प्रकट हैं—व्याप्य-प्रजा और व्यापक ब्रह्म। अद्वैतवाद माध्यमिक बौद्धों की तरह ही एक विक्षिप्त कल्पना है। जब एक ही तत्त्व है तो फिर भिन्नता क्यों दीख रही है? यदि यह सब भ्रम है, तो यह भ्रान्त विचारक कौन है? यदि सर्वज्ञ ब्रह्म, तो गुण और गुणी के अन्दर व्यवधान कैसे आ गया? सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ जीव कैसे बन गया? यदि अज्ञान वश तो सर्वज्ञ को अज्ञान ने कैसे धर दबाया? यदि अज्ञान और सुख दुःखानुभूति सब भ्रम है, तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। अनुभूति हो रही है। भ्रम और अज्ञान भी विद्यमान हैं। फिर ये किसके गुण हैं?

गीता के मन्तव्य में तो—

"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्"

विकार और गुण प्रकृति से प्रकट होते हैं। ये सब अज्ञान भ्रम प्रकृति के कारण हैं। और जीव पर ही प्रकृति का प्रभाव पड़ता है, ब्रह्म पर नहीं। यह युक्तियुक्त समाधान है। पर अद्वैतवादियों के मत में इस प्रत्यक्ष भेद का क्या कारण है? इसका कोई उचित उत्तर नहीं। यह भेद प्रतीति भी भ्रम ही है, ऐसा कहना उन्मत्त—प्रलाप मात्र है। प्रत्यक्ष से आँखें बन्द करना है। उलझन भरा युक्तिशून्य अद्वैतवाद वेद का सम्मत नहीं है। बौद्धों का अनुकरण मात्र है। वेद भगवान् तो स्पष्ट रूप में जीव ब्रह्म का भेद बता रहे हैं :—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेणा प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति (यजुः १७।३१)

अर्थ—हे जीवो! तुम उसे नहीं जानते जिसने यह सृष्टि रची है। जो तुमसे अन्य अतिरिक्त है। क्योंकि तुम अज्ञानावृत हो, व्यर्थ वादविवाद से घिरे हो, स्वार्थी हो, केवल स्वशरीर पोषण में लगे हो, पांडित्य के अभिमान में

चूर हो, इसीलिये उस तत्त्व को जो विश्वकर्मा है, तुम नहीं जानते।

इस मन्त्र पर श्री उवटाचार्य लिखते हैं:—

य इमानि भूतजातानि जजान, जनयति उपहरति च अतः कारणात् युष्माकं तस्य च पुरुषस्य महत् अन्तरं बभूव। पुरुषो जनको यूयं जन्याः पुरुषो भ्रामको यूयम् भ्राम्याः।

अर्थ—जो सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करता है और संहार करता है। इस कारण से तुम्हारा और उस पुरुष का **बड़ा भेद है**। वह पुरुष उत्पन्न करने वाला है। तुम उत्पन्न हुए हो। वह घुमाने वाला है। तुम घूमने वाले हो। इसी भाव का यह गीता का श्लोक है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

इससे बढ़ कर स्पष्ट शब्दों में और भेदवाद क्या होगा?

श्री आचार्य उव्वट जी कह रहे हैं:—"तुम्हारा और उस पुरुष का महान् अन्तर है।"

इस अभेदवाद के सिद्धान्त ने अर्द्ध नास्तिकता को प्रश्रय दिया है। उपासना, भक्ति सबको चौपट कर एक ज्ञानवाद (खुपड़हाव) को जन्म दिया है। अद्वैतवाद के जन्मदाता भगवान् शंकर के हृदय में भी कुछ सन्देह इस वाद के विषय में हुआ होगा कि कहीं इससे उपासना बन्द न हो जाय, इसलिये वे भी कहते हैं:—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो नहि तारंगः"

अर्थात्—अभेदवाद के सत्य होने पर भी इतना भेद तो अवश्य है—कि मैं तुम्हारा (अंश) हूँ, न कि तुम मेरे (अंश), तरंग समुद्र की है समुद्र तरंग का नहीं।

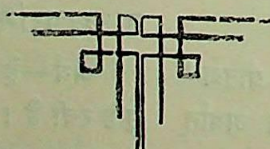
पर ज़रा बुद्धि को ज़ोर लगाया जाय तो यह दृष्टान्त ही बहुत ग़लत है। तरंग जल की एक गति है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कुछ भी नहीं। पर जीव तो स्वतन्त्र सत्ता रखता है, केवल क्रिया (गति) नहीं, किन्तु क्रिया और गुण वाला एक द्रव्य है, और प्रत्यक्ष है। पृथक्-पृथक् गुण कर्म स्वभाव वाले जो कि प्रत्यक्ष हैं, उन सब जीवों को एक ही तत्त्व बताना, प्रत्यक्ष को धोखा देना है।

आत्मा अनेक हैं। सब में सामान्य होते हुए भी संस्कारत्व से वैशिष्ट्य है। "एकत्वमनुपश्यतः" का भाव यह है कि सब में ईश्वर एक ही है, यह जानना चाहिये। **"य इह नानेव पश्यति"** का भाव भी यही है कि सर्वव्यापी नाना (अनेक) नहीं हैं। "पश्यति" शब्द ही द्रष्टा दृश्य ज्ञाता ज्ञेय यह द्वैतवाद सिद्ध कर रहा है। उपासना और भक्ति का उपदेश देने वाले वेदादि शास्त्रों के सिर अद्वैतवाद का थोपना घोर खींचातानी है। ब्रह्मोपादान कारण मानना वैदिकधर्मसम्मत नहीं। माध्यमिक वैभाषिक आदि बौद्धों की कुतर्कों से घबरा कर "अद्वैतवाद" को स्वीकार करना निर्बलता है। प्रभु के और हमारे बीच जो सम्बन्ध है, वह वेद ने स्पष्ट बता दिया है :—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ
अधा ते सुम्नमीमहे॥ ऋग्

अर्थ—हे प्रभो! तुम ही हमारे वसाने वाले पिता हो, तुम ही शतशः उपकार करनेवाली माता हो, हम तुम्हारी ही स्तुति करें, प्रार्थना करें बस यह पिता पुत्र, उपास्य उपासक संबन्ध ही जीव का ईश्वर से है। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह गर्वोक्ति तो हिरण्यकशिपुओं की अनुकृति है। अतः—

अद्वैतवादगंधोऽपि नहि वेदेषु विद्यते।
प्रच्छन्नबौद्धवादोऽयं विष्णुभक्तैरसम्मतः॥



वेद और गृहस्थजीवन के कुछ मौलिक दृष्टिबिन्दु

[ले०—श्री पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री, साहित्याचार्य नासिक]

वैदिक धर्म में गार्हस्थ्यजीवन को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस आश्रम में रहकर मानवीय गुण परिपक्वता को प्राप्त होते हैं। इसमें एक प्रकार सहिष्णुता और कार्यकुशलता मनुष्य को प्राप्त हो जाती है। यह ही अन्य आश्रमो को सहायता पहुँचाने वाला भी है। जिस गृहस्थ-परिवार में प्रत्येक सदस्य अपने से दूसरे सदस्य के प्रति सहानुभूति के भाव रखता है वह ही वास्तविक स्वर्ग है। यह वस्तुतः एक ऐसा केन्द्र है जहाँ पर मानवता की रक्षा और उन्नति की आधारभूत समस्त रचनात्मक शक्तियाँ परिपोषण पाती हैं।

इस आधुनिक युग में गृहस्थजीवन की आवश्यकतायें साधनों की अपेक्षा अधिक बढ़ती जा रही हैं। एक साधारण व्यक्ति के लिए पारिवारिक आवश्यकता की पूर्त्ति करना असम्भव हो गया है। विना पर्याप्त आय के गृहस्थी का चलाना अत्यन्त कठिन कार्य है। वर्तमान संसार में आदमी पैसे का निर्माता नहीं है, अपितु पैसा आदमी को बनाता है। (It is not man that makas money but it is monay that makes man). इसी कारण कोई भी व्यक्ति शान्ति से घर पर नहीं बैठ सकता है। आर्थिक संकट मनुष्य के सभी उत्साहों और भावनाओं को कुचल देता है। समस्त सन्तोष और सुख आजकल धन में है। जिसको दोनों समय की रोटियाँ मिल जाती हैं वह आराम की श्वास लेता है परन्तु जो इनसे महरूम है वह सर्वदा मानसिक व्यथा और दुःखों का आखेट बना रहता है। मन की अस्थिरता और बेचैनी मस्तिष्क में सदा लटके रहते हैं। इस प्रकार वर्तमान समाज की अन्तः-स्थितियों के परीक्षण से यह परिणाम निकलता है कि धन ने समाज की रचना में और इसकी हर एक गतिविधि में बद्धमूलता प्राप्त कर ली है, सौख्य लाभ करने के लिए प्रत्येक को पर्याप्त अर्थ प्राप्त करना और संगृहीत करना चाहिये। प्रतिष्ठा-पूर्वक गृहस्थजीवन को निभाने के लिए वेद ने बहुत से मौलिक दृष्टिबिन्दु बतलाये हैं जिनमें से कुछ एक को यहाँ पर अथर्ववेद के एक मन्त्र के द्वारा रखा जाता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता। अथर्व० १२।५।१०॥

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे गृहस्थ जन ! तुम सदा सुख का लाभ करो, श्रम, तप और ज्ञान से सुसज्जित रहकर, धन और सत्य में रमते हुए। यहाँ पर मन्त्र में मुख्य समस्या के समाधानार्थ कुछ उत्तम नियम बतलाये गये हैं। यदि मनुष्य इन्हें जीवन में कर्तव्य का अङ्ग बना लेवे तो कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं। जीवन स्वयं एक समस्या है परन्तु मन्त्र में दर्शित श्रम, तप और ज्ञान को अपने कर्तव्य का आदर्श बिन्दु बना कर मानव उन्नति और अवनति के क्षणों में कठिनाइयों को पार करता हुआ सरल जीवन जी सकता है। वेदप्रदर्शित ये दृष्टिबिन्दु दार्शनिक महत्त्व के हैं और विशुद्ध प्रयोगात्मक अंचल को लिए हुये हैं।

वर्तमान समय की दुनियाँ में श्रम (Labour) ने समाज में एक महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया है। इसने एक दार्शनिक पार्श्वभूमि प्राप्त करली है। कार्लमार्क्स जैसे कुछ विचारक इसकी उपयोगिता पर विशेष बल देते हैं। वस्तु के मूल्यांकन में इस श्रम का विशेष महत्व है। कई भौतिकवाद के मानने वाले दार्शनिक मूल्य के अङ्कन में इसे ही मौलिकता प्रदान करते हैं। संस्कृत में इस Value को मूल्य कहा जाता है। हमारी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई मूल्य हुआ करता है। यदि किसी को एक टुकड़ा कपड़े का लेना है तो अवश्य ही उसका मूल्य देना पड़ेगा। यद्यपि प्रत्येक वस्तु अपने कारण अर्थात् "मूल" से उत्पन्न होती है परन्तु यह मूलमात्र ही उसके मूल्य का कारण नहीं। एक कुर्त्ते का कपड़ा अपने कारण भूत सूत्रों से बना है और सूत्र भी अपने कारण रूई से बने हैं, परन्तु यह रूई ही केवल कपड़े के मूल्य का कारण नहीं है। अगर यह रूई ही मूल्य का कारण होती तो कपड़े और रूई के मूल्य में कोई अन्तर न पड़ता। परन्तु यह सब पर विदित है कि रूई का मूल्य उतना नहीं है जितना मूल्य उससे बने कपड़े का है। फिर मूल्य का कारण क्या है ? इसपर

कार्लमार्क्स कहेगा कि कपड़े के मूल्य का कारण उसके बनाने में लगा श्रम और उस कपड़े की उपयोगिता हैं। कपड़े का मूल्य रखते समय उसमें लगे श्रम की मात्रा और समाज में उसके उपयोग की महत्ता का ध्यान मुख्य हेतु है। किसी वस्तु के निर्माण में कितना ही श्रम क्यों न लगा हो, परन्तु यदि उसकी कोई समाज में उपयोगिता नहीं तो उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता। इसी प्रलार कोई भी वस्तु कितनी ही उपयोगिता वाली हो परन्तु उसके निर्माण में यदि कोई परिश्रम न लगा हो तो उसका भी कोई मूल्य नहीं होगा। अतः कार्लमार्क्स के अनुसार श्रम और उपयोगिता साधारणयता मूल्य के कारण है।

दूसरी तरफ पूँजीपति, जिसका कि पैसा ही भगवान है, मूल्य का अन्य ही कारण मानता है। वह हर बुरे भले तरीकों से अपने मूलधन को ही बढ़ाना चाहता है। वह श्रम की उपेक्षा करता है और उसका शोषण करता है तथा अपने मूलधन और साहस को ही विशेष महत्त्व देता है। श्रम इन के लिए मामूली वस्तु है। ये अपने धन और अपनी योग्यता को ही मूल्य का मुख्य कारण समझते हैं। इनकी दृष्टि में "मूले मूलधने भवं मूल्यम्" ही मुख्य मंत्र है।

परन्तु वास्तविक बात यह है कि कार्लमार्क्स और पूँजीपति दोनों ही गलती पर है। ये दोनों ही अर्धसत्य को पूर्ण सत्य मानकर चल रहे हैं। कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित केवल श्रम और उपयोगिता तथा पूँजीपतियों द्वारा माने गये मूलधन और दूसरे सहायक साधन एकान्ततः मूल्यांकन के कारण नहीं। कार्लमार्क्स कपड़े के निर्माण में प्रयुक्त चातुर्य की उपेक्षा करता है और पूँजीपति श्रम और कुशलता दोनों को किसी सीमा तक उपेक्षित कर देते हैं। कार्लमार्क्स के दर्शन में सबसे बड़ा दोष यह है कि वह ज्ञान एवं चातुर्य को श्रम नहीं मानता। वस्तुत: बिना कुशलता के कपड़ा बन नहीं सकता। वैदिक दर्शन के अनुसार श्रम, ज्ञान अथवा कौशल, और उपयोगिता तथा आवश्यकता मूल्यांकन के मानदण्ड हैं। इस विचार को .उपर्युक्त मन्त्र में भली प्रकार बतलाया गया है। अगर ज्ञान को श्रम न माना जावे तो वैज्ञानिक, लेखक, कलाकार, कवि और दार्शनिकों को किस श्रेणी में रखा जा सकेगा।

यद्यपि धन मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। परन्तु यह ही सब कुछ नहीं है, जिसकी मनुष्य इच्छा करे। ईमानदारी और सत्यता इस धन से भी कहीं अधिक मूल्य की वस्तु हैं। समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ होने वाले व्यवहार में मनुष्य को ईमानदार और सत्य व्यवहार युक्त होना चाहिए। यह सत्यता मानव के अस्तित्व में ही अपना मूल रखती है। एक गृहस्थ को समाज की ही भांति अपने परिवार में भी—उचित क्या है? और अनुचित क्या है?; तथा बुरा क्या है? और भला क्या है? तथा क्या करणीय और क्या अकरणीय है? का विचार करके वर्तना चाहिए। मानव जीवन की महत्ता इस क्या करें? क्या न ? और क्या चाहिये और क्या न चाहिए, के विवेक एवं व्यवहार पर आधारित है।

अधिक स्पष्टीकरण के लिए कई लोग सम्पत्त्यधिकार के विचार को यहां पर ले सकते हैं। किसी के द्वारा अधिकांश सम्पत्ति अथवा धन सम्पत्ति कहा जाता है। इस पर अधिकार रखने वाले के अधिकार को सम्पत्ति का अधिकृत कहा जाता है। सम्पत्ति भिन्न प्रकार की हो सकती है, परन्तु बहुत स्पष्ट प्रकार चल और अचल नाम से व्यवहृत होते हैं। यह अधिकार संस्कृत में "स्वत्व" पद से व्यक्त किया जाता है। दान, क्रय, विक्रय, हस्तान्तरण और हर प्रकार के विनिमय इस 'स्वत्व" के कारण से होते हैं। अगर किसी को किसी वस्तु पर स्वत्व नहीं प्राप्त है तो वह लेन देन के व्यवहार पर नहीं उतर सकता। यह स्वत्व किस प्रकार समाज में प्राप्त होता है? इसका उत्तर विचारक लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं। संक्षेपतः—दायाद, क्रय, विभाजन, छिपी संपत्ति का आगम, विनामिल्कियत की प्राप्ति, योग्यता और श्रम से स्वत्व की प्राप्ति होती है। परन्तु चोरी, बेईमानी और बलादपहरण से प्राप्त स्वत्व वस्तुतः स्वत्व नहीं है। समाज में इसको स्थान नहीं मिलना चाहिए। अगर कोई समाज इन्हें स्वत्व की प्राप्ति का साधन बनाता है तो वह बहुत समय तक जीवित नहीं रह सकेगा। अनैतिक कार्य किसी को स्वल्प समय के लिए भले ही फल दे सकें, परन्तु नैतिकता की दृष्टि से वे समुचित और कर्तव्य नहीं हैं। नैतिकता को यदि समाज से निकाल दिया जावे तो यह पशुओं का सघांतमात्र ही शेष रह जावेगा। गृहस्थ को भी इस ईमादारी और सत्यता को पालन करना चाहिए, तभी परिवार में सुख एवं शान्ति आ सकती है। मन्त्र में इसी

लिए कहा गया है कि गृहस्थ को "वित्त ऋते श्रिता:" होना चाहिए। किसी भी धन के पीछे दौड़ने वाला भूत ही नहीं होना चाहिए अपितु धन को ईमानदारी और सत्य व्यवहार से कमाना चाहिए।

मन्त्र में एक और उत्तम बात बतलायी गयी है। वह मन्त्र के आज्ञार्थ होने एवं विधि सूचक (Imperative) होने से प्रकट होती है। विधि का सम्बोधन से अन्वय है और सम्बोधन करने वाले के लिए ही किया जाता है। यहाँ पर मनुष्य को ऐसा करने की आज्ञा दी गयी है। इससे यह प्रकट है कि मानव प्राकृतिक वस्तुओं से ऊपर और श्रेष्ठ है। मानव का अस्तित्व प्राकृतिक विषयों की अपेक्षा महान् है। अगर यह भी प्राकृतिक का एक ढेर ही होता तो श्रम, ज्ञान, और स्वत्व का कोई विचार ही नहीं उठ सकता था। समस्त मूल्य अमूल्य के रूप को प्राप्त हो जाते। मानव आत्मा अस्तित्व के विना भौतिक वस्तुओं के मूल्य का कोई विचार ही नहीं बन पाता। घर का कोई मूल्य न होता, यदि रहने वाले न होते। अगर प्रयोक्ता न होते तो वस्तु का कोई मूल्य न होता। परन्तु यह तथ्य इतिहास की भौतिक व्याख्या के आधार पर नहीं खोजा जा सकता। यह इतिहास की अध्यात्मानुप्राणित भौतिक व्याख्या को स्वीकार करता है। महत्ता इसके साथ है। स्वत्व और मूल्य का विचार इसमें निहित है।

इस प्रकार मन्त्र शिक्षा देता है कि गृहस्थ को श्रम और ज्ञान से धन पैदा करना चाहिए। तप का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसे धन के सुख को तो प्राप्त करना चाहिए, परन्तु सत्य और न्याय के मार्ग का सदा ही अनुसरण करना चाहिए। उनके प्राप्तव्यों की प्राप्ति उचित और युक्त साधनों से होनी चाहिए॥

वेद-अनन्त और शाश्वत

[*ले०—श्री आचार्य अभयदेव जी, पाण्डीचरी*]

(१)

'वेद' कितना प्यारा है यह शब्द, कितनी पवित्रता व उज्ज्वलता का वातावरण जुड़ा हुआ है इस शब्द के साथ। यह तब विशेषतया अनुभव हुआ जब कि श्रीअरविन्दाश्रम में एक बार एक बालक अपने पिता के साथ मेरे कमरे में अप्रत्याशित आया और उस बालक के पिता ने कहा कि 'कुक्कू वेद देखना चाहता है।' उस बालक के पिताजी को विश्वास था कि मेरे यहाँ वेद के पुस्तक अवश्य मिल जायँगे और वे बालक की जिज्ञासा को पूर्ण कर सकेंगे। मैंने बालक के लिये अपनी अलमारी खोली। मेरी अलमारी में जो पुस्तकों की एक पंक्ति लगी थी, उसमें सबसे पहले ही, पं० सातवलेकर जी के यहाँ के छपे, मूल वेद रखे थे। मैंने प्रेम से उसे दिखाया यह है ऋग्वेद, यह यजुर्वेद, यह उससे भी छोटा सामवेद, और फिर यह चौथा अथर्ववेद।

उस बालक की तरह मुझ बालक (मैं भी बालक ही हूँ—शायद हम सब बालक हैं) के मन में आया कि चारों वेद क्या इतने ही हैं, जिनकी इतनी महिमा है, वे इतने ही हैं। नहीं, वेद इतने परिमित नहीं हैं। वेद पुस्तक भी नहीं हैं। बेशक अन्य धर्मग्रन्थ बाईबिल, ग्रन्थसाहब, कुरानशरीफ पुस्तक होने की तरफ ही संकेत करते हैं। पर वेद पुस्तक में बद्ध नहीं हैं। वह तो मुक्त और मुक्तिदायक ज्ञान है, ज्ञानरूप है। ब्राह्मणकाल में ही क्या नहीं कहा गया था—

अनन्ता वै वेदाः

यह तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रसिद्ध वचन तब मेरे कान में गूँजने लगा और मुझे दीखा अरे ये चार वेद तो अनन्तवेद के पहाड़ में से उठाकर रखी चार मुट्ठियाँ मात्र हैं।

(२)

वेदवाणी के विषय में श्रीअरविन्द ने कहा है कि यह दिव्य वाणी है, जो कम्पन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अन्तःश्रवण में पहुँची, जिसने पहले ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।' सो वास्तव में यह दिव्य वाणी वह असीम ही अनन्त ही है, जहाँ से कि निकलकर यह आदिम ऋषियों के अन्तः श्रवण में आयी। जब यह श्रुत हुई, वाणी रूप में आयी

तब वह सीमित हुई—वस्तुतः मूलतः असीम है। और क्या स्वयं वेद ही इसका साक्षी नहीं है? ऋग्वेद १-१६४-३९ में तथा अथर्ववेद ९-१०-१८ में कहा है :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्

ऋचायें (वेदमन्त्र) उस अक्षर परम आकाश में हैं।

यस्मिन् विश्वे अधि देवाः निषेदुः।

जिसमें कि सब के सब देवता स्थित हैं, अधिश्रित हैं।

सो स्वयं वेद कहता है कि ऋचायें, वेद के मन्त्र उस अक्षर परम व्योम में हैं, जहाँ कि वेदों के स्तुत्य सब देवताओं का निवास है। वेदमन्त्र अक्षर (अविनाशी), परम आकाश में, परम व्यापक स्थान में रहते हैं, अतएव मन्त्र के तीसरे पाद में कहा है (जो कि महात्मा मुन्शी-रामजी, स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' के ऊपर लिखा रहता था)।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति

'जो उस (अक्षर परम व्योम) को नहीं जानता, वह वेदमन्त्र से क्या करेगा ?' जो उस परम व्योम को (जो कि अक्षर है) नहीं जानता उसके लिये वेदमन्त्र बेकार हैं। उसके लिये वेदमन्त्र पढ़ना या न पढ़ना एक बराबर है। वेद उसके किसी काम नहीं आयेगा। वेद उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करेगा। और इसके विपरीत

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

'जो उस (व्योम) को जानते हैं वे वे हैं जो कि समासीन होते हैं, सामञ्जस्य में रहते हैं, पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।' सो उस अक्षर परम आकश से विच्छिन्न करके वेद को देखने से वेद बिलकुल बेकार हो जाता है और उससे युक्त होने से प्रत्येक ही वेदमन्त्र हमारी पूर्णता का साधन हो सकता है। तब एक ही वेदमन्त्र विजय प्राप्त कराने को पर्याप्त है। श्रीअरविन्द कितना सत्य कहते हैं कि "पूर्णता की प्राप्ति के लिये संघर्ष करते हुए आर्य के हाथ में वह (वेदमन्त्र) एक शस्त्र का काम देता था।" एक वेदमन्त्र क्या, एक शब्द एक अक्षर 'ओं' इतना ही पार तराने को पर्याप्त हो जाता है। तब 'ओं' इस एक अक्षर में ही चारों वेद—अनन्त वेद समा जाते हैं। और तब यह भी समझ में आ जाता है कि मुण्डकोपनिषद् में अन्य विद्याओं के साथ ऋक्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों को भी क्यों अपरा विद्या कहा है। और परा विद्या केवल उसे कहा है जिससे वि... वह अक्षर प्राप्त होता है—यया तदक्षरमधिगम्यते।

(३)

और वेद अनन्त ही नहीं है, शाश्वत भी है। वह देश की दृष्टि से ही असीम नहीं है किंतु काल की दृष्टि से भी असीम है। यह केवल 'परम व्योम' में नहीं, मनुष्य के हृदयाकाश में भी विद्यमान है, और सदा विद्यमान है। परमप्रभु बड़े क्रूर या अन्यायी होते यदि उन्होंने केवल जगत् के प्रारंभ में ही अपने ईश्वरीय ज्ञान का मनुष्य के लिये प्रबंध किया होता, और उसके आगे के काल के लिये कुछ प्रबन्ध न किया होता। परन्तु वे वस्तुतः परम कारुणिक हैं, उन्होंने तो नित्य, शाश्वत वेद का (ईश्वरीय ज्ञान का) प्रबन्ध किया हुआ है। उसी की तरफ हमारी दृष्टि खींचने को श्री अरविन्द ने 'योगसमन्वय' के प्रारंभिक अध्याय में ही चार साधनों अर्थात् (शास्त्र, उत्साह, गुरु तथा काल) में से पहले साधन 'शास्त्र' के विषय में उल्लेख करते हुए प्रारंभ में ही कहा है—

"इस सर्वाङ्गीण योग का परम शास्त्र है, वह शाश्वत वेद जो कि प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है"।

सो प्रत्येक मानव प्राणी के हृदय में छिपे हुए इस 'शाश्वत वेद' को जान लेने की आवश्यकता है जो कि अक्षर परम व्योम में विद्यमान वेद का मानव हृदयाकाश में पड़ा परिपूर्ण और शाश्वत प्रतिबिम्ब है। तब ज्ञान के लिये अपने से बाहर किसी पुस्तक की भी—वेद नामक पुस्तक की भी—आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु की कारुणिकता का आनन्दमय अनुभव सतत होता है। तब यह हृदयस्थ 'शाश्वत वेद' हमारी प्रतिक्षण रक्षा करता है, पग पग पर हमारी रक्षा करता हुआ हमें आगे बढ़ाता है, अगले अगले क्षण में हमें अगला अगला ज्ञान देता है, अगला पग कब कैसे उठाना है, यह प्रकाशित करता है। तब जगत् में वेद के प्रादुर्भाव होने का उद्देश्य पूरा हो जाता है॥

[इस लेख को दूसरी दृष्टि से पाठक पढ़ें। विद्या = ज्ञान का अन्त वेद नहीं, यह तो अपरा विद्या है। ज्ञान इससे भी आगे है। पर मानव समाज के लिये अपेक्षित ज्ञान सब वेद में है, यही वैदिक सिद्धान्त है, इतना विदित रहे—सम्पादक]।

वेदों के ऋषि

[ले०—श्री पं रामावतार जी शर्मा षट्तीर्थ, कलकत्ता]

वेद ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तकें हैं। उनका प्रादुर्भाव सर्गारम्भ में हुआ था। प्राणिमात्र के कल्याण के लिये ही उनका प्रादुर्भाव होता है।

उनके शब्द यौगिक होते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र पर आप दृष्टिपात करें, जिससे यह ज्ञात होगा कि स्वयं वेद भगवान् ने यौगिक प्रक्रिया प्रदान की है:—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।
अथर्व १०।२।२८॥

अर्थात् पुर को जानने से ही पुरुष कहा जाता है।

वेदों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जो व्यक्तिविशेष के प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध किसी व्यक्तिविशेष से नहीं हैं।

धर्म शास्त्र तो स्पष्ट ही घोषणा करता है कि

"पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
स्वेदजं दंशमशकं यूका मक्षिकमत्कुणम्॥
उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे" इत्यादि।

इन वचनों में जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज आदि शब्द यौगिक होने का स्वयं संकेत करते हैं।

इसीलिये मनुजी ने कहा था कि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

अर्थात् वेदों के शब्दों को ही लेकर व्यावहारिक जगत् में उनका प्रयोग किया गया है।

जिस शब्द का उचित यौगिक अर्थ जहाँ घट गया है, वहाँ उस शब्द का प्रयोग किया गया है।

परन्तु सम्भव है कि कहीं अर्थ नहीं घटता हो, किन्तु प्रयोग किया गया हो।

उदाहरण के लिये कहा जा सकता है जैसे:— "शुनःशेप" यह एक ऋषि का नाम है, किन्तु इस शब्द का अर्थ उस ऋषि में नहीं घटता है। परन्तु यह नाम पाया जाता है।

ऋषि

स्वयं ऋषि शब्द भी यौगिक है। "ऋष् गतौ" इस धातु से ऋषि शब्द सिद्ध होता है। वैयाकरण लोग गति के चार अर्थ मानते हैं—ज्ञान, गमन, प्राप्ति और मुक्ति।

निरुक्त का कहना है कि "ऋषिर्दर्शनात्" "स्तोमान् ददर्श" देखने से ऋषि कहा जाता है। देखने का साक्षात् करना ही भाव समझना चाहिये।

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः" धर्म को साक्षात् करने वाले ऋषि होते हैं।

ब्राह्मणवाक्य कहता है कि

यदेनान्—तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्—अभ्यानर्षत् तत्—ऋषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।

तपस्या करने वाले ऋषियों के ज्ञान में अपने आप, बिना पढ़े ही वेद के ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जावे तो ऋषि की ऋषिता इसी में समझी जाती है।

निरुक्त का काम है अर्थ का निर्वचन करना, न कि शब्द का निर्वचन करना, ऐसी अवस्था में निरुक्त की प्रक्रिया ही यौगिक होती है।

मेदिनी कोष में लिखा है कि "ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्" ऋषि शब्द का प्रयोग वेद के अर्थ में, वसिष्ठादि ऋषि के अर्थ में और सूर्य के अर्थ में होता है। अर्थात् ऋषि शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं। १—वेद २—वसिष्ठ आदि नामधारी ऋषि। ३—सूर्य।

पाणिनि जी ने एक सूत्र बनाया है कर्तरि चर्षिदेवतयोः ३।२।१८६॥ सूत्रकार का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि "ऋषि, शब्द का अर्थ" वेद मन्त्र होता है।

भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है कि—"ऋषिर्वेदमन्त्रः, अर्थात्—वेदों के मन्त्र जितने हैं, सब के सब ऋषि हैं।

इस अर्थ से महाभाष्यकार, काशिकाकार तथा कैयट आदि भी सहमत हैं।

फलतः मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि मुख्य वृत्ति से ही ऋषि शब्द का "वेद मन्त्र" भी अर्थ होता है। निरुक्त में स्थान स्थान पर ऐसा लेख पाया जाता

है कि "तदुक्तमृषिणा" ऋषि ने ऐसा कहा है। उसके आगे वेद मन्त्र ही उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जाता है।

भट्टोजिदीक्षित ने अपने विचार की पुष्टि में इसी लिये लिखा है कि "तदुक्तमृषिणेति दर्शनात् ।"

अब एक वेद मन्त्र देकर तदनुकूल विचार उपस्थित करता हूँ।

विश्वकर्मा तऽऋषिः। यजु० १४।५॥

तुम्हारा विश्वकर्मा ऋषि है। "विश्वकर्मा" शब्द के दो खण्ड हैं। विश्व+कर्म यह शब्द इन्हीं दो शब्दों के योग से बना है। इस शब्द का अर्थ ऐसे किया जाना चाहिये :—

"विश्वं कर्म यस्य, असौ विश्वकर्मा"

विश्व जिसका कर्म है वह विश्वकर्मा है। अर्थात् जो विश्व का कर्त्ता है, वही विश्वकर्मा कहा जाता है।

विश्व का कर्त्ता परमेश्वर ही माना जाता है। कोई दूसरा विश्वकर्ता नहीं है। वेदमन्त्र भी ऐसे मिलते हैं कि "विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता"

इस मन्त्रभाग के अर्थ से यही सिद्ध होता है कि वेदों के ऋषि के रूप में मुख्यवृत्ति से परमेश्वर को ही स्वीकार करना चाहिये।

क्योंकि ईश्वर ने ही सर्वप्रथम मानवमात्र ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के कल्याणार्थ सर्गादि में वेदों का प्रादुर्भाव किया था।

इस विषय में वेदमन्त्रों का ही प्रमाण उपस्थित किया जाता है :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
यजु० ३१।७

परमेश्वर ने ही चारों वेद दिये हैं।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
अथर्व १०।७।२०॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद परमेश्वर से ही उत्पन्न हैं।

उपर्युक्त विचारों से यह परिणाम निकलता है कि मुख्य रूप से ऋषि शब्द के दो अर्थ हैं। एक परमेश्वर और दूसरा वेद मन्त्र।

सर्वानुक्रमणीकार ने अपना विचार ऋषि शब्द पर व्यक्त किया है कि "यस्य वाक्यं स ऋषिः" जिसका वाक्य है वही ऋषि होता है। अर्थात् वेदों के अथवा वेद-मन्त्रों के वाक्य जिसके हों वेही ऋषि होते हैं।

वेदों के शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के साथ सब के सब वेदमन्त्रों के वाक्य परमेश्वर के ही हैं, ऐसी अवस्था में यह मान लेना चाहिये कि सर्वानुक्रमणीकार के विचार से भी परमेश्वर ही ऋषि सिद्ध होता है।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ मुख्य नहीं हो सकता है। गौण ही होगा। गौण होने से हानि नहीं है।

ऋषि शब्द के और भी दूसरे दूसरे अर्थ होते हैं, उनका भी संक्षेप से अवलोकन करना अपना कर्तव्य है।

सर्व प्रथम वेद का एक मन्त्र उपस्थित करता हूँ। वह मन्त्र ऋषि शब्द के ऊपर सीधा प्रकाश डालता है :—आँख।

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्। अथर्व २।३५।४॥

ये ऋषि बड़े भयानक हैं, इनको मैं दूर से ही नमस्कार करता हूँ। इनमें आँख तो मन से भी बढ़ कर सच्ची है।

इस वेदमन्त्र में आंख आदि इन्द्रियों को ऋषि कहा गया है। साथ ही इन इन्द्रियों को बड़ा भयानक कहा गया है। क्योंकि आत्मा का यद्यपि इनके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है, तथापि मन के साथ आत्मा का सीधा सम्बन्ध है। मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध है इन्द्रियां मन के द्वारा ही आत्मा को ज्ञान या कर्म समर्पित करती हैं। ऐसी अवस्था में यदि मन का, इन्द्रियां दास हैं, यह कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

आत्मा स्वयं असङ्ग है। निर्लेप है। किन्तु मन के कर्त्तव्याकर्त्तव्य द्वारा व्यावहारिक सुख दुःख का अनुभव केवल आत्मा को ही होता है।

यदि इन्द्रियां मन को तथा मन आत्मा को ज्ञान ज्ञान के समपर्ण का कार्य छोड़ दें तो कोई कारण नहीं उस के लिये इन्द्रियां भयानक हों। परन्तु अनुभव यह बतलाता है कि आत्मा के लिये मन के साथ इन्द्रियां बहुत ही भयानक हैं।

इस मन्त्र में एक खास बात कही गई है आंख को मन से भी सच्चा कहा गया है। जिस विषय

आंख से प्रत्यक्ष हो जाता है, वहां मन की दाल नहीं गलती, इसलिये यहाँ आंख को मन से बढ़ कर सच्चा कहा गया है।

फलतः इस मन्त्र में इन्द्रियों को भयानक ऋषि कहा गया है।

बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् से, पिण्ड और ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखने वाले कुछ दूसरे ऋषियों के प्रमाण वेदों में मिलते हैं :—

सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। यजु० ३४.५५॥

सात ऋषि इस शरीर में रहते हैं। ये सात ऋषि सावधानी से इस शरीर की रक्षा करते हैं।

इस मन्त्र में हमारे शरीर के सात ऋषियों का वर्णन किया गया है। निम्न प्रकार से इन ऋषियों की गणना की जा सकती है। "त्वक्श्रवणचक्षूरसनाघ्राण मनोबुद्धिलक्षणाः" = "त्वचा, आंख, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि" इन्हीं सात ऋषियों के धारण करने से यह हमारा शरीर चलता है।

प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और नाग आदि प्राणों से भी हमारे शरीर की रक्षा होती है।

कुछ ऋषि आकाशसञ्चारी कहे गये हैं :—यथा—

अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजाः देवेषु दिवो मात्रया। यजु० १५।१०॥

सबसे पुराने, अन्तरिक्ष में विचार करने वाले ऋषि लोग, द्युलोक में आकाश की मात्रा से तेरा विस्तार करें।

इस मन्त्र में ऋषियों को आकाश में विचरने वाला कहा गया है।

प्रश्न होगा कि वस्तुतः आकाश में विचरने वाले ऋषि हैं कौन?

भाष्यकारों ने इस प्रश्न का उत्तर निकाला कि :— "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः" तैत्तिरीय संहिता का यह वचन है।

इस मन्त्र में सबसे प्रथम आकाशसञ्चारी ऋषि प्राणों को कहा गया है। वायु का सञ्चार आकाश के विना सम्भव नहीं है। जब तक अवकाश नहीं हो, वायु की गति नहीं हो सकती है।

गाय ऋषि।

कुछ मन्त्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गायें भी ऋषि कही गई हैं :—

शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः पयः सहस्रसामृषिम्।
यजु० ३।५॥

लज्जारहित होकर दूहने वाले गाय से शुद्ध दूध दूहते हैं।

इस मन्त्र में :—"ऋषिम् पयः दुदुह्रे" गाय से दूध दूहने का अर्थ किया गया है। यहाँ ऋषि शब्द का गाय अर्थ है।

भाष्यकार लोग गाय को ऋषि कहने के कारण को स्पष्ट किया करते हैं। उनका कहना है कि—"ऋषति दोहन-स्थानङ्गच्छति-इति ऋषिः" दूध दूहने के स्थान में जाने के कारण से गाय को ऋषि कहा गया है। यहाँ स्पष्ट ही व्याकरण के नियम के अनुसार गति अर्थात् गमन करना अर्थ माना गया है।

अभिप्राय यह कि पशु को भी गाय के रूप में ऋषि मान लिया गया है।

मन्त्र-व्याख्याता ऋषि।

यजुर्वेद के एक प्रमाण से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाले को ऋषि कहना चाहिये।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्य-
मृषिमार्षेयꣳसुधातुं दक्षिणम्। यजु० ७।४६॥

योग्य पिता के पुत्र, पिछली पीढ़ियों में जिनके वेदों के अध्ययन तथा अध्यापन करने वाले हों, वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाले ऋषियों में प्रसिद्ध हों, जिन को दक्षिणा में हीरा आदि अथवा सुवर्ण आदि धातुएँ प्राप्त होती हों, ऐसे सुयोग्य ज्ञानियों की प्राप्ति मुझको हो।

इस मन्त्र में एक सुयोग्य विद्वान् की प्राप्ति की आशा का वर्णन है। इस प्रसंग में "ऋषिं मन्त्राणां व्याख्या-तारम्" ऋषि शब्द का वेदमन्त्रों की व्याख्या करने वाला किया गया है।

ये विचार उव्वटाचार्य और महीधराचार्य के हैं। फलतः वेदमन्त्रों की व्याख्या अथवा वेदभाष्यकार भी ऋषि कहे जाते हैं।

मन्त्र ऋषि

कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वेदमन्त्र भी ऋषि होते हैं। पाणिनि जी ने अपने सूत्रों में मन्त्र को ऋषि माना है। ब्राह्मण गन्थों की उक्तियों से भी सिद्ध होता है कि मन्त्र भी ऋषि होते हैं। यह

बात मैंने पूर्व अपने लेख में उद्धृत कर दी है।

वेदों के मन्त्र भी ऐसे मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मन्त्र भी ऋषि हैं :—

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः।
समृषीणां स्तुतेन। यजु० ३।१९॥

हे अग्नि देव! तू सूर्य के तेज तथा मन्त्रों की स्तुतियों से युक्त है।

इस मन्त्र में "ऋषीणाम्" यह शब्द है। इसका अर्थ भाष्यकार लोग "मन्त्राणाम्" करते है। इस लेख से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि मन्त्र ऋषि कहे जाते है। वेदमन्त्र क्यों ऋषि कहे गये हैं। इस बात पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक हैं।

सामान्य रीति से इन्द्रियातीत अर्थों का देखने वालाऋषि कहा जाता है। जिन द्रव्यों अथवा वस्तुओं को मनुष्य अपनी आंखों से, अथवा किन्हीं इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, ऐसे गूढ़-तत्त्वों का स्पष्ट विवेचन मन्त्रों में पाया जाता है। उन गूढ़-तत्त्वों से मनुष्य परिचित हो जाता है।

उपदेश्य और उपदेष्टा का काम मन्त्र करते हैं। मनुष्य के जीवन का ध्येय मन्त्र स्पष्ट करते हैं। मनुष्य मर कर जन्म लेता है, इस रहस्य की घोषणा मन्त्र करते हैं।

सामवेद का अनुवाद करते हुए एक स्थान पर "ग्रिफिथ" ने एक मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से किया है—
He who died yesterday to day is living
p. 32

यही कारण है कि वेदमन्त्रों में आये हुए ऋषि शब्द का, भाष्यकार लोग वेदमन्त्र अर्थ करते हैं।

इस उदाहरण से वेदमन्त्र ऋषि सिद्ध होते हैं।

यजुर्वेद का एक प्रमाण और देकर में आगे अन्य वेदों के प्रमाण उपस्थित करूँगा।

त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणाम्-नपात्। यजु० २१।६१॥

इस मन्त्र में तीन पद ऋषि शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हैं।

ऋषे, आर्षेय, और ऋषीणाम्

इन तीन पदों के क्रमशः मन्त्रद्रष्टा, यजमान और ऋत्विज् अर्थ हैं।

मन्त्रद्रष्टा को तो ऋषि कहना ही चाहिये। किन्तु यजमान और ऋत्विज् क्यों छूट जाय, इसलिये मालूम होता है कि ये भी सम्मिलित कर लिये गये हों।

अब मैं कुछ ऋग्वेद के प्रमाण उपस्थित करता हूँ जिनसे भी अनेक अर्थ ऋषि शब्द के सिद्ध होते हैं:—

षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति। ऋ. १।१६४।१५॥

नियमपूर्वक छः ऋतुएँ सूर्य की गर्मी अथवा पृथिवी की गति से उत्पन्न होती हैं।

ऋग्वेद के इस मन्त्र भाग में प्रतिवर्ष नियम पूर्वक आनेवाली ऋतुओं का ऋषि कहा गया है। अतएव ऋतुएँ भी ऋषि हैं।

ऋग्वेद का एक प्रमाण और लीजिये जिससे कुछ और अर्थ प्रतीत होता है—

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। ऋ. १०।७३।११॥

चलने वाली, बुद्धि के लिये हित करने वाली, प्रकाश देने वाली, सूर्य की किरणें इन्द्र के पास पहुँची।

इस मन्त्रभाग में सूर्य की किरणें ऋषि कही गई हैं।

इस प्रकार जहाँ तक वेदभाष्यों का सम्बन्ध है, उनमें ऋषि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

मैंने मोटा-मोटी निम्न अर्थ मन्त्रों में ऋषि शब्द के देखे हैं :—

१—वेदों का दाता परमेश्वर ऋषि है।
२—वेद मन्त्र स्वयं ऋषि हैं।
३—वेदों के साक्षात् करने वाले महापुरुष ऋषि हैं।
४—आकाशसञ्चारी वायु ऋषि हैं।
५—शरीरसञ्चारी प्राणवायु भी ऋषि हैं।
६—दूध देने वाली गायें ऋषि हैं।
७—वेदों के व्याख्याता अथवा भाष्यकार ऋषि हैं।
८—यजमान और ऋत्विज भी ऋषि हैं।
९—इन्द्रियाँ भी ऋषि कही गई हैं।
१०—विभिन्न आविष्कार करने वाले ऋषि होते हैं।
११—सूर्य की किरणें भी ऋषि हैं।
१२—कर्मों के उद्बोधक, प्रवचनकार और विनियोक्ता ऋषि हैं।
१३—चलने-फिरने वाले द्रव्य ऋषि होते हैं।
१४—गौतम आदि नामधारी पुरुष ऋषि हैं।
१५—वेदों की देवता ऋषि होती हैं।

सत्यार्थप्रकाश में स्वामी जी ने लिखा है कि "जो कोई ऋषियों को मन्त्र कर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मन्त्रों के अर्थप्रकाशक हैं, मन्त्रों के साथ ऋषि के नामस्मरणार्थ लिखे जाते हैं" आदि।

वेदमन्त्रों के अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि उसमें ऋषि नाम से प्रसिद्ध तीन प्रकार के नाम पाये जाते हैं।

१—प्रथम श्रेणी के नाम वे देखे जाते हैं जो मन्त्रों के ऊपर देवता के साथ छपे हुए दिये गये हैं। इन नामों का मन्त्रों में दिये नामों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२—दूसरे प्रकार के ऋषि वे दीखते हैं, जिनका नाम देवता के नाम के समान ही पाया जाता है।

३—तीसरे प्रकार के ऋषि वे हैं जिनके नाम वेद-मन्त्रों के साथ छपे हुए हैं और मन्त्रों के भीतर भी उनके नाम हैं।

जिन नामों का सम्बन्ध मन्त्रों के आभ्यन्तर भाग से है, वे ही अधिक विचारणीय हैं।

निरुक्त का कहना है कि :—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते असाक्षात्-कृतधर्मभ्योऽवरेभ्यो मन्त्रान् सम्प्रादुः।

धर्म को साक्षात्=प्रत्यक्ष करने वाला ऋषि होता है। ऐसे ऋषि हुए जिन लोगों ने मन्त्रों को प्रत्यक्ष किया और उनके अर्थों को भी समझा और दूसरों को अभ्यास कराया।

जिनको मन्त्र प्रत्यक्ष नहीं थे, किन्तु वे योग्य थे, ऐसे लोगों को मन्त्रवेत्ता ऋषियों ने मन्त्रों को दिया। समझाया और पढ़ाया तथा उन मन्त्रों की रक्षा का भार दिया।

इस प्रकार ऋषिपरम्परा चली थी। उसी परम्परा में कुछ ऐसे ऋषियों के नाम के समान मन्त्रों में नाम पाये जाते हैं जिनका अर्थ, लोग व्यक्तिविशेष करते हैं। ऐसा करना वैदिक साहित्य के दृष्टिकोण के विपरीत, अर्थ का ह्रास तथा रूढिवाद का पोषण कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य की अपनी विशेषता यह है कि अधिक ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत कर मौलिक सिद्धान्तों का समावेश कर देना चाहिये।

भरद्वाजः—

हमारा विश्वास है कि वेद से लेकर ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, पुराण तथा अन्यान्य संस्कृत साहित्य के भंडार आकर ग्रन्थ यौगिक प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं।

निरुक्त का वेद से सीधा सम्बन्ध है। भाषाविज्ञान का प्रारम्भ निरुक्त से होता है, यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है।

वेदों के ऊपर आज तक जितने भाष्य हुए हैं, निरुक्त को अधिक या कम रूप में सबों ने अपनाया है।

एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है जिससे यह बात सिद्ध होगी कि वैदिक मन्त्रों में आने वाले शब्द व्यक्तिविशेष का अर्थ नहीं करतेः—

भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः। यजु० १३।५५।

संस्कृत अर्थः—भरद्वाज ऋषिः—बिभर्तीति भरत्—वाजम् अन्नम् यः स भरद्वाजः। अन्नधर्ता मनः।

अन्न को जो धारण अथवा पुष्ट करे, वह भरद्वाज है। अन्न को मन धारण करता है। इसलिये मन भरद्वाज है।

मन को भरद्वाज इसीलिये कहा जाता है कि जब तक मन स्वस्थ नहीं रहता, तब तक अन्न ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती।

इस विषय पर एक प्रमाण देखना चाहियेः—

मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नम् वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मात्-मनो भरद्वाज ऋषिः। तै. सं. ८।१।१।९।।

मन ही भरद्वाज ऋषि है। अन्न ही वाज है। जो मन को धारण करता है, वह अन्न को धारण करता है। इस-लिये मन को ही भरद्वाज ऋषि कहा गया है।

इस एक ही उदाहरण से, अथवा भरद्वाज शब्द के विश्लेषण से गौतम, अत्रि, अङ्गिरा, दध्यङ्, कण्व, और जमदग्नि आदि शब्दों का विश्लेषण समझना चाहिये।

पराशर शब्द विशेषण के रूप में मन्त्र में पाया जाता है, यथा—

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः। ऋ. ७।१०४।२१

इन्द्र राक्षसों का पराशर अर्थात् नाश करने वाला है। पाणिनि मुनि के नियम से इन्द्र जीवात्मा है। निरुक्त की प्रक्रिया से इन्द्र के सूर्य, विद्युत् आदि अनेक अर्थ होते हैं। उन अर्थों में एक परमेश्वर अर्थ भी संयुक्त है।

यजुर्वेद के १२।११६।। मन्त्र में अङ्गिरस्तमः प्रयोग

पाया जाता है। यह प्रयोग सिद्ध करता है कि अङ्गिरा व्यक्तिविशेष का अर्थ नहीं है। क्योंकि तमप् प्रत्यय संज्ञा से नहीं होता।

यदि कोई कहे कि कृष्णतमः अयम् जनः—तो इस वाक्य का "अत्यन्त काला मनुष्य" अर्थ होगा। यदुपति कृष्ण अर्थ कभी सम्भव नहीं है।

ऐतिहासिक लोगों की माया विचित्र होती है। उनको सब दिशाओं में केवल एक ही वस्तु दीखती है, और वह है इतिहास।

शब्द का चाहे जो अर्थ हो किन्तु समता प्रतीत होनी चाहिये। ऋग्वेद के एक मन्त्र में "सुभास" शब्द को देखकर नेता जी सुभासचन्द्रबोस का वर्णन, उस मन्त्र में, ऐतिहासिक कह सकते हैं। यथा—

तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम्।
विशामग्निमजिरं प्रत्नमीड्यम्॥ ऋ. ८।२३।२०॥

यतस्रुचः = स्वागत के सामान के साथ हमलोग
शुक्रशोचिषम् = तेजस्वी
विशाम् = प्रजाजनों के
अग्निम् = नेता
अजिरम् = कीर्ति से सदा नवजवान,
प्रत्नम् = ज्ञान से पुराने
ईड्यम् = आदर के योग्य
तम् = उस
सुभासम् = सुभास चन्द्र बोस को
हुवेम् = बुलाते हैं।

सरलार्थ

भारत की स्वतन्त्रताप्राप्ति के उद्योग के लिये अपने देश को छोड़कर विदेश में चले जाने वाले, तेजस्वी, प्रजाजनों के नेता, कीर्ति से सदा नवजवान, ज्ञान से वृद्ध और आदर के योग्य श्री नेताजी सुभासचन्द्र बोस को, स्वतन्त्र भारत में स्वागत के लिये हम लोग बुलाते हैं।

यद्यपि इस मन्त्र का ऐसा अर्थ नहीं होता है, परन्तु इस प्रकार के शब्द का योग पाकर यह कहा जाय कि यह मन्त्र सुभास बाबू का वर्णन करता है और वह भी जब जापान गये थे, उस समय का यह मन्त्र है। भारत में स्वागत के लिये स्वागत का यान किया गया था तो कोई अचरज नहीं हो सकता है।

हमारे ऐतिहासिक बन्धुओं की ऐसी ही विचित्रता सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है। ऐसा भाव सदा चिन्त्य है।

ऋषियों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बातें लोग किया करते हैं।

किन्हीं नित्य अर्थों का वर्णन मन्त्रों में हो तो कोई हानि नहीं, किन्तु अनित्य अर्थों से वेद सदा परे थे, हैं और आगे भी रहेंगे॥

वेदों में पशुपक्षी

[ले०—श्री पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री एम० ए०, काव्यतीर्थ, मन्त्री सार्वदेशिक विद्यार्य सभा, रायबरेली]

वैदिक कर्मकाण्ड पर महर्षि दयानन्द ने बहुत कम लिखा है। उनके सम्मुख तो उद्देश्य था वेदमन्त्रों के सत्य अर्थ का प्रकाश। अतः कर्मकाण्ड जैसे जटिल और विवादास्पद विषय को उन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया है। संस्कार विधि में १६ संस्कार, ५ महायज्ञ, पौर्णमासेष्टि, दर्शेष्टि, नवसस्येष्टि, शालाकर्म आदि की विधियों को ही आवश्यक समझकर वर्णन किया। अश्वमेध आदि यज्ञों के विषय में लिखने का उन्हें अवसर प्राप्त नहीं हो सका। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वे इन यज्ञों को वर्तमान युग के अनुकूल तथा फिर से आरम्भ किये जाने योग्य न समझते थे। यदि समझते होते तो इनके वर्णन को प्राथमिकता देते।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका 'प्रतिज्ञाविषय' में महर्षि लिखते हैं—

"परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिये उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसीको फिर कहने से पिसे को

पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ-जा सकता है। इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसीको मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।"

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि महर्षि ने समयाभाव के कारण ब्राह्मण, श्रौत सूत्र आदि में वर्णित अश्वमेध यज्ञ आदि की विधियों को अन्वेषणात्मक समालोचना के अर्थ अपने परवर्ती शिष्यों के लिए छोड़ दिया और एक सामान्य नियम निर्दिष्ट कर दिया कि केवल उसी कर्मकाण्ड को मानना योग्य है जो वेद (संहिता भाग) के अनुकूल हो और युक्तिप्रमाणसिद्ध हो।

पौराणिक और उनके मतानुयायी यूरोपीय स्कालर तो प्रायः सभी श्रौत यागों में पशुओं के बलिदान को मान्यता प्रदान करते हैं किन्तु विशुद्ध वेदमतावलम्बी ऋषि दयानन्द के भक्त, बुद्धिवादी भारतीय तथा विदेशी जन वेदों में हिंसा, मांसभक्षण तथा पशुबलिदान को मानने के लिए कदापि तत्पर नहीं हैं। कुछ आर्य विद्वान् प्राचीन यज्ञों के पुनः प्रचलन और उन यज्ञों की पद्धति के निर्माण की दिशा में अग्रसर होने का यत्न करते हैं तो उनके सामने विधिग्रन्थों में वर्णित पशुबलिदान भालू के समान मुख खोलकर उपस्थित हो जाता है और उन्हें अपने प्रयत्नों में शिथिल हो जाना पड़ता है।

मेरी सम्मति में इन मध्यकालीन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों में यज्ञों में पशुओं का बलिदान ऐसे रूप में अंकित है कि उन्हें वैदिक ग्रन्थ भी कहने की इच्छा नहीं होती। यह हो सकता है कि वे अंश प्रक्षिप्त हों अथवा उनका सत्य अर्थ अब तक भी स्पष्ट न समझा गया हो किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ऐसे ग्रन्थ विषसम्पृक्त अन्नवत् त्याज्य ही हैं। न तो उन ग्रन्थों के और न ही उन ग्रन्थों में वर्णित पशुबलिदान के कारण उन श्रौत यज्ञों के अब पुनः प्रचलन की ही कोई सम्भावना है।

मीमांसक लोग याग को 'देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग' रूप कर्म मानते हुए भी उसे 'देवता की आराधना' का रूप नहीं मानते। उनके मत में 'कर्म' की ही प्रधानता है। देवता तो उसमें अङ्ग (गौण) रूप से कर्म की निष्पत्ति में सहायक है।

शरीर, हविः का ग्रहण, फलप्रदानशक्ति, तृप्ति और फलप्रदान—ये पाँच विग्रहादिपञ्चक कहे जाते हैं, जो किसी पूज्य के लिए द्रव्य के दान के समय ध्यान में रहा करते हैं। क्योंकि प्राकृतिक देवताओं में ये पाँचों बातें सम्भव नहीं हैं, अतः यज्ञ में यजमान को तो केवल द्रव्य का त्याग ही कर्तव्य रूप में सम्मुख रहता है। इस प्रकार मीमांसकों के मत में 'दान' में देवताओं के साथ यजमान का कोई सम्बन्ध नहीं है। याज्ञिकों के मत में तो परम्परा (अप्रत्यक्ष) रूप से वह सम्बन्ध आवश्यक है।

श्रौत कर्मकाण्ड के ४ प्रकार

गृह्य संस्कारों आदि के अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड का वर्णन उपलब्ध श्रौत सूत्रों में चार प्रकार से किया गया है—

१. होम—सायं, प्रातः अग्निहोत्र और उसी प्रकार के अन्य होम, इनमें केवल घृत तथा औषधियों का ही प्रयोग बताया गया है।

२. इष्टियाँ—अमावास्येष्टि (दर्शेष्टि), पौर्णमासेष्टि आदि इष्टियाँ कहाती हैं जिनमें औषधियों से बने हुए चरु, पुरोडाश आदि द्रव्यों से आहुतियाँ दी जाती हैं।

ये इष्टियाँ भी एक प्रकार के 'याग' ही हैं किन्तु अल्प काल में किये जाने से इनका नाम 'इष्टि' रख दिया गया है।

३. सोम याग—सोमलता को निचोड़ कर उससे निकले हुए रस से किये जाने वाले याग 'सोम' याग कहाते हैं।

४. पशुयाग—अश्वमेध आदि याग पशुयाग के रूप में कहे गये हैं, जिनका विधान अजा आदि के मांसों से श्रौत सूत्रों में वर्णित है।

इनमें से प्रथम तीन को तो 'अध्वर' (हिंसारहित) होने के कारण वस्तुतः वैदिक और तर्कबुद्धि युक्त कर्मकाण्ड कहा जा सकता है, और उनका अनुसन्धान पूर्वक पुनः प्रचलन भी संभव हो सकता है, किन्तु चतुर्थ पशुयागों का जो विधान उपलब्ध श्रौत सूत्रों में है, वह वस्तुतः नितान्त गर्हित तथा त्याज्य है।

वाममार्गी मांसलोलुपों का जिह्वा-लौल्य और उनके द्वारा किया गया आलंभन शब्द के अर्थ का अनर्थ ही निरीह पशुओं के बलिदान का कारण बना है। महर्षि दयानन्द ने हमें इस शब्द का वास्तविक अर्थ बताकर इस युग में महान् उपकार किया है। आ = अच्छे प्रकार से, लाभ = प्राप्त करना अर्थात् पशुओं का पालन और

सदुपयोग तथा उनका अच्छे प्रकार जनता के सम्मुख प्रदर्शन—यह जन्तु विज्ञानशास्त्र (Zoology) का एक रूप था, जिसे हम आजकल की भाषा में जन्तुप्रदर्शनी अथवा और स्थूलभाषा में 'चिड़िया' घर' कह सकते हैं जैसे कि आजकल कलकत्ता लखनऊ आदि नगरों में विशाल जिन्दा अजायबघर (Zoological gardens) हैं, जिसका प्रदर्शन अश्वमेध (राष्ट्रसंघटन) यज्ञ में किया जाता था, किन्तु यही यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) निरीह प्राणियों के खून से भरे हुए एक करुणाचीत्कारपूर्ण कसाईखाने के रूप में परिवर्तित हो गया। विधि की कैसी विडम्बना है ! समय की कैसी बलिहारी है !! मूर्खता की कैसी पराकाष्ठा है !!!

यजुर्वेद के वाममार्गी, तान्त्रिक, मांसाहारी भाष्यकार महीधर और उव्वट २४ वें अध्याय का भाष्य करते हुए अश्वमेध में जिस पशुबलिदान का वर्णन करते हैं उसका समर्थन वे कात्यायन श्रौत सूत्र से करते हैं और कात्यायन के आधार के रूप में शतपथ ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत करते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अर्थ विचार करने पर 'शतपथ' में कहीं भी उस रूप में पशुबलिदान सिद्ध नहीं होता जिसरूप में कि 'कात्यायन' में है। इस प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र जहाँ त्याज्य कोटि में उपस्थित होता है वहाँ शतपथ ब्राह्मण ऐसे ग्रन्थ के रूप में है कि जिसकी विशुद्ध व्याख्या आवश्यक है।

इष्टियाँ

आगे कुछ इष्टियों के नाम और उनमें प्रयुक्त किये जाने के योग्य वर्णित पदार्थों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही जिन ग्रन्थों के जिन स्थलों पर यह वर्णन है उनका भी निर्देश किया जाता है। इन ग्रन्थों में प्रमुख हैं— कृष्ण यजुर्वेद की (१) तैत्तिरीय संहिता (२) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३) मैत्रायणी संहिता।

याग नाम	हविः	स्थल
१. अग्निहोत्र	दही, दूध, यवागू (जौ के सत्तू या दलिया)	तै० ब्रा० २.१.५
२. चित्रेष्टि	चावल, धान, उदक	मै० सं० २.३.६
३. दर्श पूर्णमास याग	चावल, जौ, पुरोडाश (चावल मैदा का घी-मिश्रित एक प्रकार का पुरोडाश)	तै० सं० २.५.२
४. उपांशुयाज	आज्य (घी)	तै० ब्रा० ३.३.४
५. पौष्णयाग	पिसा अन्न (पिट्ठी)	मै० सं० २.१.४
६. सोमारौद्रेष्टि	सफेद और काले धान	,, ,, २.१.५-६
७. मारुतेष्टि	प्रियंगु	,, ,, २.१.८
८. प्राजापत्येष्टि	कृष्णल (सुवर्ण माष)	,, ,, २.२.२
९. बार्हस्पत्येष्टि	नीवार और गर्मुत् (एक प्रकार का तृण)	तै० सं० १.८.१० / मै० सं० २.२.४
१०. रौद्रेष्टि	गवीधुका (जंगली गेहूँ) वास्त्वम् (वथुआ का शाक)	तै. ब्रा. १.७.३ / मै. सं. २.२.४
११. वसुमदिष्टि	सतीन (कलाय = मटर)	,, ,, २.२.६
१२. मैत्रावरुणी याग	पयस्या (आमिक्षा)	,, ,, २.३.१
१३. ऐन्द्राग्न याग	मधु (शहद)	,, ,, २.३.६
१४. कारीरी इष्टि	करीर (खजूर के अंकुर या फल)	तै० सं० २.४.९
१५. अश्वमेध में सप्तान्न होम	लाजा (खीलें), करम्भ (दहीसत्तू) पृथुक, सक्तु, मसूरी, प्रियंगु, तण्डुल	तै० सं० ३.८.१
१६. सोमेन्द्रेष्टि	श्यामाक (सर्मों)	तै० सं० २.३.२
१७. राजसूय में अपामार्ग होम	अपामार्ग	तै० ब्रा० १.७.१
१८. सावित्रेष्टि	आशु व्रीहि	तै० सं० १.८.१०
१९. मित्रेष्टि	अम्बा (धान्य विशेष)	,, ,,
२०. सौत्रामणी	सुरा (औषधियों के रस)	तै० ब्रा० .१८.५

सौत्रामणी याग में सुरा का हविरूप में वर्णन किया गया है। वेद में सुरा शब्द का अर्थ औषधियों से निकाले हुए रस से हैं, जैसा कि महर्षि दयानन्द ने यजु० अ० २१ के मन्त्र ६०.के भाष्य में लिखा है। किन्तु परवर्त्ती काल में यह शब्द 'शराब' के अर्थ में प्रचलित हो गया। कलि के प्रारंभ में वैष्णव धर्म का पुनः प्रसार होने पर स्मृतियों द्वारा कलिवर्ज्य प्रकरण की रचना की गई, जिनमें सुरा, अश्वालम्भ, गवालम्भ आदि पाप और त्याज्य ठहराये गये। इस प्रकार कलियुग में पशुयागों में अश्व और गौ का वध तथा सौत्रामणी याग में सुरा का प्रयोग वर्ज्य निश्चित किया गया और इनके त्याज्य होने से ये यज्ञ भी त्याज्य कर दिये गये।

सोमयाग के द्रव्य

अग्निष्टोम आदि सोमयाग हैं। इनमें सोमलता प्रधान द्रव्य है। उसको ब्राह्मणग्रन्थों में कहे हुए गौ आदि दस वस्तुओं द्वारा खरीद कर उसे निचोड़ने से निकाले हुए रससे याग करना बताया गया है। इस समय सोमलता के न मिलने से उसके स्थान पर 'पूतीक' नामक लता को लाकर सब क्रियाएँ की जाती हैं। याग करके शेष बचा रस ऋत्विजों और यजमान द्वारा पी लिया जाता है।

पशुयाग के द्रव्य

यागनाम	हविः	वर्णन स्थल
१. वायव्य याग	अज, (बकरा) अवि (भेड़), वत्स	मै० सं० २.५.१–२,४
२. आदित्ययाग	वशा (वंध्या गौ)	” २.५.२
”	मल्हा (कण्ठावलम्बितस्तनयुग्मा)	तै० सं० २.१.२
३. सारस्वत याग	मेषी (मेढ़ी)	मै० सं० २.५.२
४. वासन्त	गर्भिणी अवि	मै० सं० २.५.२.
५. ऐन्द्र	ऋषभ, कुभ्र, सूतवशा (तत्कालप्रसूता) वृष्णि (मेषविशेष)	” २. ५. ३, ४,५
६. सावित्र	पुनरुत्सृष्ट (गलितवृषण बैल) (भारद्वाज के मत से छाग),	मै० सं० २. ५. ४
	वेहद् (गर्भघातिनी गौ)।	” ”
७. द्यावापृथिव्य	धेनु (दूध देनेवाली गौ),	” ”
	पर्यारिणी (प्रसवकाल के पश्चात् प्रसव करनेवाली)	” ”
८. सोमापौष्ण	नपुंसक	” २. ५. ५.
९. वारुण	पेत्व (गलितरेतस्क मेष)	” २. ५. ६.
१०. आग्निमारुत	पृश्नि (अल्पतनु)	” २. ५. ७.
११. त्वाष्ट्र	वडवः	तै० सं० २. १. ८.

अश्वमेध यज्ञ

यही सब से बड़ा पशुयाग है। इसमें तीन सुत्याएँ होती हैं, अर्थात् तीन दिन में सोम याग होते हैं। प्रथम सुत्या का नाम 'अग्निष्टोम' है। उसमें एक ही आग्नेय पशु की हविः दी जाती है। द्वितीय सुत्या का नाम 'उक्थ्य' है। उसमें ही विशेषता है। इसमें तैत्तिरीय शाखा के अनुसार ४८४ बलिपशु हैं। माध्यन्दिन के अनुसार ६०९ पशु हैं और आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के अनुसार ५१९ पशु हैं। तृतीय सुत्या का नाम 'अतिरात्र' है। उसमें क्रतुपशु ४ और अन्य २६ = कुल ३० पशु हैं।

	प्रथम सुत्या	द्वितीय सुत्या	तृतीय सुत्या	योग (.पशु)
तैत्तिरीय मत	१	४८४	३०	५१५.
माध्यन्दिन ,,	१	६०९	३०	६४०
आपस्तम्ब ,,	१	५१९	३०	५५०.

द्वितीय सुत्या—'उक्थ्य' का विवरण

प्रकार	तैत्तिरीय	माध्यन्दिन	आपस्तम्ब
(१) अश्व तूपर गोमृग (गवय)	३	३	३
(२) पर्यङ्क्य	११	१२	१३
(३) रोहित आदि अष्टादशी	१८०	१८६	१८०
(४) चातुर्मास्य पशु	१३५	१२६	१३५
(५) द्वन्द्वी	२२	×	२२
(६) एकादशिनः (आरण्य)	२२	२२ (आरण्य कपिंजल आदि)	२२
(७) सूकर आदि (दशी)	१११	२६०	१११
(८) ऋतुपशु	—	—	१८
(९) पंचदशी	—	—	१५
योग	४८४	+६०९	×५११

अश्वमेध में २१ यूप (लकड़ी के स्तम्भ) बनाये जाते हैं। इनमें ग्राम्य ही पशु बाँधे जाते थे। आरण्य (जंगली) पशु जाल आदि से रोक कर यूपों के बीच में रखे जाते थे। पर्यग्निकरणान्त क्रिया हो जाने पर इनको प्रायः छोड़ दिये जाने की परम्परा हो गई। अतः विशसन (हिंसा) की क्रिया भी बन्द कर दी गई। कलियुग में अश्वमेध भी वर्ज्य ठहराया गया—यह पहले लिखा जा चुका है।

अश्वमेध में ग्राम्य पशु

नीचे पशुनाम तथा जिस देवता के लिए वह हवि है उसका नाम तथा संहिता के जिस स्थल पर उस पशु का नाम आया है वह प्रदर्शित किया जाता है—

पशुनाम		देवता	स्थल
१. अश्व		प्रजापति	मान्यदिन सं० २४.१
२. तूपर	(सींग से रहित पशु)	"	" "
३. गोमृग	(गौ + मृग से उत्पन्न या गवय = नीलगाय)	" तथा वायु	" २४.१ तथा ३०
४. वत्सतरी	(बछिया)	धातृ	" २४.५
५. बष्किहा	(चिर प्रसूता—बकैनी)	मरुत्	" २४.१६
६. कर्णा	(पशु विशेष)	यम	
७. प्लीहा कर्ण	(रुग्ण या प्लीहा रोग के आकार वाले कान हैं जिनके)	त्वष्टा	" २४.४
८. शुण्ठाकर्ण	(सूखे या टेढ़े कान वाले)	विष्णु	तै० सं० ५.६.१७
९. अध्यालोह या अधीलोध कर्ण	(कान के ऊपर प्ररुद्ध करने वाले)	"	" "
१०. लम्पुदिनः	(लम्बमान पूछवाने)	"	" "
११. किकिदीवि	(तीतर)	त्वष्टा	" "
१२. विदीगय	(विशेष कुकुट)	"	" "
१३. वडवा	(घोड़ी)	दिशा	" "
१४. पुरुषी*	(मनुष्य स्त्री)	विराट्	" "
१५. मालङ्ग	(महाकाय)	द्यावापृथिवी	" ५.६.१९

+ "षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च।"

× "सर्वे पंचशती भवन्ति पशवोऽथैकोनिता विंशतिः।"—भट्टभास्कर

* आश्चर्य है कि स्त्री भी एक ऐसा ग्राम्य पशु है जिसका अश्वमेध में आलम्भन है। किन्तु इसके और वडवा (घोड़ी) के लिए यह परम्परा रही कि इनका संज्ञपन आदि न होकर उत्सर्ग (त्याग) ही कर दिया जाता था।

अश्वमेध में आरण्यपशु (जंगली प्राणी-पशु तथा पक्षी)

यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में इन पशुओं का और प्रत्येक के साथ उसके देवता का भी वर्णन है। महीधर और उव्वट के अनुसार तो ये उन-उन देवताओं के लिए बलिदान है। किन्तु महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि "जो जिस पशु का देवता कहा है वह उस पशु का गुण ग्रहण करना चाहिए।" (यजु० २४।१९)

यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा मनोरंजक है। अभी तक यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया है कि उस उस देवता के कौन-कौन से गुण उस उस पशु में विद्यमान हैं। महर्षि का भाष्य मार्गप्रदर्शन मात्र है। उसकी स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या के लिए विद्वद्गोष्ठियों और वैदिक शिविरों की योजना ऐसा अत्यन्त आवश्यक कार्य है कि जिसका सम्पादन आर्यसमाज को अवश्यमेव करना चाहिए।

नीचे १३९ पशुओं के नाम, देवतानाम तथा मन्त्र-संख्या निर्देशपूर्वक पाठकों के परिचयार्थ दिये जाते हैं—

प्राणी	देवता	मंत्र-संख्या
१. कपिंजल	वसन्त, वसु	य० २०,३८
२. कलविङ्क { चिरौटा या पडुकिया	ग्रीष्म	",३१
३. तित्तिरि	वर्षा	"
४. वर्त्तिका (बटेर या बत्तख)	शरद् (क्षिप्रश्येन)	",३०
५. ककर	हेमन्त	"
६. विककर	शिशिर	"
७. शिशुमार	समुद्र	२१,३०
८. मंडूक	पर्जन्य (बादल)	"
९. मत्स्य	आपः (जल), नदीपति	", ३४
१०. कुलीपय (मुर्गाबी)	मित्र (सूर्य) अकूपार	",३५
११. नाक्र (नाके)	वरुण	२१
१२. मकर	अकूपार (समुद्र)	३५
१३. हंस	सोम, वात※	२२,३५
१४. बलाका (बगली)	वायु, सूर्य	",३३
१५. क्रुञ्च (सारस)	इन्द्राग्नि, वाक्	",३१
१६. मद्गु (पानी में गोता लगाने वाला कौआ या शुतुरमुर्ग)	मित्र, नदीपति	",३४
१७. चक्रवाक (चकवा)	वरुण	",३२
१८. कुटरू (मुर्गा)	अग्नि†	२३,२३
१९. उलूक (उल्लू)	वनस्पति, निष्कृति	",३८
२०. चाष (नीलकण्ठ)	अग्निसोम	"
२१. मयूर	अश्वि	"
२२. कपोत (कबूतर)	मित्रवरुण, निर्ऋति	",३८
२३. लब (लवा या बटेर)	सोम	२४
२४. कौलीक (बया)	त्वष्टा	"
२५. गोषादी (गौ पर बैठने वाली गुरसल या मैना)	देवपत्नी	"
२६. कुलीका	देवजामि	"
२७. पारुष्ण	गृहपति अग्नि	"
२८. पारावत (विशेष कबूतर)	अह्न् (दिन)	२५
२९. सीचापू	रात्रि	"
३०. जतू (चमगादड़)	सन्धिवेला	",३६
३१. दात्यौह (काला कौआ)	मास	२५,३९
३२. सुपर्ण (गिद्ध)	संवत्सर, पर्जन्य	२५,३४
३३. आखु (चूहा)	भूमि	२६,३८
३४. पांक्त (विशेष पंक्ति में चलने वाले)	अन्तरिक्ष	२६
३५. कश	द्यु	२६,३८
३६. नकुल (न्यौला)	दिशा	"तथा३२
३७. बभ्रक (भूरे न्यौले)	उपदिशा	२६
३८. ऋश्य (विशेष हरिण)	वसु	२७
३९. रुरू (रोज)	रुद्र	"

※ २२ वें मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द ने लिखा है—"मनुष्यों को जो उत्तम पक्षी हैं वे अच्छे यत्न के साथ पालन कर बढ़ाने चाहिएँ।" कितने ऋषिभक्त वैदिक इसका पालन कर रहे हैं ?

† "जो मुर्गा आदि पक्षियों के गुणों को जानते हैं वे सदा उनको बढ़ाते हैं"—महर्षिदयानन्द यजु० २४।२३ का भावार्थ। क्या हम इनके गुणों को जान पाये हैं ?

पशुनाम	देवता	मंत्रसंख्या
४०. न्यङ्कु (विशेष हिरन)	आदित्य, अनुमति	",३२
४१. पृषत (मृगविशेष)	विश्वेदेव	",४०
४२. कुलुङ्ग (कुरंग-हिरन)	साध्य, सोम	",३२
४३. परस्वान् (मृगविशेष, जंगली भैंसा या जंगली गधा)	ईशान	२८
४४. गौर (गोरे मृग)	मित्र, इन्द्र	",३२
४५. महिष (भैंसा)	वरुण	"
४६. गवय (नीलगाय)	बृहस्पति	"
४७. उष्ट्र (ऊँट)	त्वष्टा	"
४८. पुरुष*	प्रजापति	२९
४९. हस्ती	", हिमवान्	",३०
५०. सुषि (दीमक)	वाक्	"
५१. मशक (मच्छर)	चक्षु	"
५२. भृङ्ग (भौंरे)	श्रोत्र	"
५३. अरण्य मेष (जंगली मेढ़ा)	वरुण	३०
५४. कृष्ण मृग	यम, रात्रि	",३६
५५. मर्कट (बन्दर)	मनुष्यराज	"
५६. रोहित (लाल हिरन)	शार्दूल	"
५७. गवयी (नीलगाय)	ऋषभ	"
५८. क्रमि (गोबर का कीड़ा)	नीलङ्कु	"
५९. मयु (किन्नर निन्दित पुरुष या जंगली मोर)	प्रजापति	३१
६०. उल (छोटा कीड़ा, यादव. धातृ कोष में कौआ अर्थ है)		"
६१. हलिक्ष्ण (हरी चिड़िया या विशेष सिंह)	"	"
६२. वृषदंश (विलाव)	"	"
६३. कङ्क (बगुला या सफेद चील)	दिशा	"
६४. धुङ्क्षा (सफेद काकी)	अग्नि	"
६५. लोहित अहि(लालसाँप)	त्वष्टा	"
६६. पुष्करसाद (तालाब में रहनेवाला कमल रूपी पक्षी या भौंरा)	"	"

पशुनाम	देवता	मंत्रसंख्या
६७. आरण्य अज (जंगलीबकरा)	पूषा	३२
६८. शक	"	"
६९. क्रोष्टा	मायु	"
७०. पिद्व (विशेष मृग)	अनुमति	३२
७१. कक्कट "	"	"
७२. शार्ग (पपीहा)	मित्र	३३
७३. सृजय	मित्र	"
७४. शयाण्डक	"	"
७५. शारिः (मैना)	पुरुषवाक् सरस्वती	"
७६. श्वावित् (सेही)	भूमि	"
७७. शार्दूल (सिंह)	मन्यु	"
७८. वृक (भेड़िया)	"	"
७९. पृदाकु (साँप)	"	"
८०. शुकः (तोता)	पुरुषवाक् सरस्वान्	"
८१. आति	वायु	३४
८२. वाहस (अजगर)	बृहस्पति	"
८३. दर्विद (द्रुम कुक्कुट)	वाचस्पति	"
८४. पैङ्गराज (भारद्वाज)	अन्तरिक्ष	"
८५. अलज (भास)	"	"
८६. प्लव (तैरनेवाली बत्तख)	नदीपति	"
८७. कूर्म (कछुआ)	द्यावापृथिवी	"
८८. पुरुषमृग	चन्द्रमा	३५
८९. गोधा (गोह)	वनस्पति	"
९०. कालका	"	"
९१. दार्वाघाट (कठफुड़वा)	"	"
९२. कृकवाकु (मुर्गा)	सविता	"
९३. शल्यक (सेही विशेष)	ह्री	"
९४. एणी (काली हिरनी)	अहन्	३६
९५. मण्डूक	सर्प	"
९६. मूषिका (चुहिया)	"	"
९७. लोपाश (सियार)	अश्विनी	"
९८. ऋक्ष (रीछ)	इतरजन	"
९९. सुषिलीका (बिल में रहनेवाला पक्षी)	" "	"

* पुरुष भी एक पशु है, जिसका अश्वमेध में आलभन करना है। "अबध्नन् पुरुषं पशुम्" (यजु० ३१।१५) में महर्षिभाष्य—"विद्वान् लोग जानने योग्य परमात्मा को हृदय में बाँधते हैं"। तदनुसार परमात्मा पशु है।

पशुनाम	देवता	मंत्र-संख्या
१००. जहका (बिल्ली या अंग संकोच करने वाली जोंक)	विष्णु	”
१०१. अन्यवाप (कोयल)	अर्द्धमास	३७
१०२. ऋश्य (मृग विशेष)	गन्धर्व	”
१०३. उद्र (उदविलाव)	मास	”
१०४. जलमार्जार (या गिंगचा)		
१०५. कश्यप (कच्छप)	अप्सरा	”
१०६. रोहित् (मृग विशेष)	”	”
१०७. कुण्डृणांची (गृहगोह)	”	”
१०८. गोलत्तिका (खञ्जरीट)	”	”
१०९. असित (काला पशु या सर्प)	मृत्यु	”
११०. वर्षाहू (मेंढकी)	ऋतु	३८
१११. कश	पितृ	”
११२. मान्थाल	”	”
११३. अजगर	बल	”
११४. शश (खरगोश)	विऋति	”
११५. (श्वित्र चितकबरा साँप या जेबरा)	आदित्य	३९
११६. घृणीवान् (तेजस्वी-हिप्पोपोटामस)	मति	”
११७. वार्ध्रीनस (गेंडा या थन वाला जंगली बकरा)	”	”
११८. सृमर (चमरीगौ)	अरण्य	”
११९. कृपि (कोई या वटेर)	वाजी	”
१२०. पिक	काम	”

पशुनाम	देवता	मन्त्र-संख्या
१२१. खङ्ग (विशेष गेंडा)	विश्वेदेव	४०
१२२. कृष्णःश्वा (काला कुत्ता)	राक्षस	”
१२३. गर्दभ	”	”
१२४. तरक्षु (व्याघ्र)	”	”
१२५. सूकर	इन्द्र	”
१२६. सिंह	मरुत्	”
१२७. कृकलास (गिरगिट)	शख्या	”
१२८. पिप्यका	”	”
१२९. शकुनि	”	”
१३०. शरभ (शलभ-पतंगा ?)		
१३१. मक्षिका (मक्खी)		
१३२. कुलीकय (एक प्रकार की मछली)		
१३३. कुषीतक (समुद्री कौआ)		
१३४. सृजय (सफेद साँप या नीला भैंसा)		
१३५. स्वज (एक प्रकार का सर्प)		
१३६. शितपुट (मार्जार सदृश पशु विशेष)		
१३७. मान्थीलव (जलकुक्कुट)		
१३८. लोपा (श्मशानशकुनि)		
१३९. कीशी (कुलाली शकुनिका)		

संख्या १३० से १३९ तक के पशुनाम माध्यन्दिन संहिता से भिन्न संहिताओं के हैं। इस प्रकार यजुर्वेद के २४ वें अध्याय तथा अन्यत्र वेदों में वर्णित पशुओं पक्षियों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी तथा मनोरंजक कार्य है जिससे लुप्त वैदिक जन्तुशास्त्र का पुनरुद्धार किया जा सकता है॥

[विद्वानों के विचारार्थ यह लेख प्रकाशित है —सम्पादक]

प्रो० आर्थर एन्थनी मैकडानल के वेदविषयक विचार

[*ले०—श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय, एम० ए०, सिद्धान्तवाचस्पति*]

जिन पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के अध्ययन, मनन और प्रकाशन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति और प्रतिभा को व्यय कर दिया था, उनमें प्रो. आर्थर एन्थनी मैकडानल भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इङ्गलैण्ड निवासी प्रो. मैकडानल आक्सफोर्ड में अध्यापक थे। उन्होंने A Vedic Reader for Students, Vedic Grammar तथा Vedic Mythology आदि अनेक ग्रन्थों की रचना करने के साथ-साथ विभिन्न वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन भी किया था। यहाँ हम उनके वेदविषयक विचारों का एक संक्षिप्त परन्तु आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

अन्यान्य पाश्चात्य मनीषियों की भांति ही मैकडानल भी ऋग्वेद को भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम साहित्यिक अवशेष मानते हैं[१]। वेदकाल का निर्धारण करते हुए उक्त प्रोफेसर महोदय ऋग्वेद का समय ईसा से १३ शताब्दी पूर्व मानते हैं। ऐसा मानने में उन्होंने जिस तर्कसरणि का सहारा लिया है वह यही है कि ईसा के ५० वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ। वेद और तत्सम्बन्धी ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थ बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही विद्यमान थे। अतः संहिता और तत्पश्चात् ब्राह्मणों के निर्माण में ७००-८०० वर्षों का समय अवश्य ही लगा होगा। यह धारणा स्थिर करने के अनन्तर वे वेदकाल को १३०० ई. पू. से अधिक पुराना स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तिलक आदि के ज्योतिष शास्त्र पर आधारित निष्कर्षों को भी स्वीकार नहीं किया और न प्रो. जेकोबी के इस मत को ही, कि वेदकाल लगभाग ४५०० ई० पू० का है। प्रोफेसर महोदय की यह धारणा स्पष्ट त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इसमें उस भारतीय परम्परा को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया गया है, जिसके अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जो सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ ऋषियों के हृदय में प्रादुर्भूत होता है। प्रत्येक साहित्य की अपनी अपनी परम्परायें होती हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर हम उस साहित्य का अनुसंधान कर सकते हैं। इसी प्रकार वैदिक साहित्य सम्बन्धी भारतीय धारणाओं की उपेक्षा कर पाश्चात्य विद्वान् उस साहित्य के महत्त्व को पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर सकते, यह हमारी ध्रुव धारणा है।

वेदोत्पत्ति के विषय में प्रो. मैकडानल की धारणा भी अनेक अन्यान्य पाश्चात्य बन्धुओं की धारणाओं के तुल्य ही है। अर्थात् वे आर्यों का भारत आगमन, देवताओं की प्रसन्नता के लिए मन्त्र रचना, यज्ञ आदि का सम्पादन, ऋचाओं की ऋषियों की परम्परा तथा परिवार द्वारा रचना, कालान्तर में उनका संहिताओं रूप में संकलन आदि के मानते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं जो हमारी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो उन्होंने संहिता के पदपाठ को वेद के प्राचीनतम भाष्य के रूप में अभिहित किया है[२], जो आर्यसमाज के दृष्टिकोण से नितान्त समीचीन है। साथ ही वेदों के विभिन्न घन, जटा, माला आदि पाठों को वे अत्यन्त उपयोगी मानते हैं तथा वे यह कहते हैं कि इन सावधानियों के कारण ही शताब्दियों पूर्व का ऋग्वेद का पाठ हमें ज्यों का त्यों उपलब्ध हो सका है। साहित्य की इस प्रकार सुरक्षा का उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।[३]

अन्यान्य यूरोपीय विद्वानों की भाँति मैकडानल ने भी ऋग्वेद के मण्डलों, सूक्तों तथा उनमें प्रतिपादित देवताओं (विषय) का विचार भी अपनी मनमानी कल्पना-प्रधान तर्कसरणि से ही किया है। उनकी दृष्टि में द्वितीय मण्डल से लेकर ७ वें मण्डल तक के मंत्र एक एक ऋषि की रचना हैं। प्रथम, अष्टम और दशम मण्डल के रचयिता एकाधिक ऋषि हैं तथा नवम मण्डल में पवमान सोम की स्तुति की गई है। ऋग्वेद का यह विश्लेषण भी पाश्चात्य विचारकों द्वारा किया गया एक कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रयास मात्र है क्योंकि उसमें उन परम्पराओं और धारणाओं को स्पष्टतः कोई स्थान नहीं दिया गया है जिनके अनुसार वेद के ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं माने जाते अपितु वे मंत्रों के द्रष्टा कहे जाते हैं। दशम मण्डल को तो अन्यान्य विद्वानों की भाँति मैकडानल ने भी अत्यन्त नवीन ठहराया है।[४] उसमें दार्शनिक सूक्तों का होना तथा उसकी भाषा में नवीन रूपों का प्रयुक्त होना इन लोगों की दृष्टि में इस मण्डल को अत्यन्त परवर्ती काल की रचना सिद्ध करते हैं। आर्यसमाज के विद्वानों

---

१. The Rigveda is undoubtedly the oldest literary monument of the Indo-European languages. Vedic Reader. Introduction. p. xi.

२. The Pada Text, which is virtually the earliest commentary on the Rigveda.

३. "Thanks to these various precautions the text of the Rigveda has been handed down for 2500 years, with a fidelity that finds no parallel in any other literature." Introduction to the Vedic Reader for Students. P. xiii.

४. The tenth book was the final addition. Its language and subject matter show that it is later in origin than the other books. Introduction p. xvi.

ने दशम मण्डल सम्बन्धी पाश्चात्य धारणाओं का निराकरण करने में पर्याप्त श्रम किया है। जिज्ञासुओं को मेरे मित्र पं॰ शिवपूजन सिंह कुशवाहा लिखित 'ऋग्वेद के दशम मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात' शीर्षक ग्रन्थ देखना चाहिये।

ऋग्वेद के धर्म का विचार करते समय भी मैकडानल अपने अन्य यूरोपीय विद्वानों की धारणाओं का ही समर्थन कर सके हैं। उनकी दृष्टि में वेद का धर्म देवता-प्रधान धर्म है। ये देवता प्रकृति की शक्तियों के ही प्रतीक हैं, जिनकी स्तुति ऋचाओं द्वारा की जाती थी तथा जिनके लिये अग्नि में घृत तथा सोम आदि औषधियों की आहुति दी जाती थी। मैकडानल की सम्मति में ऋग्वेद का धर्म बहुदेवता-प्रधान है, यद्यपि उसके पिछले सूक्तों में कहीं-कहीं उसका (Pantheistic) सर्वेश्वरवादी रूप, जिसमें एक ईश्वरीय सत्ता को ही सर्वत्र देखा जाता है, भी देखा जा सकता है।[1] वैदिक देवताओं का अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने जिस प्रणाली के अनुसार किया है, वह स्पष्टतः दोषपूर्ण है। देवताविषय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि वह सामान्य बुद्धि की समझ के परे है। फिर विकासवाद की दूषित और मिथ्या धारणा को पूर्व से ही स्वीकार कर ये पाश्चात्य विद्वान् यदि प्रकृति पूजा का दोष आर्यों पर लगावें तो उसमें आश्चर्य ही क्या? परन्तु यह स्पष्ट है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' जैसे एकेश्वरवाद के प्रतिपादक तथा नासदीय सूक्त और दार्शनिक विवेचनयुक्त मंत्रों की विद्यमानता में वेद का ईश्वरवाद सूर्य की तरह स्वतः प्रकाशमान है। महर्षि अरविंद ने अपने The Veda and Dayanand शीर्षक निबंध में वेदों पर लगाये जाने वाले इन मिथ्या आक्षेपों का जिस प्रकार निराकरण किया है, वह वस्तुतः स्तुत्य और प्रशंसनीय है तथा साथ ही पाश्चात्य दृष्टि से वेदानुशीलन करने वाली आँखों को खोलने वाला है।

पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन ऐतिहासिक प्रणाली को स्वीकार करता है। उनके अनुसार वेदों के द्वारा तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह ऐतिहासिक पद्धति भी नितान्त दोषपूर्ण ही है क्योंकि वेदों के अपौरुषेयत्व और उनके ईश्वरकर्तृत्व को दृष्टि से ओझल कर जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री मंत्रों से निकालने का प्रयास किया जाता है, वह सब हेत्वाभास-युक्त होने से साध्य कोटि में ही रहता है। इन्हीं धारणाओं को स्वीकार करने के कारण ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९५ वें सूक्त में मैकडानल के अनुसार एक प्रेमी मनुष्य पुरुरवा और उसकी अप्सरा प्रेमिका उर्वशी का वर्णन है, प्रथम मण्डल के १२६ वें सूक्त में राजाओं की दानस्तुतियाँ हैं, जिनमें सूक्तों के रचयिता ऋषियों के वंशों का भी उल्लेख मिलता है, इसी प्रकार के अन्य सूक्तों में वैदिक काल की असंख्य नदियों का उल्लेख मिलता है। यह सब ऐतिहासिक सामग्री उसी स्थिति में मिल सकती है जब वेद का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय। परन्तु भारत में इस प्रणाली को कभी स्वीकार नहीं किया गया और न उसे मान्यता मिली। पुरातन ब्राह्मण प्रतिपादित तथा यास्कीय निरुक्त द्वारा स्वीकृत जो वेदार्थ की यौगिक प्रणाली है उसका अनुसरण करने पर पुरुरवा और उर्वशी, तथा यम और यमी के ये उपाख्यान इस रूप में समाप्त हो जाते हैं और जो कुछ शेष रहता है वह है एक प्राकृतिक सत्य जो त्रिकालाबाधित है तथा जिस पर इतिहास का कोई आवरण नहीं है। आर्य विद्वानों ने इन इतिहासाभासयुक्त वैदिक रूपकों की जो व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक इन मन्त्रों का आलंकारिक (allegorical) अर्थ नहीं किया जाता, तब तक उनका पूर्ण समाधान नहीं हो सकता। यही बात गंगा, यमुना आदि नदियों और अयोध्या आदि वेदोक्त नगरों की व्याख्या के संबंध में कही जा सकती है।

आर्यों के खानपान को लेकर जो भ्रमपूर्ण धारणायें मैकडानल आदि पाश्चात्य विपश्चितों ने फैलाई हैं उनका निराकरण होना भी आवश्यक है। वेदों पर लगाये गये इन मिथ्या लांछनों के कारण ही सरिता जैसी कुत्सित पत्रिका के लेखकों और सम्पादकों को यह अवसर मिल जाता है कि वे वेदों से गोमांसभक्षण या सुरा-

१. It is thus essentially a Polytheistic religion, which assumes a Pantheistic colouring only in a few of its latest hymns. Introduction p. xviii.

पान के प्रमाण ढूँढने का प्रयास करते हैं और अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से भारतीय संस्कृति को दूषित करते हैं। मैकडानल ने भी बिना कोई प्रमाण दिये यही रोना रोया है—

"Meat was eaten only when animals were sacrificed. The commonest kind appears to have been beef, as bulls were the chief offerings to the gods. Two kinds of spirituous liquids were made. Soma was drunk at religious ceremonies only, while Sura extracted from some kind of grain was used on ordinary occasion." p. xxvii

अर्थात् मांस उसी समय खाया जाता था जबकि पशुओं का यज्ञों में बलिदान होता था। साधारणतया गोमांस ही खाया जाता था क्योंकि देवताओं के उद्देश्य से बैलों की ही बलि दी जाती थी। दो प्रकार के नशीले पेय पदार्थ प्रचलित थे—एक सोम जो धार्मिक अवसरों पर पिया जाता था और दूसरी सुरा जो किसी धान्य से बनती थी तथा साधारण अवसरों पर पी जाती थी। यह है मैकडानल की बकवास जो बिना किसी प्रमाण के आर्यों के खानपान को गलत रूप में पेश करती है। पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड ने अपने 'वेदों का यथार्थ-स्वरूप' नामक ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों में आर्यों पर लगाये जाने वाले गोमांस-भक्षण के आरोप का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिया है।

अब रहा सोम और सुरा का प्रश्न। यह सोम क्या है जिसे पीकर लोग अमर हो जाते हैं, ज्योति को प्राप्त करते हैं तथा देवताओं को जान लेते हैं।[१] निश्चय ही यह कोई जड़ पेय नहीं है जिसे पीकर ऐसा अलौकिक और अभौतिक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यह तो वह प्रभु-प्रेम है जिसका पान कर भक्त मतवाला हो जाता है और परमात्मा की इच्छा को पूरी करने में अपनी स्वयं की आहुति देने में भी नहीं हिचकता। इस दिव्य सोम को भाँग बताने वाले मूर्खों की बुद्धि पर क्रोध करें या हँसें ? इसी प्रकार सुरापान की निन्दा तो सर्वत्र वेद ने की है परन्तु उसे पेय कहीं नहीं बताया।

अब रह जाता है, महत्त्वपूर्ण प्रश्न वेदार्थ को समझने का। मैकडानल के अनुसार ऋग्वेद का कुछ भाग अभी तक अस्पष्ट और अनिर्णीत है। वह तो यहाँ तक कहता है कि यास्क के समय में भी वेदार्थ की यही दशा थी, क्योंकि उसमें कौत्स नामक एक विचारक का यही मत व्यक्त[२] किया गया है, कि वेदों के सूक्त अस्पष्ट, निरर्थक तथा परस्पर विरुद्ध हैं। मैकडानल ने कौत्स के मत को उद्धृत करने में तो शीघ्रता की, परन्तु यह नहीं लिखा कि उसी निरुक्त में कौत्स के इस मत का समारोहपूर्वक खण्डन भी किया गया है। यास्क के वेदार्थ की प्रणाली भी मैकडानल को सम्पूर्णतया ग्राह्य नहीं है। उसके अनुसार यास्क का वेदार्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर है, अधिकांश में वह अनिर्णीत है क्योंकि वह अक्सर एक ही शब्द के कई वैकल्पिक अर्थ दे देता है।[३] यास्क को समझने में लगभग सभी पाश्चात्य और तदनुयायी एतद्देशीय विद्वानों (यथासिद्धेश्वर वर्मा,राजवाड़े) से भूल हुई है। वस्तुतः यास्क द्वारा निर्दिष्ट वेदार्थ पद्धति ही यथार्थतः वेदों के अर्थ की कुञ्जी है। जिसे न समझकर तथा महत्त्व न देकर पाश्चात्य विद्वान् और उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय वेदों के चरम तत्त्व को समझने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत इन पण्डितों ने जिन तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Philology) तुलनात्मक देवता-विज्ञान (Mythology), पुरातन प्राणिशास्त्र आदि सर्वथा नवीन वेदार्थ के सहायक मानदण्डों की कल्पना की है, वे ही सर्वथा भ्रमोत्पादक तथा वेदार्थ की चरम सत्यता तक न पहुँचा सकने के कारण बन रहे हैं। आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान् पं० भगवद्दत्त जी ने तो अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग के नवीन संस्करण में इस तथाकथित तुलनात्मक भाषाविज्ञान का मिथ्यात्व प्रमाणपुरस्सर भली भाँति प्रकट कर दिया है। आर्य विद्वानों के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वे पाश्चात्य विद्वानों की इन भ्रमपूर्ण धारणाओं का खण्डन करें॥

---

१. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। ऋग्वेद ८।४८।३॥

२. 'अनर्थका हि मन्त्राः' निरुक्त में कौत्स।

३. "Yaska's own interpretations, which in all cases of doubt are based on etymology, are evidently often mere conjectural, for he frequently gives several alternative explanations of a word." p. xxx.

अथर्ववेदीय अन्त्येष्टि-सूक्तालोचन

[ले०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी 'पथिक' बी. ए., सिद्धान्तवाचस्पति, कानपुर]

पौराणिक वर्ग मृतकश्राद्ध मानता है पर वैदिक धर्मावलम्बी जीवितश्राद्ध मानते हैं। पौराणिकवर्ग मृतक-श्राद्ध की पुष्टि में अथर्ववेद का एक मन्त्र प्रस्तुत करता है। वह मन्त्र यह है :—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

[अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त २, मन्त्र ३४]

सायणभाष्यम् :—ये पितरः भूमौ निखाताः निखननसंस्कारेण संस्कृताः। खनु अवदारणे। कर्मणि निष्ठा। "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम्। ये च पितरः परोप्ताः परावपनं दूरदेशे काष्ठवत्परित्यागः। तेन संस्कृताः। ये च दग्धाः अग्निना संस्कृताः। ये च उद्धिताः संस्कारोत्तरकालम् ऊर्ध्वदेशे पितृलोके स्थिताः। एवं बहुविधावस्थितान् तान् सर्वान् पितॄन् हविषे अत्तवे अस्माभिर्दत्तं हविर्भक्षयितुं हे अग्ने आवह आनय।

"क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् हविःशब्दाच्चतुर्थी। अद भक्षणे इत्यस्मात् "तुमर्थे सेसेन०" इति तवेनप्रत्ययः।

ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्मा कृत सायणभाष्यानुवाद :—"जो पितर भूमि में गाड़ने के संस्कार से संस्कृत हुए हैं और जो अग्नि से संस्कृत हुए हैं और जो संस्कार के अनन्तर ऊपर के लोग पितृलोक में स्थित हैं, ऐसे अनेक प्रकार के पितरों को हे अग्निदेव ! आप हवि का भक्षण करने के लिए लाइए।"[1]

पं० कालूराम शास्त्री :—"जो गाड़े और जो बन में पड़े रह गये तथा जो फूँके एवं जो जीवित ही स्वर्ग को चले गये, हे अग्निदेव ! तुम इन सब पितरों को हवि खाने को बुला लाओ।"[2]

पं० अखिलानन्द शर्मा 'कविरत्न'—"हे अग्ने ! हमारे जो पितर जमीन में गड़े हुए हैं, जो जल में बहाए गए हैं, जो अग्नि में जलाये गए हैं, जो ऊपर फेंके गये हैं—उन सबको हवि खाने के लिए आप बुलावें।"[3]

पं० माधवाचार्य शास्त्री :—"[ये] जिन (अजातदन्त और संन्यासाश्रमियों मृतकों के शरीर भूमि में [निखाताः] समाधिस्थ किए गए, [ये] और जिनके शरीर जलादि में [परोप्ताः] बहा दिए गए इत्यादि (अथर्ववेद काण्ड १८, सूक्त २, मन्त्र २४) मन्त्रों में मृतकों का ही पितर होना लिखा है।"[4]

पुनः—"वेद में मृतक शरीर को ठिकाने लगाने के चार विधान लिखे हैं—गाड़ना, जलादि में बहा देना, जलाना और जंगल में रख छोड़ना। धर्मशास्त्र में उक्त चारों विधियों की विभिन्न दशाओं में व्यवस्था बाँधी है, जैसे अजातदन्त और कुष्ठी आदि को भूमि में गाड़ना, शीतला आदि संक्रामक बीमारी से मरे को जल में बहा देना, सर्वसाधारण को जला देना और परमहंस आदि देहाध्यास रहित ज्ञानियों को बन में विसर्जित कर देना। 'ये निखाताः' आदि मन्त्र में उपर्युक्त चारों विधियों से संस्कारप्राप्त पितृगणों का हविष्य खाने के निमित्त आवाहन किया गया है। दयानन्दी सात जन्म में इसका उत्तर नहीं दे सकते।"[5]

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी :—आपने अपने मासिक पत्र "वैदिक धर्म" वर्ष ३२, श्रावण सं. २००८, अगस्त सन् १९५२ ई०, संख्या ८, पृष्ठ २२९ से २३२ तक "ब्रह्मपारायणयज्ञ की शास्त्रीयता" शीर्षक लेख

१. "अथर्ववेद संहिता मूल मन्त्र सायणभाष्य तथा सायणभाष्य के अनुकूल भाषानुवाद" द्वादश-त्रयोदश-चतुर्दश पञ्चदश-षोडश-सप्तदश और अष्टादश काण्ड, पृष्ठ ५६८—५६९. [संवत् १९८७ वि. में सनातन धर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद में मुद्रित व प्रकाशित, प्रथम संस्करण]
२. "आर्यसमाज की मौत" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८७.
३, "वैदिक सत्यार्थप्रकाश" त्रयोदश समुल्लास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९०.
४. "लेखबद्ध शास्त्रार्थ डीडवाना (राजस्थान), पृष्ठ ४६ [धर्म प्रेस, कमलानगर, दिल्ली में मुद्रित]
५. वही, पादटिप्पणी, पृष्ठ ४६.

प्रकाशित किया था। यही लेख साप्ताहिक पत्र "आर्य" अम्बाला छावनी, वर्ष ३३, अगस्त ५, सन् १९५२ ई० अङ्क १४ के "वेदाङ्क" पृष्ठ १८ से २० तक प्रकाशित हुआ था।

आपने "ये निखाता;......" मन्त्र का अर्थ किया है:—जो मुर्दे गाड़े गए हैं, जो मुर्दे जलाएँ हैं और जो (पक्षियों के खाने के लिए) ऊपर रक्खे हैं, हे अग्ने उन सबको हवि के भक्षण करने के लिए यहाँ ले आ।"

पुनः आपने तथा पं० तड़ित्कान्त वेदालङ्कार ने अर्थ किया है:—(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीन में गाड़े गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीन के ऊपर हवा में रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहाँ पर चार प्रकार के श्मशानकर्म दर्शाए गए हैं। (१) गाड़ना, (२) बहाना, (३) जलाना और (४) हवा में जमीन पर खुला छोड़ना।

(१) गाड़ना—कुछ प्रेत जमीन में गाड़े जाते हैं जिनका कि अन्त्येष्टि-संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं, इस पर हमने थोड़ा सा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देह त्याग करते हैं उनके देह को न जलाने के लिए स्मृतियों में कहा गया है, क्योंकि संन्यासाश्रम में प्रवेश करते हुए पुरुष को सर्व-मेध याग करना पड़ता है। इस याग में वह अग्नि सम्बन्धी सर्व कार्यों से मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरने पर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासी के शरीर को जलाना चाहिए या नहीं, इस विषय में अभी तक हमें श्रुति का निश्चय ज्ञान नहीं है, पर स्मृति इन-कार करती है। अतः 'निखात' से संन्यासी का भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में खास करके मुसलमान व ईसाई लोग मुर्दों को न जलाते हुए गाड़ते हैं। अतः उनके प्रेतों का भी निखात से ग्रहण किया जा सकता है। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, मुर्दे की चार अवस्थायें हो सकती हैं। उनमें से एक निखात है।

(२) जलाना या
(३) जल में बहाना } ये दो अवस्थायें खास कर हिंदुओं में पाई जाती हैं।

(४) जमीन पर वायु में रखना—यह चौथी अवस्था पारसियों में पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्त्तमान समय में हमें मिलती हैं। वेद में मृतों के दो विभाग मिलते हैं—(१) अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्नि में जलाए जाते हैं तथा (२) अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्नि में नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्ध में जलाने की अवस्था को छोड़कर शेष अव-स्थायें आ सकती हैं।"...........

उपर्युक्त अर्थ उनकी लिखी हुई "यम और पितर" पुस्तक प्रथम संस्करण के पृष्ठ १६९-१७० से लिया गया है।

इस भयङ्कर पुस्तक के सम्बन्ध में पौराणिक श्री माधवाचार्य शास्त्री लिखते हैं:—"......यह पुस्तक अब भी हमारे पास सुरक्षित है जो इस प्रकार के दुराग्रही लोगों की आँखें खोल देने के लिये काफी है।" [६]

चतुर्वेदभाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्याल-ङ्कार, मीमांसातीर्थ:—

"(ये निखाताः) जो पृथ्वी में गाड़ दिए हैं, (ये परा उप्ताः) जो दूर युद्ध क्षेत्र आदि देशों में कट गये हैं, (ये च उद्-हिताः) और जो ऊर्ध्व गति को प्राप्त हो गए हैं, (तान् सर्वान् अग्ने! आवह हविषे अत्तवे) हे अग्ने परमेश्वर! उन सब को हविः अर्थात् कर्मफल के भोग के लिए लोकान्तर को प्राप्त करा।" [७]

समीक्षा

सात विद्वानों की सम्मति है कि अथर्ववेद १८।२।३४ में शव को गाड़ने जल-प्रवाह आदि का वर्णन है। यदि इनके अर्थ को माना जाय तो मृतकश्राद्ध को मानना पड़ेगा जो अनार्ष है। वास्तव में शव को जलाना ही सर्वोत्तम और आर्ष पद्धति है।

वेद में आया है:—"...भस्मान्तं शरीरम्" (यजु० ४०।१५)

---

६. वही, पृष्ठ ५०.

७. "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" चतुर्थ खण्ड, द्वितीयावृत्ति पृष्ठ ४९.

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती:—"इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है।"[८]

श्री उव्वटाचार्यः—"...अथेदं स्थूलशरीरं कीदृशं तदा भवति भस्मान्तं भस्मैव भवति।..."[९]

श्री महीधराचार्यः—"...अथेदं स्थूलशरीरमग्नौ हुतं सत् भस्मान्तं भस्मरूपं भूयात्..."[१०]

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रः—"......और (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्मरूप हो अर्थात् स्थूल शरीर अग्नि में हुत होने से भस्मरूप हो, यही इसका प्रयोजन है।"...[११]

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के अर्थ की पुष्टि तीन पौराणिक पण्डितों के अर्थ से होती है।

वेदों में परस्पर विरुद्ध बातें नहीं हैं, तब अथर्ववेद में शव को गाड़ने व यजुर्वेद में जलाने का वर्णन हो यह परस्पर विरुद्ध बातें कैसे होंगी? पाश्चात्य विद्वान् भी शव को जलाने की वैदिक प्रथा को मानने लगे हैं।

"माडर्न क्रीमेशन-इट्स हिस्ट्री एण्ड प्रैक्टिस" नामी प्रसिद्ध पुस्तक के रचयिता सर टाम्पसन महोदय ने दर्शाया है कि इटली आदि देशों में प्राचीन काल में यही प्रथा थी। इसकी दिनों दिन यूरोप में अब वृद्धि हो रही है और सबसे उत्तम एकमात्र यही जलाने की क्रिया हो सकती है। इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनको पश्चिमी लोग आजकल के वहाँ के तत्त्ववेत्ताओं का मुकुट मानते हैं. वे हर्बर्ट स्पेन्सर थे। जब इनका स्वर्गवास हुआ तो इनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार इनका मृतक शरीर जलाया गया जिसका भारी प्रभाव पड़ा। अब लण्डन में सरकारी श्मशान बन गये हैं और पदार्थ-विज्ञान (साइंस) से प्रेम रखने वालों के सैकड़ों मुर्दे प्रत्येक वर्ष जलाये जाते हैं। पारसियों के एक विज्ञानी दल ने मुर्दे जलाने आरम्भ कर दिए हैं।

मृतक शरीर जलाने के दो मुख्य लाभ हैं। उनको यूरोप की पण्डित-मण्डली मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर चुकी है। वे लाभ ये हैं:—

(१) मृतक शरीर के जलाए जाने से किसी भी संचारक अथवा भयंकर रोग के रहने वा फैलने का भय नहीं रहता क्योंकि आग से बढ़कर कोई भी रोगनाशक पदार्थ नहीं है।

(२) थोड़े से स्थान में एक वर्ष में हजारों मुर्दे जलाए जा सकते हैं। कबरों के निमित्त सदैव के लिए व्यर्थ भूमि रुक जाने से कृषिकर्म तथा नगरों की आबादी को हानि पहुँचती है।[१२]

महर्षि दयानन्द जी की स्पष्ट सम्मति

शव को जलाने के पक्ष में महर्षि जी की स्पष्ट सम्मति उनके अपने शब्दों में दी जाती है—

सत्यार्थप्रकाश त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत की आलोचना करते हुए :—

"मुर्दों को गाड़ने से संसार की बड़ी हानि होती है, क्योंकि वह सड़ के वायु को दुर्गन्धमय कर रोग फैला देता है।

(प्रश्न) देखो! जिससे प्रीति हो उसको जलाना अच्छी बात नहीं और गाड़ना जैसा कि उसको सुला देना है इसलिए गाड़ना अच्छा है।

(उत्तर) जो मृतक से प्रीति करते हो तो अपने घर में क्यों नहीं रखते? और गाड़ते भी क्यों हो? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह निकल गया। अब दुर्गन्धमय मिट्टी से क्या प्रीति? और जो प्रीति करते हो तो उसको पृथिवी में क्यों गाड़ते हो, क्योंकि किसी से कोई कहे कि तुझको भूमि में गाड़ देवें तो वह सुनकर प्रसन्न कभी नहीं होता। उसके मुख, आँख और शरीर पर धूल, पत्थर, ईंट, चूना डालना, छाती पर पत्थर रखना कौन सी प्रीति का काम है? और सन्दूक में डाल के गाड़ने से बहुत दुर्गन्ध होकर पृथिवी से निकल वायु को बिगाड़ कर दारुण रोगोत्पत्ति करता है, दूसरा एक मुर्दे के लिए कम से कम ६ हाथ लम्बी और ४ हाथ चौड़ी भूमि चाहिए इसी हिसाब से सौ, हजार वा लाख अथवा करोड़ों

---

८. "संस्कारविधि" अन्त्येष्टि प्रकरण.

९. "शुक्ल यजुर्वेद संहिता" चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ १७९१-१७९२ [सन् १९१५ चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी]

१० वही पृष्ठ १७९२.

११. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, मिश्रभाष्य, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १४०४. [संवत् १९५९ वि. बम्बई संस्करण]

१२. "संस्कारचन्द्रिका" तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७२४.

मनुष्यों के लिए कितनी भूमि व्यर्थ रुक जाती है। न वह खेत, न बगीचा और न बसने के काम की रहती है। इसलिए सबसे बुरा गाड़ना है, उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना, क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर फाड़ के खा लेते हैं परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा वह सड़ कर जगत् को दुःखदायक होगा, उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जङ्गल में छोड़ना है क्योंकि उसको मांसाहारी पशु पक्षी लूंच खायेंगे तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर दुर्गन्ध करेगा उतना जगत् का अनुपकार होगा। और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जायेंगे।"

इस उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट प्रकट हो गया कि शवों को जलाना चाहिए। संन्यासी और शिशु को गाड़ने व जल में प्रवाह करने की चर्चा स्मृतियों व गृह्य सूत्रों में है। ‡

पं० सातवलेकर जी कहते हैं कि संन्यासी के शरीर को जलाने के विषय में श्रुति का प्रमाण नहीं मिला। इस विषय में महर्षि दयानन्द जी सरस्वती की स्पष्ट आज्ञा है कि :—

(मनुस्मृति अ० ६ श्लोक ४३ का अर्थ करते हुए पाद-टिप्पणी में):—"इस पद से भ्रान्ति में पड़ के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है। स्पर्श वा दाह कर्म छोड़ना नहीं है।"[१३]

यहाँ मनुस्मृति के आधार पर ही महर्षि दयानन्द जी महाराज ने संन्यासियों के दाह कर्म का विधान कर दिया।

संन्यासियों के दाहकर्म में वेद की साक्षी

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः
सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा
मृधो अभिमातीर्जयेम ॥

अथर्व० १८।२।५९

अर्थ—(हस्ताद् दण्डम् आददानः) जिसने हाथ से दण्ड का परित्याग कर दिया है अर्थात् जिसने हिंसावृत्ति को त्याग कर संन्यासाश्रम में प्रवेश कर लिया है, (श्रोत्रेण वर्चसा बलेन सह) और जो वेदाध्ययन रूपी प्रखर और शक्ति से युक्त है, यदि ऐसा संन्यासाश्रम को प्राप्त पुरुष (गतासोः) मर जावे तो उसके शव को (अत्रैव) पूर्वोक्त जलाने के लिए निर्मित वेदी में ही जलावें और शेष सब प्रकार के स्त्री-पुरुष (इह) इस लोक में (त्वम् वयम्) तुम और हम (सुवीराः) पुत्रादि सपरिवार (विश्वाः मृधः) समस्त दुःख, मोहादिकों (अभिमातीः) सम्यक् प्रकार से ज्ञानपूर्वक मापते हुए (जयेम) जीतें।"

इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए श्री सायणाचार्य जी 'संन्यासी' अर्थ न करते हुए 'ब्राह्मण'। अर्थ करते हैं। वे लिखते हैं:—"दण्डधारणं ब्राह्मणस्य विदितम्" दण्ड का धारण करना केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, यह ठीक नहीं क्योंकि दण्ड का धारण प्रत्येक द्विज के लिए ब्रह्मचर्य और संन्यासाश्रम में विधान किया गया है।

पूर्व मन्त्र में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का प्रतिपादन है, ब्रह्मचर्याश्रम का नहीं है।

अथर्ववेद १८।२।५८ में सर्वसाधारण को अग्नि में शव को जलाने का आदेश है और स्वयं पं० सातवलेकर

‡ देखो डॉ० राजबली पाण्डेय एम. ए., डी० लिट्० कृत "हिन्दू संस्कार" पुस्तक प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०७, ३४०. गृह्य सूत्रों के अनुसार केवल दो वर्ष से कम आयु के शिशुओं का ही दाह नहीं किया जाता, द्रष्टव्य, पारस्कर गृह्य सूत्र ३।१०।२॥ अनुपनीत बालकों और अविवाहित कन्याओं के लिए पितृमेध नहीं करना चाहिए—बौधायन पितृमेध सूत्र ३।६।१॥ "जिसके दाँत न निकले हों, ऐसे शिशु के शव का प्रणव का उच्चारण करते हुए निखात कर देना चाहिए"—बौधायन पितृमेध सूत्र ३।६।३; "दो वर्ष से कम आयु के बालक का बिना दाह ही निखात कर देना चाहिए"—पारस्कर गृह्य सूत्र ३।१०।४,५। राजर्षि मनुजी "दो वर्ष से न्यून आयु के शिशु की मृत्यु पर न तो उसका अग्निसंस्कार ही मानते हैं और न उदक-दान ही"—मनुस्मृति ५।६७–७०। बौधायन तो बान्धवों की इच्छा होने पर दाँत निकले हुए शिशुओं के दाह का भी अनुमोदन करते हैं—बौधायन पितृमेध सूत्र ३।६।४.

१३. "संस्कारविधि, संन्यास प्रकरण.

जी ने "यम और पितर" पृष्ठ १७५ में शव को जलाना अर्थ किया है।

पं० सातवलेकर जी 'ये निखाता"......वाले मन्त्र से चार प्रकार के पितरों को हविभक्षणार्थ बुलाते हैं जो केवल जीवित पितरों पर ही घट सकता है। मृत पितरों को हवि खाने के लिए बुलाना तो नितान्त पोपलीला है। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर प्रमाण और युक्ति द्वारा मृत पितरों के श्राद्ध और उनके बुलाने का खण्डन किया है।

शिशु' को जलाने के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी सरस्वती का कहीं लेख नहीं है पर जब वे मनुष्य मात्र को जलाने का विधान वेद (यजु० ४०।१५) से बतलाते हैं तो यह स्वयं सिद्ध है कि वे शिशुओं को भी जलाने के पक्ष में हैं।

इस सम्बन्ध में मैंने आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान्, धर्मार्यसभा के भूतपूर्व मन्त्री विद्वद्वर पं० धर्मदेव जी 'विद्यामार्तण्ड' सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति को एक पत्र लिखकर पूछा था, तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि—

"...आपने जो शिशु की अन्त्येष्टि के विषय में आर्यसमाज का सिद्धान्त पूछा है। यद्यपि कई स्मृतियों में ऐसे मृत शिशु के जल-प्रवाह का विधान पाया जाता है पर ऋषि दयानन्द (भस्मान्तं शरीरम्) इस वैदिक आदेश के अनुसार सभी के अग्निसंस्कार के ही प्रतिपादक हैं, अतः वही उचित है।"[१४]

चतुर्वेदभाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ का भ्रम :—आप वैदिक सिद्धान्त के अच्छे विद्वान माने जाते हैं। आपने चारों वेदों का सरल आर्य (हिन्दी) भाषा में अर्थ किया है जो 'आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर (राजस्थान)' से चौदह भागों में प्रकाशित हुआ है। पता नहीं आपने "अथर्ववेद" का भाष्य करते समय महर्षि दयानन्द जी के सिद्धान्तों को क्यों ओझल कर दिया।

आपने १८।२।३४ में एक अर्थ तो ठीक किया है पर दूसरा अर्थ अत्यन्त आपत्तिजनक है जहाँ आपने शव को पृथ्वी में गाड़ना लिखा है।❀ मैंने इस अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए उनके पास, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (जयपुर) को पत्र लिखा तो उन्होंने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया :—"आपका पत्र मिला आशय जाना। जिस अर्थ में आपको आपत्ति नहीं, उसका तो प्रश्न ही नहीं। अथवा करके दूसरे अर्थ में आपको आपत्ति है। 'निखाताः' पद के अर्थ में तो मैं या कोई कुछ नहीं कर सकता। रहा लाक्षणिक अर्थ इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। वह यह कि क्या किसी दशा में भी शरीरों को गाड़ा जाना सम्भव है कि नहीं, यदि है, तो समाधान इस अपवाद में मिल जावेगा।

'निखाताः' पद की तुलना आप ऋ० १०।१५।२ के इस वाक्य से करें—'ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः।' यदि यह वाक्य 'निखाताः' की व्याख्या है तो आपका उचित-समाधान मिलना चाहिए। इसकी ही स्पष्ट व्याख्या मेरे प्रथम अर्थ में आपको मिलेगी। आप भी कोई समाधान ढूँढें। मुझे भी लिखें।..."[१५]

यह है पण्डित जी का स्पष्टीकरण जो और भी संशय में डाल देता है। इससे कितनी भ्रान्ति फैल सकती है, विज्ञ पाठकवृन्द विचारे। आपके अर्थ और अन्य पौराणिकों के अर्थ में क्या अन्तर रहा?

अतः आपके वेदभाष्य में अनेक त्रुटियाँ व वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध बातें हैं।

पण्डित जी के 'अथर्ववेद भाष्य' का एकही नमूना पर्याप्त होगा जो वैदिक सिद्धान्त पर कुठाराघात करता है :—

---

१४. लेखक के नाम दिनाङ्क ३०।१।६० को 'गुरुकुल काङ्गड़ी' से भेजा कार्ड।

❀ आपने आचार्य रामदेव जी बी. ए. के साथ "पुराणमतपर्यालोचन" नामक ग्रन्थ लिखा था। आप उसके प्रथम संस्करण के पृष्ठ ४४८ पर इस मन्त्र के सम्बन्ध में लिखते हैं :—"इस मन्त्र में भी कोई मृतकश्राद्ध को आश्रय नहीं, प्रत्युत मुर्दों को गाड़ना या ऊपर टाँगना आदि नहीं प्रत्युत हवि या चरु द्वारा सबको अग्नि में भस्म कर देना, यही वैदिक विधान है, इसी के लिए यहाँ प्रार्थना है।"

क्या उस समय आचार्य रामदेव जी बी. ए. के दबाव के कारण आपने शव को अग्नि में भस्म करना लिखा था?—लेखक

१५. लेखक के नाम दिनाङ्क २५।२।६० को वनस्थली विद्यापीठ से प्रेषित कार्ड।

आप अथर्ववेद काण्ड एकादश, सूक्त ७, मन्त्र २४ (ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह...) का अर्थ करते हैं :—

(ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (सामानि) सामवेद और उसके सहस्रों सामगान के भेद, (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्द अथवा अथर्ववेद के मन्त्र (यजुषा सह पुराणं) यजुर्वेद, कर्मप्रवर्त्तक मन्त्रों के साथ साथ सृष्टि उत्पत्ति, प्रलय आदि के वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मण भाग और (सर्वे देवा दिविश्रितः) आकाशस्थसूर्यादि समस्त दिव्य-लोक (उच्छिष्टात् जज्ञिरे) 'उच्छिष्ट' उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं।"[१६]

आपने "ब्राह्मण भाग" को भी परमेश्वर से उत्पन्न लिख दिया जबकि वैदिक सिद्धान्त है कि ब्राह्मण भाग, वेदों के व्याख्या भाग ऋषियों की कृति हैं।

अथर्ववेद १८।२।३४ का वास्तविक अर्थ

श्री सायणाचार्य, श्री रामचन्द्र शर्मा, श्री कालूराम, श्री अखिलानन्द, श्री माधवाचार्य, श्री सातवलेकर, श्री जयदेव शर्मा प्रभृति विद्वानों का अर्थ ठीक नहीं है। श्री सायण के अर्थ की ही प्रायः प्रतिलिपि श्री कालूराम, श्री अखिलानन्द, श्री माधवाचार्य व श्री सातवलेकर जी ने की है।

पं० सातवलेकर जी की पुस्तक "यम और पितर" का विद्वत्तापूर्ण उत्तर आर्यजगत् के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० प्रियरत्न जी आर्ष [अब पूज्य स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज] ने "यमपितृपरिचय"† नामक ४३६ पृष्ठ के ग्रन्थ में दिया है। अतः श्री माधवाचार्य ने जो 'यम और पितर' की अत्यन्त प्रशंसा की है और यह व्यर्थ की डींग मारी है कि "दयानन्दी सात जन्म में इसका उत्तर नहीं दे सकते।" यदि श्री माधवाचार्य में विद्वत्ता है तो इसी जन्म में "यमपितृपरिचय" का खण्डन कर डालें अन्यथा मैं भी डंके की चोट कह सकता हूँ कि पौराणिक सात जन्म में भी इसका उत्तर नहीं दे सकते।

अतः माननीय पं० प्रियरत्न जी आर्ष ने जो अर्थ किया है वह आर्यसमाज को मान्य है। पता नहीं पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' 'मीमांसातीर्थ' को सार्वदेशिक सभा का अर्थ क्यों नहीं मान्य है?

पं० प्रियरत्न जी आर्षकृत अर्थः—"(ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धितास्तान् सर्वान् पितॄन् हविषेऽत्तवेऽग्न आवह) पूर्व मन्त्र में सूर्य किरणों की प्रधानता दिखाई गई है इस मन्त्र में उनके उपयोगों और भेदों का वर्णन है कि निखात = जो सूर्य की किरणें पृथिवी में स्थिर की गई हैं, जिन किरणों के द्वारा यह पृथिवी नियन्त्रित हुई आकाश में वर्तमान है तथा पृथिवी में घुसकर सुवर्णादि धातुओं और औषधियों के बीजों का सम्पादन करती हैं। परोप्त = जो सूर्य की किरणें जल में फैली हुई हैं, जिनके द्वारा जल फैलने का स्वभाव रखता है। दग्ध = और जो सूर्य किरणें अग्नि में दीप्त हैं, जिनके द्वारा अग्निदीप्ति-धर्म रखती है। उद्धित = और जो सूर्य किरणें वायु में गमन करती हैं, जिनके द्वारा वायु गति करती है। ऐसी उन सब किरणों को अग्नि मृतदेहरूप हवि के ग्रहण करने के लिए आकर्षण करती है। अग्निदहन क्रिया से मृत देह में जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अंश हैं उनको वहाँ-वहाँ नियुक्त हुई सूर्य किरणें ले जाकर यथास्थान कर देती हैं। यह एक वैज्ञानिक विलाप है।

शिक्षा—अन्त्येष्टि क्रिया से मृतदेह में जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अंश होते हैं उन सबको सूर्य-किरणें यथा स्थान पहुँचा देती हैं।"[१७]

पुनः—"इस मन्त्र से कोई विद्वान् प्रेत को गाड़ने, बहाने, जलाने और हवा में जमीन पर खुला छोड़ने के भेद से चार प्रकार का श्मशानकर्म बतलाते हैं।

.. ...आश्चर्य की बात है कि वादी ने गाड़ने आदि की चार प्रकार की अन्त्येष्टि इस वेदोक्त मन्त्र से बतलाई है। वैदिक विधि का आचरण करना उचित और पुण्यप्रद है। उसमें किसी ननुनच की आवश्यकता नहीं होती जबकि यह बात है तब—

"मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा श्रृतं कृण्वो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः।" ऋ० १०।१६।१

१६. "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" तृतीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ २५५.

† सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, दयानन्दभवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली १ से प्रकाशित.

१७. "यमपितृपरिचय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३४–१३५.

इस मन्त्र की व्याख्या में "अग्नि और पितर" के शीर्षक में पुनः यह लिखना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है—"इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध से ऐसा पता चलता है कि जब तक देह सम्पूर्णतया जल नहीं जाती तब तक आत्मा देह के आस पास ही मण्डलाती रहती है। इस परिणामानुसार तो आत्मा को शीघ्र मुक्त करने के लिए उसे उनके लिए निर्धारित स्थान पर भेजने के लिए शरीर का दहन करना उचित प्रतीत होता है।" पाठक विचार करें कि पूर्व गाड़ना आदि "चार प्रकार की अन्त्येष्टि" वैदिक विधि दर्शाई और इस मन्त्र में जलाने की विधि उचित सिद्ध की। एवं वेद के अन्दर एक ही विषय में उचित और अनुचित विधि का दर्शाना कितना दोष है। **वास्तव में वैदिक विधि केवल जलाने के लिये ही है।** स्थान-स्थान पर जलाने के लिए ही मन्त्र मिलते हैं और अन्त्येष्टि मन्त्रों का विनियोग भी जलाते समय ही किया जाता है। जलाने के द्वारा ही अन्त्येष्टिकर्म के लिए जिस प्रकार "मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्" (ऋ० १०।१६।१) इस मन्त्र में अग्नि सम्बन्धी दोषों के दूरीकरणार्थ ध्यान दिलाया है। एवं गाड़ने आदि अन्त्येष्टिकर्म के लिए "मैनं भूमे निखन मा दूषय मास्य त्वचं विक्षिपो मा विगात्रम्"। इत्यादि मन्त्र भूमि आदि दोषों के निवारणार्थ वेद में होने चाहियें किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए गाड़नादि की विधियाँ, वेद से सिद्ध करना असम्भव और अनुचित है। अतः "ये निखाता" मन्त्र का सत्यार्थ कोई और ही है। इस मन्त्र से पूर्व अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते। उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादुद्वा मिथुना सरण्यूः॥ ३३॥ यह मन्त्र है जिसमें सूर्यकिरणें प्रभात उषा को हटाती हैं। पुनः दिन रूपी प्रभा का प्राणीमात्र के लिए प्रकाश करती हैं। एवं दिन के प्रतिकूल रात्रि बनती है। जिससे दिन रात का मिथुन क्रमशः काम करता रहता है। यहाँ स्पष्टरूप में सूर्यरश्मियों का वैज्ञानिक प्रकरण है। अतः इसके साथ "ये निखाताः" में किन्हीं विशिष्ट सूर्यरश्मियों का विधान है।[१८]

अन्य आर्य विद्वानों के अर्थ

शास्त्रार्थ महारथी पं० मनसा राम जी "वैदिक तोप" :—"यजमान पुरोहित से कहता है कि हे विद्वन्! जो पदार्थ जमीन में गाड़े हुए होते हैं (आलू, मूली, गाजर आदि) और जो पदार्थ बोये जाते हैं (गेहूँ, चावल आदि) जो पदार्थ भून कर खाये जाते हैं (चने, मक्की, धान आदि) और जो पदार्थ बाहर निकाले जाते हैं (सिंघाड़े, कमलगट्टे आदि) इन सब पदार्थों को निमन्त्रण में साधु, महात्मा आदि पितरों को खाना खिलाने के लिए ला कर दे।

इस मन्त्र में जो प्रोप्ता शब्द पढ़ा हुआ है इसके अर्थ बीजे जाने वाले पदार्थों के हैं। और बीजे जाना अनाजों, सब्जियों का ही संभव है। अतः यह मन्त्र मृतकश्राद्ध को सिद्ध नहीं करता अपितु जीवितों की सेवा को ही सिद्ध करता है।"[१९]

पं० भक्तरामजी :— "(ये निखाताः) जो खनन विषयक विज्ञान में अच्छी प्रकार निपुण हैं। खन धातु से क्तप्रत्यय करके बहुव्रीहि समास करने से यह अर्थ सिद्ध होता है (ये परोप्ताः) जो चीजों की विद्या अथवा कृषि-विद्या में निपुण हैं। डुवप बीजसन्ताने छेदने च इस धातु से सिद्ध है (ये दग्धाः) दहनविषयक ज्ञान में निपुण (च) और (उद्धिताः) उत्कृष्ट धारणविषयक ज्ञान में निपुण जिनको अंग्रेजी के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं Mineralogist, Botanist, Chemist और Mechanist इन चार प्रकार की विद्याओं में जो निपुण हैं (तान्) उन (सर्वान्) सब पितरों को अर्थात् विद्वानों को (अग्ने) परमात्मन् (हविषे अत्तवे आवह) हम अन्न-वस्त्रादि से पालन करें, जिससे वे सब विद्वान् अनेक प्रकार की विद्याओं का देश और जाति में संचार कर धन और ऐश्वर्य को बढ़ावें।"[२०]

पं० शिवशङ्करशर्मा काव्यतीर्थ :—निखात, परोप्त दग्ध, उद्धित आदि जो पितर हैं, उन सब पितरों को हविष्यान्न भोजन के लिए हे अग्निदूत! बुलाओ।...जिसने शुभ कर्म करने में अपने को गाड़ दिया है वह निखात, जिसने अच्छे प्रकार विद्यारूप बीज को बोया है वह 'परोप्त', जिसने तपश्चरण में शरीर जला दिया है वह दग्ध, जिसने गिरते हुए को उठाया है वह उद्धित। अथवा इसको यों भी लगा सकते हैं कि जो पुरुष ऋषियों के द्वारा परोपकार

१८. वही, पृष्ठ ३०९। १९. "पौराणिक पोल प्रकाश" द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७५७.

२०. मासिक पत्र "वेदोदय" प्रयाग, सितम्बर सन् १९३३ ई०, पूर्णसंख्या ४२, पृष्ठ ३१८—३१९.

रूप क्षेत्र में गाड़ा गया है वह निखात, जो अच्छे प्रकार छींटा गया है वह परोप्त, जो वेदाध्ययनरूप अग्नि में दग्ध किया गया है वह दग्ध और जो सबके हित में लगाया गया है वह उद्धित, क्योंकि मन्वादिकों के प्रमाणों से सिद्ध है कि पितृगण ऋषियों के पुत्र हैं अर्थात् ऋषियों के बनाये हुए हैं। एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि जब वेदों के अन्यान्य मन्त्रों से मृतकश्राद्ध सिद्ध नहीं है तब केवल इस मन्त्र को मृतकपरक कैसे लगा सकते हैं?"[२१]

पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी:—"(संस्कृत)—(ये) विद्वांसः (निखाताः) खनु अवदारणे–क्तः ब्रह्मचर्यादिसदाचारे दृढ़तया स्थिताः (ये) (परोप्ताः) परा + टुवप बीजसन्ताने क्तः उत्तमतया बीजवत् स्थापिताः (ये) (दग्धाः) दह दीप्तौ भस्मीकरणे क्तः ब्रह्मचर्यादिना तप्ताः प्रदीप्यमानाः (ये) (च) (उद्धिताः) उत् + दधातेः क्तः ऊर्ध्वं धृताः (सर्वान्) (तान्) (अग्ने) हे विद्वन्! (आवह) आनय (पितॄन्) पित्रादिरक्षकान् विद्वत्पुरुषान् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी, हविः ग्राह्यं पदार्थम् (अत्तवे) अद भक्षणे—तवेन् प्रत्ययः, अत्तुं भक्षितुम्।

(आर्यभाषार्थ)—(ये) जो पुरुष [ब्रह्मचर्य आदि सदाचार में] (निखाताः) दृढ़ गड़े हुए (ये) जो (परोप्ताः) उत्तमता से बीज बोये गए (ये) जो (दग्धाः) तपाये गये [व चमकते हुए] (च) और (ये) जो (उद्धिताः) ऊँचे उटाये गये हैं (अग्ने) हे विद्वन्! (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्) पितरों [पिता आदि ज्ञानियों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आवह) तू ले आ।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो पुरुष दृढ़ स्वभाव, ब्रह्मचर्यसेवी, सुशिक्षित, परिश्रमी, महाविद्वान् हों उनका भोजन आदि से सदा सत्कार करें।"[२२]

आर्यजगत् के उपर्युक्त पाँच विद्वान् इस मन्त्र में शव को गाड़ना अर्थ नहीं करते हैं।

आधुनिक इतिहास-वेत्ताओं के विचार

प्रो० बी० एन० लूणिया, एम० ए० एल. टी., होल्कर कालेज, इन्दौर की सम्मति है कि वैदिक काल में मुर्दे जलाए जाते थे।[२३]

प्रो० शिवदत्तजी ज्ञानी एम. ए. लिखते हैं—"अन्त्येष्टि—मनुष्य के शरीर का यह अन्तिम संस्कार था जो मरने के पश्चात् शव को जलाकर किया जाता था।"[२४]

अतएव उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि 'अथर्ववेदीय अन्त्येष्टि सूक्त' में शव को पृथिवी में गाड़ने, जल-प्रवाह करने व वायु में रखने तथा मृतक श्राद्ध का विधान नहीं है। जो लोग अथर्ववेद से मृतक को गाड़ने व मृतकश्राद्ध को सिद्ध करने का कुप्रयास करते हैं, वे भारी भ्रम में हैं॥

वेदों में आस्तिकवाद

[*ले०—श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, विद्यामार्त्तण्ड, मेरठ*]

वर्त्तमान युग में ईश्वर की, ईश्वरवाद की अथवा आस्तिकता की चर्चा करना एक उपहासास्पद वस्तु अधिकतर समझी जाती है। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ईश्वर की सत्ता को किसी न किसी रूप में माना है। संसार में जितने धर्म या सम्प्रदाय हैं सभी ईश्वर की सत्ता को अङ्गीकृत करते हैं। यहां तक कि नास्तिक दर्शन कहलाने वाले भी, यथा तथा ईश्वर को मानते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु यहाँ देने की हम उनकी आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि यह बात सर्वविदित है। अब रही—भारतीयसंस्कृति,

२१. "श्राद्ध-निर्णय" प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०५
२२. "अथर्ववेदभाष्यम्", अष्टादश काण्डम्, प्रथमावृत्ति. [सन् १९१९ ई में ओङ्कार यन्त्रालय, प्रयाग में मुद्रित]
२३. "Evolution of Indian Culture" pp. 66 First edition 1951 Agra.
२४. "भारतीयसंस्कृति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९७.

या वैदिक सभ्यता की बात, उसमें तो ईश्वर को सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है।

मनुष्यजीवन को समुन्नत तथा पूर्णसफल बनाने के लिये तो प्रथम सोपान अथवा मूलाधार भित्ति ईश्वर की सत्ता को ही बताया गया है। मानव हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा विश्वास उत्पन्न करने के लिये पदे पदे वेद-मन्त्रों द्वारा उपदेश दिया गया है। जिससे मानव हृदय में ईश्वर की सत्ता बद्धमूल हो जावे और बहुत से पापों से मुक्त हो जावे। उस ईश्वर के स्वरूप को वर्णन करते हुए वेद कहता है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥

[ऋ० १।१५४।१]

इसका भावार्थ यह है कि उस परमेश्वर की अद्भुत रचना तथा कार्यों का प्रवचन करता हूँ कि जो उसने इस विचित्र जगत् के निर्माण में प्रदर्शित किया है। भूगोल, नक्षत्र, तारागण आदि समस्त ब्रह्माण्ड को रचता है और जो इस पृथ्वीलोक, द्युलोक एवं अन्तरिक्ष लोक को अपनी व्यापक शक्ति से संभाले हुए हैं। अतः सब के द्वारा वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

इस परमेश्वर के अद्भुत रचनाकार्य पर जब हम पर्यालोचनात्मक दृष्टिपात करते हैं तो सचमुच आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रह सकते। परिणामतः उसके प्रति श्रद्धा की भावना जाग्रत हो उठती है और हमारे हृदय में उसके लिये प्रणाम करने की एक अद्भुत उत्सुकता जाग्रत हो उठती है:—

यो भूतञ्च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

जो ईश्वर इस भूत भव्य तथा वर्त्तमान जगत् का स्वामी-अधिष्ठाता है। उस परम ब्रह्म ईश्वर के लिये हमारा बार-बार प्रणाम है। इस प्रकार की गुणावलि को ध्यान से विचार कर, विवेचना करके बुद्धिमान् व्यक्ति के मस्तिष्क में ज्ञान का प्रकाश न होता होगा। वह परमेश्वर का परमप्रिय और उसके प्रति परम श्रद्धालु हो जाता है। सहसा उसके हृदय से ये उद्गार निकल पड़ते हैं—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

[ऋ० ८।९८।११]

हे अद्भुत तथा असंख्य कर्म-कलाप वाले पमेश्वर! आप ही वास्तव में हमारे माता तथा पिता हैं। आप हमें सब प्रकार सुखी बनावें। एक अन्य मन्त्र में और भी स्पष्ट कर दिया—

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव
तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

[ऋ० १०।८२।३]

अर्थात् जो हमारा पिता है और जो सब लोक लोकान्तरों को बनाता है तथा भली भाँति जानता है, वही जिज्ञास्य है और सब उसी का आश्रय लेते हैं।

परमेश्वर की रचना इस विचित्र जगत् को जो खुल आँखों से देखता है, वही वास्तव में अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जीवात्मा का ईश्वर के साथ क्या सम्बन्ध है यदि इस प्रकार से सृष्टि, जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध, प्रयोजन को समझ ले तो उसके लिये यह सम्पूर्ण जगत् एक नीड, एक घोंसले के समान हो जावेः—

यत्रैतत्सर्वं भवत्येकनीडम्।

विश्व एक मन्दिर के समान बन जावे। सब मनुष्य एक समान हो जायं, न कोई देश देशान्तर से द्वेष एवं कलह कर सके। विश्वशान्ति का पूर्ण साम्राज्य हो जावे। विश्वबन्धुत्व की स्थापना हो जावे। तात्पर्य यह है कि ईश्वरसत्ता एवं शक्ति का अनुभव करने पर मनुष्य के मस्तिष्क से दुरभिमान अज्ञान, तथा सब प्रकार के भेद-भाव निकलकर विश्वैक्य की भावना जाग्रत होकर स्वयं ही रागद्वेषादि पाशविक वृत्तियां नष्ट हो जायें। संसार स्वर्ग समान हो जावे। इसलिये ईश्वर में विश्वास एवं आस्तिकता का प्रचार करना चाहिये जिससे संसार में पूर्ण शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सके।

ऋग्वेदीय पणि-सरमा संवाद

[ले०—श्री पं० विश्वनाथजी, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड, देरादून]

ऋग्वेद मण्डल १० का १०८ वां सूक्त "पणि-सरमा-संवाद" रूप है। इस सूक्त में ११ मन्त्र हैं। प्रचलित "ऋषि-दैवत" पद्धति के अनुसार इस सूक्त के १, ३, ५, ७, ९ मन्त्रों के ऋषि "पणि" हैं (ऋषयः पणयः असुराः) जो कि असुर हैं। इन मन्त्रों की देवता "देवशुनी सरमा" है (देवशुनी सरमा देवता)। तथा २, ४, ६, ८, १०, ११ मन्त्रों की ऋषि (ऋषिका) देवशुनी सरमा है (देवशुनी सरमा ऋषिका) और इन मन्त्रों के देवता "असुर पणि" हैं (पणयो असुराः देवताः)। ऋषि और देवता के निर्देश के लिये छपे ऋग्वेद के १०८ वें सूक्त के शीर्षक रूप में तथा "सर्वानुक्रमणी" में उपरि लिखित प्रकार से ही ऋषि और देवता दर्शाए गए हैं।

वैदिक साहित्य में "पणियों" को बुरी दृष्टि से देखा गया है। इन्हें वैदिक समाज-व्यवस्था से बाहिष्कृत किया गया है। "अप इतो यन्तु पणयः" अर्थात् पणि वैदिक समाज-व्यवस्था से पृथक् कर दिये जायँ। इन्हें कहा गया है कि ये वैदिक समाज-व्यवस्था के लिये सुखदायी नहीं हैं (असुम्नाः = अ + सुम्नाः)। इन्हें कहा गया है कि ये वैदिक समाज के देवों के हिंसक हैं (देवपीयवः)। पणियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त उद्धरण यजुर्वेद अध्याय ३५ मन्त्र १ में से लिये गए हैं। यह मन्त्र निम्न लिखित है—

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः।
अस्य लोकः सुतावतः॥

साथ ही "ऋषि-दैवत" की प्रचलित पद्धति के अनुसार पणियों को "असुर" कहा गया है, जैसे कि ऋषि और देवता की दृष्टि से ऊपर विभक्त मन्त्रों में १, ३, ५, ७, ९ मन्त्रों के ऋषि-प्रदर्शन में "पणयः असुराः" लिखा गया है। एक ओर तो ये "पणि" वैदिक-समाज के लिये अवाञ्छनीय, दुःखदायी और हिंसक हैं, और साथ ही "असुर" भी हैं। पणि शब्द "पण" धातु से बना है जिसके अर्थ हैं "व्यवहार और स्तुति" (पण व्यवहारे स्तुतौ च)। व्यवहार का अर्थ होता है "व्यापार और पारस्परिक सामाजिक व्यवहार"। इन दोनों दृष्टियों में व्यवहार निन्दनीय प्रतीत नहीं होता। परन्तु पणियों के सम्बन्ध में व्यवहार का अभिप्राय वह व्यापार या पारस्परिक व्यवहार है जिसमें सत्य और असत्य मिला हुआ हो या केवल असत्य प्रधान हो और जो समाज-कल्याण की दृष्टि से न किया गया हो। प्रतीत होता है कि सूक्त १०८ वें के सम्बन्ध में "पणि" ऐसे ही व्यवहारी या व्यापारी हैं जिन्हें कि वेदों में निन्दनीय समझा गया है। ऋषिप्रदर्शन में साथ ही इन्हें "असुर" भी कहा है। वेदों में "असुर" पद प्रायः बुरे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। असुर वे हैं जो "असु" अर्थात् अपने प्राणपोषण में ही रत रहते हैं (असु + र); तथा जो कि सुरों अर्थात् देवताओं की कोटि के नहीं हैं (अ + सुराः)। अर्थात् जो दिव्य आचार-व्यवहारों के नहीं हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसे "कुव्यवहारी और असुर" लोग अर्थात् "पणि" भी क्या वेदों के मन्त्रों के ऋषि हो सकते हैं, ऐसे कुव्यवहारी असुर भी क्या वेदमन्त्रों के द्रष्टा हो सकते हैं। ऋषि के सम्बन्ध में निरुक्त में लिखा है कि "ऋषिर्दर्शनात्"। ऋषि का यह लक्षण बड़ी ऊँची भावनाओं को लिये हुए है। दुष्ट, दुराचारी, असत्यव्यवहारी, देवहिंसक, प्रजादुःखदायी लोगों को मन्त्रदर्शन या मन्त्रार्थदर्शन कैसे सम्भव है! निरुक्त में यह भी लिखा है कि वेदमन्त्रों के रहस्य उन्हें ही प्राप्त होते हैं जो तपस्वी हों (तपस्यमानान् अभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्)।

इसी प्रकार "देवशुनी सरमा" के सम्बन्ध में भी आपत्ति प्रतीत होती है। देवशुनी का अर्थ है—"देवों की कुतिया" जिसका कि नाम था "सरमा"। उपरिलिखित २, ४, ६, ८, १०, ११ मन्त्रों की ऋषिका (ऋषि) है सरमा नाम वाली देवों-की-कुतिया। इस सरमा की सन्तानों को "सारमेय" कहते हैं। सारमेय का अर्थ होता है कुत्ते-कुतिया। प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुत्ते और कुतिया भी क्या वेदमन्त्रों के ऋषि हो सकते हैं!

प्रश्न यह भी उठता है कि क्या वेदमन्त्रों के 'देवता' पद में दिव्यता की कोई भावना नहीं होती। यदि होती है तो क्या असुर-पणि और कुतिया में कोई छिपी दिव्य-भावना है जिस की वजह से १०८ वें सूक्त के मन्त्रों के देवता "पणयः असुराः" तथा "देवशुनी सरमा" हुए हैं।

प्राचीन आचार्यों ने ऋषि और देवता के सम्बन्ध में एक और विचार भी उपस्थित किया है। वह यह कि "यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता"। इस दृष्टि से १०८ वें सूक्त में जो मन्त्र पणियों द्वारा उच्चरित हुए हैं उन के ऋषि "पणि" हैं और जो मन्त्र सरमा द्वारा उच्चरित हुए कहे गए हैं, उनकी ऋषिका "सरमा" है। इस प्रकार ऋषित्व के लिये आर्षदृष्टि का होना या तपस्वी होना आवश्यक नहीं और न ही देवता के साथ किसी दिव्य भावना का ही सम्बन्ध होता है। मन्त्र में जो भी प्रतिपाद्य वस्तु है वह उस उस मन्त्र की देवता है। इस दृष्टि से आर्ष और अनार्ष दोनों प्रकार के व्यक्ति मन्त्र-ऋषि हो सकते हैं और दिव्य तथा अदिव्य दोनों प्रकार की प्रतिपाद्य वस्तुएँ मन्त्र-देवता हो सकती हैं। परन्तु प्रचलित अर्थ में "देवशुनी-सरमा" अर्थात् देवों की कुतिया किस प्रकार ऋषि हो सकेगी यह बात समझ में नहीं आती, क्योंकि कुतिया मन्त्रों का उच्चारण कैसे कर सकती है?

१०८ वें सूक्त में पणियों और देवशुनी सरमा में प्रश्नोत्तर रूप में संवाद उपस्थित किया गया है। पहिले पणि लोग देवशुनी सरमा से प्रश्न करते हैं और देवशुनी सरमा उत्तर देती है। इसी तरह कई बार प्रश्नोत्तर हुए हैं और इन्हीं प्रश्नोत्तरों में सूक्त समाप्त हो जाता है। क्या पणि और देवशुनी सरमा एक दूसरे के सम्मुख उपस्थित थे और इन्हों ने प्रश्नोत्तर रूप में जो २ मन्त्र बोले उनका संग्रह १०८ वें सूक्त में है। इस दृष्टि से ये संवाद-मन्त्र अनित्य ऐतिह्य या इतिहास के सूचक होंगे तथा ऐसे संवाद के सम्बन्ध में अनास्था भी उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि मनुष्यों और कुतिया में संवाद सम्भव ही नहीं। प्रतीत यह होता है कि "नैतिक शिक्षण" देने के अभिप्राय से यह सूक्त संवाद रूप में रखा गया है। इस समग्र सूक्त का ऋषि या तो कोई ऋषि-व्यक्ति हुआ ही नहीं, यदि कोई हुआ भी होगा तो वह विस्मृत है। अपने अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये मैं पञ्चतन्त्र का दृष्टान्त देता हूँ। पञ्चतन्त्र का रचयिता एक व्यक्ति हुआ है जो कि नीतिशास्त्र का महापण्डित था। इस महापण्डित ने पञ्चतन्त्र में कथा-कथानकों द्वारा नीतियों का उपदेश दिया है। इन कथा-कथानकों के नाना पात्र पञ्चतन्त्र में कहे गए हैं, जिनके कि मुखों से संस्कृत के सन्दर्भ कहलाए गए हैं। ये पात्र काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। पञ्चतन्त्र में जो २ सन्दर्भ, वाक्य या श्लोक इन पात्रों के नाम पर हैं वे पात्र उन-उन सन्दर्भों, वाक्यों या श्लोकों के रचयिता नहीं हैं। रचयिता केवल एक व्यक्ति है जो कि महापण्डित है। यही परिस्थिति नाटकों के सम्बन्ध में समझी जानी चाहिये। एक नाटक के कथानक का रचयिता एक व्यक्ति ही होता है, चाहे नाटक के पात्र कई हों। ये पात्र उन २ सन्दर्भों के रचयिता नहीं हुआ करते। इस सूक्त का ऋषि तो परमात्मा है ही या समग्र ऋग्वेद का ऋषि "अग्नि" ही इस सूक्त का ऋषि है। पणि और देवशुनी सरमा इस सूक्त के ऋषि नहीं हैं। कोई आर्ष दृष्टि वाला व्यक्ति इस सूक्त का ऋषि हुआ होगा तो वह विस्मृत है।

यहाँ यह भी दर्शा देना आवश्यक है कि १०८ वें सूक्त में पणियों और सरमा का तो प्रतिपदोक्त वर्णन मिलता है। परन्तु इन मन्त्रों में सरमा को "देवशुनी" नहीं कहा। १०८ वें सूक्त की भूमिका रूप में कथानक यह है—"इन्द्र की गौओं को पणियों ने हर लिया था। पणियों ने उन गौओं को पर्वत में कहीं गुप्त स्थान में छिपा रखा था। इन्द्र ने सरमा को दूती बनाकर गौएँ ढूँढ़ने भेजा। सरमा ने पणियों के पास गौओं को ढूँढ़ लिया। तब पणियों और सरमा में जो संवाद चला उसे १०८ वें सूक्त में दर्शाया गया है।" इस प्रकार के संवादों को हम "वाकोवाक्य" भी कह सकते हैं।

अब हम १०८वाँ सूक्त लिखकर उसके वास्तविक अभिप्रायों को भी प्रकट करते हैं। सूक्त निम्न प्रकार है :—

(१) किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि॥

(२) इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि॥

(३) कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति॥

(४) नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे॥
(५) इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तानसुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा॥
(६) असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥
(७) अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिवसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ॥
(८) एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्॥
(९) एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥
(१०) नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः॥
(११) दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूढाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥

अर्थः—(१) (पणियों द्वारा प्रश्न) हे सरमा! किस वस्तु की इच्छा से तू इस हमारे राज्य में आई है, मार्ग बहुत लम्बा था, विघ्न-बाधाओं से भरपूर था। क्या कोई हमारा हित करने आई हो या कोई हम से अपराध हुआ है। पृथिवी की नानाविध नदियों-समुद्रों को कैसे तैर आई हो?

(२) (सरमा का उत्तर) इन्द्र की मैं दूती हूँ और उससे प्रेरित हुई तुम्हारे स्थान में आई हूँ। हे पणियो! अर्थात् बनियो! तुम्हारे बड़े खज़ानों को चाहती हुई मैं आई हूँ। आक्रमण के भय से उन नानाविध नदियों-समुद्रों ने हमारी रक्षा की है। इस प्रकार पृथिवी के नानाविध जलों को तैर आई हूँ।

(३) (पणियों द्वारा प्रश्न) इन्द्र कैसा है? हे सरमा! उसकी दृष्टि हम पर कैसी है जिसकी कि दूती बनकर तू दूर स्थान से यहाँ आई है। अच्छा! सरमा आवे, इसे हम मित्र बना लेते हैं, तत्पश्चात् यह हमारी गौओं (भूमियों) की गोपति (भूपति) बने।

(४) (सरमा का उत्तर) मैं उस इन्द्र को दबा सकने योग्य नहीं जानती, अपितु वह दबाने वाला है जिसकी कि दूती बनकर मैं दूर स्थान से यहाँ आई हूँ। गम्भीर नदियाँ और समुद्र उसके रास्ते रोक नहीं सकते। हे पणियो! इन्द्र द्वारा मारे जाकर तुम भूशायी हो जाओगे।

(५) (पणियों का उत्तर) हे सरमा! ये नाना गौएँ (भूमियाँ) हैं, जिनकी चाहना से द्युलोक के प्रान्तों से गिरती हुई बिजुली की न्याईं गरजती है। कौन-सा तेरा इन्द्र है जो कि बिना युद्ध किये इन गौओं (भूमियों) को हम से छुड़वा सकेगा, देखो हमारे शस्त्रास्त्र भी तेज हैं।

(६) (सरमा कहती है) हे पणियो! तुम्हारे वचन सैनिकों के से नहीं हैं, तुम्हारे पापी देह बाणों की चोटें सहने के योग्य नहीं हैं। तुम्हारा अपराभूत मार्ग हमारे आने के लिये सुगम है, (इन्द्र का) बृहस्पति (बड़ी सेना का पति) तुम्हें दोनों सुख न भोगने देगा। दोनों सुख = जनपद के सुख तथा सैनिक सुख (Civil and Military) या स्वराज्य सुख और पर-राष्ट्रजन्य सुख अथवा लौकिक और पारलौकिक सुख।

(७) (पणियों का उत्तर) हे सरमा! यह खज़ाना है जो कि पर्वत के मूल में सुरक्षित रखा जाता है, जिसमें कि गौएँ, अश्व तथा नाना प्रकार के ऐश्वर्य शामिल हैं। वे पणि इसकी सुरक्षा करते हैं जो कि सुरक्षाकार्य में निपुण हैं। इस आशंकित स्थान में तू व्यर्थ आई है।

(८) (सरमा का उत्तर) इस तुम्हारे राज्य में हमारे ऋषि आवेंगे, जोकि ब्रह्मचर्य की शक्ति से शक्तिशाली हैं, प्राण-शक्तिसम्पन्न अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने वाले तथा नवीन-नवीन गतियों वाले हैं; वे तुम्हारी

गौओं (भूमियों) के इस समूह को विभक्त कर लेंगे। हे पणियो ! तुमने यह जो कुछ कहा है वह केवल वचनों का वमन मात्र है।

(९) (पणि कहते हैं) हे सरमा ! तू इस प्रकार दुःख-बाधाओं को सहती हुई दिव्य साहस करके आई है, हम तुझे बहिन बनाते हैं, तू लौट कर न जा और हे सुभगे ! तेरे लिये गौओं (भूमियों) को अलग कर तुझे उनका भागी बना देते हैं।

(१०) (सरमा कहती है) मैं भाईपन और बहिन-पन नहीं जानती। इस सम्बन्ध में या तो घोर इन्द्र जानता है या घोर ऋषि जानते हैं जो कि अग्निहोत्र आदि यज्ञ करते हैं। गौओं की कामना वाले इन्द्र आदि ने मुझे इस सम्बन्ध में स्वच्छन्द बनाया है, जिसके लिये कि मैं आई हूँ। हे पणियो ! मुझसे दूर हट जाओ।

(११) हे पणियो ! बहुत दूर हट जाओ, अब तो तुम्हारी नपी हुई गौएँ (भूमियों) नियमानुसार तुम्हारे अधिकार से उठ जायँगी; छीन ली जायँगी। जिन सुरक्षित भूमियों को अब बृहस्पति (हमारा सेनापति) प्राप्त करेगा, तथा वीर्यशक्ति या सोम औषधि, यज्ञिय प्रसाद, ऋषि लोग तथा मेधावी लोग प्राप्त करेंगे।

ऊपर जो कथानक दिया है उसके निम्नलिखित निर्देश १०८ वें सूक्त में आए हैं, यथा :—सरमा, इन्द्रस्य, दूती, पणयः, गवाम्, गोकामाः, गावः, अद्रिबुध्नः गावः निगूढाः।

इस सूक्त में सरमा का विशेषण "देवशुनी" नहीं आया। इस सूक्त से निम्नलिखित राजनैतिक सूचनाए मिलती हैं—

(१) अपने राष्ट्र पर यदि परराष्ट्र आक्रमण करता है तो पहले दूती-प्रेषण द्वारा आपस के झगड़े का फैसला करने की कोशिश करनी चाहिये।

(२) परराष्ट्र दूती को नानाविध प्रलोभन दे सकता है, परन्तु दूती को उन प्रलोभनों में फँसना न चाहिये।

(३) पुरुष-दूत के स्थान में स्त्री-दूती इस कार्य के लिये अधिक उपयुक्त है।

(४) दूती "सरमा" होनी चाहिये जोकि परराष्ट्र में सरण (सर) कर सके, और अपने राष्ट्र की जो लक्ष्मी-रूप (मा) हो।

(५) इन्द्र राष्ट्र का राजा हो, जोकि हर दृष्टि से परमैश्वर्यवान् हो, प्रभावशाली हो।

(६) यदि युद्ध की परिस्थिति उपस्थित हो जाय तो परराष्ट्र में प्रथम सेनासहित सेनापति को भेजना चाहिये।

(७) सेना द्वारा परराष्ट्र पर विजय पा लेने के पश्चात् परराष्ट्र में अपनी सभ्यता के फैलाने के लिये ऋषि और विप्र भेजने चाहियें ताकि वणियों के पणिपन के स्थान में ऋषियों और विप्रों की सभ्यता परराष्ट्र में भी फैल सके।

इस सूक्त का आध्यात्मिक अर्थ भी बहुत सुन्दर और उपदेशप्रद है। लेख लम्बा हो जाने के कारण उसका उल्लेख किसी अंक में फिर किया जायगा॥

पाश्चात्य विद्वानों की विद्वत्ता !

[*ले०—श्री रामशंकर जी भट्टाचार्य, काशिराजपुराण सामिति शिवाला, वाराणसी*]

संस्कृत भाषा और व्याकरण के विषय में प्रौढ पाश्चात्य विद्वान् कितना अल्प ज्ञान रखते हैं, उसके कुछ निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। उन परिश्रमी और नाना-विद्या-संग्राहक विद्वानों के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए हम यह लेख लिख रहे हैं। अच्छा होगा कि उनके ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर इस विषय का सर्वाङ्गीण कार्य किया जाय जिससे व्याकरण शास्त्र भी पुष्पित और पल्लवित हो सके।

(१) Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar [जिसमें बौद्धों के संस्कृत प्रयोगों पर पुष्कल विचार किया गया है] में कहा गया है कि भविष्यकाल में (उद्देश्य और इच्छा का ज्ञापन जिससे होता है) अक प्रत्यय का व्यवहार संस्कृत में होता है, ऐसा

ग्रन्थकार को ज्ञात नहीं है (सेक्सन २२।२)।[1]

सामान्य दृष्टि से ही प्रतीत होता है कि यह मत अज्ञताप्रसूत है। भगवान् पाणिनि ने 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) सूत्र में भविष्यकाल में उसी अर्थ में ण्वुल (= अक प्रत्यय) का विधान किया है। 'भोक्तुं व्रजति' के अर्थ में 'भोजको व्रजति' का प्रयोग होता है, जो भविष्यकाल में (इच्छा के ज्ञापन के साथ) ही प्रयुक्त होता है।

पाश्चात्य वैयाकरणों के वैज्ञानिक अध्ययन (!) का यह एक निदर्शन है।

(२) हमारे एक मित्र ने 'बृहत् कथा श्लोक संग्रह' (बुद्धस्वामिकृत) नामक ग्रन्थ के कुछ श्लोकोंपर Lacote नामक एक फ्रेंच विद्वान् की कुछ टिप्पणियों का हिन्दी में अनुवाद कर हमारे विचार के लिये भेजा है। उन टिप्पणियों से पता चलता है कि भारतीय विद्वानों को घोर परिश्रम कर पाश्चात्य विद्वत्कृत कार्यों की समीक्षा करनी चाहिए। एक उदाहरण इस प्रकार है—

फलं यदि च धर्मस्य सुखमीदृशमिष्यते ।
धर्मस्याभवनिर्भूयात् तत् फलस्य सुखाय च ॥
(१८।२६)

यहाँ Lacote महोदय ने 'धर्मस्य अभव-निर्भूयात्' ऐसा पदच्छेद मानकर (अभव = सत्ता का अभाव; निर्भूय का अर्थ उत्पत्ति का अभाव) अर्थ करने की चेष्टा की है, जो बहुत ही हास्यकर है। वस्तुतः यहाँ 'धर्मस्य अभवनिः भूयात्' यह पदच्छेद है, जिससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अभवनि = 'न होना' यह आक्रोश में सिद्ध होता है (अष्टा० ३।३।११२) और यहाँ आक्रोश अर्थ ही संगत होता है।

(३) A History of Sanskrit Literature ग्रन्थ (पृ. १९) में कीथ ने लिखा है कि शंकराचार्य ने 'उपपद्येतराम्' कहा है। कीथ ने इस प्रयोग पर कटाक्ष किया है। वस्तुतः किसी आचार्य के लिये अपने लिये 'अहम् उपपद्येतराम्' कहना उचित नहीं कहा जा सकता, और हम भी इस मत को मानते हैं।

पर हास्य की बात तो यह है कि शंकर ने कहीं भी 'उपपद्येतराम्' कहा नहीं है। शांकरभाष्यों का बहुधा पारायण कर मैं इस सत्य की घोषणा करता हूँ। यों 'उपपद्यतेतराम्' पद कई स्थान पर प्रयुक्त हुआ है (१।१।२४ सूत्र भाष्य इत्यादि)।

हम कीथ को किस शब्द से धन्यवाद दें!

---

(१) The Suffix अक is used with rather specialized verbal force in a way not to my knowledge quite paralleled in Samskrit, referring...to the future (intending to, for the purpose of) See Sec 22. 2.

धर्म्म और राजनीति

[रचयिता—डाक्टर श्री हरिशङ्कर जी शर्मा, डी० लिट्]

जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है,
बढ़ता अधर्म्म अन्धेर-अँधेरा छाता है।
जो लोक और परलोक-सिद्धि का साधक है;
'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' का आराधक है,
जिसमें संकीर्ण भावना कभी न आती है;
जिसकी प्रभुता प्रतिक्षण पीयूष पिलाती है,
वह परम तत्त्व सर्वथा भुलाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

सद्धर्म्म सदा सुख-शान्ति-सुधा बरसाता है;
नय-न्याय-नीति का शुभ सन्मार्ग सुझाता है,
'मानवता' में वर बन्धु भाव उमगाता है;
वसुधा का बृहत् कुटुम्ब रूप दरसाता है,
इस विधि-विधान में सार न पाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

अत्याचारों से भूमि काँपने लगती है;
सोती सुनीति, दुर्नीति दानवी जगती है,
तब स्वार्थ-असुर दुर्दम्भ-दर्प दिखलाता है;
निजता-परता का क्षुद्र भाव भरजाता है,
मानव मानवता पर विष-वज्र गिराता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

मत-पन्थ, सम्प्रदायों को धर्म्म बताते हैं;
वे अज्ञ 'दीप' को 'दिनकर' कह भरमाते हैं,
क्या कभी धर्म्म-ध्रुवता ने युद्ध कराए हैं,
कब 'सत्य' 'अहिंसा' ने नर-रक्त बहाए हैं,
विपदा-वारिधि में, विश्व डुबाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

संग्राम-भूमि में तोपें आग उगलती हैं;
अगणित लोगों की देहें जीती जलती हैं,
होकर अनाथ लाखों जन घुट-घुट रोते हैं;
भूखों मर-मर कर, प्राण करोड़ों खोते हैं।
दुर्भिक्ष दुष्ट दानव, मानव-दल खाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

शासन-सत्ता जब धर्म्म-युक्त हो जाती है,
बन कर विनीत, अति सौम्य रूप सरसाती है,
जनता भी नैतिकता को ही अपनाती है;
तब शान्ति-कान्ति नित सुख-समृद्धि बरसाती है,
सद्भाव-स्नेह का दृढ़ गढ़ ढाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म हटाया जाता है।

सभा और समिति

[ले०—श्री पं० अलगूराय जी शास्त्री, सदस्य विधान परिषत्]

हमारी विधाननिर्मातृसभायें और उनकी अनेकानेक समितियाँ हम सबके सामने हैं। उनसे हमारा नित्य ही काम पड़ता है। विश्व भर में इन सभाओं और समितियों का भारी मान पाया जाता है और इनके सदस्य माननीय, आनरेबुल आदि लुभावने विशेषणों से सम्बोधित होते हैं। अनेक प्रकार के विशेषाधिकारों से यह सभायें और समितियाँ तथा इनके माननीय सदस्यगण सुरक्षित एवं संरक्षित होते हैं। इनके सम्मान के विरुद्ध कुछ लिखा या कहा जाय तब विशेषाधिकार के प्रश्न का सामना ऐसे लेखक और वक्ता को करना पड़ सकता है और ऐसे अपमान-कारक अपराधी को 'बार आफ दि हाउस' सदन के न्यायालय के समक्ष खड़ा किया जा सकता है।

सदन के कक्ष में—सदन की बैठकों की अवधि में न्यायालयों के वारण्ट भी सदस्यों पर नहीं ले जाये जा सकते। उक्त अवधि में माननीय सदस्यों को न्यायालय में उपस्थित होने के लिए भी बाधित नहीं किया जा सकता जब वह सदन के भीतर हों। इस प्रकार इंग्लैण्ड की संसद (पार्लियामेण्ट) ने जो मान्यता अपने सदस्यों को दी है, प्रायः सर्वत्र जनप्रतिनिधियों को उसी प्रकार की मान्यतायें प्राप्त हैं।

इन सभाओं और समितियों का यह सम्मान, इनके सदस्यों का यह मान और प्रतिष्ठा जिन कारणों से है वह विचारने योग्य हैं। जनहित की दृष्टि से इन्हीं सभाओं में विधि-विधान बनते हैं। उनका पालन प्रजा मात्र के लिये अनिवार्य होता है। "मुझे इस विधि, इस अधि-नियम का ज्ञान नहीं था" यह कह कर कोई भोला बन विधि की अवहेलना के कारण दिये जाने वाले दण्ड से बच नहीं सकता। प्रत्येक को—

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुणव्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि ॥

के शब्दों में राजविधान का विना प्रमाद पालन करना पड़ता है। वरुण का व्रत उसी तत्परता से पालन होता है जैसे विश (प्रजा) राजा के विधियों का पालन करती है।

प्रजा मात्र के लिये जो आदेश, नियम, अध्यादेश और विधि इस प्रकार अप्रमत्त रूप में पालनीय हैं, उनकी निर्मातृसभायें कितने प्रतिष्ठा की पात्र होंगी यह सहज ही कल्पना की जा सकती है। इसी से उन सभाओं और समितियों के सदस्यों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

अथर्ववेद के स्वाध्याय से इस सम्बन्ध में बड़े मौलिक बोध प्राप्त होते हैं। हम 'वेदवाणी' के पाठकों के समक्ष कुछ मन्त्र अथर्व श्रुति से उद्धृत करते हैं।

सभा च मा समितिश्चावतां
प्रजापते दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः सङ्गतेषु ॥ ७।१२।१॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥
७।१२।२॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥
७।१२।३॥
यद्वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥
७।१२।४॥

इन पावन मन्त्रों में शासन व्यवस्था की विधान-निर्मातृसभा-समितियों के स्वरूप, कर्त्तव्य, अधिकार आदि का सुन्दर चित्रण है। यदि विश्व भर के प्रजातन्त्रीय ढाँचों में विधान बनाने वाली सभा समितियाँ इन मन्त्रों की प्रेरणा के अनुरूप बनें तो शासन निर्दोष और पुनीत हो जाय, कारण कि शासन का प्रमुख आधारभूत अंग विधि-विधान बनाने वाली सभायें और समितियाँ ही होती हैं।

(१) सभासमितियाँ प्रजापति की पुत्रियों के समान हैं। शासक की यह कन्यायें हैं—परम सम्मान की पात्र हैं। इनके समक्ष किसी को भी किसी प्रकार की अशिष्टता का व्यवहार नहीं करना चाहिये। शान्तिपूर्ण वातावरण में ज्ञानी सदस्य उचित बातें कहें, सुनें। संगत होकर

साथ बैठकर विचार विमर्श करें—मधुर बोलें जिससे लोगों को शिक्षा मिले। ये सभा समितियाँ प्रजा की रक्षा करें—समाज को सुरक्षित रखें। यही इनका मुख्य प्रयोजन है।

इन सभाओं समितियों में जब कोई सदस्य उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करता है—अशोभनीय वचन बोलता हैं, तब सभाध्यक्ष इसी कारण आर्डर आर्डर (सावधान सावधान) के शब्दों में कड़ी चेतावनी उस सदस्य को देता है कि उसे प्रजापति की पुत्रियों के सम्मुख अविनयशील नहीं होना चाहिये। मातृशक्ति के लिये सम्मान की भावना का क्या स्थान वैदिक साहित्य और वैदिक जीवन में है, यह इस प्रसङ्ग पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है। श्रुति ने सभा समिति को प्रजापति की पुत्रियों की उपमा देकर उनमें सुव्यवस्था रखने, शान्त वातावरण स्थापित करने, मर्यादा पालन का महत्त्व बतलाने की प्रेरणा दी है।

सभा समितियों के भीतर पितर गण संगत हों—यह बताकर—चारु वदानि पितरः संगतेषु—के वचन का प्रयोग कर श्रुति ने कहा है कि श्रेष्ठ, ज्ञानी, पूज्य पिता-माता के समान सम्मान पाने की योग्यता रखने वाले ही इनके सदस्य हों। इससे सदस्यों की योग्यता का एक अनिवार्य माप-दण्ड हमारे सामने आता है। आज की हमारी इन सभाओं में प्रजातन्त्र के नाम पर, वयस्क मताधिकार के नाम पर अयोग्य अपठित व्यक्तियों की बड़ी संख्या देखी जाती है। कोई भी योग्यता का माप-दण्ड सदस्यों के लिये नहीं रखा जाता है। जाति-पाँति-दलबन्दी और दलगत राजनीति को आधार बनाकर मताभिलाषी मतदाताओं को रिझाकर—फुसलाकर इनमें घुस जाता है और फल यह होता है कि इन सभाओं के भीतर वाद विवाद के बखेड़े ही रहते हैं। विचार विमर्श में मधुमय आनन्द नहीं आता। मारपीट के दृश्य—सभा से हठात् सदस्यों को उठाकर निकलवाने की आज्ञा तक सभाध्यक्षों को देनी पड़ती है। यदि सदस्य के चयन में उनके "पितर" स्वरूप का ध्यान रखा जाय तो वर्तमान का जो अनभिवाञ्छित दृश्य प्रायः संसार और प्रदेशीय विधानसभाओं में देखा जाता है वह बहुत कुछ कम हो जा सकता है।

(२) ये सभायें समितियां नरिष्टा नामक हैं। नरश्रेष्ठों से निर्मित होनी चाहियें—हमारे जनप्रतिनिधि श्रेष्ठ नरों में से ही होने चाहियें। मत के बल पर कुत्सित जनों को इनमें स्थान प्राप्त हो सके, ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। ये सदस्य सवाचस हों। अर्थात् एक दूसरे की भाषा को समझने वाले हों। ऐसा नहीं कि एक बोले तो दूसरा समझे ही नहीं।—ते मे सन्तु सवाचसः—के शब्दों में यही सत्य प्रकाशित किया गया है। सदन की एक भाषा हो—ऐसी जिसे सब समझें। इस स्थान पर उत्तरप्रदेश विधानसभा में श्री माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन जी की दी हुई एक व्यवस्था का उल्लेख करना रुचिकर और शिक्षाप्रद होगा। १९३७ और १९३८ के बीच उत्तर प्रदेश विधानसभा में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कोई माननीय सदस्य किस भाषा में बोले। श्री टण्डन जी ने कहा था–माननीय सदस्यों का यह अधिकार है कि जो कुछ कहा जाय वह उनकी समझ में आने वाली भाषा में हो। जो सदस्य अंग्रेजी नहीं समझते उनको हिन्दी में भाषण की माँग करने का अधिकार है। भाषण देने का ही अपनी मातृभाषा में माननीय सदस्यों का अधिकार नहीं है, अपितु उन्हें दिये गये भाषणों को समझने का भी अधिकार है। अतः उत्तरप्रदेश विधानसभा की भाषा हिन्दी है।

सवाचसः का सुन्दर सारगर्भित शब्द टण्डन जी की व्यवस्था को सार्थक और न्यायसंगत प्रमाणित करता है।

इस मन्त्र में नरिष्टा नाम से सभा को सम्बोधित करके एक बार पुनः सभा के सदस्यों की योग्यता का महत्त्व दर्शाया गया है। इन सभाओं में नरश्रेष्ठों को ही स्थान मिलना चाहिये। अयोग्य-निम्नस्तर के लोगों को नहीं, कारण कि इसके बिना सभाओं की मर्यादा प्रतिष्ठा न रहेगी। इनके द्वारा बनाये विधि-विधेयक उपयुक्त न होंगे। संकुचितता और निकृष्ट स्वार्थपरता ही का बोल बाला होगा।

(३) इन सभा समितियों में समासीन होकर सदस्य बैठें—एक समान आसन वाले सब हों—इनके द्वारा जो ज्ञानचर्चा होती है उससे प्रजामात्र को संबोध तथा वर्चस्विता मिलती है। उनके मुखमण्डल की आभा, उनके वचनों से बरसने वाले ज्ञान की रसधार जनता को ओज से भरने वाली, कर्तव्यपथ में आरूढ़ करने वाली सिद्ध हो और

उनकी चेतावनियाँ उसे सत्पथ पर चलानेवाली हों, अज्ञान हटाने वाली हों।

यहां भी वही बात दुहरायी गयी है कि सदस्य-गण वर्चस्वी हों—ज्ञानी हों—यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति—देदीप्यमान व्यक्तित्व वाले ज्ञानी जन ही सभाओं और समितियों की शोभा हैं। सामान्य नारी भी सत्पुरुष का ही वरण करती है। तब भला प्रजापति की दुहितायें कुत्सित जनों को मताधिकार के आधार पर अपने बीच किस प्रकार स्थान दे सकती हैं? व्यक्तित्व की वर्चस्विता और मानस शक्ति की विचक्षणता सदस्यों की आवश्यक योग्यता का मापदण्ड श्रुति ने निर्धारित किया है। हम कहाँ आज अपने निर्वाचनों में इन शुभ सिखावनों पर ध्यान देते हैं? हमें तो अपने दल को विजयी बनाने के लिये 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' की कुत्सित नीति को कार्यान्वित करके अधिक व्यापक रूप में इनकी मान जान है, यही जीत सकेंगे, इत्यादि दूषित तर्कों से काम लेने की रहती है। इसी कारण हमारी सभाओं में वह उच्च स्तर नहीं देखा जाता जिसकी ओर श्रुति की इंगिति है।

(४) अन्त में भगवती श्रुति की प्रेरणा है कि हमारे सभा समिति-सदस्य गण परम कर्त्तव्य परामण है—वह सभा समिति में बैठे विचार विमर्श कर रहे हों—प्रस्तुत विषय पर बोल रहे हों, सोच रहे हों—अथवा सभा से बाहर इधर-उधर यात्रा में हों—चाहे जहां हों—उनका मन हमारे हित में ही संलग्न हो। प्रजा के कल्लाण में ही सदस्यों का समस्त चिन्तन और समस्त कार्यकलाप सदा रहे।

हमारी शासन सभायें-समितियां अथर्ववेद के इन आधारों को लेकर निर्मित हों तो मानवता का कल्याण हो—ऐसा ही हो, यही कामना है॥

भारतीय संस्कृति बनाम अफ्रीकी संस्कृति

[*ले०—श्री वा० विष्णु दयाल जी, मारीशस*]

अफ्रीकी महाद्वीप के एक एक देश को स्वतन्त्रता मिल रही है। हमारा विश्वास था कि नव भारत अफ्रीका का उत्थान करने में योग दान देने वाला था। अफ्रीकियों ने अपने युद्ध को इस कौशल से किया कि विलायतियों को उनके सामने उसी तरह झुकना पड़ा जिस भांति वे महात्मा जी के सामने नतमस्तक हुए। विश्वविख्यात इतिहासकार श्री टोइनबी ने इसी साल भारत में कहा था† कि महात्मा जी ने विलायती शासकों का भारत में ठहरना असंभव कर दिया था।

अफ्रीका का नाम संसार भर में लिया गया, जब मिश्र ने वीरतापूर्वक विलायत और फ्रांस का सामना किया। प्रवासियों को स्मरण है कि अनेक पत्रों ने लिखा था कि उस समय नेहरू जी नासिर के प्रतिस्पर्द्धी हो गये थे।

जगद्गुरु कौन?

अफ्रीकियों को प्रगति करते पा कर कुछ यूरोपीय कहने लगे हैं कि प्राचीन काल में अफ्रीका जगद्गुरु था, न कि भारत।

अश्वेत जातियों के मध्य भारतीय और अफ्रीकी—दोनों आते हैं। हमें इस बात से कोई एतराज नहीं कि भारत को जगद्गुरु का उच्च स्थान दिया जाय या अफ्रीका को यह प्राप्त हो।

परन्तु जब तक यह प्रमाण न मिले कि अफ्रिकियों ने संसार को वेद के समान कोई अद्भुत ग्रन्थ दिया, हम कैसे कुछ लोगों की इस धारणा का समर्थन कर सकते हैं। 'गुरु' ज्ञान देने वाले का नाम है। वेद ज्ञान का भण्डार है। वेदज्ञान से भारत ने ही विश्व को उपकृत किया है।

† "Mahatma Gandhi", Said Prof. Toynbee who was delivering the third and concluding of his Azad Memorial Lectures, arranged by the Indian Council for Cultural Relations, "had made it impossible for the British to continue ruling India".

—The Overseas Hindustan Times, March 10, 1960.

यह सर्वविदित है कि अफ्रीका में उच्च सभ्यताएँ रही हैं। क्योंकि आरम्भ में ही मिश्र का नाम लिया गया, उसी देश की सभ्यता का सब से पहिले उल्लेख करना ठीक होगा। डार्विन के साथी वेलेस ने लिखा है* कि मिश्र की सभ्यता का सर्वाधिक महत्त्व है क्यों कि वह वैज्ञानिकोन्नति का पहिला नमूना है।

माली में जो इस समय सेनेगाल, मोरेटानिया तथा फ्रांसीसी सुदान नामों से जाना जाता है, चौदहवीं सदी में ऐसी सभ्यता थी जो उसे विश्व में मान पाने के योग्य बनाती थी। टिम्बकटू एक जमाने में अरबसंस्कृति का महान् केन्द्र था।

मिश्र तथा माली की सभ्यताएँ अतिप्राचीन और श्रेष्ठ रही हैं, इस में सन्देह नहीं। किन्तु ये सभ्यताएँ बाहर से आईं। "मिश्र की प्राचीन सामग्रियों में भारतीय नील तथा लकड़ी पायी गई।···भारतीयों ने मिश्र के लिए समुद्री मार्ग खोज निकाला। मिश्र में टोलेमी के निरीक्षण में पहली बार स्वेज नहर खोदी गई···हिपालस की खोज से पहले मिश्र के बन्दरगाहों से भारत पहुँचने वाले जहाजों की संख्या ४० से अधिक नहीं होती थी। अब इनका औसत एक जहाज प्रतिदिन हो गया।"†

काला समुद्र

अफ्रीकी सभ्यता प्राचीनतम सभ्यता है, यह मानने वाले कहने लगे हैं कि यदि अफ्रीकी पहुँचे हुए न होते, यदि उनका दुनियाँ में दबदबा न हुआ होता, तो एक समुद्र विद्यमान न होता जिसका नाम काला समुद्र है।

हम जानते हैं कि एक और समुद्र भी है जिसका नाम लाल सागर है। क्या यह अमेरिकी भारतीयों का नाम सुरक्षित रखने वाला सागर है? उत्तर नकारात्मक ही होगा। नाम कई कारणों से रखा जाता है। इस सागर विशेष का नाम 'लाल' पड़ा क्योंकि इसके इर्द गिर्द लाल पर्वत हैं। अन्य कारण भी हैं।‡

यह भी बताया गया कि मानवसृष्टि दक्षिण अफ्रीका में हुई, वहाँ ऐसी मछली मिली जिसका वंश पचास हजार साल से विद्यमान है। उस मत्स्य विशेष का नाम काएलकण्ठ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अफ्रीका की भूमि अति प्राचीन है, पर उसके अति प्राचीन होने से हम नहीं कह सकते कि उसने सर्वप्रथम संसार को शिक्षा दी। अफ्रीकियों की यात्रा का वर्णन नहीं मिलता। भारतीय तो यात्रा करते रहे। वे पोत निर्माण करते रहे हैं। उनके जहाज दूर-दूर जाया करते थे,⊥ उनकी साहित्यिक

---

* Egyptian civilization is the most important because it presents us with the most definite proof of a high degree of what is especially scientific attainment at the very dawn of scientific knowledge.

Dr. Alfred Russel Wallace, Social Environment and Moral Progress, p. 617.

† दि. ९ जनवरी १९६० के "योगी" से।

‡ There are several reasons why the Red Sea is so called, none of them satisfactory :—
(1) algae growth is supposed to give it a reddish tone; (2) the mountains surrounding the sea are reddish in colour and this colour is reflected in the sea; (3) the ancient Romans called the whole Indian Ocean the "Erythrean Sea' and the word "erythra" means red. In any case, the Red Sea is no more red than the Blue Danube is blue.

—Commander M. W. Cagle, U. S. N.

⊥ In the third century A. D. 247, the Periplus (Mc Crindle 17, 52, 64, 96, 109) notices :— "Large Hindu ships in the East African, Arab and Persian ports and Hindu settlements on the north coast of Socotra".

—the Late R. Bahadur G. V. Joshi. (the Modern Review, February, 1908)

In 166 A. D., a Roman emperor is reported to have gone to China by sea, taking with him ivory, rhinoceros horn and other articles of western India.

In the 11th. century, Alberuni notes that Somnath and Cutch were the centres of trade between Sofala in east Africa and China. In the 12th. century, the traders of Java could have contacts with the people of Madagascar because of the Gujarati settlements in Java as well as in Madagascar.

कृतियों में जो जो बातें आती हैं, वे संसार के कोने-कोने में फैली हैं जिससे यह सिद्ध करना कि भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों का स्रोत है, सहज होता है।

भारतीय समुद्रयात्रा करते थे ही। वे पैदल यात्रा करके भी दूर-दूर पहुँचते थे। खाना-बदोश जाति के बारे में कई लेख और ग्रन्थ छपते रहते हैं। फिर भी कम लोगों को ज्ञात है कि यह जाति भारत से यूरोप गई है। यह ऐसी भाषा बोलती रही है को हिन्दी के समान है। यह चौदहवीं सदी से ही यूरोप में पहुँची और विलायत में दो शती पश्चात्। इसके काले रङ्ग से ही मालूम होता है कि यह यूरोप की जाति नहीं लगती। इसकी भाषा का नाम रोमेनी पड़ा और यह प्राकृत से व्युत्पन्न है।*

पुराणों में अफ्रीका का उल्लेख

जिस देश के लोग १६वीं शताब्दी तक विदेश यात्रा करते थे, क्या वे उससे पूर्व भारत से बाहर जाना मंजूर न करते होंगे?

संस्कृत ग्रन्थों में अफ्रीका का उल्लेख न होता, यदि वहाँ तक भारतीय न पहुँच गये होते। जिस नाइल नदी का नाम पुराने जमाने से लिया जा रहा है उसे फ्रेञ्च में "नील" कहा जाता है जो उसके संस्कृत नाम†

Even when domination of the sea had passed to the Europeans, Gujarati Hindus continued to show marked courage and skill as merchants, seamen and pirates. It is clear that the main cause of the fabulous wealth of Gujarat was not so much the fertility of its land, as the commercial enterprise of its people. Hiuen Tsiang has referred to it in case of Broach and Vallabhi and we find the author of Nabhinandanoddhar Prabandh saying that all people residing in Gujarat made a lot of money with little effort because of its sea-coasts.

(Caravan Special issue on Gujarat)

* It has not been established with sufficient accuracy when the Gypsies left India, their original home.

Their language developed out of Prakrit, from which the modern Indian languages of North and Western India are also derived.

—The Leader Weekly, Sunday, 13-9-59.

The language of the Gypsies, Romany, is certainly a Hindi dialect mixed with other tongues. The Gypsies are most common in Europe, having appeared in the Eastern portions of the continent about the 14th. century, finding their way to England at the beginning of the 16th. c. They give evidence of their Eastern origin in their dark skins, large black eyes, black hair, and pearly white teeth, they are born wanderers, and pass from place to place following certain small occupations......

—Pears Encyclopaedia.

† It appears that the ancient Indians had extensive commercial dealings with Africa and in the course of their commercial ventures they had to find out the very sources of the river Nile in Egypt and a lot of geographical information was embedded in the Puranas which nobody could discover till now. The discovery of the sources of the Nile engaged the attention of many British explorers who could not succeed. It was only very recently Lt. Col. Speke was able to discover the sources of the Nile from a map which was constructed on the information given in the Puranas by Col. Wilford in his Asiatic researches. In his book "On the Discovery of the sources of the Nile" Speke stated that the information which the Puranas contained about the sources of the river Nile was so accurate that when planning his discovery of the sources of the Nile, he secured best information from a map reconstructed out of a map drawn by Col. Wilford from the information contained in the Puranas. This map traced the course of the great river Nila-krishtna, through kusadipa, the ancient Indian name for Africa, from a great lake in chandrasthana. It has therefore been abundantly proved that the statements contained in the

से मिलता जुलता है। संस्कृत में इसे नील-कृष्ण कहा गया था। भारतीय ग्रन्थ पुराण में यहाँ तक लिखा गया है कि यह नदी चन्द्रस्थान से निकलती है।

भारतीय संस्कृति का अफ्रीका में दूसरी संस्कृतियों की अपेक्षा पहिले प्रवेश हुआ है। अन्य संस्कृतियाँ आईं और चली गईं। असंख्य अफ्रीकी मुस्लिम हैं तो सही परन्तु वे अरब संस्कृति से अति दूर हैं। सांस्कृतिक गौरव के स्वर्णयुग में टिम्बकटू और कुछ था। "वह वर्तमान टिम्बकटू से कई गुना विशाल था। यहाँ एक विश्व-विद्यालय भी था, अनेक जातियों एवं सभ्यता के ज्ञान से परिपूर्ण कई भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थ इस विश्व-विद्यालय में थे। देश-देश के विद्वान् ग्रीक और लैटिन भाषाओं तक का अध्ययन करने के लिए यहाँ आते थे।" †

भारतीय संस्कृति की छाप

भारतीय संस्कृति की छाप तो अफ्रीकियों की एक-एक प्रथा पर है। अफ्रीका की खोज करने के लिये यूरोपीय वन वन में घूमते रहे। जिन में लिखने का सामर्थ्य है वे बार-बार अफ्रीकियों के रिवाजों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ रचते रहे हैं। आर्य्यसमाज के धर्मोपदेशक अफ्रीका की यात्रा करते रहे। उन्होंने वहाँ देखा कि मसाई जाति के कई लोग तथा समस्त किकुयु जाति तो इस बात में भी विश्वास करती है कि मानव द्विज हुआ करते हैं। ‡ इस जाति के कई लोग मांस भक्षण नहीं करते।

आज कल राष्ट्र-राष्ट्र में बच्चों का जन्म लेना हर्षोत्पादक नहीं समझा जा रहा है। केवल मद्रास में बीस हजार स्त्रियाँ बाँझ बना दी गई हैं। किकुयु जाति तो बच्चे का जनन आर्यों की भाँति ही उत्तम कर्मों में गिनती है।

कुछ परिवर्तन कर के अफ्रीकी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। परिवर्तन का आना स्वाभाविक है। अफ्रीकी सहस्त्रों वर्ष भारतीयों से दूर रहे और अशिक्षित बने रहे।

वेदवाणी

अफ्रीका के वनों में इस समय भी यज्ञ होता है जिसमें प्रधान पुरोहित कुछ शब्द उच्चारित करता है। उसका एक वचन है। "मृत्यु आप के अधीन है।" † इसे अथर्ववेद के निम्न मंत्रांश से मिलाइये।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि। अ० ६।१३३।३॥

ढाई वर्ष में एक सन्तान

गृहस्थ पचीस वर्ष तक एक-एक आश्रम में रहते हैं, अतः उनके दस सन्तान हो सकते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि—"दशास्यां पुत्रानाधेहि, (तू) इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर।" (ऋ० १०। ८५। ४५) अभी तक कई अफ्रीकी ढाई साल में एक ही बच्चा जनने का रिवाज चला रहे हैं।*

Puranas with regard to the various places of the world, with which the ancient Indians had commercial dealings are geographically correct.

—S. Bhimashankara Rao, Quarterly Journal of the Andhra Historical Research Society.

† "नवनीत", मार्च १९६० ई०

‡ A circular piece of goat-skin or sheep-skin is passed over one shoulder and under the other arm of the child who is to be born again.

Men are even met with to whom all meat is forbidden.

The Kikuyu may be looked upon as essentially vegetarian.

It is great work to have borne a child.

There is a modified belief in the transmigration of souls, for in addition to the spirits which move about freely, there are some which have passed into particular forms of animal life.

—Scoresby and Catherine Routledge, "With a Prehistoric People".

† The chief priest says solemly :—"Death is in your keeping".

—Rev. A. B. Lloyd, "Uganda to Khartoum".

* Children follow each other regularly to an interval of two and a half or three years.

In former times lads used to enjoy their youth in carelessness and pleasure, going to dance in all the village, till they were 25 years old.

आर्यों की ही भांति अफ्रीकी अपने पुत्रों का विवाह तब करते थे जब वे पचीस साल की उम्र के होते थे। राजकुमार रामचन्द्र की उम्र २५ साल की थी जब उनका विवाह राजकुमारी सीता से हुआ था जो १८ साल की उम्र की थीं।

आर्यों से बहुत लम्बे अर्से से अलग हो जाने पर भी अफ्रीकी हवन करते थे किन्तु उसका महत्त्व उन्हें मालूम न था। वे न केवल प्रातः अपितु सायं भी हवन यज्ञ किया करते थे।

ज़िनोद नामक ग्रन्थकार मानता है कि अफ्रीकी उन्नति न करते रहे। वे पहले उन्नत दशा में थे, तब गिरे।

यहाँ अफ्रीका और भारत में सादृश्य देखने में आता है। श्री मोर्टीमर ह्विलर ने अपने नये ग्रन्थ "आदि भारत और पाकिस्तान" में दर्शाया है कि "भारतीय सागर की संस्कृतियों में अर्थात् भारत, अफ्रीका और अरब की संस्कृतियों में ऐक्य पाया जाता है।"†

अफ्रीका अति दूर न था। वहाँ भारतीयों का समय-समय पर प्रवेश हुआ, तभी तो भारतीय धर्म का इतना प्रचार हुआ कि अफ्रीकी मानने लगे कि आत्मा अमर है, हम मर कर फिर जन्म लेते हैं।

वेद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

पश्चिमी लेखक लिखते आ रहे थे कि बौद्ध काल में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की हिन्दुओं द्वारा चर्चा होने लगी थी। इन पंक्तियों के लेखक ने वेद का एक मन्त्र अपने एक लेख में दिया जो पैरिस की एक पत्रिका में छपा। अमेरिका में वह लेख उद्धृत हुआ और डा० स्टीवेनसन नाम वाले अमेरिकी को मानना पड़ा कि सर्वप्रथम वेद में ही इस ओर संकेत किया गया है।

अभी हाल ही में मानस-शास्त्रियों ने विल्हम जेम्स के सम्मानार्थ ऐसे निबन्ध लिखे थे जिनसे मनोविज्ञान कैसे नयी दिशा में जा रहा है, यह प्रकट हो। डा० स्टीवेनसन को ही सर्वोत्तम निबन्ध लिखने का यश प्राप्त हुआ, अतः वे पुरस्कृत हुए। उन्होंने निबन्ध के आरम्भ में ही इन पंक्तियों के लेखक को अन्य कई लेखकों के साथ धन्यवाद दिया है।‡ यह निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है और समस्त संसार में पढ़ा जा रहा है। यह भ्रान्ति कि वेद का पुनर्जन्म से कोई वास्ता नहीं है अति शीघ्र दूर हो जायेगी।

अफ्रीका में ही नहीं, प्रत्युत अन्यत्र भी हमारे धर्म का प्रचार होता रहा। शेष संसार लघु भारत ही है।

They find on the road a fire made of very scented wood. When they smell the smoke, they must jump over it. Their hair is cut.

They come back at sunset, stab the Elephant (the fire places built with stones are called Elephants).

How far can the actual South African Bantu be called primitive ?

—Henri A. Junod, "The Life of a South African Tribe".

† Reference is made by Sir Mortimer Wheeler in his recent book "Early India and Pakistan" to "the unity of 'The Indian Ocean' Cultures—the Cultures of Africa, Arabia and India."

—The O. Hindustan Times for March 24, 1960.

‡ The idea of reincarnation appears early in the history of philosophy. Refernces to it occur in the Vedas of ancient India (I am warmly grateful to a number of correspondents who have contributed helpfully to the collection of data reviewed in this paper and to its analysis. For accounts of cases or additional information about cases I wish to thank Mis Joan Grant, Prof. B. Bissoondayal, Dr. Blanche Baker......)

The Evidence for Surival from Claimed Memories of Former Incarnations. The Winning Essay of the Contest in Honour of William James.

By Jan Stevenson, M. D. Reprinted from the Journal of the American Society for Psychical Research, April 1960.

इन दिनों में भी श्रेष्ठ फ्रेञ्च लेखक ऐसी कहानियाँ लिख रहे हैं। जिनमें पुनः जन्मे हुए लोगों की चर्चा की जा रही है। आँद्रे मोरूआ उनमें से एक हैं। वे लिखते हैं कि एक नव विवाहित दम्पति सैर कर रहा था जब कि पत्नी पति से कहने लगी, ठहरो। वह जाकर एक कमरे को देखती है और पहचान लेती है कि पूर्व जन्म में उसमें रहती थी।‡

ज्ञान दाता भारत ही रहा। भारत का स्थान न अफ्रीका ले सकता है न कोई अन्य महाद्वीप।

मिश्र में कण्व ऋषि

क्या अभी तक कोई बता सका कि किसी भी युग में कोई अफ्रीकी विद्वान् भारत पधारे थे और उन्होंने भारतीयों को अफ्रीकी ज्ञान से परिचित कराया था ?

भारत से तो ऐसे ज्ञानी मिश्र पधारे थे, भविष्य पुराण में अनेक श्लोक हैं जो वर्णित करते हैं कि कण्व ऋषि ने वहां पधार कर हजारों को अपने धर्म की दीक्षा दी थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इस समय के 'मिश्र' उन्हीं अफ्रीकियों के वंशज हैं।

अफ्रीकी कथाएँ

भारत से न केवल भारतीय धर्म भारतेतर देशों में पहुँचा अपितु भारतीय कथाएँ भी उन देशों की लगातार यात्रा करती रहीं। मैकडानल के कहने पर भी कि भारतीय कथा ही अफ्रीकी कथा बनी* लोग रट लगाते रहे कि कम से कम 'टार-बेबी' की कथा तो अफ्रीकी है।

सचाई का तब पता चला जब अमेरिकी दूतावास के सांस्कृतिक मामलों के अधिकारी श्री जोन टी रीड का तत्संबंधी लेख अनेक भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। वे लिखते हैं :—

"निस्सन्देह भारत विश्व भर के लिए लोक-कथाओं और कहानियों का 'सरित्सागर' महान् जादुई स्रोत रहा है। ईसप की कहानियों से लेकर बोक्कासिओ और चॉसर तक पश्चिमी साहित्य की अनेक प्राचीन कथाओं का उद्गम-स्रोत भारत ही रहा है।

मैं 'टार-बेबी' की सुविख्यात कहानी के उन सभी रूपों का संकलन कर रहा था, जो कि उपलब्ध हो सके थे।

कहानी है कि एक चोर चूहा चिपचिपे तारकोल से बने एक सुन्दर लड़की के चित्र में उलझ जाता है—क्रम से उसका प्रत्येक पंजा और फिर उसका सिर उसमें उलझ जाता है।

बहुतों की धारणा थी कि यह अमेरिकी नीग्रो जनों द्वारा स्वयं गढ़ी गयी दन्त-कथा है, किन्तु खोज से पता चला कि इस कथा के मूल-तत्त्वों के प्राचीनतम रूप भारत में उपलब्ध थे।

जातक-कथाओं में जिनकी रचना सम्भवतः दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी, एक कथा (काउल्स संग्रह, सं. ५५) है, जिसमें एक भयंकर जंगल में एक मानव-भक्षी दैत्य के साथ बोधिसत्त्व के युद्ध की कहानी कही गई है। दैत्य के साथ वीरता पूर्वक युद्ध करने के पश्चात् अन्त में बोधिसत्त्व ने उसे अपने हाथ, पैर और सिर से धर दबाया। किन्तु ऐसा करने में उनके हाथ, पैर और सिर दैत्य की चिपचिपी खाल में चिपक गये।

हमने 'टार-बेबी' की कहानी के विविध रूपों का संग्रह तैयार किया जिसमें कितनी ही उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका से और बहुत-सी अफ्रीका से प्राप्त हुई थीं। इस सम्बन्ध में सामान्य मान्यता यह थी कि इस कहानी का उद्गम-स्थान भारत था, जहाँ से अरबों ने उसे अफ्रीका पहुँचाया; अफ्रीका से नीग्रो दासों के साथ वह अमेरिका पहुँची।

एक दिन १८५७ में प्रकाशित एक ग्रन्थ मिला। इसमें मुझे एक कहानी मिली, जो 'टार-बेबी' की विशिष्ट कल्पना जैसी ही मूल कल्पना पर आधृत थी। कथा का जो रूप उस संग्रह में प्राप्त हुआ. वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि प्राचीन भारतीय लोक-कथा एशियाई मैदानों से होकर यूरोप में भी पहुँच चुकी थीं।

‡ देखिये The Haunted Dream House, The Reader's Digest, August 1959.

* The history of how Indian fairy tales and fables migrated from one country to another, to nearly all the peoples of Europe and Asia, and even to African tribes, from their original home in India, borders on the marvellous.

—A. A, Macdonell, "India's Past".

मेरे लिए यह एक बहुमूल्य और उल्लासपूर्ण अनुभव था; उसने मुझे स्पष्ट रूपेण यह दिखला दिया कि किस प्रकार किसी एक संस्कृति की आध्यात्मिक एवं प्राविधिक सफलताओं के अनन्त वृत्त उत्तरोत्तर विस्तृत होकर अन्य संस्कृतियों को स्पर्श करने लगते हैं।"

जब यह वेदाङ्क यन्त्रस्थ होगा 'तारकोल-शिशु' कथा को संयुक्त राष्ट-संघ की पाक्षिक पत्रिका छापेगी। उस कथा का मारीशसीय रूप क्या है, यह पाठकों को तब विदित होगा।

प्रथम मानव से भेंट

जब भारतीय बार-बार अफ्रीका पहुँचते रहे, भारत का साहित्य क्यों कर वहाँ न पहुँचता? सब युगों में वहाँ न केवल भारतीय साहित्य अपितु भारतवासी भी पाये गये। जब सर्वप्रथम यूरोपीय अफ्रीका पधारे, जैसे ही उन्होंने मोजाँबिक में अपने पैर रखेउनकी भेंट एक मनुष्य से हुई जो दावान नाम का गुजराती था। वह मसाले का व्यापार करता था।*

सरदार पन्निकर भारतीय सागर विषयक ग्रन्थ लिख रहे हैं। उन्हें फ्रेञ्च द्वीप मादागस्कर के इतिहासकार श्री ओबेर की तत्संबंधी पुस्तक देखनी चाहिए।

उनकी यह धारणा कि भारतीयों को भूगोल शास्त्र का ज्ञान न था, निराधार है। वे ब्रिटैनिका नाम का दो शती पुराना विश्वकोश ही उठाकर देखते तो उन्हें विदित होता कि—

"The Charts in use by the mediaeval navigators of the Indian Ocean—Arabs, Persians or Dravidas—were equal in value if not superior to the charts of the Mediterranean. Marco Polo mentions such charts; Vasco da Gama (1498) found them in the hands of his Indian pilot... A first meridian separating a leeward from windward region, passed through Ras kumhari (Comorin) and was thus nearly identical with the first meridian of the Indian astronomer which passed through the sacred city of Ujjain (Ozere of Ptolemy) or the meridian of Azin of the Arabs."

वास्को दा गामा ने जिस भारतीय का सहयोग पाया था उसका फिर उस विश्वकोश में उल्लेख किया गया।

"In 1498 Vasco da Goma saw a chart of the coast line of India, which was shown to him by a Gujrati.'"

सरदार पन्निकर से यह अनुरोध है कि श्री मायाप्रसाद त्रिपाठी एम० ए० की निम्न पंक्तियाँ ध्यान से पढ़ने का कष्ट उठावें और प्राचीन भारत से अन्याय करना बन्द करें:—

"एशियाटिक रिसर्चेज़ (जिल्द ११) में एफ. विल्फोर्ड ने बहुत अच्छे तर्कों के आधार पर यह दिखाने की चेष्टा की है कि तत्कालीन भारतीय इंग्लैण्ड, स्काटलैंड, आयरलैण्ड एवं स्कैण्डीनेविया तक पहुँच चुके थे।

बृहत्संहिता तथा विष्णु पुराण में समस्त पृथिवी का क्षेत्रफल २.५४ करोड़ वर्ग योजन दिया हुआ है। ये आंकड़े आधुनिक वैज्ञानिकों की गणना से पूर्णतया मिलते हैं, यदि एक योजन को २.८ मील के बराबर मान लिया जाय।

मापन की भावना पर्याप्त विकसित हो चुकी थी, विशेषतया शुल्बसूत्रों के युग से (दे० मेरा निबन्ध "सर्वे एण्ड कार्टोग्राफ़ी इन दी शुल्बसूत्राज़"—जरनल आफ़ गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिच्यूट, इलाहाबाद, जि० १६)। कथा सरित्सागर में संसार के मानचित्र खींचने का इस प्रकार परिनिर्देश है "जगल्लिखामि तन्मध्ये तं मे दर्शय येन सः" (६।१।१८।१९)। प्रत्येक महाद्वीप के पृथक्-पृथक् मानचित्र भी बनाए जाते थे।

बृहत्कथा श्लोक संग्रह (५००ई०) में 'सहसागरं स्पष्टं संपुटकेऽलिखन्' (१९-१७) बताता है कि समुद्री मानचित्र तथा वृत्तचित्र [Chart] भी भली भांति बनाए जाते थे। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका [जिल्द १४ पृ० ८४१ तथा जि २१, पृ० ६०९] से सिद्ध होता है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास भारत में समुद्री

* दे० ओबेर विरचित "भारतीय सागर का इतिहास"

मानचित्र और वृत्तचित्र प्रभूत संख्या में बनाये जाते थे। अरब भौगोलिकों ने भारतीयों के बहुत से शब्द अपनी भाषा में मिला लिये थे। कहा जाता है कि गुजराती लोग ऐसे मानचित्रों के निर्माण और परिलेखन में विशेष पटु होते थे।

· लोकप्रकाश [११०० ई०] तथा संग्रहणी नाम के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों में संसार आदि के कई मानचित्र दिये हुए हैं।

भारतीय खिष्टाब्द के आस-पास दिक्सूचक यन्त्र का प्रयोग करना जानते थे और करते थे।''

हम ने सिद्ध किया कि भारत का सम्बन्ध बहुत दिनों से अफ्रीकादि के साथ रहा। भूगोल शास्त्र का ज्ञान भारतीयों को न होता तो उनका विदेश जाना असम्भव होता। सरदार जी गलत रास्ते पर हैं।

संस्कृत नाम

कई अफ्रीकी सरोवर, पहाड़, नदियाँ, वन आदि संस्कृत नाम से पुकारे जाते हैं। नवोदित राष्ट्र घाना के एक भाग का नाम 'अशान्ति' है। इसी तरह सारे देश अफ्रीका का नाम संस्कृत में पाया जाता है। अफ्रीकियों की उस भाषा में जिसका नाम स्वाहिली है, अनेक संस्कृत शब्द मिलते हैं।

यही नहीं, जब हम अफ्रीकी राजनेताओं के भाषण और उनके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं तो लगता है कि हजारों साल से उस भूखण्ड में प्रचारित किये गये वेदज्ञान को उन्होंने विलुप्त नहीं होने दिया। जंगलों में वैदिक प्रथाएँ सुरक्षित हैं ही, नगरों में नवशिक्षित तक जन्मभूमि की याद मातृभूमि ही के नाम से किया करते हैं। वेद ने कहा ही है—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि मत्याम्॥
अथर्व० १२।१।६३॥

—हे मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्था से युक्त रख। हे काव्यमयी मातृभूमि ! तू प्रकाश के साथ सम्बन्ध रखती हुई मुझे सम्पत्ति और ऐश्वर्य में धारण कर।

जो अफ्रीकियों से अपरिचित हैं वे भी याद करते हैं कि बालकों की पाठ्य पुस्तकों तक में उनके बारे में लिखा गया है कि वे गाना-बजाना खूब पसन्द करते हैं। वे मानो आशावादी आर्यों की भाँति ही कह रहे हैं :—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति,
भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो
यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान-
सपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ अथर्व० १२।१।४१॥

—जिस मातृभूमि में विशेष प्रेरणा करने वाले वीर मनुष्य गाते हैं और नृत्य करते हैं, जिसमें गर्जना करते हुए वीर लोग युद्ध करते हैं और जिसमें ढोल बजता है, वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमारे शत्रुओं को हटा देवे और मुझे शत्रु रहित करे।

नोबेल पुरस्कार के प्राप्तकर्ता डा० श्वेत्ज़र को जो बहुत दिनों से अफ्रीका में हैं, इतना जानना चाहिए था कि भारतीय आशावादी हैं। भारत के तत्त्वज्ञानियों को निराशावादी बता कर* उन्होंने इस बात का प्रमाण पेश किया कि अफ्रीकियों के मध्य रह कर भी वे इस सत्य का पता लगा न पाये कि अफ्रीकी शिष्य हैं और भारतीय गुरु। गुरु ही की भाँति शिष्य अपने आचरण से आशावाद का प्रचार करता आ रहा है। अफ्रीका ने भारत से द्रोह नहीं किया।

अफ्रीकियों पर भारत की अमिट छाप है। वे अनजान में एक-एक चेष्टा वेदादेशानुकूल कर रहे हैं। उनमें कूट-कूट कर वीरता भरी हुई है। यद्यपि वैदिक भाषा में वे ईश्वर से नहीं कह रहे हैं कि शत्रुओं को हटाया जाय, उनका त्याग, कष्टसहिष्णुता, मातृभूमि के प्रति उनकी भक्ति शत्रुओं को शनैः-शनैः हटा ही रही है। वे अकेले अपना युद्ध कर रहे हैं। भारत सहायक न हो सका तो अमर भारतीय ज्ञान सामयिक सहायता प्रदान कर ही रहा है॥

* दे० डा० श्वेत्ज़र की फ्रेञ्च पुस्तक "भारत के महान् तत्त्वज्ञानी"

अष्टाध्यायी-पद्धति

[ले०—काशीस्थ मूर्धन्य विद्वान् पं० श्री गोपाल शास्त्री जी, 'दर्शनकेशरी']

आज मैं आर्य्यजगत् के सामने 'वेदवाणी' के इस वेदाङ्क द्वारा एक प्रश्न रखता हूँ और उस पर गम्भीरता से विचार करने का अनुरोध करता हूँ। प्रश्न यही है कि बौद्धजगत् के द्वारा तिरस्कृत वेदराशि को पुनः सबके सामने रखने वाले नित्य ऋषियों में अन्यतम के अवतार स्वरूप महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने जो संस्कृत की पाठ्य-पद्धति का परिष्कार किया है और अपने बहुमूल्य जीवन-समय को वेदाङ्गप्रकाश पुस्तकों के लिखने, छापने तथा प्रकाशित करने में अधिकतया व्यय किया है। उसका क्या अभिप्राय है ? क्या उसका पालन आर्य्य विद्यालयों में हो रहा है ?

आर्य्य जगत् में बड़े-बड़े विवेकी, मनीषी विद्यमान हैं। मेरा विशेषतया उन्हीं से अनुरोध है कि वे इस पर ध्यान दें। मैं तो जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, तब से ही देख रहा हूँ कि आर्य्यजगत् मानो कृतकृत्य होकर बैठ गया है कि बस, अब क्या, महर्षि ने कहा है कि "अपने देश में अपना राज्य और अपनी भाषा होनी चाहिये" हो तो गया। अब तो हम लोगों का कार्य्य समाप्त हो गया। अब हमें क्या करना है।

पर मेरी दृष्टि में तो महर्षि की यह भूमिका है कि 'अपने देश में अपना राज्य और अपनी भाषा हो'। सो भी तो यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो महर्षि की उक्ति में न अपना राज्य है, न अपनी भाषा है। अभी तो भारत में वही अंग्रेजों का राज्य है, और वही अंग्रेजी भाषा है। पर मुझे इस विषय में अभी कुछ नहीं कहना है। मुझे तो महर्षि की मुख्य उक्ति अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृतव्याकरण के अध्ययन वाले विषय पर कुछ विचार करना है।

देखिये, जब तक "अष्टाध्यायी-पद्धति" से संस्कृत-व्याकरण का अध्ययनाध्यापन" भारतवर्ष में, क्या स्कूल, क्या कालेज, क्या संस्कृत-पाठशाला (पुत्रों तथा पुत्रियों की), विद्यालय, महाविद्यालय सभी जगहों में महर्षि स्वामी दयानन्द जी की उक्ति के अनुसार (अष्टाध्यायी-पद्धति से) नहीं चलता, तब तक वेदबुद्धि, आर्य्यबुद्धि देश में आ ही नहीं सकती। यह मेरा तीस वर्ष का अनुभव है। 'अष्टाध्यायी' में सूत्रों का अद्भुत क्रम है। क्रम से सूत्रों को पढ़ने वाले छात्रों में एक ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे छात्र अपने आप सूत्रों का अर्थ करता चलता है। जिसे विश्वास न हो वह यहाँ जोशीमठ में आकर श्री बदरीदाथ-वेदवेदाङ्ग-विद्यालय के (जो वदरी नारायण मन्दिर की ओर से चल रहा है) पचासों छात्रों को देख जाय। वे अपने से सूत्रों की वृत्ति बनाते हैं, जो लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी में लिखी सूत्र-वृत्ति से अच्छी सुगम होती है।

इसे देखकर मेरे मुँह से एक श्लोक निकल पड़ता है। उसे देखिये—

सूत्रवृत्तिं स्वयं कुर्य्युरध्यायिनः
पाठनस्य प्रकारोऽयमासीन्मुनेः।
तद्विहन्त्री पठत्प्राणहन्त्री हृदा
निष्क्रमा पाठरीतिर्द्रुतं हीयताम्॥

देखिये, पाणिनि मुनि का पढ़ाने का यह प्रकार था कि पढ़ने वाले अपने आप सूत्रों की वृत्ति बना लेते थे। आज सूत्रक्रम तोड़कर जो लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी पढ़ाई जाती है, वह रीति तथा वह भी जिसमें उन सूत्रों को छोड़कर, पर उन्हीं के अर्थों को हिन्दी-वाक्यों द्वारा छात्रों के सामने रखा जाता है, जिसे वे रटते हैं, ये दोनों रीतियाँ पाणिनि जी की पद्धति को नाश करती हैं तथा पढ़ने वालों के प्राण हर लेती हैं। अतः इन दोनों प्रकारों को छोड़कर केवल पाणिनि जी के प्रकार अर्थात् सूत्रक्रम से संस्कृत पढ़ाना पढ़ना चाहिये। इस प्रकार से संस्कृत पढ़ने पढ़ाने वालों में आर्य्यबुद्धि, वैदिक-बुद्धि, स्वतन्त्रप्रज्ञा, मितभाषिता, व्यवस्थित होना इत्यादि सभी गुण अपने आप आ जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखी और अनुभूत की हुई बात कह रहा हूँ। कोरी कल्पना नहीं है। सुनिये—

स्वयं हि सूत्रार्थकृतस्तु पाठका
वरं लभेरन्नपि पाणिनेर्मुनेः।

व्यवस्थितत्वं प्रतिभाप्रवर्द्धनं
स्वतन्त्रताद्यार्य्यगुणोऽपि सञ्चरेत् ।

सूत्रपद्धति से पढ़ने वाले छात्रों में ऋषियों के संकल्प का प्रभाव पड़ता है। वे व्यवस्थित आर्य्यबुद्धि वाले हो जाते हैं। उनकी प्रतिभा बढ़ जाती है। वे स्वतन्त्रप्रज्ञ सच्चे आर्य्य हो जाते हैं।

इसी कारण महर्षि दयानन्द जो ने कहा है कि जब तक आर्षपद्धति से संस्कृत की पढ़ाई नहीं होती, तब तक वेदबुद्धि नहीं जगेगी। जब तक वेदबुद्धि नहीं जगती, तब तक वेदार्थ नहीं ज्ञात होता। जब तक वेदार्थ नहीं ज्ञात है, तब तक वह आर्य्य नहीं बन सकता। जब वह स्वयं आर्य्य ही नहीं हुआ, तब वह दूसरों को क्या आर्य्य बनावेगा। यही महर्षि के मूल अभिप्राय हैं। अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृत पढ़ने के लिये आर्य्य-जगत् को प्रेरित करने के लिये ही मैंने 'पाणिनि-प्रशस्ति' नाम की एक लघु पुस्तक भी लिखी है। और जिज्ञासुजी को दे भी दी है कि वे 'वेदवाणी' के पाठकों को, जो चाहें, निःशुल्क दे दिया करें। एक बात बिना कहे इस लेख को समाप्त कर देने से मेरा निवेदन अधूरा रह जायगा। अतः वह भी सुनिये—आज आर्य्य गुरुकुलों में भी संस्कृत-व्याकरण पढ़ाने वाले वही 'व्याकरणाचार्य्य' रखे जाते हैं जिन्होंने काशी की व्याकरणाचार्य्य परीक्षा पास की है। वे तो उसी लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी वाली निष्क्रम पद्धति से व्याकरण पढ़ाते ही हैं, चाहे वहां अष्टाध्यायी ही पाठ्यपद्धति में क्यों न लिखी हो। इसी कारण आर्य्य गुरुकुलों में भी अष्टाध्यायी कार्य्य रूप में नहीं चलती, भले ही नियमावली में लिखी रहे। जो गुरुकुल अपवाद हैं, उन्हें मैं नहीं कहता। पर मुझे स्वयं का अनुभव है। नाम नहीं बताऊंगा। बड़े-बड़े मुख्य गुरुकुलों में महाविद्यालयों में लघुकौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी से ही वहां के पण्डित जी महाराज अष्टाध्यायी भी पढ़ाते हैं, जिससे व्याकरण पढ़ने से छात्र भागा करते हैं और जन्म भर संस्कृत में कमजोर भी रहते हैं। कहीं कहीं इसी कारण आर्य गुरुकुलों में भी व्याकरण पढ़ने से छात्र हड़ताल कर रहे हैं। मुझे सभी पता है। अधिक क्या कहूँ। सनातनधर्मियों की प्रधान नगरी काशी में जब जिज्ञासुजी के पाणिनि महाविद्यालय में अष्टाध्यायी पद्धति जोर पकड़ती है तो वहां के सनातनी पण्डित अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को यही कह कर बहकाते हैं कि जिज्ञासुजी अपने आर्य्यसमाज के गुरुकुलों में तो पहले अष्टाध्यायी चलालें, तब हम लोगों से अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ाने को कहें। इत्यादि बातें संस्कृत पाठ्य पद्धति में घुसी हुई हैं जिनके कारण महर्षि दयानन्द जी का मुख्य उद्देश्य "अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृतव्याकरण पढ़ने-पढ़ाने का मार्ग" अवरुद्ध हो रहा है। और जब तक यह पद्धति पुनः स्वतन्त्र भारत में नहीं आती, तब तक महर्षि दयानन्द जी की उक्ति में भारत स्वतन्त्र नहीं है। भला उनके नाम पर डी. ए. वी. कालेज चलाना, यह उनको चिढ़ाना है कि उनकी भक्ति है, आप ही कहें। जिसे महर्षि की अष्टाध्यायी-पद्धति पर विश्वास न हो वह यहां श्री बदरीनाथ वेद-वेदाङ्ग विद्यालय में आकर देख जाय कि ६० छात्र अष्टाध्यायी-पद्धति से संस्कृत पढ़ रहे हैं या नहीं, अपने आप सूत्रवृत्ति बनाकर सूत्रों का अर्थ करते हैं या नहीं और (आटोमैटिकली) अपने आप प्रयोगों को साधते हैं तथा बड़े गर्व से ये श्लोक पढ़ते हैं—

पाणिनेः पद्धतिः शोभना सम्मता ।
वृद्धिरादैजये ! वृद्धिरादौ मता ॥
तद्दृशि पाठको वृद्धिमासेवते ।
शीघ्रमेवर्षिबुद्धिः सुधीर्जायते ॥
निष्क्रमा पाठरीतिः कथं चालिता ।
बालबुद्धि–'हलन्त्यं' पुरोग्राहिता ॥
वृत्तिघोषा स्मृतिं नाशयत्यादितः ।
कूपमण्डूकतामानयत्यन्ततः ॥

अर्थ—पाणिनि जी की पद्धति कैसी अच्छी है कि उसमें पहले ही 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र पढ़कर प्रारम्भ में ही 'वृद्धि' शब्द दिया गया है। जिससे पढ़ने वाले छात्र वृद्धि को (बढ़ती को) प्राप्त करते हैं और बहुत जल्द ऋषि के समान बुद्धिवाले होकर अच्छी बुद्धिवाले (विद्वान्) हो जाते हैं। हा ! वहीं ही यह निष्क्रमा (लघुकौमुदी या शब्द रूप रटाने वाली स्कूली पद्धति) क्यों चलाई गयी है ? बच्चों के सामने पहले ही 'हलन्त्यम्' इत्यादि क्रमशून्य सूत्रों की वृत्ति रटाकर तथा उधर सूत्रों के हिन्दी में अर्थ और शब्द के रूपों को रटाकर पहले उनकी स्मृति शक्ति का नाश कर दिया जाता है। बाद में 'कूपमण्डूक' की उपाधि देकर उनका जीवन ही चौपट कर दिया जाता है।

हां इस प्रसङ्ग में एक बात और आर्य्यजगत् के नेताओं से मैं निवेदन करता हूँ कि आज सभी विज्ञ वर्ग राष्ट्रपति से लेकर शिक्षामन्त्री तक कन्वोकेशनों पर भाषण देने वाले विद्वान् गण भी वर्तमान शिक्षा-पद्धति को दूषित बता रहे हैं। पर सभी उसी अंग्रेजों की चलाई पाठ्य-विधि को किसी न किसी प्रकार से हांकते चले जा रहे हैं। इस स्थिति में आप लोग क्यों नहीं एकमत होकर महर्षि की पाठ-विधि के अनुसार अपने सभी गुरुकुलों की पाठ्य-विधि बनाकर एक विश्वविद्यालय चलाते और वही आदर्श सरकार के सामने भी रखते। क्या सभी बातों में सरकार का मुख-निरीक्षण श्रेष्ठ है ? यह भी तो पश्चिम की रीति है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने तो शिक्षकों को प्रथम श्रेणी में रखा है। राजा को द्वितीय श्रेणी में रखा है।

अब मैं अपना अनुरोध उपस्थित कर विश्राम लेता हूँ और पाणिनि मुनि के सूत्रों की स्वयं वृत्ति बना लेने के उपाय को थोड़े में व्यक्त करता हूँ। यह बहुत अंशों में सफल हो तथा इस पर वैयाकरण विद्वान् ध्यान दें, यही मेरी प्रार्थना है—

सम्प्रघुष्य क्रमात्पाणिनीयाष्टकं
सन्धिबोधात्पदच्छेदतोऽर्थं कुरु।
पूर्वसूत्रं परस्मिन् समासञ्जयन्
निर्विशेषां जहत्तद्विभक्तिं समाम्॥

अर्थ—'पाणिनीयाष्टाध्यायी' को क्रम से पढ़कर संधि का ज्ञान तथा पदच्छेद करके सूत्रों का अर्थ करना चाहिये। सन्धि-ज्ञान तो पाणिनि जी के 'अक्षर-समाम्नाय' सूत्रों से तथा स्थान-प्रयत्न, यत्नों के ज्ञान से हो जाता है। पदच्छेद के लिये भी केवल चार प्रकार के ही शब्दों का ज्ञान पर्य्याप्त है। पाणिनीय अष्टाध्यायी पढ़ने के लिये अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण और एक हलन्त शब्द, बस चार प्रकार के शब्दों का रूप ही पर्य्याप्त है। कहीं-कहीं ऋकारान्त शब्द आ गये हैं। बस इतने ही शब्दों के पद और सन्धि ज्ञान करके अष्टाध्यायी-सूत्रों का अर्थ किया जाता है। हां, पूर्व सूत्रों के उन्हीं पदों को आगे के सूत्रों में लाना होता है जो आगे के सूत्रों के समान विभक्ति के नहीं हैं, असमान विभक्ति के हैं। समान विभक्ति में भी यदि विशेषण-विशेष्य भाव, उद्देश-विधेय भाव के हैं, तो वे ले लिये जाते हैं। बस यह नियम सार्वत्रिक है तथा कुछ तो पाणिनि जी ने वृत्ति बनाने के लिये सूत्र ही लिख छोड़े हैं। उन्हें तो विद्वान् जानते ही हैं॥

[श्री० शास्त्री जी हम से रुष्ट होते हैं कि आप मेरे लेख क्यों नहीं छापते। पाठक देखें, कितना मर्मस्पर्शी यह लेख है। इसका एक-एक अक्षर सत्य है। हमारे गुरुकुलों के संचालक व अध्यापक क्यों ध्यान नहीं देते, जो आर्य हैं वे व्याकरणादि जानते नहीं, व्याकरण से इतना डरते हैं जिसकी कोई सीमा नहीं। जो व्याकरण आदि पढ़ाते हैं वे प्रायः पौराणिक हैं या अनार्ष पद्धति से अनार्ष अध्यापकों द्वारा पढ़े हैं। गुरुकुल अयोध्या में हम ने प्राचीन व्याकरण पढ़ाते समय काशिका की वृत्ति को रटवाते देखा। हमारे गुरुकुलों के संचालक भी दृढ़ व्रत कर लें कि हम अष्टाध्यायी पद्धति से ही व्याकरण पढ़ावेंगे। पढ़ाने वालों की परीक्षा ली जावे, कौन पढ़ा सकता है कौन नहीं। न पढ़ाने वाले को तत्काल हटा दिया जावे, जो भी पढ़ा सके उसको रखा जावे। ५ वर्ष में पढ़ाने वाले भारी संख्या में तैयार हो सकते हैं। कोई करे तो सही। अध्यापक माँगने मात्र से तो काम चलेगा नहीं। हमें ऐसे अध्यापक तैयार करने होंगे। परीक्षा पास हों या न हों। तब तो इस समस्या का हल हो सकता है। नहीं तो हमें दीखता है कि सनातनधर्म के विद्यालयों में अष्टाध्यायी का पद्धति चल पड़ेगी। ये आर्यसमाजी गुरुकुल, महाविद्यालय और पाठशालायें बिटर बिटर देखते रह जायेंगे।

हमें तो ये पंक्तियाँ लिखते हुए भी दुःख होता है कि आर्यसमाजी अभिमान में रहे कि पौराणिक विद्वान् हमारे छात्र छात्राओं को बहका नहीं सकते। आर्य जनता को यह कहना कि हमारे यहाँ तो अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती है, अब यह धोखा अधिक दिन न चल सकेगा। यह आत्म-प्रवञ्चना छोड़नी पड़ेगी।

शास्त्री जी ने आर्यसमाज की हित-बुद्धि से ही यह लेख लिखा है। आर्य जनता इस पर उचित ध्यान दे॥

—सम्पादक]

वैदिक सोम

[ले०—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, गुरुकुल कांगड़ा]

वेदों में सोम शब्द हजारों बार आया है और ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मण्डल और सामवेद के अधिकतर मन्त्रों का देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय सोम है। साधारणतया प्रायः भाष्यकार इससे एक सोम नामक लताविशेष के रस का ग्रहण करते हैं जो मदकारक माना जाता है। पाश्चात्य अनुवादक उसका अनुवाद प्रायः Wine या शराब कर देते हैं। आजकल के अनेक शिक्षित और पाश्चात्यानुयायी भारतीय भी सोम को एक शराब ही समझते हैं, जिसका सेवन कर के प्राचीन लोग मस्त रहते थे। इसी भ्रम में सुप्रसिद्ध लेखक श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने 'लोपामुद्रा' नामक ग्रन्थ में ऋषियों का एक सर्वथा कल्पित, अशुद्ध चरित्रचित्रण करते हुए लिखा है:—

"ऋषि चपटी नाक वाले, काले कलूटे दासदासियों से भीख माँगते और भेंट लेते, सोम रस पीकर नशे में चूर रहते, लोभ और क्रोध का प्रदर्शन करते और गौवें देने वाले की प्रशंसा करते थे।" इत्यादि (लोपामुद्रा भूमिका पृ० ९, १०)

वस्तुतः सोम के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दृष्टियों से अनेक अर्थ को न जानने से ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। एक विशेष ओषधिरस को ही सोम मान लेने वाले वास्तविक तत्त्वानभिज्ञ लोगों के विषय में ऋग्वेद १०।८१।३ में स्पष्टतया बताया गया है कि—

सोमं मन्यते पपिवान्, यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

अर्थात्—जिस औषधि को पीसा जाता है उसके रस का पान करने वाला समझ लेता है कि मैंने सोम का पान कर लिया है किन्तु वस्तुतः ब्रह्मा—चतुर्वेदवेत्ता ज्ञानी लोग जिस सोम को जानते हैं, उसका कोई सेवन नहीं करता।

अथर्व वेद में यह मन्त्र थोड़े से भेद से निम्नरूप में १४।१।३ में पाया जाता है :—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥

यहाँ ऋग्वेद के 'कश्चन' के स्थान में 'पार्थिवः' शब्द का प्रयोग है जो कश्चन के तात्पर्य को स्पष्ट करता है अर्थात् जो पार्थिव है पृथिवी के भोगों में तत्पर है, ऐसा कोई सोम के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता। वह सोम ओषधि के रस को ही पीकर अपने को सोमरस पान करने वाला मान लेता है। आध्यात्मिक सोम कोई और ही वस्तु है, जिसका भौतिक भोग परायण व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकता।

सोम के अनेक अर्थ

वेद के अन्य शब्दों की तरह सोम शब्द के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से अनेक अर्थ हैं जिनका मैं इस लेख में संक्षेप से सप्रमाण निर्देश करना चाहता हूँ, ताकि विचारशील विद्वान् प्रकरणानुसार उस की यथोचित योजना कर सकें। सोम शब्द अध्यात्मदृष्टि से परमेश्वर का वाचक है जिसके लिये—

सोमो हि प्रजापतिः॥ (शत. ५.१.५.२६)
सोमो वै प्रजापतिः॥ (शत. ५.१.३.७)
यो वै विष्णुः सोमः सः॥ (शत० ३.३.४.२१; ३.६.३.१९)

इत्यादि प्रमाण अत्यन्त स्पष्ट हैं।

षु—प्रसवैश्वर्ययोः इस धातु से 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उणा०१।१४०) से मन् प्रत्यय करने पर यह शब्द सिद्ध होता है। अतः सर्वोत्पादक और समस्त ऐश्वर्य-सम्पन्न होने के कारण परमात्मा को सोम कहते हैं।

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में सोम का अर्थ परमेश्वर है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता।

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥
ऋ० १।९१।२२॥

अर्थात् हे सोम-परमेश्वर ! तू ही इन ओषधि, वनस्पतियों, जलों और पृथिवी तथा गाय आदि पशुओं को उत्पन्न करता है। तू अन्तरिक्ष का विस्तार करता और अपनी ज्योति से अन्धकार को दूर करता है। क्या इस

प्रकार का वर्णन सोमवल्ली रस आदि पर चरितार्थ हो सकता है ?

सोमः पवते जनिता मतीनां
जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य
जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥ ऋ० ९।९६।५॥

यहां सोम को बुद्धियों का द्युलोक, पृथिवी लोक, अग्नि, सूर्य, विद्युत् और यज्ञादि का उत्पादक बताते हुए कहा है कि वह सबको पवित्र करता है। स्पष्टतया यह वर्णन परमेश्वरपरक है जो सर्वोत्पादक और पवित्र करने वाला है।

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद् रोदसी उभे॥
ऋ० ९।१०१।७॥

इस मन्त्र में भी सोमपदवाच्य परमेश्वर को पूषा, रयि, भग आदि नामों से पुकारते हुए कहा है कि वह सारे विशाल विश्व का पति—स्वामी और रक्षक है और वह सबको पवित्र करता है।

पवस्व सोम महान् समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम॥ ऋ० ९।१०९।४॥

यहाँ सोम को सम्बोधन करते हुए कहा है कि तू शान्ति, ज्ञान, आनन्दादि का (महान् समुद्रः) बड़ा समुद्र है तू (देवानां पिता) सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि प्रकाशक पदार्थों और सत्यनिष्ठ ज्ञानियों का (पिता) पिता तथा रक्षक है (विश्वा धाम अभि) तू सब जगह व्यापक है। ऐसा तू हमें पवित्र कर।

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वस
प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः
पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥
ऋ० ९।८६।५॥

अर्थात् हे सोम ! तू विश्वचक्षा—सर्वद्रष्टा और महान् सदा सत्स्वरूप प्रभु है, तू (विश्वा धामानि) सब जगह विद्यमान है। तेरे (केतवः) तेजकी किरणें सब जगह फैल रही हैं। तू अपनी (धर्मभिः) धारक शक्ति से (व्यानशिः पवसे) सर्वत्र व्याप्त हो कर पवित्र करता है। तू (विश्वस्य भुवनस्य राजसि) सारे संसार का राजा है।

क्या कोई मूर्ख से मूर्ख जंगली भी सोम नामक वनस्पति व ओषधि के विषय में ऐसी बातें कहने का साहस कर सकता है कि वह सर्वव्यापक, सूर्य, अग्नि, जल, वायु, पृथिवी सब का उत्पादक सर्वज्ञ और सारे संसार का स्वामी है ? कभी नहीं। अतः इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वेद के इन तथा अन्य अनेक मन्त्रों में सोम शब्द सर्वोत्पादक शान्ति के स्रोत, परमेश्वर का वाचक है। अतः महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने ऋ. १,८९,३ आदि के भाष्य में सोम का अर्थ जो 'सृष्टिक्रमेण सर्वपदार्थाभिषवकर्ता शान्तः' यजु०, ४,२० के भाष्य में 'परमेश्वरः' और य० ७,२५ के भाष्य में 'सकलजगतः प्रसविता' यह जो लिखा है वह सर्वथा उचित और प्रमाणसंगत है। सायणाचार्यादि पौराणिक विचारों के भाष्यकारों ने यहाँ भी सोमलता रस आदि का ग्रहण कर लिया है, यह कितने आश्चर्य तथा दुःख की बात है ! सोम का अर्थ अध्यात्मदृष्टि से परमेश्वर के अतिरिक्त ज्ञानमय भक्तिरस भी है। यह निम्न मन्त्रों से सर्वथा स्पष्ट है।

पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः।
महि द्युक्षतमो मदः ॥ऋ० ९।१०८।१॥साम ५७२,६९२॥

यहाँ सोम को मधुमत्तम अर्थात् अत्यन्त माधुर्ययुक्त मस्ती उत्पन्न करने वाला कहा है, किन्तु वह शराब की तरह प्राकृतिक मस्ती नहीं अपितु उसे आत्मा के लिये (इन्द्राय क्रतुवित्तम) अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त कराने वालों में श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ संकल्प वा बुद्धि को (क्रतुरिति प्रज्ञानाम निघ.) प्राप्त कराने वालों में श्रेष्ठ, अत्यधिक यशस्वी बनाने वाली आध्यात्मिक मस्ती (महि द्युक्षतमो मदः) इस रूप में वर्णित किया गया है। उसे शराब आदि की तरह की कोई वस्तु समझ लेना भारी भूल है। सोम का वर्णन इन शब्दों में है कि—

शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतस्य मध्वः।
देवावीरघशंसहा ॥ऋ० ९।२४।७॥ साम ९६७॥

अर्थात् यह सोम न केवल स्वयं पवित्र है, बल्कि दूसरों को भी पवित्र करने वाला (पावकः) और (मध्वः) माधुर्य से भरा हुआ (देवावीः) दिव्यगुणों को बढ़ाने वाला और (अघशंसहा) पापमयी भावनाओं का नाश करने वाला है।

यह स्पष्ट है कि यह वर्णन शराब जैसी मादक वस्तु

का नहीं किन्तु ज्ञानमय भक्ति के पवित्र और पावन आध्यात्मिक मद का यहाँ वर्णन है।

इसी प्रकार ऋग्वेद ९।९७।३६ और सामवेद मं० ८६१ का सोमविषयक वर्णन भी इस विषय में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय है, जिसमें कहा है:—

एवा नः सोम परिषिच्यमान
आपवस्व पूयमानः स्वस्ति।
इन्द्रमाविश बृहता मदेन
वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम्॥

इसमें सोम को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तू हमें सब ओर से पवित्र कर (आ पवस्व), अपनी बड़ी भारी मस्ती के साथ (इन्द्रमाविश बृहता मदेन) इन्द्र—जीवात्मा के अन्दर प्रवेश कर, हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ा और (जनय पुरन्धिम्) हम में उत्तम बुद्धि को उत्पन्न कर।

बुद्धिनाशक शराब के विषय में इस प्रकार का वर्णन सर्वथा असंगत है। यह स्पष्टतया ज्ञानमय भक्तिभाव की आध्यात्मिक मस्ती का वर्णन है जो अत्युत्तम बुद्धि को उत्पन्न करती है और वाणी आदि की शक्ति को बढ़ा कर मनुष्य को पवित्र कर देती है।

ऋ० ९।१०८।३ तथा साम मं० ५८३, ९३८ का

त्वं ह्यङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः।
अमृतत्वाय घोषयः॥

यह सोम विषयक वर्णन भी इस प्रसङ्ग में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय जिसमें कहा है कि हे सोम! तू (पवमान) सबको पवित्र करने वाला (द्युमत्तमः) अत्यन्त प्रकाशमान और मनुष्य जन्म को दिव्य बनाता हुआ उसके लिये अमृतत्व की घोषणा करता है। यह सोम—ज्ञानमय भक्तिभाव है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे ही।

शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजायै॥
ऋ० ९।१०९।५॥

दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व॥
ऋ० ९।१०९।६॥

ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्॥
ऋ० ९।१०८।८॥

तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जो स्पष्टतया सूचित करते हैं कि वेदों में सोम, परमेश्वर के अतिरिक्त ज्ञानमय भक्ति के आध्यात्मिक मद का भी सूचक है। इसे न समझ कर श्री कन्हैय्या लाल जी मुन्शी तथा अन्य विद्वानों का यह लिखना कि वह (भौतिक) सोम का रस पीकर नशे में चूर रहते थे, सर्वथा अशुद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। इन उपर्युक्त मन्त्रों में सोम को ऋत अर्थात् सत्य और वेद से उत्पन्न सत्य के कारण ही प्रसिद्ध, ज्ञान को धारण करने वाला, दिव्य अमृत, पृथिवी, प्रकाश और सारी प्रजा के लिये शान्ति और पवित्रता का कारण बताया गया है। क्या कोई पागल से पागल व्यक्ति भी शराब जैसी वस्तु का ऐसा वर्णन कर सकता है।

श्री अरविन्द और सोम

सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी ने सोम का परमेश्वर और दिव्य आनन्द परक अर्थ 'वेदरहस्य' में बतलाया है। उन्होंने सोम—आनन्द व अमरता का अधिपति (Soma-Lord of Delight and Immortality इस शीर्षक के लेख में लिखा है कि कि "सोम आनन्द के रस का, अमृतरस का अधिपति है। सोम रस जो कि बाह्य यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है इसी आनन्द रस का प्रतीक है (वेदरहस्य पृ० १६२)। सोम आनन्द का अधिपति है। वह सच्चा रचयिता है जो कि आत्मा को धारण करता है और उस आत्मा में से एक दिव्य रचना को उत्पन्न कर देता है। उस के लिये मन और हृदय प्रकाशित कर छावनी बना दिये गये हैं; इसमें की चेतना सर्वविध संकीर्णता और द्वैध से युक्त होकर व्यापक रूप में विस्तृत कर दी गई है, ताकि वह इन्द्रियजीवन और मनोमय जीवन के पूर्ण प्रवाह को प्राप्त कर सके और इसे वास्तविक सत्ता के विशुद्ध आनन्द में, दिव्य आनन्द में, अमर आनन्द में परिणत कर सके।" (वेदरहस्य द्वितीय खण्ड पृ० १६२)

श्री अरविन्द जी के प्रधान विद्वान् शिष्य श्रीकपाली शास्त्री जी ने अपनी ऋग्भाष्यभूमिका में सोम के विषय में लिखा है:—

'अत्र सोमः। अयं च लताविशेषः बाह्यो भाव इत्यसंशयम्। अत्रापि याज्ञिकः संकेतरूप एवायम् अन्तर्थगम्यस्य चिदानन्दक्षरणस्वभावस्य देवस्येति क्वचिद् विशदं भवति मन्त्रेषु। बाह्यपक्षे तु बहुत्र मन्त्रा असंगतार्था

एव भवन्ति। अन्तरर्थेनैव सर्वत्र सोममन्त्राणां सामञ्जस्यं लक्ष्यते—

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः
प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः
पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥
ऋ० ९।८६।५॥

कथमयं मन्त्रः सोमलतापरत्वेन व्याख्यातुं शक्यः? स्वयं विचार्यतां मतिमद्भिः, अस्यायमर्थः—(विश्वचक्षः) सर्वार्थदर्शिन्! सोम (प्रभोः) परिवृढस्य (सतः) (ते) तव (ऋभ्वसः) महान्तो द्रष्टारः (केतवः) प्रज्ञापका रश्मयः (विश्वा) सर्वाणि (धामानि) तेजःस्थानानि देवशरीराणि (परियन्ति) परितो गच्छन्ति प्रकाशयन्तीत्यर्थः। हे सोम (व्यानशिः) व्यापनशीलस्त्वं (धर्मभिः) धारकैः रसपदवाच्य-आनन्दनिष्यन्दैः (पवसे) क्षरसि। (विश्वस्य भुवनस्य पतिः) स्वामी त्वं (राजसि) ईश्वरो भवसि इत्ययमर्थः सायणभाष्यानुसारेणैव प्राप्तो भवति। एतावतोक्तेनापि यदि सोमविषये सन्देहो न व्यपेतो भवेद्, अन्यो मन्त्रः संशयच्छेदको दशममण्डलस्थो जागर्ति—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।'
ऋ० १०।८५।३॥

अस्मिन् मन्त्रे वस्तुतः सोमस्वरूपस्य निर्णयः कृतः। सामान्यतः सर्वोऽपि सोमलतापेषणेन रसमादाय पानं कुरुते, यं वस्तुतत्त्वज्ञाः तात्त्विकं सोमं विदुः तस्य भोक्ता दुर्लभ इति ह्यस्या ऋचोऽभिप्रायः॥ (श्रीकपालिशास्त्रिकृता ऋग्भाष्यभूमिका पृ० ८०)

मैंने स्वयं लेख के पूर्व भाग में 'विश्वा धामानि विश्वचक्षः' तथा 'सोमं मन्यते पपिवान्' इन दोनों मन्त्रों का उल्लेख किया है और कपाली शास्त्री जी ने उनका उल्लेख करते हुए ठीक ही कहा है कि सोमलता रूप बाह्यपक्ष में ऐसे मन्त्रों की संगति कभी नहीं लग सकती। अतः सोमलतादि को दिव्य आनन्द का प्रतीक मानकर मन्त्रों की संगति लगानी चाहिये। सरल संस्कृत होने के कारण विस्तारभय से सारे सन्दर्भ का अनुवाद देना अनावश्यक है।

सोम का आधिभौतिक अर्थ

आधिभौतिक वा सामाजिक दृष्टि से सोम शब्द का प्रयोग वेदों में सौम्य-गुणयुक्त विद्वान् के लिये किया गया है। यह बात अनेक मन्त्रों से स्पष्ट है, जहाँ उसके लिये कवि शब्द का पचासों स्थानों पर प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

आपवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे।
अर्कस्य योनिमासदम्॥ ऋ० ९।५०।४॥ (साममं० १२०८॥

९।९२।३ में कहा है—

प्र सुमेधा गातुविद्विश्वदेवः
सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।
भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्ताऽनु
जनान् यतते पञ्च धीरः॥

यहाँ बताया गया है कि सोम (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिसम्पन्न है, वह (गातुवित्) श्रेष्ठ धर्म मार्ग का जानने वाला और (विश्वेषु काव्येषु रन्ता भुवत्) सब काव्यों में रमण करने वाला—उनका मनन करने वाला (पुनानः) सबको पवित्र करने वाला होकर (नित्यं सद एति) नित्य सभाओं में आता है और (धीरः) धैर्यशाली होकर (पञ्च जनान् अनुयतते) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद सबके कल्याण के लिये प्रयत्न करता है। यह वर्णन सोमलता परक तो हो ही नहीं सकता, न यह परमेश्वर वा ज्ञानमय भक्तिरस परक है। यह तो स्पष्ट शान्त विद्वान् का वर्णन है जिसे मान्य गुरुवर पं० बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड के शब्दों में गुरुकुल का स्नातक कह सकते हैं। ऋ० ९,१३,२; ९,१८,२; ९,४०,१; ९,६५,२९; ९,६६,८; ९,८४,५; ९,९७,३७; ९,१०७,६; ८,७९,१ इत्यादि में सोम के लिये 'विप्रः' इस शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ निघण्टु ३,१५ (**विप्र इति मेधाविनाम**) के अनुसार मेधावी है। ऋ० ९,११३,४ में सोम के लिये **'सत्यं वदन्'** इस विशेषण का प्रयोग है। उसी मन्त्र में उसे **सत्यकर्मा** कहा गया है। क्या ये विशेषण कभी सोमलतादि पर घट सकते हैं कभी नहीं। ऋ० ९, ६, ८ में सोम के विषय में कहा है कि **'सुष्वाणः। सुतः प्रत्नं निपाति काव्यम्।** वह स्वयं सुत है और सत्त्व खींच कर सनातन काव्य अर्थात् वेदवाणी की रक्षा करता है। ऋ० ९,१२,४ में कहा है 'विचक्षणः सुक्रतुः कविः सोमः' अर्थात् सोम उत्तम कर्म करने वाला विचक्षण चतुर कवि है।

ऋ० ९, १३, ३ में कहा है कि 'गृणानाः सोमाः पवन्ते। अर्थात् उपदेश देने वाले सोम—शान्त विद्वान् संसार को पवित्र करते हैं। बहुवचन में सोम का प्रयोग तो शान्त विद्वानों के लिये इतना अधिक स्पष्ट है कि किसी मूर्ख को भी उस में सन्देह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ ऋ० ९, १०१, १० अथवा सामवेद मं० ५४८, ११०१ के निम्न मन्त्र को देखिये।

सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
मित्राः सुवाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥

इस में सोमों के विषय में कहा है कि वे (इन्दवः) चन्द्र की तरह आह्लादक अथवा सरस हृदय वाले हैं। (अस्मभ्यं गातुवित्तमः) वे हमारे लिये धर्म अथवा सत्य मार्ग को प्राप्त कराने वालों में उत्तम हैं। (मित्राः) वे सब को मित्र की प्रेममय दृष्टि से देखने वाले (सुवानाः) उत्तम भाषण करने वाले (अरेपसः) पापरहित (स्वाध्यः) उत्तम रीति से ध्यान करने वाले अथवा श्रेष्ठ बुद्धि और कर्मों वाले (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त कराने वाले होकर (पवन्ते) हमें पवित्र करते अथवा गति करते हैं। सोमों का यह वर्णन स्पष्टतया सूचित करता है कि उनसे सौम्य स्वभाव के, निष्पाप, प्रेममय दृष्टि से सब को देखने वाले विद्वानों का ग्रहण है। ये विशेषण सोमवल्ली आदि पर तो कभी चरितार्थ हो ही नहीं सकते।

ऋ० ९, १०१, १२ और साम ११०२ में सोमों के पूताः, विपश्चितः, सूर्यासो न दर्शतासः इत्यादि विशेषणों का प्रयोग हुआ है जिनका अर्थ पवित्र, विद्वान्, सूर्यकिरणों के समान दर्शनीय इत्यादि है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सोम के अनेक अर्थ

अब मैं ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम के जो अनेक अर्थ बताये गये हैं उनका निर्देश करता हूँ, ताकि मन्त्रों के अर्थ का निश्चय करने में सहायता मिल सके। इनमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक अर्थों के अतिरिक्त कई आधिदैविक अर्थ भी हैं। उदाहरणार्थ-सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः। (शत० ५, १, २, १०; ५, १, ५, २८) यहाँ सोम से ज्योति का ग्रहण किया गया है। श्रीर्वै सोमः। (शत० ४, १, ३, ९) यहाँ सोम से श्री अर्थात् ऐश्वर्य अथवा शोभा का ग्रहण किया गया है। राजा वै सोमः। (शत० १४, १, ३, १२) में सोम का अर्थ राजा बताया गया है क्यों कि सोम शब्द षु प्रसवैश्वर्ययोः से बना है। उसके ऐश्वर्य आदि अर्थ को लेकर राजपरक अर्थ किया गया है। सोमो हि प्रजापतिः। (शत० ५, १,५, २६) सोमो वै प्रजापतिः इत्यादि के अनुसार प्रजा के स्वामी परमेश्वर के लिये सोम शब्द का प्रयोग है। 'यो' वै विष्णुः सोमः सः। (शत० ३, ३, ४, १) अर्थात् विष्णु—सर्वव्यापक परमेश्वर को ही सोम के नाम से पुकारा गया है। योऽयं वायुः पवत एष सोमः। (शत० ७, ३, १, १) यहाँ सोम का एक अर्थ वायु बतलाया गया है। सोमो वै चतुर्होता। (तैत्ति० २, ३, १, १) के अनुसार चारों वेदों से यज्ञ कराने वाले ब्रह्मा को भी सोम कहते हैं। एष वै यजमानो यत् सोमः। (तैत्ति० १, ३, ३, ५) के अनुसार यजमान को भी सोम कहते हैं। वर्चः सोमः। (शत० ५,२, ५, १) इसमें वर्च को सोम कहा गया है। क्षत्रं सोमः। (ऐत० २, ३८। कौषी० ७, १०, ९, ५) क्षत्रं वै सोमः। के अनुसार क्षात्र शक्ति को भी सोम कह सकते हैं।

यशो वै सोमः। (शत० ४, २, ४, ९) यशो वै सोमो राजा। (ऐत० १, १३) सोमो वै यशः। (तैत्ति० २, २, ८, ८) इत्यादि के अनुसार कहीं २ यश के लिये भी सोम शब्द का प्रयोग हुआ है। रेतः सोमः। (कौषी० १३।७॥ तैत्ति० २, ७, ४, १॥ शत० ३, ३, २, १॥ ३, ३, ४, २८) इत्यादि प्रमाणानुसार सोम से वीर्य का भी ग्रहण होता है और इसी लिये वीर्यवान् ब्रह्मचारी वा स्नातक के लिये विशेष रूप से आधिभौतिक दृष्टि से सोम शब्द का प्रयोग होता है। प्राणः सोमः। (शत० ७।३।१।२) प्राणो हि सोमः। (ताण्ड्य० ९।९।१।५) इत्यादि के अनुसार प्राण के लिये भी सोम शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में होता है। रसः सोमः। (शत० ७।३। १,३) तद् यत् तदमृतं सोमः सः। इत्यादि के अनुसार ज्ञानमय भक्तिरस वा भक्ति अमृत के लिये भी सोम शब्द का प्रयोग वेदों में किया गया है, जैसे कि इस लेख में अनेक मन्त्रों को उद्धृत करते हुए बताया गया है। ऋ० १।८४।४ और साम मं० ९४९ का यह मन्त्र भी इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है—

इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्॥

अर्थात् हे (इन्द्र) जीवात्मन्! तू (इमम्) इस (सुतम्) अभ्यास वैराग्यादि द्वारा उत्पादित (ज्येष्ठम्) सबसे बड़े (अमर्त्यं) अमर, कभी न नष्ट होने वाले

आध्यात्मिक (मदम्) मस्त करने वाले ज्ञानमय भक्तिरस का (पिब) पान कर। सोमः पयः। (शत० १२।७।३। १३) तथा आपः सोमः सुतः। (शत० ७।१।१।२१) आदि के अनुसार सोम शब्द का प्रयोग दुग्ध अथवा जल के लिये भी वेदों में कहीं २ होता है। सोमो वै दधि। (कौषी० ८।९) के अनुसार दही के लिये भी सोम शब्द का कहीं २ प्रयोग होता है। अन्नं सोमः। (कौषी० ९।६ ॥ शत० ३।३।४।२८ ॥ ताण्ड्य० ६।६।१) आदि के अनुसार उत्तम अन्न के लिये भी सोम शब्द का प्रयोग हो जाता है। तै० १।३।३।२ सोम को देवों का परम अन्न कहा गया है। (एतद् वै देवानां परममन्नं यत् सोमः)। इसी को कौषी० १३।७ में एतद् वै परममन्नाद्यं यत् सोमः। इस रूप में कहा गया है। शत० ११।५।६।६ में साम मन्त्रों को देवों की सोमाहुति कहा गया है सोमाहुतया ह वा एता देवानां यत् सामानि। अथ सोमाय वनस्पतये।(शत० ५।३।३।४) सोम वीरुधां पते। (तै० ३।११।४।१) ओषधा हि सोमो राजा। (ऐत० ३।४०) सोम ओषधीनाम् अधिराजः। (गोपथ उ० १।१७) सोमो वै राजौषधीनाम्। (कौषी० ४।१२॥ तैत्ति० ३।७।१७।१) इत्यादि के अनुसार सोम ओषधियों का अथवा वनस्पतियों का राजा है। अनेक प्रकार के रोगों के निवारण और शक्ति-सम्पादन के लिये इसका सेवन किया जाता है।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं
न कश्चन सहत आहवेषु॥

ऋ० ६।४७।१ ॥ अथर्व० १८।१।४८॥

इस मन्त्र में सोम लता के रस का बासरूप से वर्णन है कि यह सोम रस स्वादु है, मधुर है, तीव्र और रसयुक्त है। इसका पान करने वाले इन्द्र–राजा–सेनापति आदि को युद्धों में कोई परास्त नहीं कर सकता।

इनके अतिरिक्त सोमो वै ब्राह्मणः। (ताण्ड्य २३। १६।४) सौम्यो हि ब्राह्मणः। (तैत्ति० २।७। ३।१) पुमान् वै सोमः। (तैत्ति० १।३।३।१) इत्यादि के अनुसार प्रधानतया शान्त स्वभाव वाले ब्राह्मण और सामान्यतया कई स्थानों पर अन्य पुरुषों के लिये भी सोम शब्द वेदों में प्रयुक्त होता है।

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥

ऋ० १०।८५।९॥

इत्यादि में सोम से वीर्यवान् पुरुष का ग्रहण है जिसका पति की कामना करने वाली सूर्यवत् कान्तिमती कन्या के साथ (सविता) कन्या का पिता विवाह कर देता है; इत्यादि वर्णन सूर्या सूक्त में आया है।

महर्षि दयानन्द कृत सोम के अनेकार्थ

अब मैं महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थादि के अनुसार सोम के जो अनेकार्थ किये हैं उनका निर्देश करता हूँ, जिससे यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द जी सरस्वती आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से इस सोम शब्द के अनेकार्थ मानते थे।

आध्यात्मिक दृष्टि से :—

(१) परमेश्वरः—सकलजगतः प्रसविता य० ७। २५। सृष्टिक्रमेण सर्वपदार्थाभिषवकर्ता शान्तः ऋ० १। ८९। ३। सोमः = परमेश्वरः य०। ४। २०॥
(२) वीररसादिकः॥ ऋ० १। ४७। ३॥
(३) योगैश्वर्यवृन्दः॥ य० ७। ९॥
(४) शरीरात्मबलम्॥ य० ३४। २१॥

आधिभौतिक दृष्टि से:—

(१) प्रेरको विद्वान्॥ ऋ० ६। ३८। ४॥
धर्मप्रेरकः॥ ऋ० १। १११। ९॥
(२) मृदुगुणवर्धकः॥ य० ८। १॥
(३) ऐश्वर्यमिच्छुः॥ य० ९। ३१॥
(४) शुभगुणप्रसिद्धः॥ य० १०। १८॥
ऐश्वर्यवान्, सत्याचारे प्रेरकः॥ य० ३४। २१॥
(५) उत्तमरससम्पादकः, पदार्थविद्यास्वीकारकः ऐश्वर्ययुक्तं राज्यं वा॥ य० ४। २४॥
(६) प्रशस्तगुणः शिष्यः॥ य० ७। १४॥
(७) सर्वसुखप्रापकः सभाध्यक्षः॥ १। ३४। ७॥
(८) सर्वसुहृत् सौहार्दप्रदो वा॥ ऋ० १।९१।८॥
सौम्यगुणसम्पन्नो राजा॥ य० ७। २१॥
(९) ऐश्वर्यगुणविशिष्टो गृहाश्रमः॥ य० ८।४९॥

आधिदैविक दृष्टि से:—

(१) सोमलतादिसमूहरसः॥ ऋ० १। १८। ४॥

सर्वरोगनाशको बलपुष्टिबुद्धिवर्धक उत्तमोषध्य-
भिषवः ॥ ऋ० १ । २८ । ९ ॥

(२) ऐश्वर्यप्रदः पदार्थसमूहः ॥ ऋ० १।८०।२॥

(३) जलम् ॥ ऋ० ५ । ३४ । ३ ॥

(४) बहुत सुख को उत्पन्न करने वाला पवन ॥ ऋ० १ । ९४ । ५ ॥

(५) महौषधिविशिष्टमन्नम् ॥ ऋ० ३ । ४० । ५ ॥

(६) सूयन्ते यस्मिन् स संसारः ॥ ऋ० ३ । ४७ । ३ ॥

(७) ओषधिजन्यो घृतदुग्धादिरसः ॥ ऋ० ३।४७।४॥

(८) सोतव्यः सर्वः पदार्थो विमानादियानं वा ॥

(९) चन्द्रः ॥ ऋ० ३ । ६१ । २ ॥

इस प्रकार सोम के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से २२ अर्थ महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में किये हैं जिनका प्रकरणानुसार उपयोग करने से वेदमन्त्रों का ठीक अर्थ ज्ञात हो सकता है और अनेक प्रकार के भ्रमों से विद्वान् बच सकते हैं ॥

वेद का अनुसन्धान

[*ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु—वाराणसी*]

तीन दिन पूर्व १७ अक्तूबर १९६० को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के किसी कार्य से वहाँ जाने का अवसर हुआ। वहाँ विद्वद्वर्य महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी से अकस्मात् भेंट हुई। उन्होंने कहा कि "अभी विद्वद्गोष्ठी में वेद विषय पर एक निबन्ध पढ़ा जाने वाला है, आप भी आइये।" मैंने कहा कि ठीक है, मैं यहाँ के कार्य से निवृत्त होकर आता हूँ। इस कार्य में कुछ समय लग जाने के कारण मैं उक्त गोष्ठी में विलम्ब से पहुँच पाया। महामहोपाध्याय जी उस सभा के सभापति थे। निबन्ध लगभग आधा पढ़ा जा चुका था, जिससे मुझे खेद ही रहा। आरम्भ से सुन पाता तो मुझे अधिक हर्ष होता।

लगभग आधे निबन्ध को मैंने ध्यान से सुना। विषय था—"वेद में विज्ञान"—जो मुझे स्वभावतः अत्यन्त अभीष्ट वा प्रिय था। उसमें अग्नि-विष्णु-रुद्र आदि वैदिक शब्दों के निर्वचन ही निर्वचन दर्शाये गये थे, सो भी प्रायः अपनी कल्पना से, प्राचीनों के आधार पर नहीं। अन्त में किसी-किसी शब्द पर दर्शाये निर्वचन के आधार पर, 'इसमें बड़ा रहस्य है' 'बड़ा विज्ञान है' यह टेक दर्शाई गई थी। "वेद मे विज्ञान" का नाम सुनकर ही प्रत्येक भारतीय को एक अपूर्व प्रसन्नता वा उत्सुकता होने लगती है। हम लोगों को तो और भी उल्लास का अनुभव होने लगता है। बहुत ही अच्छा होता यदि मैं आरम्भ से ही उस लेख को सुन पाता। गोष्ठी के ठीक समय का ज्ञान न था। अकस्मात् ही मैं वहाँ पहुँच गया था। पहिले से पता होता तो मन से तय्यार होकर जाता। जितना भी मैंने सुना उसमें मुझे बहुत कम उपयोगी अंश प्रतीत हुआ। सम्भव है पूर्वार्द्ध में अधिक उपयोगी अंश रहा हो। मैं प्रतीक्षा करूँगा कि यह लेख छप जावे और पढ़ने वा विचार करने को मिले, तब कुछ लिखा जावे।

यह लेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में अनु-सन्धान कार्य करने वाले एक सुयोग्य विद्वान् द्वारा लिखा और उपस्थित किया गया था। जहाँ तक परिश्रम वा विषय की दुरूहता तथा उपयोगिता का सम्बन्ध है, लेखक का उद्योग प्रशंसनीय है। पर निर्वचनों के आधार पर अर्थ की प्रक्रिया का सिद्धान्त यदि दृढ़ प्रमाणों द्वारा उप-स्थित किया जाता, निर्वचन चाहे थोड़े से ही दर्शाये गये होते, तो अधिक अच्छा होता। थोड़े निर्वचन प्रौढ़ता पूर्वक दर्शाये जाते जिनसे हर किसी को मानना पड़े कि हाँ निर्वचन के आधार पर अर्थ की प्रक्रिया वेदार्थ के लिये अनिवार्य और अत्यन्त उपयोगी वा लाभप्रद है, तो बहुत अच्छा होता। अब पूरा लेख छप जाने पर ही इस विषय का विवेचन करना उचित वा लाभकर होगा॥

निबन्ध के अन्त में एक विद्वान् ने कुछ आलोचना

रूप में कहा। काशी के अनेक बड़े २ विद्वान् बैठे थे जिनका मेरे साथ प्रेम-परिचय पर्याप्त है, वे प्रेमवश मुझे प्रेरणा करने लगे कि मैं कुछ बोलूं। 'वेद में विज्ञान' मेरे लिये प्रिय विषय था, पर अधूरी बात सुन कर बोलना मैं ने उचित न समझा, चाहते हुये भी मैं नहीं बोला। मैं इस लिये भी नहीं बोला कि देखना तो चाहिये, इस विषय पर काशी के विद्वान् क्या बोलते हैं। बोलने से सुनना अच्छा होगा, ऐसा मन में निश्चय किया। तत्पश्चात् ३-४ विद्वान् कुछ बोले। एक दो विद्वानों ने तो कुछ अच्छे ढंग से आलोचना की। शेष तो ऐसा बोले जैसे एक वेद का दर्शन भी न किया हुआ व्यक्ति बोलता है। एक महानुभाव, जो काशी के बड़े योग्य विद्वान् समझे जाते हैं, तो विचित्र ही बोले—"वेद में विज्ञान है वा नहीं, यह सब तो एक प्रकार का अध्यास है, अध्यास मिथ्या में ही होता है। हमें इसमें पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है" इत्यादि, इसी भाव का वह कथन था, जिसे सुन कर मैं तो एक दम आश्चर्यचकित हो गया। मेरे सामने ऐसा चित्र सा आने लगा कि पहिले तो यहाँ काशी में लग-भग १५००० छात्र परीक्षा देते हैं जिनमें १४००० तो व्याकरण के छात्र ही होंगे १००० में अन्य सब विषयों के होंगे। लग-भग १००-१२५ परीक्षार्थी वेद विषय में सब होंगे। प्रति वर्ष अधिक-से-अधिक १-२ आचार्य वेद विषय में बनते होंगे। जो हैं उनकी विद्वत्ता का हाल कहाँ तक है वा काशी में किसी विषय की प्रौढ़ता-विज्ञता का इस समय क्या हाल है, सो पाठक सुनें। कुछ वर्षों की बात है कि निरुक्त पढ़ाने के लिये ग० संस्कृत कालेज बनारस (वर्त्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय) में एक अध्यापक की आवश्यकता होने पर विज्ञप्ति निकाली गई, तो लग-भग ३०० विद्वानों ने प्रार्थनापत्र दिये। साक्षात्कार समिति (इण्टरव्यू कमेटी) में पण्डित लोग आये। कमीशन के एक विशेषज्ञ सदस्य ने काशी के एक पण्डित जी से पूछा—'कहिये पण्डित जी! आप निरुक्त पढ़ा सकेंगे ?" पण्डित जी—"हाँ मैं पढ़ा सकता हूँ"। विशेषज्ञ सदस्य—"पण्डित जी! आपने निरुक्त कभी पढ़ाया है" ? पण्डित जी "पढ़ाया तो नहीं है"। सदस्य—"क्या कभी पढ़ा है" ? पण्डित जी—"पढ़ा भी नहीं है"। सदस्य—"अच्छा पण्डित जी! आपने निरुक्त ग्रन्थ कभी देखा भी है कि कितना मोटा या पतला है" ? पण्डित जी (जो बड़े सच्चे सरल स्वभाव के थे) कहने लगे—"देखा भी नहीं है"॥ पाठक विचार करें कि यह कितनी विडम्बना है। जिस ग्रन्थ को देखा भी नहीं, उसको कहना कि पढ़ा सकता हूँ या पढ़ाने का उत्तरदायित्व लेना और देना कितना पाप है। यह काशी में होता रहा, अब भी हो रहा है। आप किसी भी पण्डित जी के पास कोई भी पुस्तक लेकर जावें कि पढ़ना चाहता हूँ तो काशी का पण्डित तीन काल में भी नहीं कहेगा कि मैं यह पुस्तक नहीं पढ़ा सकता। विद्यार्थी की जान मारेगा। जब छात्र कहेगा कि गुरुजी! इसको पुनः समझा दें, समझ में आया नहीं तो पहिले तो आग बगूला होकर पुस्तक पटक देगा कि "जा तू पात्र नहीं, गुरु पर तेरी आस्था नहीं है। बिना श्रद्धा और सेवा के कुछ नहीं आता"। यदि क्रोध न हुआ तो कह देगा, "तेरी बुद्धि अभी निर्बल है। कई बार पढ़ने से समझ में आवेगा"। छात्र बेचारा चुप लगा जाता है। करे भी तो क्या करे। झक मार कर जो ३–४ मास में समझा जा सकता है, वह ३–४ वर्ष में भी नहीं हो पाता। हो भी कैसे गुरु जी ने तो चेला बनना न हुआ। अर्थात् किसी योग्य विद्वान् के पास जाकर पढ़ना भी न हुआ, उसमें अपकीर्ति होती है कि इनको कुछ नहीं आता या अयोग्य हैं। काशी की इस परम्परा का हमें व्यक्तिगत रूप से भी अनुभव सन् १९२५ ई० से अर्थात् लगभग ३५ वर्ष का है। सुनी सुनाई बात हम नहीं लिख रहे हैं। स्वयं भुक्तभोगी हैं॥

तात्पर्य कहने का यह है कि इन वर्त्तमान विद्वानों (कुछ एक विद्यारसिकों को छोड़कर) के सामने वेद सम्बन्धी विचार उपस्थित किया जावे तो वह उस पर कहाँ तक और क्या ऊहापोह कर सकते हैं। हाँ, उनके अपने विषय पर, वह भी उनके अपने ढंग से हो तो कुछ सम्भव भी है। कुछ इसलिये कि अनुसन्धान के ढंग का तो पता नहीं। उन ग्रन्थों का प्रौढ़ ज्ञान हो तो भले ही कुछ लाभ हो सकता है। काशी में तो विद्वान् बनता ही ऐसे है कि किसी भी ग्रन्थ को (जितना कि वह परीक्षा में है) वर्ष भर में कई बार पाठ पढ़ा दे, स्वयं प्रयत्न करने पर नहीं। उक्त विषय की प्रौढ़ता तो स्वयं अनुशीलन करने पर ही होती है। यह भी विदित रहे कि उक्त गोष्ठी में अन्त में संस्कृत विश्वविद्यालय के सुयोग्य वाइसचांसलर महोदय का संस्कृत में बहुत उपयोगी विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित भाषण हुआ जिससे वह गोष्ठी सार्थक प्रतीत हुई॥

"वेद में विज्ञान" विषय पर ऊहापोह करने के लिये उपस्थित विद्वानों (जिन में कई एक के प्रति अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् होने के नाते हमें गहरा सम्मान और आदर है) को देखकर मुझे तो गहरी निराशा हो रही थी कि जो किसी का विषय नहीं उस पर विचार-विनिमय कैसे हो। इसी चक्रव्यूह में मन फँसा था कि "अध्यास" की बात सुनकर तो रही सही आशा भी विलुप्त होने लगी। काशी में नवीन वेदान्त का इतना प्रसार है कि जहाँ कँकर वहाँ शङ्कर। काशी की एक-एक गली में विद्वान् समझा जाने वाला व्यक्ति जगन्मिथ्या वा अध्यास के चक्र में है। कुछ तो वास्तव में हैं जो इस भ्रमजाल में फँसे हैं, कुछ केवल दिखाने के लिये अध्यासी (अभ्यासी नहीं) बन रहे हैं। हमें समझ में नहीं आता कि यह अध्यास लौकिक सभी व्यवहारों में रत व्यक्तियों को भी अपना स्वरूप क्यों नहीं दर्शा पाता। इसमें कुछ तत्त्व होता तो ऐसी बातों से तो उपरति हो ही गई होती। हम समझते हैं, आत्मा में अध्यास ठीक जमा नहीं। लोगों में कीर्ति के लिये ही अध्यास का आश्रय ले लिया जाता है॥

विचारणीय तो यह है कि ऐसी विद्वद्गोष्ठियों से क्या लाभ हो सकता है जैसी कि चल रही हैं। हाँ, यदि इनसे जिज्ञासा उत्पन्न हो जाये और विद्वान् कहे जाने वाले सज्जन उन विषयों की जानकारी वा स्वाध्याय आदि में तत्पर होने लगें, तब तो कुछ लाभ भी है चाहे वह देरी में हो॥

वेद विषय की कुछ प्रारम्भिक और मौलिक धारणायें हैं, परम्परायें हैं जिनपर पहिले गम्भीरता से विचार कर लेना होगा, जिसमें वेद का अपौरुषेयवाद सर्वप्रथम विषय है। इस पर गम्भीरता-उदारता-निष्पक्षपात से विचारने की आवश्यकता है। गत वर्ष श्री० करपात्री जी महाराज ने काशी में वेदसम्मेलन की योजना १५–२० दिन के लिये रखी। विचार बहुत ही अच्छा था। इससे महान् लाभ की आशा की गई थी। पर वह भी अन्त में एक प्रदर्शन मात्र ही बन कर रह गया। उस में भी कई लोगों के मत में कुछ राजनीति प्रधान रही। दाक्षिणात्यों की प्रधानता से अन्य पारियों (सरजूपारी-गङ्गापारी-यमुनापारी) का सहयोग उतना नहीं प्राप्त हो सका, जितना होना चाहिये था वा हो सकता था। वेद की सब शाखाओं के विद्वान् बुलाये गये थे, यह बहुत प्रशंसा की बात थी। कानपुर में दो वर्ष पहिले इसका प्रथम अधिवेशन होने पर एक विद्वान् ने "वेद का स्वरूप" विषय विचारार्थ उपस्थित होने पर बहुत ही स्पष्ट शब्दों में (क्योंकि वह हृदय से ऐसा ही मानते थे।) कहा कि "वेद" तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' नहीं, 'अपि तु 'ब्राह्मण ही वेद हैं' संहिता भाग जो कहलाते हैं उनका तो गौण वेदत्व है। इन पंक्तियों के लेखक ने वहां और काशी में मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" का खण्डन किया था। सनातनधर्म वेद को ईश्वरीय ज्ञान मनता है, 'अपौरुषेय' वेद को मानता है। सो यदि वेद ऋषियों की कृति अर्थात् ऋषियों के बनाये माने जावें तो वेद अपौरुषेय तो रह नहीं सकता। वेद अपौरुषेय भी कहते जाना और ऋषियों के बनाये भी कहते जाना, यह तो परस्पर विरुद्ध दो अलग-अलग सिद्धान्त हैं। उक्त पण्डितजी ने जब "ब्राह्मण ही वेद हैं" ऐसा प्रबलता से कहा तो सनातन धर्म के गम्भीर विद्वानों ने उनकी इस बात को स्वीकार नहीं किया, जिससे हमें स्वभावतः प्रसन्नता हुई कि चलो वेद अपौरुषेय विषय में तो सनातनधर्म और आर्यसमाज एकमत रहे, जैसे गोरक्षा के विषय में। पर काशी वाले वेदसम्मेलन में हमारी वह प्रसन्नता विलुप्त हो गई। जब श्रीकरपात्री जी की ओर से आर्यसमाज के प्रतिनिधि द्वारा वेद के अपौरुषेयवाद का प्रतिपादन करते हुए ब्राह्मण ऋषिकृत हैं, वेद संहिता नहीं, इसका प्रतिपादन करते हुये वेद संहिता भी ऋषिकृत हैं, सनातन धर्म की ओर से इस पक्ष की स्थापना की गई, जिसे सनातन धर्म नहीं मानता, तब हमें आश्चर्य और दुःख हुआ। केवल आर्यसमाज के पक्ष का खण्डन करने के लिये उन्हों (उनके विद्वानों) ने उस समय वेद संहिताओं को ऋषिकृत मान लिया जो उनके अपने सनातनधर्म के सिद्धान्त से भी विरुद्ध है॥

यह हम इस लिये लिख रहे हैं कि "वेद ऋषिकृत हैं या नहीं" इस विषय पर आर्यसमाज और सनातनधर्म दोनों प्रेमपूर्वक मिलकर करें, एक दूसरे के सहयोग द्वारा विरोधियों का मुँह बन्द करने के लिये नहीं, अपितु उनके हृदय में बिठा देने के लिये कि "वेद का अपौरुषेयवाद" भारत का एक प्राचीन–परम्परागत–मुख्य वाद है जिसपर भारतीय संस्कृति का आधार है॥

समस्त शास्त्रों का अनुशीलन करके जो स्थल संदिग्ध

वा विचारणीय रह जावें, उन पर आगे विचार होता रहे। यह है अनुसन्धान जिस पर सबको गम्भीरता और तत्परता से लगने की आवश्यकता है ॥

जहाँ तक वेदसम्मेलन के आकार प्रकार की बात है, श्री० करपात्री जी ने एक आदर्श स्थापित किया है। सब प्रान्तों से योग्य विद्वानों को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित कर उन्हें आने-जाने के मार्गव्यय देने के अतिरिक्त ठहरने भोजनादि की सन्तोषजनक पूरी व्यवस्था की थी। पूर्व-पक्ष के विचार वालों को भी आदरपूर्वक मार्गव्यय दिया गया। हाँ, उनके साथ विचार करने में कुछ पक्षपात अवश्य हुआ और उत्सव की सफलता वा रोचकता का भाव न रहता तो बहुत लाभ होता। लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि यह तो एक प्रदशन मात्र ही रह गया। वाह-वाह ही प्रधान रही। ठोस कार्य बहुत ही कम हुआ। श्री० करपात्री जी चाहें तो इसका स्वरूप सुन्दर बना सकते हैं। वेदसम्मेलन का उपक्रम बहुत अच्छा था। उपसंहार में कमी रही, यह हमारा विचार है।

अब रही आर्यसमाज की बात! सो भी सुनिये! आर्यसमाज के स्थानीय कार्यकर्त्ताओं को अपनी समाज की प्रगति जनता के सामने रखनी होती है क्योंकि जनता से चन्दा लेना होता है, अतः वार्षिक उत्सव करना ही पड़ता है। इनको बुला लिया, उनको बुला लिया, चाहे पीछे ५-५ वा ७-७ मिनट ही समय दूर-दूर से आने वाले विद्वानों को मिले। इसके लिये उन्होंने एक नया ढंग निकाला है कि भिन्न-भिन्न रुचि वालों को प्रसन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से सम्मेलन रख दिये। जैसे व्यापारी वा वैद्य अपनी ओषधियों के विज्ञापन आकर्षक ढंग से छापते हैं। इसी प्रकार इन सम्मेलनों की योजना आर्यसमाज में चल गई है। उन सम्मेलनों में बोलने के लिये किसी विशेष विद्वत्ता की आवश्यकता ही नहीं होती। बोलने की कला थोड़ी बहुत आती हो तो भी काम चल जाता है। बस दो घण्टे का सम्मेलन रख दिया, २० मिनट सम्मेलन के सभापति को, शेष १०० मिनट में ६ वक्ता और ८ उपवक्ता = १४ व्यक्तियों को अपनी भाषण करने की खुजली मिटाने का अवसर मिल जाता है। अखबारों में छप जाता है। नहीं तो १५–२० दिन का समय रखा जावे। सब अपने मौलिक-सुविचारित वक्तव्य किसी एक विषय पर लिखकर लावें। उस पर प्रेमपूर्वक आलोचना-प्रत्यालोचना होकर वह छपे। आगे उस विषय पर पुनः अन्तिम निर्णय करके छाप दिया जावे। यह सब तो परिश्रम और गम्भीर अध्ययन साध्य है। कौन इसमें पड़े। वेदसम्मेलन का नाम सुनकर आर्यजनता बड़ी-बड़ी आशायें लेकर आती है कि हमें वेद विषय में कुछ आगे नई सामग्री मिलेगी जिसको समझने वाले भी अत्यल्प ही होते हैं। वेद के नाम पर जनता इकट्ठी हो जाती है। मथुरा में अपार भीड़ हुई। विद्वान् समझे जाने वाले वक्ता (चाहे संस्कृत वा वेद का एक अक्षर भी न जानते हों, अधिकारी होने के नाते) हर कोई बोलने के लिये आ खड़ा होता है। व्यवस्था पहिले निर्धारित न होने के कारण विद्वान् भी क्या करें, हाथ हिलाते हुये बिना पहिले कुछ विचारे सभापति के पास आ उपस्थित होते हैं। कुछ बोलना है, कुछ तो बोल ही देते हैं। आर्यसमाज में वेद सम्मेलन के नाम से वा वेद के नाम पर यह विडम्बना कब तक चलती रहेगी, कब समाप्त होगी विचारने की बात है।

सनातन धर्म तो एक चूँ चूँ का मुरब्बा है जिसमें महीधर जैसे वामी भी खप जाते हैं। नवीन वेदान्त के पचड़े ने जनता की विचारशक्ति का लोप कर दिया है। बड़े बड़े विद्वान् गोते खा रहे हैं। श्रीकरपात्री जी जैसे विद्वान्—गम्भीर विचारक हृदय में यथार्थ समझते हुए भी वही लकीर क्यों पीटते चले जा रहे हैं। वह सब बातों को वा सब ग्रन्थों को सनातन धर्म मान चुके हैं। करें तो क्या करें। सब का पक्ष समर्थन करना हुआ। न करें तो सनातन धर्म नहीं रहता। समर्थन सब का हो नहीं सकता। सब को ठीक मान लिया जाना सम्भव नहीं, किसी न किसी को तो छोड़ना ही पड़ेगा। विद्वान् तो यदि सत्य पक्ष का ही अवलम्बन करेंगे तो संसार का हित हो सकता है। आर्यसमाज वेद पर यथार्थ रूप में कार्य करे तभी कुछ हो सकता है। सौभाग्य से ऋषि दयानन्द ने लगभग सभी आवश्यक विषयों पर विवेचन पूर्वक सिद्धान्त निश्चित कर दिये हैं। हमारी दृष्टि से वेद की शाखाओं का एक विषय ऐसा अवश्य है जिस पर आर्यसमाज को गहरा अनुसन्धान व गहरा अनुशीलन करना होगा। अन्य विषय तो प्रायः निर्णीत से ही हैं जिनपर ऋषि दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर बहुत कुछ निर्धारित कर दिया है चाहे वह संक्षेप में हैं।

इस पर आगे भी अनुसन्धान होना चाहिये। आर्यसमाज द्वारा जो अनुसन्धान हो सकता है वह होना चाहिये। उसका बड़ा भारी महत्त्व है। वह एक सुदृढ़ नींव पर आधारित होने से वेद की गहराई तक पहुँचने वाला है, वर्तमान सनातन धर्म में यह बात नहीं। अध्यास में कुछ रहता ही नहीं॥

अनुसंधान और वह भी वेद का अनुसंधान—इतना आकर्षक है कि इस नाम से अनेकों चतुर व्यक्ति जनता की आँखों में धूल डालकर अपनी २ दुकानें चलाने में लग जाते हैं और जनता की अल्पज्ञता वा अज्ञता का दुरुपयोग कर वास्तविक अनुसन्धान करने वालों का मार्ग भी अवरुद्ध कर देते हैं। जो अधिक जोर जोर से चिल्लाता है, सच-झूठ सब से काम लेने वाला होता है, जनता उसी के चक्र में फँस जाती है और बड़े सौभाग्य से ही छूट पाती है। अन्यत्र तो है ही, आर्यसमाज में भी ऐसे लोगों की दाल गलती देखी जाती है। अच्छे २ समझदार लोग भी ऐसे व्यक्तियों से डर कर न्यायपथ से विचलित होते देखे जाते हैं जिससे कालान्तर में समाज को भारी धक्का लगता है। अनुसन्धान का ढंग आर्यसमाज की बड़ी बड़ी संस्थाओं तक में भी नाम मात्र को ही है। आर्यसमाज की दृष्टि से गम्भीर अध्ययन इसके लिये अनिवार्य है। इसकी व्यवस्था बने तो काम चले। प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है, ऐसा समझने वाले गंभीर अध्ययन कर नहीं सकते। उधर गम्भीर अध्ययन-युक्त वेद के अनुसन्धान का कोई कार्य सौभाग्य से कहीं आरम्भ भी होने लगता है तो टाँग पकड़कर पीछे घसीटते हैं। उसको येन केन प्रकारेण नष्ट वा तारपीडो करने की पूरी चेष्टा की जाती है। एक लकीर (रेखा) खिंची है, उसे छोटा करने का तो उपाय सीधा है कि उसके पास बड़ी रेखा खींच दो (तुम अधिक अच्छा काम करके दिखाओ), वह अपने आप छोटी हो जायगी। पर नहीं यह नहीं करना, क्योंकि ऐसा करने में तो परिश्रम करना वा शक्ति लगानी पड़ती है। इसलिये उस रेखा को मिटा देना ही परम लक्ष्य आजकल के विद्वान् समझे जाने वालों का देखा जाता है। यूरोपीय अनुसन्धान और उन पाश्चात्यों के मानस पुत्र भारतीय विद्वानों की रिसर्च के विषय में हम पुनः कभी अपने विचार उपस्थित करेंगे। जैसे सांस्कृतिक पुरोग्रामों (कार्यक्रमों) के नाम पर अनाचार-दुराचार का प्रचार हो रहा है, इसी प्रकार अनुसन्धान के नाम पर असत्य–सर्वथा झूठा कार्य–प्रदर्शनमात्र–स्वतन्त्र भारत के धन की लूट–चचा-भतीजों वा निजी परिवार वालों की पालना रूपी मिथ्या कार्य का प्रचार हो रहा है जिस पर कहाँ तक लिखा जावे। विचारने से दुःख भी होता है।

यह सब छोड़कर हम तो आर्यसमाज के गम्भीर विचारकों वा नेताओं के समक्ष यह बात उपस्थित करते हैं कि वेद का सच्चा अनुसन्धान तो आर्यसमाज ही कर सकता है। उसे ही मथुरा शताब्दी जैसे समारोहों द्वारा सच्चा अनुसन्धान करने-कराने की व्यवस्था करनी चाहिये। पक्षपात वा पार्टीबन्दी से ऐसे काम सफल कदापि नहीं हो सकते। वर्ष में दो बार आर्यसमाज—ऋषि दयानन्द को आप्त मानने वाले आर्य विद्वानों को किसी एक वा दो स्थानों में १५–२० दिन के लिये इकट्ठा करे। पहिले सिद्धान्त पक्ष वालों के निर्णय हो जावें। पीछे आर्य समाज में पूर्वपक्ष मात्र उपस्थित करने वालों (जिनकी संख्या भी पर्याप्त है) से भी १५–२० दिन का समय लगाकर बात की जावे। उसके पश्चात् अन्य भारतीय विद्वानों से भी विचार-विनिमय किया जावे, पीछे पाश्चात्यों से भी। पुस्तकालय बड़े-चड़े (उपयोगी आवश्यक पुस्तकों सहित) हों॥

यह है "वेद-अनुसन्धान" का एक प्रकार, जिस पर आर्यसमाज के नेता वा अधिकारी तथा आर्य विद्वान् विचार करें। इस विषय में आगे भी बहुत कुछ परस्पर मिलकर विचारा जा सकता है। आशा है हमारे इस लेख को उसी भावना से पढ़ा जायगा जिससे प्रेरित होकर हमने यह थोड़ा सा लिख दिया है। धियो यो नः प्रचोदयात्!!

धर्म वही है, जिसका कोई विरोधी न हो

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे॥

महर्षिदयानन्द

पुस्तक-परिचय

[समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी अनिवार्य हैं। नहीं तो प्राप्ति-सूचना मात्र ही दी जा सकेगी। इसमें भी जो पुस्तक उपयोगी न समझी जावेगी उसकी समालोचना न हो सकेगी। डाकव्यय भेजने पर वह वापस लौटायी जा सकती है। अवसर प्राप्त होने पर ही समालोचना प्रकाशित हो सकेगी, पुनः पुनः इस विषय में लिखने का कष्ट न करें। पुस्तक के एक-एक अक्षर के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं ॥
—सम्पादक]

(१) गुरुदत्त लेखावली—ले०—स्व० मुनिवर पं० गुरुदत्त एम० ए०। प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली। पृष्ठ संख्या १६२। कागज—अतिसाधारण। मूल्य ३) वेदप्रकाशसहित ॥

हम समझते हैं कि प्रकाशक महोदय ने यह बहुत उपकार का कार्य किया है, जो यह पुस्तक छापी है। यह पुस्तक सर्वथा अलभ्य हो रही थी। यह पुस्तक स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० के 'वर्क्स आफ़ पण्डित गुरुदत्त' नामक कतिपय अङ्ग्रेज़ी निबन्धों का भाषानुवाद है। पं० गुरुदत्त जी अलौकिक मेधा-बुद्धि के विद्वान् थे। उन्होंने लाहौर में अष्टाध्यायी महाभाष्य की श्रेणी खोली थी जिसको वह स्वयं पढ़ाते थे। वेद के विद्यार्थी ही नहीं, वेद के विद्वान् को भी इन लेखों में अद्भुत सामग्री मिलती है ॥ यह पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय है। हम प्रकाशक को इसके लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं ॥

(२) यजुर्वेद भाष्य संग्रह—(पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा में नियत अंश) ले०—पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। प्रकाशक—मन्त्री आर्य कुमार महासभा, आत्मारामपथ बड़ौदा ॥ पृ० सं० ३२४। कागज छपाई उत्तम। मूल्य ३॥), सजिल्द ४)

यह पुस्तक शास्त्री परीक्षा में पढ़ने वाले छात्रों के लिये परमोपयोगी है। ऋषि दयानन्द के भाष्य का कुछ अंश शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में बड़ी कठिनाई से अनेक प्रयत्नों द्वारा स्वीकृत हुआ था जिसका एक लम्बा इतिहास है। इसी भावना से यह पुस्तक तैयार हुई है। इसमें ऋषि दयानन्द के भाष्य पर उपयोगी मार्मिक टिप्पणियां दी गई हैं जो विद्वानों के लिये भी मननीय हैं। अन्त में 'ऋषि दयानन्द कृत भाष्य में अपाणिनीय पदों पर विचार' यह एक बहुत उपयोगी नया प्रयत्न है जो बड़े परिश्रम, योग्यता और ऊँची भावना से लिखा गया है। हम समझते हैं, इससे ऋषि दयानन्द के भाष्य का अनुशीलन करने वालों को बहुत लाभ प्राप्त होगा। लेखक ने जो समाधान दिये हैं, इसमें अन्य विद्वानों का मत भिन्न भी हो सकता है। हम चाहते हैं कि आर्य विद्वान् इस विषय पर गम्भीरता, सद्भावना और योग्यता-पूर्ण ढंग से विचार करें ॥ योग्यता की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उपादेय है। प्रत्येक पुस्तकालय में यह पुस्तक होनी चाहिये ॥

(३) महर्षि दयानन्द की पदप्रयोग शैली—लेखक पूर्ववत्। प्रकाशक—पं० आनन्दप्रिय जी, महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट—टंकारा (सौराष्ट्र)। पृ० सं० ५६। कागज-छपाई उत्तम। मूल्य १॥)

इसके विषय में पूर्व लिख चुके हैं। यह पुस्तक प्रत्येक विद्वान् के पास पहुँचनी चाहिये ॥

(४) हनुमान् आदि वानर बन्दर थे या मनुष्य—ले०— शास्त्रार्थमहारथी पं० अमरसिंह जी आर्य-पथिक। प्रकाशक—दि बंगाल प्रिंटिङ्ग वर्क्स—१ सीनागाग स्ट्रीट—कलकत्ता—१। पृ० सं० १७०। कागज—छपाई अच्छा। मूल्य १॥)

विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में अपने वर्षों के परिश्रम के आधार पर अकाट्य प्रमाणों द्वारा हनुमान् जी के विषय में गौरवपूर्ण और आर्य जाति के वीरों के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न करने वाली सामग्री उपस्थित की है। हनुमान् को बन्दर समझने वाले भारत में अभी करोड़ों हैं। इस ग्रन्थ का प्रचार हिन्दू जाति में सर्वत्र होना चाहिये। इस पुस्तक को प्रत्येक हिन्दू परिवार में पहुँचाने के लिये विशेष योजना बनाने की आवश्यकता है। इस पुस्तक को पढ़कर बन्दर समझने की भ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है। ऐसे साहित्य के प्रकाशन की भी महती आवश्यकता है। आर्यसमाज द्वारा यह काम होना आवश्यक है। आर्यसमाजों को चाहिये कि इस पुस्तक को जनता में वितरण करें। आर्य-

समाज कलकत्ता को इसका पूरा संस्करण ही बाँट देना चाहिये, चाहे कम दाम पर ही सही ॥

(५) वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त इतिहास—लेखक—श्री० पं० सीताराम जी ज्योतिषाचार्य। प्रकाशक—श्री० कृष्णदास पोरवाल एण्ड को०, के० ३९/१० वाराणसी। पृ० सं० ८८। छपाई-कागज अच्छा। मूल्य १॥)

लेखक काशी के विशिष्ट प्रतिष्ठित विद्वानों में हैं। सनातनधर्मी विद्वान् होते हुये भी आप सदा राष्ट्र की सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपने उदार विचारों के लिये भी प्रसिद्ध हैं। यह पुस्तक इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और विशद अध्ययन के सर्वथा अनुरूप ही है। इसमें ज्योतिष् तथा अन्य शास्त्रीय आधार पर सिद्ध किया गया है कि वर्णव्यवस्था गुणकर्मस्वभावानुसार होती है, न कि जन्म के आधार पर। यद्यपि हम फलित ज्योतिष् आदि को नहीं मानते, पुनरपि विद्वान् लेखक की ऊहा और एक नई खोज के लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। इनको काशी के विद्वानों की किसी अयथार्थ बात के विपरीत प्रौढ़ता-विद्वत्तापूर्वक प्रतिवाद करने वाला एक अद्भुत विद्वान् काशी का गौरव समझना चाहिये। प्रत्येक भारतीय को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।

(६) बाल जीवन सोपान—लेखक तथा प्रकाशक स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक। पृ० सं० ११२। कागज, छपाई उत्तम। मिलने का पता—सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, १४२ दयानन्दभवन—नई देहली—१।

मूल्य १॥=)

यह पुस्तक बालक बालिकाओं की शिक्षा के लिये बहुत उपयोगी है। ऐसी पुस्तकें सामान्यतया भारत के शिक्षालयों में विशेष कर आर्य संस्थाओं—स्कूलों—आर्य कन्याविद्यालयों के लिये बहुत लाभप्रद है। लेखक ने बच्चों में धार्मिक भावना तथा कर्तव्यपालन के प्रति बुद्धि उत्पन्न करने के उद्देश्य से शिष्टाचारादि के विषय में भी पर्याप्त ध्यान रखा है॥

(७) यजुःसंस्कारभाष्य—१–५ अध्याय। ले०—श्री स्वामी भगवदाचार्य जी। प्रकाशक—मनोहर विद्यालंकार। कन्हैयालाल देवीसहाय—चावड़ी बाजार, देहली। पृ० सं० २६०। कागज—छपाई साधारण॥

मूल्य ३) ३० न. पै.

यह भाष्य योग्य विद्वान् की अपनी ऊहा का परिचय है। वेदमन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ ही मुख्यार्थ है, इस विचार को पुष्ट करने के लिये लेखक महोदय ने इतना प्रयास किया है। कई दृष्टियों से हम इस ग्रन्थ का स्वागत करते हैं। जो लोग यह समझते हैं (जैसे सायणादि) कि उपनिषद् ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, संहिता भाग तो केवल कर्मकाण्ड परक ही है, उनकी भ्रान्ति इस भाष्य से अवश्य दूर होगी। यौगिकवाद को लेकर मन्त्रों के अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। लेखक के अपने मार्मिक शब्दों से इस भाष्य का प्रयोजन व्यक्त हो जाता है—"वेदों का किसी मत वा सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं... उपनिषदों की दृष्टि न तो नूतन है, और न संहिताओं से उत्कृष्ट है—यदि संहिता भाग को केवल कर्मकाण्ड के आधीन सौंप दिया जाये और ज्ञान का उद्बोधक केवल उपनिषदों को मान लिया जाये, तो आर्यों के सब से प्राचीन और सर्वप्रथम ग्रन्थ वेद अपने महत्त्व और सौष्ठव को खो बैठते हैं। संहिता में ज्ञान की दिशा नहीं है, इस भ्रम का उच्छेद करने के लिये ही मैं ने वेदान्त दर्शन के स्वरचित भाष्य में केवल संहिताओं की श्रुतियों का उपयोग किया है। औपनिषद ज्ञान की अपेक्षा संहिता का ज्ञान सर्वथा परिपूर्ण और उत्कृष्ट है" (भूमिका में)॥ कई बातों में गहरा मतभेद होते हुये भी हम लेखक को बधाई देते हुये इस ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं॥ वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया तक पहुँचने के लिये यह ग्रन्थ भी बहुत सहायक हो सकता है॥

(८) वेदों का यथार्थ स्वरूप—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, विद्यामार्त्तण्ड। प्रकाशक तथा प्राप्तिस्थान—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार। १८×२२। कागज़ अच्छा। पृ० सं० ५०८।

सजिल्द मूल्य ६॥)

यह पुस्तक बहुत उपयोगी और उपादेय है। इसमें वेद विषयक प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन मत का निष्पक्ष विवेचन—वेदों का महत्त्व—ऋषि मन्त्रकर्त्ता नहीं मन्त्रद्रष्टा थे, वैदिक अनेकेश्वरवाद और अनेक देवता—वैदिक यज्ञविषयक भ्रान्तिनिवारण—वैदिक एज की भ्रान्ति-वेदों की प्राचीनता-आर्य अनार्य विवेचन—वेदों की काट छांट का अनुचित प्रयत्न-वैदिक शिक्षा विषयक भ्रान्तिनिवारण आदि विषयों पर युक्तियुक्त—

सप्रमाण—वर्त्तमान युग में वेद का अनुशीलन करने वालों के लिये विशेष उपयोगी–विद्वत्तापूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है। ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म में लेखक की अगाध निष्ठा पदे पदे विदित होती है। हठ वा संकुचित भावना का इसमें लेश नहीं॥ यद्यपि "वेदों का यथार्थ स्वरूप" के निरूपण में और भी प्रौढ़ता और सूक्ष्मेक्षिका की आवश्यकता है और वेद के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ लिखा जाना चाहिये, जिसका भार आर्यसमाज पर है, तथापि यह पुस्तक हमारी दृष्टि से सब वैदिक विद्वानों के लिये अत्यन्त उपादेय है। वेद सम्बन्धी रिसर्च (खोज) करने कराने वाले छात्रों और डाक्टरों को पक्षपातरहित होकर यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये और स्वतन्त्र भारत में यूरोपियनों वा विदेशी स्कालरों की दासता (विचार सम्बन्धी) का जुआ अब भारतीयों को अपने कन्धे से उठा फेंकना चाहिये और अपनी प्राचीन संस्कृति का ध्यान रखते हुये दृष्टिकोण बदलना चाहिये। इस दृष्टिकोण के बदलने में यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ भी इसी कोटि के हैं। ऐसी पुस्तकें कालेजों वा विश्वविद्यालयों में पारितोषक में देने योग्य हैं। हम विद्वान् लेखक और गुरुकुल के अधिकारियों को हार्दिक बधाई देते हैं गुरुकुल को ऐसा योग्य वैदिक विद्वान्—गम्भीर विचारक—ऋषिदयानन्द और आर्यसमाज में पूर्ण निष्ठावान् व्यक्तिरत्न मिला हुआ है, यह गुरुकुल के लिये सौभाग्य की बात है॥ प्रत्येक आर्य को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये॥

(९) सबसे बड़ी राष्ट्रीय सेवा गो सेवा है—लें०—कन्हैयालाल आर्य सिद्धान्तशास्त्री। प्रकाशक–लोधी समाज पत्रिका कार्यालय–कानपुर। पृ० सं० ६८। कागज छपाई अति साधारण। मूल्य ॥)

इस पुस्तक में गोवध के विषय में बहुत उपयोगी सामग्री दी गई है। भ्रष्टाचार का प्रधान कारण—गोवध के प्रकार—गोवध के कारण राष्ट्रीय युद्ध—भारतीय पतन और उत्थान—गोवध मानवसमाज पर सबसे बड़ा कलंक आदि विषयों की विवेचना की गई है। सर्वसाधारण के लिये पुस्तक उपयोगी है॥

(१०) हमारी शिक्षा की मान्यता—लेखक—महेश्वर प्रसाद वाग्मी। प्रकाशक—सैण्ट्रलबोर्ड आफ हायर एजूकेशन, नई देहली—१८। पृ० सं० ३२। मूल्य ।)

(११) संस्कृतशिक्षा–प्रणाली—लें०—श्री प्रेम शरण प्रताप, वेदवाचस्पति। शेष पूर्ववत्।

(१२) ओङ्कारस्तोत्र—लें०—मा० ताराचन्द आर्य वानप्रस्थी। प्रकाशक—वीरूमल 'आर्य प्रेमी', नला बाजार, अजमेर॥ मूल्य एक नया पैसा

प्रार्थनामन्त्रों का पद्य में अनुवाद किया गया है। सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। प्रचार की दृष्टि से एक नया पैसा मूल्य रखा है कि लोग लेकर फेंक ही न दें। हकीम वीरूमल जी सच्चे आर्यप्रेमी हैं, जनता के धन्यवाद के पात्र हैं॥

(१३) स्वाध्याय-सुधा—(उत्तम संस्कृत श्लोकों का संग्रह)। लें०—स्वामी आत्मानन्दजी। प्रकाशक—राम कृष्ण आश्रम—अहमदाबाद नं० ८॥ मूल्य १)

(१४) वेदमन्दिर-प्रवेशिका—(वेदों का सरल परिचय)। लें०—श्री योगीन्द्रानन्द उदासीन। पृ० १५० प्राप्तिस्थान—वेदमन्दिर कांकरियारोड—अहमदाबाद मूल्य १॥

वैदिक स्वाध्याय वालों के लिये साधारणतया पठनीय है।

(१५) विष्णुदयाल-रचनावली—(श्री पं० विष्णु दयाल एम० ए० मारीशस के लेखों का संग्रह)। पृ० २१२ मूल्य ५) बहुत अधिक है।

लेख पठनीय हैं, विदेशों के लिये अधिक उपयोगी हैं।

(१६) लोपागमवर्णविकारस्मृति अथवा भाषा विज्ञान का कानून—लें०—श्री जगन्नाथ प्रसाद एम० ए०, वकील—देवरिया। प्रकाशक–शंकर बन्धु देवरिया पृ० ८८। मूल्य १

यह पुस्तक बहुत अच्छी, पढ़ने और विचारने योग्य है। लेखक की सूझ तथा परिश्रम प्रशंसनीय हैं।

(१७) प्रभुमिलन की राह—लें० एक अज्ञात साधक प्रकाशक—मुकुट बिहारी लाल सर्राफ। चन्दौसी॥

पुस्तक प्राप्ति (क)

महात्मा प्रभु आश्रित जी कृत उपयोगी धार्मिक पुस्तकें

ये धार्मिक पुस्तकें पवित्र भावना और उत्तम प्रेरणा दायक हैं। हमारी दृष्टि में ये पुस्तक साधारण पढ़े-लि

गृहस्थों के लिये बहुत लाभदायक हैं। आर्यसमाज से बाहर के लोगों को आरम्भ में इनसे बहुत लाभ होता है और वे ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सिद्धान्तों को गहरी दृष्टि से पढ़ने लगते हैं। इन ग्रन्थों की हम यह भारी सफलता समझते हैं। महात्मा जी के उपदेशों से अनेक गृहस्थ हमने उपकृत और लाभान्वित होते देखे हैं। पुस्तकों द्वारा स्थायी लाभ होता है। हम अपनी वा अन्यों की बनाई सभी पुस्तकों को परतः प्रमाण मानते हैं। ऋषि दयानन्द हमारे लिये आप्त हैं। उन तक पहुँचाने वाली प्रत्येक पुस्तक का हम स्वागत करते हैं। साधारण दृष्टि से हमने इन पुस्तकों को देखा है। इनके छपने में सावधानता कुछ अधिक चाहिये।

पुस्तकें निम्न प्रकार हैं—

१—यज्ञरहस्य—ले०—महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज प्रकाशक वा प्राप्तिस्थान—यज्ञभवन, जवाहरनगर—देहली। २०×३०/१६ पृष्ठसंख्या २४०। मूल्य १)

२—गायत्रीरहस्य-पूर्ववत्। पृ० सं० ४६४ " २।)

३—कायाकल्प। जीवननिर्माण। पूर्ववत्। पृ० २३०। मूल्य १।)

४—मनोबल। पूर्ववत्। पृ० १९४। " १)

५—मन्त्रयोग (प्रथम भाग)। पूर्ववत्। पृ० १२०। मूल्य ॥)

६—मन्त्रयोग (द्वितीय भाग)। पूर्ववत्। पृ० २६४। मूल्य १।)

७—मन्त्रयोग (तृतीय भाग) पूर्ववत् पृ० २६८। " १।)

८—सन्ध्यासोपान " १९६ " ॥।)

९—सन्ध्याप्रभाकर " २१६ "॥।)॥

१०—प्रभु का स्वरूप " २०८ " १।)

११—कर्मभोगचक्र तीनों भाग " ४१२ अजिल्द १।=) सजिल्द १॥=)

१२—वरघर की खोज " ११६ अजिल्द ॥) सजिल्द ॥।)

१३—गृहस्थसुधार " पृ० ३६८ साधारण सजिल्द १॥) बढ़िया २।)

१४—सेवाधर्म पूर्ववत् पृ० १३२ मूल्य ॥)

१५—गृहस्थआश्रम (माता पिता के उपदेश) पूर्ववत् पृ० १२८ मूल्य ॥)

१६—आदर्श गृहस्थी। पूर्ववत्। पृ० १६ " –)

१७—स्वप्नगुरु तथा देवों का शाप। पूर्ववत् पृ० १०८ " ।=)

१८—अमृत के तीन घूँट " " ४४ " ≡)

१९—डरो! वह बड़ा जबरदस्त है " " ९६ " ।≡)

२०—युक्तयोगी गुरु " " ८८ " ।=)

२१—सप्तरत्न " " ७६ " ।≡)

२२—अद्भुत दर्शन " " २८ भेंट

पुस्तकप्राप्ति (ख)

गुरुकुल झज्जर द्वारा प्रकाशित उपयोगी धार्मिक तथा सामाजिक पुस्तकें

गुरुकुल झज्जर प्रकाशन की निम्न पुस्तकों की एक एक प्रति हमें प्राप्त हुई है जिसके लिये हम आभारी हैं। ये सभी पुस्तकें बहुत उपयोगी और प्रत्येक आर्यसमाज वा आर्य परिवार में पढ़ने योग्य हैं। इनमें स्वर्गीय स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज, स्वर्गीय विद्वद्वर्य श्री स्वामी वेदानन्द जी तथा समादरणीय स्वामी आत्मानन्द जी-यमुनानगर, आर्यसमाज के मेधावी विद्वान् श्री पं० मेधाव्रत जी, विद्यावाचस्पति मुनिदेवराज जी तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता आचार्य भगवान् देव जी कृत पुस्तकें हैं जो सब उपादेय हैं॥ पुस्तकें निम्न प्रकार हैं—

१—पूर्वी अफ़रीका और मारीशस आदि की यात्रा। ले०—स्व० श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज। प्राप्तिस्थान—गुरुकुल झज्जर, जिला रोहतक-पंजाब। पृ० सं० १९६। सजिल्द मूल्य २।)

२—वैदिक गीता। ले०—श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज। पूर्ववत्। बढ़िया कागज, दोरंगी छपाई। पृ० २५६। सजिल्द मूल्य ३)

३—मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प (तृतीय संस्करण) पूर्ववत्। पृ० ३२४। मूल्य० ३॥)

४—कन्या और ब्रह्मचर्य। पूर्ववत्। पृ० २४ " ≡)

५—पञ्चमहायज्ञविधि (महर्षि दयानन्द)। भाषा-व्याख्या—स्व० श्री स्वामी वेदानन्द जी। पूर्ववत्। पृ० सं० १००। मूल्य १)

६—स्वामी विरजानन्द जी का जीवनचरित। पूर्ववत्। पृ० १८०। मूल्य १॥)

७—संस्कृतांकुर। पूर्ववत्। पृ० १०८। " १।)

८—हम संस्कृत भाषा क्यों पढ़ें। पूर्ववत्। पृ० ४८। मू० ।।)
९—संस्कृतकथामञ्जरी। पूर्ववत्। पृ० ३६। " ।–)
१०—महर्षिविरजानन्दचरितम् (संस्कृत में, हिन्दी अनुवादसहित) ले०—कविरत्न पं० मेधाव्रत जी, प्रकाशक–गुरुकुल झज्जर। पूर्ववत्। पृ० ११६। मूल्य १)
११—नारायणस्वामिचरितम् (संस्कृत-हिन्दी)। पूर्ववत्। पृ० १३६। " ।।।)
१२—ब्रह्मचर्यशतकम् (संस्कृत-हिन्दी)। पूर्ववत्। पृ० ५६। " ।।=)
१३—ब्रह्मचर्यमहत्त्वम् पूर्ववत् पृ० ६६। " ।।)
१४—व्यायाम का महत्त्व। ले०–आचार्य भगवान् देवजी। पूर्ववत्। पृ० ३६। मूल्य ≡)
१५—दन्तरक्षा। पूर्ववत्। पृ० २४। " ≡)
१६—रामराज्य कैसे हो। पूर्ववत्। पृ० २४। " ≡)
१७—हमारा शत्रु अर्थात् तम्बाकू का नशा। पूर्ववत्। पृ० ३६। मू० ।=)
१८—बलिदान (भारत की स्वतन्त्रता की एक शताब्दी का अपूर्व इतिहास) पूर्ववत्। बड़ा साइज। सचित्र। पृ० ५८८। सजिल्द मूल्य १२)

यह पुस्तक प्रत्येक भारतीय को, विशेषतया प्रत्येक आर्य परिवार को अवश्य पढ़नी चाहिये। आचार्य भगवान् देव जी द्वारा उत्तम ग्रन्थ तैयार हुआ है॥

अन्य पुस्तकें

१९—दुष्टदमन। ले०—श्री० मुनि देवराज, विद्यावाचस्पति। प्रकाशक पूर्ववत्। पृ० ३२। मूल्य =)
२०—राष्ट्रनिर्माण में धर्म का स्थान। पूर्ववत्। पृ० ३२। मूल्य ।–)
२१—राष्ट्र निर्माण में गुरुकुल का स्थान। पूर्ववत्। पृ० ८०। मूल्य ।।)
२२—आर्यकुमारगीतांजलि। ले०—राजेन्द्र नारायण जी आर्य। पृ० २८। मूल्य ≡)
२३—संस्कृतवाङ्मय का संक्षिप्त परिचय। ले०—श्री० जगदेव सिंह शास्त्री सिद्धान्ती। पूर्ववत्। पृ० ५२। मू० ।।)
२४—गुरुकुलशतकम्। ले० पं० मेधाव्रत जी। पूर्ववत्। पृ० ४८। मूल्य ।।)
२५—दिव्यानन्दलहरी। पूर्ववत्। हिन्दी (बहुत उपयोगी) पृ० ६६। मूल्य ।।।=)
२६—पापों की जड़ शराब। ले०—आचार्य भगवान् देव जी। पूर्ववत्। पृ० १६। मूल्य =)।।
२७—विच्छू विष चिकित्सा। पूर्ववत्। पृ० २६। मूल्य =)
२८—ब्रह्मचर्य के साधन। " " ५६। " ।=)
२९—सत्संग के साधन " " ६४। " ।।)

पत्र-पत्रिकायें

(१) आर्यप्रेमी—अजमेर। मासिक $\frac{20 \times 30}{8}$ कागज साधारण। पृष्ठसंख्या २४। वार्षिक शुल्क १।।)

यह पत्रिका प्रसिद्ध आर्यप्रेमी वीरूमलजी–नलाबाजार, अजमेर द्वारा चलाई जा रही है। श्री० वीरूमलजी बड़े धार्मिक–ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म में निष्ठावान्–प्रति दिन दोनों समय परिवारसहित यज्ञ करने वाले, आर्यसमाज के सच्चे सेवक–आयुर्वेद के प्रसिद्ध व्यवसायी हैं। इनके द्वारा हजारों सिन्धी सज्जनों में आर्यसमाज के प्रति भक्ति श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। अजमेर में आर्यसमाज का जलूस और प्रचार सबसे बढ़िया और आकर्षक रहता है। यह पत्रिका इनकी सब प्रवृत्तियों की प्रतीक है। इसी लिये इसके लेख भी धर्मभावनापूर्ण, उपयोगी वा पठनीय रहते हैं। और इसका दाम भी बहुत कम रखा है। आर्यसमाज से बाहर इस पत्रिका का प्रचार विशेष लाभकारी है। हकीम जी का कार्य प्रशंसनीय है। भारतीय जनता में इस पत्रिका का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये।

(२) परोपकारी—मासिक $\frac{20 \times 30}{8}$ कागज साधारण। पृ० ३२। सम्पादक—श्री० डा० मानकरणजी शारदा। वार्षिक शुल्क ८)

यह महर्षि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा अजमेर का मुख पत्र है। दीपमालिका पर इसका प्रथम वर्ष पूरा हो गया। परोपकारिणी सभा का यह कार्य बहुत आवश्यक और प्रशंसनीय है। इसके सम्पादक आर्यसमाज में घुटे पिसे, ऋषिभक्त–सुयोग्य डा० मानकरण शारदा जी हैं। सहायक श्री श्रीकरण शारदा जी तथा पं० भगवान् स्वरूप जी हैं। इनके सतत प्रयत्न से इसमें इस वर्ष

बहुत अच्छे-अच्छे लेख निकलते रहे हैं। आर्य जनता और आर्यसमाजों को इसकी ग्राहक-संख्या बढ़ा कर इसमें पूरा सहयोग देना चाहिये। नित्यानन्द जन्मशताब्दी अंक निकाल कर एक बहुत उपयोगी और आवश्यक कार्य की पूर्ति की गई है। श्री स्वामी नित्यानन्द जी महाराज आर्यसमाज के एक प्रकाशमान स्तम्भ रहे हैं। उनके विषय में हमारी दृष्टि में और सामग्री भी संगृहीत हो सकती है। हम आशा करते हैं कि इस ओर प्रयत्न जारी रहेगा। ऐसे सत्पुरुषों की तो जीवनियाँ प्रकाशित होनी चाहियें॥

इस प्रत्रिका का मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है। परोपकारिणी सभा को इस पर विचार करना चाहिये। कागज भी २४ पौंड का तो लगाना चाहिये॥

आर्य जनता तथा आर्यसमाजों को इस पत्रिका की ग्राहक-संख्या बढ़ाकर इसमें पूरा सहयोग देना चाहिये॥

(३) टंकारा पत्रिका—महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट—टंकारा (सौराष्ट्र) द्वारा प्रकाशित। मासिक $\frac{२० \times ३०}{८}$ कागज अच्छा। पृ० संख्या ३२। वार्षिक शु० २)

इसके सम्पादक मण्डल में पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तथा पं० देव प्रकाश पातञ्जल हैं। यह पत्रिका महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट की गति विधियों के प्रचारार्थ आरम्भ हुई है। यह ट्रस्ट बहुत ही उत्तम कार्य कर रहा है भविष्य का ज्ञाता तो परमेश्वर है, पर यदि इसी प्रकार (जैसा कि गत वर्ष में ट्रस्ट का कार्य हुआ है) कार्य होता रहा, तो ऐसी सम्भावना है कि यह ट्रस्ट और सबसे बाज़ी मार जायगा। उपक्रम तो ठोस कार्य का हुआ है, यदि यह व्यवस्था स्थिर रह जावे। आर्य-समाज में वास्तविक वैदिक साहित्य का कार्य करने वा कर सकने वालों की कमी है। हम कर्मवीर पं० आनन्दप्रिय जी को अथक परिश्रम–दृढ़धारणा–गम्भीरता के लिये बधाई देते हैं। साथ ही ऋषिभक्त- भारतरत्न श्री० मेहरचन्द जी महाजन तथा उनके सहयोगी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इतना बड़ा आवश्यक आर्यसमाज के भविष्य को उज्ज्वल करने वाला कार्य उठाया है। यह पत्रिका उस कार्य का एक छोटा सा अंश है। इसमें कई एक लेख बहुत योग्यतापूर्ण रहते हैं। भारतीय जनता को विशेष कर आर्यसमाज वा आर्य पुरुषों को इसमें पूरा सहयोग देना चाहिये॥

(४) आर्यमित्र—लखनऊ—साप्ताहिक। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश (लखनऊ) का मुख पत्र। सम्पादक–पं० उमेशचन्द्र स्नातक, एम० ए०। बड़ा साइज़। कागज अच्छा। पृष्ठ सं० १६॥ वार्षिक मूल्य ८)

यह पत्र ६२ वर्ष (४० अंक तक) से चल रहा है। आर्यसमाज का यह पत्र बहुत प्रतिष्ठित—आर्यसमाज की प्रगति का सब से अधिक प्रचार करने वाला एक प्रतिष्ठित सभा की ओर से चल रहा है। ५० वर्ष तो हमें इसे पढ़ते हो गये। अनेक योग्य सम्पादकों द्वारा इसका सम्पादन होता रहा। सम्पादकाचार्य डा० हरिशंकर शर्मा के प्रधानत्व में पं० उमेशचन्द्र स्नातक एम० ए० के उद्योग से आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों द्वारा गत दिसम्बर में मथुरा में विरजानन्द शताब्दी के अवसर पर "आर्यमित्र" की रजतजयन्ती मनाई गई॥ "आर्यमित्र" में धार्मिक-सामाजिक-साहित्यिक सभी प्रकार के लेख भिन्न २ शीर्षकों में छपते हैं। कुछ वर्षों से इसका प्रकाशन बहुत सुन्दर वा आकर्षक भी है। वर्त्तमान ढंग बहुत अच्छा चल रहा है। प्रत्येक आर्यसमाज तथा आर्य संस्था में इस पत्र का जाना अत्यावश्यक है। सब को इसमें पूरा सहयोग देना कर्तव्य है। हम इस पत्र की सर्वविध उन्नति के अभिलाषी हैं॥

(५) आर्योदय—जालन्धर—साप्ताहिक। प्रकाशक–आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, जालन्धर। सम्पादक–पं० जगदेव सिंह जी सिद्धान्तशास्त्री। कागज साधारण। बड़ा साइज। पृ० सं० १२॥ वार्षिक मूल्य ६)

यह पत्र पहिले "आर्य" के नाम से प्रकाशित होता था। आन्तरिक विषमताओं के कारण यह नये नाम से प्रकाशित हो रहा है। इसमें धार्मिक-सामाजिक लेखों के अतिरिक्त पंजाब में आर्यसमाज की गतिविधि का विवरण रहता है। इसका ऋषिनिर्वाण अङ्क हमारे सामने है जिसमें अनेक लेख बहुत उपयोगी वा पठनीय हैं। पंजाब में आर्य पुरुषों की परस्पर की विषमतायें दूर होकर एक मत से वैदिक धर्म का प्रचार हो, इसकी हम हृदय से कामना करते हैं। आर्यसमाज का प्रचारक यह पत्र शान्ति स्थापित करने में सफल हो॥ आर्य जनता को इसमें सहयोग देना चाहिये॥

(६) विवृति—मासिक। प्रकाशक आर्य-प्रतिनिधि सभा मध्यदक्षिण, हैदराबाद। सुन्दर कागज़। सम्पादिका—सुशीलादेवी विद्यालंकृता। वार्षिक मू० ६)

दक्षिण भारत में आर्य-समाज का यह एक बहुत उपयोगी पठनीय पत्र है, इसका दीक्षाशताब्दी अङ्क बहुत ही सुन्दर, उत्तम श्लोकों से युक्त १०० पृ० का निकला था। आर्य जनता को इसे अपनाना चाहिये।

(७) संसारसंघ। सम्पादक तथा प्रकाशक—अर्यान पेशवा महेन्द्र प्रताप राजा, एम०पी०। पता—१०५ साउथ एवेन्यू, नई देहली। पृ० ४। बड़ा साइज़। वार्षिक मूल्य ३)

प्रसिद्ध देशभक्त—भारतरत्न श्री राजा महेन्द्र प्रताप जी को कौन भारतीय न जानता होगा। इस पत्र का लक्ष्य सब धर्मों में प्रेम बढ़ाना, भलाई बढ़ाना, सुख तथा शान्ति प्रदान करने के लिये यत्न करना है। यह पत्र ३१ वर्ष से चल रहा है। भारत में १५ वर्ष से चल रहा है। समय-समय पर इसमें बहुत ही उपयोगी बातें प्रकाशित होती हैं जिन्हें पढ़ कर बड़ी प्रसन्नता होती है। हम चाहते हैं कि इस पत्र को सभी भारतीय अवश्य पढ़ें। एक वृद्ध सेनानी भारत के कल्याणार्थ अभी तक निरन्तर प्रयत्नशील है, यह बड़ी ही आश्चर्य और प्रसन्नता की बात है।

(८) आर्थिक समीक्षा—पाक्षिक। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, ७ जन्तर-मन्तर रोड, नई देहली द्वारा प्रकाशित। कागज़ बढ़िया। पृ० संख्या ३२। वार्षिक मूल्य ७) ३० न० पै०

इसमें कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के भिन्न-भिन्न विषयों के जानकारीपूर्ण लेख छपते रहते हैं। सम्पादक—मण्डल में श्री गुलजारीलाल नन्दा, श्री टी० टी० कृष्णमाचारी, श्री खण्डु भाई देसाई आदि हैं। कांग्रेस सम्बन्धी जानकारी के लिये यह पत्रिका पढ़ने योग्य है।

(९) भारत सेवक समाज—साप्ताहिक। प्रकाशक—भारत सेवक समाज—नई देहली। बड़ा साइज। पृ० १६। वार्षिक मूल्य ८)

भारतीय समाज की विभिन्न प्रगतियों का सुन्दर विवरण इसमें रहता है। प्रत्येक देशवासी को देश में हो रही प्रगति के विषय में परिचित रहना आवश्यक है। इस पत्र के पढ़ने से जनता में पर्याप्त जानकारी होती है।

(१०) संस्कृतम्—सम्पादक—महामहोपाध्याय पं० कालीप्रसाद शास्त्री। भारतवर्ष भर में संस्कृत का एकमात्र साप्ताहिक पत्र। पता—संस्कृत कार्यालय अयोध्या (उत्तर प्रदेश)। बड़ा साइज। पृ० सं० ६। वार्षिक मूल्य ७)

संस्कृत भाषा में सरल तथा सामयिक विषयों की सूचनाओं तथा आलोचनाओं से युक्त। संस्कृत के प्रचार की दृष्टि से यह पत्र बहुत ही प्रशंसनीय है। सम्पादक का बड़ा त्याग है। इसका प्रचार अधिक से अधिक होना चाहिये। लेख भी प्रायः उपयोगी रहते हैं। इससे संस्कृत के ज्ञान का पर्याप्त प्रचार हो सकता है।

(११) भारती—संस्कृत मासिक। सम्पादक—श्री० पं० मथुरानाथ शास्त्री—गोपाल जी का रास्ता—जयपुर। पृ० सं० २४। वार्षिक मूल्य ४)

यह पत्रिका संस्कृत भाषा की उन्नति में संनद्ध है। इसमें उत्तम-उत्तम लेख योग्य विद्वानों द्वारा लिखे रहते हैं। संस्कृत भी सरल और सुबोध है। भारतवासियों को अब संस्कृत की इन पत्रिकाओं को प्रोत्साहन देना चाहिये।

(१२) दिव्यज्योतिः—संस्कृत मासिक। सम्पादक तथा प्रकाशक—आचार्य दिवाकरदत्त शर्मा-जाखू-शिमला—१। पृ० सं० ३२। वार्षिक मूल्य ६)

सुन्दर आकर्षक—संस्कृत की यह पत्रिका शिमला (पंजाब) से प्रकाशित हो रही है। आश्चर्य और प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत में पिछड़े प्रदेश पञ्जाब से संस्कृत में मासिक पत्रिका निकालने का साहस किया जा रहा है। सम्पादक और संचालक बधाई के पात्र हैं। भारतीय जनता को इस कार्य में विशेष सहयोग देना चाहिये, जो ग्राहक बनने वा बनाने से होता है। यह पत्रिका ४ वर्ष से चल रही है।

(१३) वेङ्कटेश्वर समाचार—साप्ताहिक। वेङ्कटेश्वर प्रैस—गिरगाम, बम्बई। सम्पादक—विद्यालंकार पं० देवेन्द्र शर्मा शास्त्री। बड़ा साइज। पृ० सं० १२। वार्षिक मूल्य ५)

यह पत्र सनातन धर्म के प्रचारार्थ ६५ वर्ष से चल रहा है। इसके वर्त्तमान सम्पादक बड़े योग्य, उदार तथा विचारशील सज्जन हैं। इसमें कभी-कभी बहुत उपयोगी लेख रहते हैं। उदार विचार के सनातनधर्मियों को तो यह पत्र अवश्य पढ़ना चाहिये।

(१४) सेनानी—साप्ताहिक। सम्पादक-श्री वीरेन्द्र कुमार, बीकानेर। बहुत बड़ा साइज। पृ० सं० ८।

वार्षिक मूल्य ८)

यह पत्र राजस्थान सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियों का प्रकाशक है। सामाजिक तथा प्रादेशिक समस्याओं के विवेचन से पूर्ण रहता है।

(१५) आज का चीन—सचित्र साप्ताहिक। प्रकाशक—सूचना विभाग चीन दूतावास, नई देहली। आर्ट पेपर बढ़िया कागज। पृ० सं० १६। बड़ा साइज। कागज का भी दाम नहीं। वार्षिक मूल्य १॥)

विदेशी लोग अपना प्रचार कितना करते हैं, यह इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यद्यपि चीन इस समय भारत के विरुद्ध आक्रामक बन रहा है। भारत के समक्ष एक भारी संकट उपस्थित हो रहा है। पर इस पत्र के देखने से चीन का दृष्टिकोण समझने में भी भारी सहायता मिलती है। भारत द्वारा भी ऐसा ही प्रचार विदेशों में किया जाना आवश्यक है। कहाँ तक हो रहा है, इसका हमें पता नहीं।

(१६) सूचनापत्रिका जर्मन जनवादी गणतन्त्र—व्यापार दूतावास का प्रकाशन। सचित्र। दोरंगा। बढ़िया आर्ट पेपर। पृ० सं० २४।

यह पत्र जर्मन गणतन्त्र का सुन्दर प्रकाशन है। जर्मनी नष्ट हो जाने पर भी धीरे-धीरे कितनी उन्नति कर रहा है, इससे भली भाँति विदित होता है।

विविध समाचार

राष्ट्रसंघ का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन

२० सितम्बर को न्यूयार्क में राष्ट्रसंघ का १५ वाँ ऐतिहासिक अधिवेशन आरम्भ हुआ। रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, भारत, यूगोसलाविया, अरब गणतन्त्र, घाना, हिन्देशिया, आस्ट्रेलिया आदि देशों के प्रधान राष्ट्रनायकों द्वारा अपने-अपने देश का प्रतिनिधित्व करने तथा अफ्रीका के १४ नये राष्ट्रों के प्रवेश से अधिवेशन की महत्ता अत्यधिक बढ़ गई। रूसी प्रधान मन्त्री श्री क्रुश्चेव ने संघ के मन्त्री श्री हैमरशोल्ड पर पक्षपात का आरोप किया। पश्चिमी राष्ट्रों ने इसका घोर विरोध किया। पाँच तटस्थ राष्ट्रों (भारत, संयुक्त अरब गणतन्त्र, हिन्देशिया, यूगोसलाविया तथा घाना) ने एक प्रस्ताव द्वारा श्री क्रुश्चेव तथा श्री आइजनहावर से अनुरोध किया वे मिलें और वार्ता करके तनाव घटाने का प्रयत्न करें। पश्चिमी राष्ट्रों की अडंगेबाजी के कारण श्री नेहरू ने प्रस्ताव वापिस ले लिया।

उत्तर प्रदेश में मन्त्रिमण्डलीय संकट

उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के निर्वाचन में असन्तुष्ट गुट को भारी सफलता प्राप्त हुई है। श्री चन्द्रभानुगुप्त अध्यक्ष तथा श्री चरणसिंह कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं। असन्तुष्ट गुट की विजय से उत्तर प्रदेशीय मन्त्रिमण्डल की स्थिति डावाँडोल हो गई है। श्री सम्पूर्णानन्द त्यागपत्र देने के लिये कटिबद्ध है। कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने भी उन्हें त्यागपत्र देने की अनुमति दे दी है। इस विषय का अन्तिम निर्णय निकट भविष्य में होनेवाले रायपुर अधिवेशन में होगा।

भारत में पंजाबी सूबा नहीं बन सकता

प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने २१ अक्तूबर को अपने मासिक पत्र प्रतिनिधि सम्मेलन में स्पष्ट रूप से घोषणा की कि देश में पंजाबी सूबा कभी नहीं बन सकता। पंजाबी भाषा के विकास की बात तो समझ में आती है, परन्तु पंजाबी सूबे की माँग का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

राजर्षि टण्डन जी का अभिनन्दन समारोह

प्रयाग २३ अक्तूबर। एक लाख व्यक्तियों के समूह में शंखनाद की ध्वनि के बीच राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भारती तथा भारत माता के अनन्य सेवक त्यागमूर्त्ति राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी को पीत रेशमी वस्त्र में वेष्टित, कलात्मक मंजूषा में, अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया। इस अवसर पर देश के गण्यमान्य राजनेता, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, राजस्थान और मध्यप्रदेश के मुख्य मन्त्री, अनेक प्रदेशों के मन्त्री, हिन्दी के साहित्यकार तथा हिन्दी प्रेमी भारी संख्या में उपस्थित थे। राष्ट्रपति ने मार्मिक भाषण किया। राजर्षि टण्डन जी ने अभिनन्दन के लिये आभार प्रकट करते हुये कहा—रामराज्य में दैविक, दैहिक और भौतिक ताप नहीं थे। इस समय रामराज्य नहीं है॥

संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

[ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु-वाराणसी]

बिना रटे संस्कृत और उसके व्याकरण का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान ६ मास में अष्टाध्यायी पद्धति से कैसे किया वा कराया जा सकता है, इस विषय की जो लेखमाला क्रमशः 'वेदवाणी' में प्रकाशित हो चुकी है, वह पृथक् पुस्तक रूप में भी छपकर तैयार हो गई है। इस पद्धति के प्रवर्तक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अनेक संस्कृत पठनार्थियों, नेताओं तथा विद्वानों के आग्रह से पढ़ने-पढ़ाने वालों दोनों की दृष्टि से यह लिखी है। आरम्भ में ४० चालीस (प्रतिदिन के) पाठ पढ़ने-पढ़ाने की विस्तृत विधिसहित लिखे गये हैं। आगे ५ मास का क्रम भी निर्धारित कर दिया है। हिन्दी का ज्ञाता, इस ढङ्ग से पढ़ने वाला इस पुस्तक को कभी नहीं छोड़ सकता, यह इतनी आकर्षक है। १२ वर्ष के स्थान में ४ वर्ष में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अध्ययन द्वारा व्याकरण के पूर्ण ज्ञान की पद्धति का प्रतिपादन भी इसमें किया गया है।

इसकी विशेषता यह है कि कई वर्ष तक परीक्षण और अनुभव करने के पश्चात् ही यह लिखी गई है। इस पद्धति के प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान में भी प्राप्त हैं। इस पद्धति के विषय में काशी के विद्वानों में आश्चर्य हो रहा है और बहुत हलचल मच रही है। संस्कृत प्रेमी प्रत्येक भारतीय को एक बार अवश्य पढ़नी चाहिये।

पुस्तक का आकार पहले से काफी बढ़ गया है। कई नवीन स्थल लिखे गये हैं। अत: यह उनके लिए भी संग्रहणीय है, जिनके पास प्रथम संस्करण है। पुस्तक का मूल्य लागत मात्र १)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का सस्ता और सुन्दर प्रकाशन

१—सन्ध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ, भजनों के सहित। यह अब तक ३३५००० तीन लाख पैंतीस हजार छप चुकी है। मूल्य -)

२—व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्दकृत। बालकों को व्यवहार की उचित शिक्षा देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्य बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाठ्य क्रम में रखने योग्य है। मू० =)॥

३—ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित्र—ऋषि दयानन्द ने अमेरिका निवासी आलकाट महोदय की प्रेरणा से अपना कुछ वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने थियोसोफिकल नामक अपने पत्र में छापा था। आर्यसमाज के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इसका द्वितीय संस्करण छप गया है। मू० ।।)

४—हवन-मन्त्र—प्रार्थना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, बृहद् हवन और भजनों से युक्त। मू०-)

५—आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्दकृत। प्रथम और द्वितीय संस्करण से मिलाकर अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापा गया है। संदिग्ध स्थलों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं। मूल्य ।=)

६—आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत। शुद्ध, सुन्दर तथा सटिप्पण संस्करण मूल्य -)

७—पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत। " " " " " मूल्य ≡)

८—उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल लिखित। वैदिक अध्यात्म-विषयक उच्चकोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ। कागज, छपाई श्रेष्ठ और सुन्दर। मूल्य सजिल्द ३) मात्र

९—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—लेखक-श्री पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक। ऋषि दयानन्द के सभी मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के विषय में पूर्ण जानकारी देनेवाला अपूर्व ग्रन्थ। प्रचारार्थ मूल्य में भारी कमी की गई है। घटाया हुआ मूल्य बढ़िया सं० सजिल्द ४), साधारण सं० अजिल्द ३) मात्र

१०—अष्टाध्यायी मूल (सूत्रपाठ) अत्यन्त शुद्ध पाठ, २ सं० डाक व्यय पृथक् =) मूल्य ॥=)

११—ऋग्वेद-भाषाभाष्य—प्रथम भाग मूल्य २॥)

१२—वैदिक ईश्वरोपासना—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य १ प्रति ≡), सैकड़ा १५)

१३—संस्कृतपठनपाठन की अनुभूत सरलतमविधि—ले० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु—दूसरा सं० १।)

१४—वैदिक वाङ्मय का इतिहास—प्रथम भाग, वेदों की शाखाएँ—द्वितीय परिवर्धित संस्करण—लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० रिसर्चस्कालर। मूल्य १०)

१५—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—सम्पादक श्री० पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर। द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। इस नये संस्करण में पहिले के ऋषि के ५०० पत्रों-विज्ञापनों से अतिरिक्त नये ३४४ पत्र और विज्ञापन और छापे गये हैं। ऋषि का एक असली चित्र और उनके ३ असली पत्रों की फोटो भी छापी गई है॥ ६०० पृष्ठों का मूल्य ७) वेदवाणी के ग्राहकों से ६) रु०

१६—क्षीरतरङ्गिणी—धातुपाठ की सबसे प्राचीन व्याख्या। मूल्य १२)

१७—वैदिक-स्वर-मीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक (उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत) मू० ३)

१८—वैदिक-छन्दोमीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक " मू० ४।)

१९—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन का परिशिष्ट— मू० ।॥)

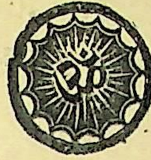
२०—ध्यानयोगप्रकाश—सजिल्द १।॥) अजिल्द १।)

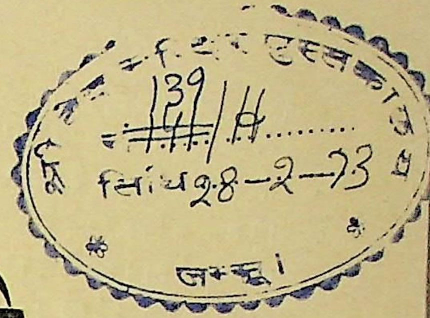
रामलाल कपूर एण्ड सन्स लि० पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क देहली। ५१ सुतार चॉल, बम्बई। बिरहाना रोड, कानपुर।

वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६।

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३] [अङ्क ३



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु | व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

पौष २०१७ वि०, जनवरी १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।≈)
„ „ विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ व ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० १**

[टा० पृ० ३ का शेष]

सजीवता लक्षित होने लगी है। मुख्य मन्त्री श्रीगुप्त ने विभिन्न विभागों में १२ करोड़ रुपये की बचत की योजना बनाई है।

शिक्षा धार्मिक पृष्ठभूमि पर हो

भारत के प्रधान न्यायाधीश श्री भुवनेश्वर प्रसादसिंह ने 'नायर सर्विस सोसाइटी' के तत्त्वावधान में खुलने वाले कालेज का उद्घाटन करते हुए कहा कि इस समय देश की महती आवश्यकता यह है कि जो शिक्षा दी जाय वह उचित धार्मिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि के साथ हो।

बेरुवाड़ी क्षेत्र हस्तान्तरण विधेयक स्वीकृत

संसद के दोनों सदनों में बेरुबाड़ी तथा अन्य क्षेत्र पाकिस्तान को देने का विधेयक स्वीकृत हो गया। साथ ही अधिग्रहीत क्षेत्र (विलयन) विधेयक भी स्वीकृत हो गया। सन् १९५८ में हुए नून-नेहरू समझोते के अन्तर्गत भारत और पाकिस्तान के बीच क्षेत्रों की अदला-बदली के लिये ये दोनों विधेयक बनाये गये हैं।

नेपालनरेश द्वारा कोईराला-मन्त्रिमण्डल बर्खास्त

नेपाल नरेश श्री महेन्द्र ने श्री विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला के नेतृत्व में बने प्रथम मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया तथा संसद के दोनों सदनों को भंग करके प्रशासन का सभी अधिकार अपने हाथ में ले लिया है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया है और शीघ्र ही उन पर मुकदमे चलाये जायेंगे। नेपाली कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं की देश भर में गिरफ्तारियां हुई हैं। पता चला है कि नेपाली जनता नरेश की कार्यवाही से अत्यन्त सन्तुष्ट है।

अबीसीनिया में राज्यक्रान्ति विफल

अबीसीनिया के सम्राट् श्री हेलसिलासी के सरकारी दौरेपर ब्राजील चले जाने पर राज्य में क्रान्ति हुई तथा सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र के नेतृत्व में सरकार संघटित की गई। सम्राट् अपने दौरे का कार्यक्रम रद करके स्वदेश लौटे। उनके आने पर क्रान्ति विफल हो गई तथा विद्रोहियों को गिरफ्तार कर लिया गया।

रूस का तृतीय उपग्रह अन्तरिक्ष में

रूस ने अपना तीसरा यान अन्तरिक्ष में धुरी पर पहुँचा दिया। इस में दो कुत्ते, कृमि, पौधे तथा वैज्ञानिक यन्त्र रखे गये हैं। इस उपग्रह का भार ५ टन है तथा ८८ मिनट में पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर लेता है।

सन्त फतहसिह का आमरण अनशन

पंजाबी सूबा आन्दोलन के डिक्टेटर सन्त फतहसिंह ने पंजाबी सूबे के निर्माण के लिये १८ दिसम्बर से अमृतसर में आमरण अनशन आरम्भ किया है।

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, पौष सं० २०१७ वि०, जनवरी १९६१ ई० { अङ्क ३

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकार—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

स्तुति विषय

सर्वव्यापक प्रभु

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।

श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥ यजुः ५।३१॥

आर्याभिविनय-व्याख्या।

[त्वं] विभूः असि = हे व्यापकेश्वर! आप विभु हो, सर्वत्र प्रकाशित वैभव ऐश्वर्ययुक्त आप ही हो, किन्तु[1] और कोई नहीं।

[त्वं] प्रवाहणः [असि] = विभु होके सब जगत् के प्रवाहण अर्थात् स्वस्वनियमपूर्वक चलानेवाले तथा सबके निर्वाहकारक[2] आप ही हो।

अर्थबोधक-टिप्पणी

१. किन्तु = परन्तु।

२. निर्वाहकारक = Supporter-आप्टे०

[त्वं] वह्निः असि, हव्यवाहनः [असि] = हे स्वप्रकाशक, सर्वरसवाहकेश्वर ! आप वह्नि हैं, सब हव्य उत्कृष्ट रसों के भेदक, आकर्षक तथा यथावत् स्थापक[3] आप ही हो।

[त्वं] श्वात्रः असि प्रचेताः [असि] = हे आत्मन् ! आप शीघ्र व्यापनशील हो तथा प्रकृष्टज्ञान-स्वरूप, प्रकृष्ट ज्ञान के देनेवाले हो।

[त्वं] तुथः असि विश्ववेदाः [असि] = हे सर्ववित् ! आप तुथः और विश्ववेदाः हो। सब जगत् में विद्यमान, प्राप्त और लाभ कराने वाले हो।

दण्डान्वय-टीका

[त्वं] विभूः[4] असि = आप सर्वत्र विद्यमान, सर्वश्रेष्ठ, शक्तिशाली और शासक हैं।

[त्वं] प्रवाहणः[5] [असि] = आप सदैव सचेष्ट और निरन्तर सृष्टिकार्यसञ्चालक हैं।

[त्वं] वह्निः[6] असि = आप नेता और सकल वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाले हैं।

हव्यवाहनः[7] [असि] = हुत पदार्थों को यथास्थान पहुँचाने वाले हैं।

[त्वं] श्वात्रः[8] असि = आप सुन्दर विज्ञान और धन से युक्त हैं [तथा]

प्रचेताः [असि] = अतीव बुद्धिसम्पन्न हैं।

[त्वं] तुथः[9] असि = आप महान् हैं और ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हैं [तथा]

विश्ववेदाः[10] [असि] = सब कुछ जाननेहारे हैं।

---

३. यथावत् स्थापक = ठीक ठीक यथास्थान रखनेवाले।

४. mighty : powerful : eminent : supreme ruler : capable of : firm : Self controlled : eternal : all-pervading : sovereign—आप्टे०

५. Continuous flow : unbroken succession : activity—आप्टे०

६. वहतीति वह्निः अग्निर्वा। उ० ४।५१ ॥ priest : Sacrificer—आप्टे०

७. एष हि हव्यवाहनो यदग्निः। श० १।४।१।३९।

८. श्वात्रति गतिकर्मा। निघ० २।१४॥ श्वात्रं पदनामसु। निघ० ४।२॥ धननामसु च। निघ० २।१०॥ क्षिप्रनामसु निरु० ५।३॥ (श्वात्राः = शिवाः) शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्रास्थेति। श० ३।९।४।१६॥ श्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यस्य सः। दया० (यजु० ४।१२)।

९. तुथो वै ब्रह्म। श० ४।३।४।१५॥ तुथो महान् इति भट्टभास्करः॥ ज्ञानवृद्धः। दया० (यजु० ७।४५)।

१०. यः परमात्मा विश्वं सर्वं वेत्ति तद्वद्वर्त्तमानः। दया० (यजु० ७।४५)।

धर्म वही है, जिसका कोई विरोधी न हो

(१) "सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो-जो बातें सबके अनकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण, और जो एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं उनका त्यागकर वर्त्तें-वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे॥" (सत्यार्थप्रकाश भूमिका)

(२) "सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, और मानेंगे भी, इसीलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं जिसका विरोधी कोई भी न हो सके..."

(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)

उपनिषद् का सन्देश—सक्रिय दीर्घ जीवन एवं प्रभुकृपा

[*ले० श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज*]

उपनिषद् एक विशाल अमृत सागर है। इस में से कुछ बिन्दु आप के समक्ष पहले रखे जा चुके हैं। उपनिषद् का एक और सन्देश प्रस्तुत किया जाता है—वह है—सक्रिय दीर्घ जीवन।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करो, परन्तु कर्म करते हुए जीओ, कर्मशील बनो, आलसी न बनो। यह है उपनिषद् का सन्देश।

ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया तो क्यों? साधारणतः यह प्रश्न कई व्यक्ति पूछते हैं। वेद भगवान् इसका उत्तर देते हैं—

श्रमेण तपसा सृष्टाः

ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है परिश्रम करने के लिये—कर्म करने के लिये और इस लिये कि धर्म के मार्ग पर चलते हुए वह तप कर सके, कष्टों एवं आपत्तियों को सहन करता आगे बढ़ सके। आलसी बनकर, पाँव पर पाँव रखकर सो जाने के लिये, मखमली गद्दों पर जीवन बिता देने के लिये ईश्वर ने मनुष्य को नहीं बनाया—कर्म करने के लिये बनाया है। परन्तु यह कर्म भी केवल एक ही प्रकार का नहीं। एक है 'कर्म', दूसरा 'अकर्म', तीसरा 'विकर्म' तथा चौथा है 'सुकर्म'।

'कर्म' वह है जिसको हम दूसरों के भले के लिये करते हैं। पाठशाला बनवाना, कुएँ बनवाना, अनाथालय खोलना, आर्य समाज मन्दिर बनवाना, दुःखी और निर्धनों की सहायता करना—ये सब 'कर्म' हैं।

'अकर्म' वह है जो हम अपने लिये करते हैं। खाना, पीना, नहाना, कपड़े पहनना, यज्ञ-हवन करना, ईश्वर की प्रार्थना, उपासना करना—ये सब 'अकर्म' हैं।

'विकर्म' वह है जिसे हम दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये करते हैं। दूसरों को नीचे गिराने के लिये करते हैं। भाई को भाई से लड़ाना, देश में फूट डालना, जाति, बिरादरी, भाषा तथा प्रान्त का नाम ले कर देश के लोगों में एक दूसरे के प्रति घृणा उत्पन्न करना—ये सब 'विकर्म' हैं।

'सुकर्म' वह है जिस से स्वयं को भी लाभ हो एवं दूसरों को भी लाभ हो। दान देना, ऐसे यज्ञ करना जिन का उद्देश्य संसार का उपकार है, संन्यासी बन कर सब लोगोंको सन्मार्ग पर ले चलने का यत्न करना—ये सब 'सुकर्म' हैं।

चार प्रकार के इस कर्म में 'सुकर्म' ही सब से उत्तम कर्म है। अन्य कर्म भी करो, किन्तु अधिक ध्यान दो 'सुकर्म' की ओर। कर्म करो, किन्तु फल की इच्छा न करो। तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कदापि नहीं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को ज्ञान-सांख्य-उपासना आदि कई प्रकार के योगों की शिक्षा दी, तो अर्जुन ने पूछा—भगवन्! आपने तो मुझे दुविधा में डाल दिया। कई प्रकार के योग आपने बताये, प्रत्येक योग की प्रशंसा की। उनमें सर्वोत्कृष्ट—सर्वोत्तम योग कौन सा है? भगवान् कृष्ण ने कहा—सुनो अर्जुन!—**कर्मयोगो विशिष्यते**— इन सब योगों में कर्मयोग ही सब से बड़ा है।

मुण्डक उपनिषद् में भी आता है कि प्राचीन काल में ऋषियों ने वेद भगवान् से कर्मकाण्ड को निकाल कर उसका उपदेश लोगों को दिया। त्रेता युग में इस कर्म काण्ड के अनुसार कार्य होता था। लोग सुखी थे।

सुनो! संसार के लोगो! यदि आज भी सुखी होना चाहते हो तो मार्ग केवल एक है—वेद के कर्म-

काण्ड को अपनाओ। कर्मयोग ही सब से उत्तम है। यह है उपनिषद् का सन्देश—कर्म कर—परिश्रम से, पसीना बहा कर कर्म कर, आलसी न बन, निकम्मा न बन। सौ वर्ष तक जीने की कामना कर, किन्तु कर्म करता हुआ जी।

इसके बाद उपनिषद् एक और बात कहती है। उसका अगला सन्देश है—प्रभु की कृपा प्राप्त करना। प्रभु की कृपा के बिना कुछ नहीं होता। कठ उपनिषद् का ऋषि कहता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

यह जो आत्मा—परम पिता परमात्मा—है, यह बहुत बातें करने या बहुत पढ़ने लिखने से नहीं मिलता, बहुत बुद्धि तथा बहुत श्रवण से भी नहीं मिलता। पढ़ना लिखना अच्छा है, किन्तु यदि कोई समझे कि केवल पढ़ने से, पुस्तकों का पाठ कर लेने अथवा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेने से ईश्वर मिल जायेगा, तो यह मिथ्या धारणा है। इस प्रकार वह नहीं मिलता। चारों वेदों का ज्ञाता था रावण, छ दर्शन भी उसने पढ़े थे। बहुत बड़ा विद्वान् था, इस लिये उसका पुतला बनाते समय दस सिर बनाते हैं और सब से ऊपर लगा देते हैं गधे का सिर। क्यों कि सब कुछ पढ़ कर भी उसकी बुद्धि बिगड़ी हुई थी, उसका चरित्र भ्रष्ट था।

महर्षि वेदव्यास बहुत बड़े विद्वान् थे। कितने ही शास्त्र उन्होंने लिख डाले। वे ही वेदव्यास एक दिन सरस्वती नदी के तट पर बैठे थे। बहुत दुःखी थे कि मुझे हुआ क्या है? मैं सदाचारी हूँ, कितने ही ग्रन्थ मैंने लिखे हैं, कितने ही शास्त्रों का अध्ययन किया है, ज्ञान और धर्म की कितनी ही बातें लोगों को बताई हैं। किन्तु मेरे अपने मन को कोई प्रसन्नता नहीं, चित्त में शान्ति नहीं—इस प्रसन्नता तथा शान्ति के लिये मैं क्या करूं? वे इस प्रकार सोच ही रहे थे, कि नारद मुनि वहां से गुजरे। महर्षि वेदव्यास को इस प्रकार देखकर वे बोले—आप उदास होकर क्यों बैठे हैं? व्यास जी बोले—प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिलता। आप संसार भर में घूमते हुए लोगों को शान्ति और सुख का मार्ग दिखाते हैं। मेरे ऊपर भी कृपा करें, मैं बहुत दुःखी हो गया हूं। नारद ने पूछा—ऐसी क्या बात हो गई महर्षि! व्यासजी ने कहा—मैं धर्म को जानता हूं, शास्त्र को जानता हूं, सत्य और सदाचार के मार्ग को अपना कर कितने ही ग्रन्थ मैंने लिखे हैं। परन्तु मेरे अपने मनको शान्ति नहीं, इसका क्या कारण है? नारद सोचते हुए बोले—वेदव्यास! बहुत कुछ किया है आपने, किन्तु एक त्रुटि रह गई है। व्यास जी ने पूछा—कौन सी त्रुटि रह गई है? नारदजी ने उत्तर दिया—व्यास जी! सब कुछ करके भी आपने ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं की, यही त्रुटि रह गई है। यह त्रुटि दूर न हुई तो पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना सब व्यर्थ है। इससे मनको शान्ति तथा आत्मा को सन्तोष नहीं मिलेगा।

तब क्या यह आत्मा बहुत मेधा-बुद्धि वालों को मिलता है? उपनिषद् का ऋषि कहता है—नहीं, उनको भी नहीं मिलता। आज देख लो इन रूस और अमेरिका के वैज्ञानिकों को। कैसे २ चमत्कार उनकी बुद्धि दिखाती है, किन्तु क्या उन्हें परमात्मा का दर्शन मिल गया, मनको शान्ति तथा आत्मा को सन्तोष मिल गया? पूछो जाकर उनसे। इतनी बुद्धि के होते हुए भी आज उनमें शान्ति एवं सन्तोष नहीं है, तब प्रभु का दर्शन उन्हें कहां होगा?

बहुत सुनने से भी वह नहीं मिलता। धर्म की बातें सुनो, ज्ञान की बातें सुनो और केवल सुनते ही रहो, उनको जीवन में धारण न करो तो फिर यह आत्मा मिलता नहीं। तब किस प्रकार मिलता है? केवल एक प्रकार है और वह यह है कि प्रभु की कृपा आपके ऊपर हो जाये।

आप कहेंगे—यह तो बड़ी कठिन बात है। हम परमात्मा का दर्शन चाहते हैं उसकी कृपा पाने के लिये, और उपनिषद् कहती है कि परमात्मा की कृपा के बिना दर्शन ही नहीं मिलता। तब यह गोरख धन्धा क्या है? इस समस्या का हल क्या है?

प्रभु की कृपा को पाने का प्रकार क्या है ? उपनिषद् इसका भी उत्तर देती है। साफ़ और सीधे शब्दों में वह कहती है—

नाविरतो न दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

वह परमात्मा उस व्यक्ति को नहीं मिलता जो पाप से परे नहीं हट गया, जिसने बुरे चरित्र को, बुरे चलन को छोड़ कर अच्छे चरित्र को, अच्छे चलन को नहीं अपनाया।

यह केवल एक शर्त है। दूसरी शर्त यह है कि जिस व्यक्ति का मन चंचल है, उसको भी ईश्वर नहीं मिलता। जिसके चित्त की वृत्ति एकाग्र नहीं, चित्त में स्थिरता नहीं—उसको भी प्रभुदर्शन नहीं होता। प्रभु की कृपा उसके ऊपर भी नहीं होती, जो तृष्णा का त्याग नहीं कर सका। जो एषणाओं का अन्त नहीं कर सकता, भले ही उसका चरित्र ऊंचा हो, उसका मन निश्चल हो, चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र हों, भले ही उसने दीर्घ काल तक योगाभ्यास किया हो—किन्तु यदि वह तृष्णा के पीछे भागता फिरता है, यदि उसकी तृष्णा शान्त नहीं, तो प्रभु की कृपा उस पर नहीं हो सकती—प्रभु के दर्शन उसको नहीं हो सकते।

योग दर्शन में ऐसी कितनी ही सिद्धियों का वर्णन है जिन्हें योगी, अपने शरीर के अन्दर या बाहर, विभिन्न स्थानों पर संयम करके प्राप्त कर सकता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि धारणा, ध्यान और समाधि—तीनों के एक स्थान पर मिल जाने का नाम 'संयम' है। तब वे कहते हैं कि 'धर्म लक्षण' अवस्था और रूप में संयम करने से योगी को भूत और भविष्य की बातों का ज्ञान हो जाता है। शब्द और अर्थ में संयम करने से पशु, पक्षी, मनुष्य—सबकी भाषा उसे समझ में आने लगती हैं। इसी प्रकार उन आठ सिद्धियों को भी योगी प्राप्त कर लेता है, जिनका वर्णन प्रायः आप सुनते हैं। अणिमा, लघिमा आदि सभी सिद्धियों को योगी उन साधनों से प्राप्त कर सकता है, जिनको महर्षि पतञ्जलि ने बताया है। इन सब सिद्धियों का वर्णन करके महर्षि कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

ये सब सिद्धियां समाधि में—ईश्वर प्राप्ति में—विघ्न हैं। प्रभुदर्शन के मार्ग में बाधायें हैं। केवल लौकिक सफलतायें हैं। ये आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग नहीं।

इस प्रसङ्ग में स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक घटना याद आती है। लाहौर छोड़ने के बाद मस्ती में वे एक दिन ऋषिकेश के आगे गंगातट पर घूम रहे थे, तो एक योगी से मिले। उन्हों ने योगी से पूछा—आप कितने वर्ष से संन्यासी हैं। योगी ने कहा—कोई चालीस वर्ष हो गये। स्वामी राम बोले—इतने वर्ष में आपने क्या प्राप्त किया। योगी ने अभिमान से कहा—इस गंगा को देखते हो। मैं चाहूँ तो इसके पानी पर उसी प्रकार चलकर दूसरे किनारे पर जा सकता हूँ, जिस प्रकार कोई सूखी भूमि पर चलता है। स्वामी राम ने कहा—उस पार से वापिस भी आ सकते हैं आप ? योगी ने कहा—हाँ, वापिस भी आ सकता हूँ। स्वामी रामने कहा—इसके अतिरिक्त कुछ और ? योगी ने कहा—यह क्या छोटी बात है ? स्वामी राम ने हँसते हुए कहा—बहुत छोटी बात है बाबा। चालीस वर्ष आपने खो दिये। नदी में नौका भी चलती है। दो आने उधर जाने के लगते हैं, दो आने इधर आने के। चालीस वर्ष में आप ने वह प्राप्त किया जो केवल चार आने व्यय करके किसी भी आदमी को मिल सकता है। आप अमृत के सागर में गये अवश्य, वहाँ से मोती के स्थान में कंकड़ उठा लाये।

इसी लिये उपनिषद् के ऋषि ने कहा—जिस व्यक्ति ने अपनी तृष्णा को समाप्त नहीं किया, वह आत्मा को नहीं पा सकता। जिस का चरित्र अच्छा नहीं, वह आत्मदर्शन से वञ्चित, जिस का मन निश्चल नहीं, वह भी वञ्चित; जिसके चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र नहीं, वह भी वञ्चित; जिसने तृष्णा का अन्त नहीं किया, वह भी वञ्चित–तब यह आत्मा मिलता किसको है ? उपनिषद् कहती है—उस को मिलता है जिस का चरित्र शुद्ध है, मन निश्चल है, चित्त एकाग्र है एवं जो तृष्णाओं को दूर कर चुका है॥

स्नातक के प्रति आचार्य का उपदेश

[*ले०—श्री डा० मंगलदेवशास्त्री जी, एम० ए० डी० फि० वाराणसी*]

आचार्य-कुल के आदर्श और अनुशासन के प्रसंग में स्नातक के प्रति आचार्य के अन्तिम उपदेश को देना आवश्यक प्रतीत होता है।

तैत्तिरीय-उपनिषद् की प्रथम शिक्षा-वल्ली के, अन्त में यह उपदेश दिया हुआ है। निश्चय ही समस्त उपनिषदों के उत्कृष्ट अंशों में से यह एक है।

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यथाविधि वेदाध्ययन करके आचार्य-कुल से लौट कर अपने घर आने वाले ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था[1]। इसके अनन्तर ही वह विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था[2]।

आचार्य के प्रकृत अन्तिम उपदेश का महत्त्व कई दृष्टियों से है।

स्वभावतः यह आकांक्षा होती है कि आचार्य-कुल से लौटने पर स्नातक अपने लौकिक जीवन को किस तरह व्यतीत करता था? उसके जीवन के मुख्य आदर्श क्या होते थे? विद्या-वयो-वृद्धों के साथ उसका व्यवहार कैसा होता था? अपनी जीवन-चर्या में वह कहाँ तक समाज के हितसंपादन का ध्यान रखता था।

इन सारे प्रश्नों का बहुत कुछ उत्तर इस उपदेश से हमें मिल जाता है।

आजकल कतिपय भारतीय विश्वविद्यालयों और अन्य विद्या संस्थाओं के उपाधि-वितरणोत्सवों के अवसर पर दीक्षान्त-भाषणों में इस प्रसंग को प्रायः उद्धृत किया जाने लगा है। यह सर्वथा ठीक ही है।

तो भी इसके पूरे अभिप्राय को बहुधा कम समझा जाता है। इसलिए इसकी कुछ विशद व्याख्या देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। मूल संस्कृत उपदेश और उसके अनुवाद को देकर ही हम उसकी संक्षिप्त व्याख्या करने का यत्न करेंगे।

मूल उपदेश इस प्रकार है—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—

(१) सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(२) आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

(३) सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(४) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

(५) यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

(६) ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्।

(७) श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भियाऽदेयम्। संविदा देयम्।

(८) अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।

अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथाः।

(९) एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषद्।

---

१. द्र. "ब्रह्मचारी···। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते॥" (अथर्व. ११।५।२६)। "त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च" (हारीत-स्मृति)। प्राचीन उपनिषदों में 'स्नातक' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

२. द्र. "ब्रह्मचारी···दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥" (अथर्व. ११।५।६)। "गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥" (मनुस्मृति ३।४)।

एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥

तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ११

अर्थात्--

वेद का अध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य को अन्तिम उपदेश देते हैं--

(१) सत्य-भाषण करो । धर्म का, अपने कर्तव्य का पालन करो । स्वाध्याय में प्रमाद न करो ।

(२) अपने आचार्य-कुल, विद्यामन्दिर की उन्नति के लिये अधिक सहायता आदि द्वारा यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए सन्तानोत्पत्ति द्वारा गृहस्थ धर्म का पालन करो ।

(३) सत्य और धर्म के पालन में प्रमाद, आलस्य न करना चाहिये । स्वस्थ और सुन्दर जीवन के लिये यत्नशील रहो । समृद्धि और ऐश्वर्य की प्राप्ति में तत्पर रहो । ज्ञान के अर्जन और प्रसार को अपना कर्तव्य समझो और कभी इसकी उपेक्षा न करो ।

(४) वेद और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य का सदा ध्यान रखो । माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि में पूज्य-बुद्धि रखो ।

(५) जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हीं का अनुसरण करना चाहिये; निन्दनीय कर्मों का नहीं ।

हम गुरुजनों के जो अच्छे आचरण हैं । उन्हीं का तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, दूसरे प्रकार के आचरणों का नहीं ।

(६) जो विद्वान् हमारे मान्य हैं, उनका तुम्हें भी अभ्युत्थान तथा आसन–दान आदि से सम्मान करना चाहिए ।

(७) समाज के हित-संपादन के लिए और दूसरों के कष्टों के निवारणार्थ आर्थिक सहायता देना, दान देना, तुम्हारा प्रथम कर्तव्य होना चाहिए; परन्तु वह सहायता श्रद्धा से न कि अश्रद्धा से; प्रसन्नता से, न कि डर से, और सहानुभूति तथा प्रेम से करनी चाहिये ।

(८) यदि तुम्हें कभी अपने कर्तव्याकर्तव्य के अथवा सदाचार के विषय में सन्देह उपस्थित हो, तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्तव्यपरायण, कोमलस्वभाव, धर्मात्मा, विद्वान् हों उनकी सेवा में उपस्थित हो कर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो ।

इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर दोष का आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार में तुम्हें ऊपर बताये गये गुणों से युक्त विद्वानों के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिये ।

(९) तुम्हारे लिए हमारा यही अन्तिम आदेश है, यही उपदेश है । यही वेद का रहस्य है । यही शिक्षा है । इसी आदर्श को अपने भविष्य जीवन में सर्वदा सर्वथा अपने सामने रखो । इसी का पालन करो ।

संक्षिप्त व्याख्या

उक्त उपदेश को हमने अर्थ–सुविधा की दृष्टि से नौ अंशों में विभाजित कर दिया है ।

(१) प्रथम अंश में सत्य-पालन के साथ ही धर्म के आचरण पर और स्वाध्याय पर बल दिया गया है ।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि संध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, गंगा-स्नानादि रूढ़ि-परक 'धर्म' का पालन करते हुए भी लोग जीवन की व्यावहारिक सच्चाई से उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं समझते, इसलिए सत्य के आधार पर ही वास्तविक धर्माचरण हो सकता है । इस तथ्य पर जितना भी बल दिया जाए थोड़ा है[1] ।

स्वाध्याय का अर्थ स्पष्टतः 'स्वयं अध्ययन' है । फिर भी चिरकाल से हमारे देश में प्रायेण अर्थज्ञान के बिना ही किसी वेदादि धर्म-ग्रन्थ के पाठमात्र को स्वाध्याय समझा जाता रहा है[2] । सच्चा स्वाध्याय मनुष्य की जीवन-यात्रा के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है ।

एक शिक्षित मनुष्य के दैनिक जीवन के लिए मौलिक दृष्टि से आवश्यक उपदेश इस प्रथम अंश में दिया गया है ।

(२) दूसरे अंश में प्रथम तो स्नातक के लिए अपने आचार्य-कुल की उन्नति का ध्यान रखने की बात कही

१. तु. "सत्यस्य हि प्रतिष्ठायां चारित्र्यं स्थितिमश्नुते । सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते ।" (अमृत-मन्थन १५।४) । २. दे. सायणकृत तैत्तिरीय संहिता भाष्य की भूमिका ।

गयी है[१]। दूसरी बात जो अति महत्त्व रखती है, वह है स्नातक के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश का स्पष्ट आदेश[२]।

उत्तरकाल में वेदान्त की धारा में संन्यास की ओर उग्र प्रवृत्ति के साथ-साथ गृहस्थाश्रम की हीनता का भाव भी पाया जाता है[३]। पर यहाँ गृहस्थाश्रम का आदेश स्पष्टतः उस भावना के प्रतिकूल है।

औपनिषद धारा के मौलिक स्वरूप को समझने के लिए, जैसा हम आगे चल कर दिखाएँगे, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

(३) तीसरे अंश का अभिप्राय यही है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश के अनन्तर उसके नवीन उत्तरदायित्व के उठाने पर भी स्नातक को जीवन के उदात्त आदर्शों की उपेक्षा न करनी चाहिए[४]। व्यावहारिक जगत् के विसंष्कुल वातावरण में पड़कर जहाँ एक ओर नैराश्य, प्रमाद और आलस्य जैसी क्षुद्र भावनाओं का भय होता है, वहाँ दूसरी ओर अनेक प्रलोभन और आकर्षण अभद्र और असंयत जीवन की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करना चाहते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में भी आचार्यकुल में शिक्षित स्नातक अपने उत्कृष्ट आदर्शों का ध्यान रखते हुए ही स्वस्थ और सुन्दर जीवन के लिए और समाज में ज्ञान के स्तर को ऊँचा रखने के लिए प्रयत्नशील रहे, यही इस अंश का अभिप्राय है।

(४) देवकार्य और पितृकार्य से साधारणतया यही अभिप्राय है कि देवयज्ञ और पितृयज्ञ के रूप में जो धार्मिक परम्परा चली आ रही है उसका पालन भी स्नातक को गृहस्थाश्रम में रहते हुए करना चाहिए।

किसी प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड के नियन्त्रण के बिना मनुष्य के जीवन में स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता और प्रमाद को अवसर मिल जाता है और उसका चारित्रिक शैथिल्य उसे अपने उदात्त आदर्शों से गिरा देता है।

कर्मकाण्ड की दृष्टि को छोड़ कर, इस उपदेश का अभिप्राय यह भी है कि प्रत्येक शिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि-दृष्टि और सर्वभूत-हित के आदर्शों के प्रकाश में तथा अपने पूर्वजों के गौरव को ध्यान में रखते हुए ही अपने वैयक्तिक जीवन का निर्वाह करे। मौलिक दृष्टि से देवकार्य से अभिप्राय सदैव विश्व के कल्याण में तत्पर दैवी शक्तियों में आस्था रखने से है। इसी प्रकार 'पितृकार्य' का अभिप्राय अपने पितृ-पितामह आदि की परम्परा के पालन से है।

माता, पिता, विद्वान् पुरुष और अतिथि में देवतुल्य पूज्य-बुद्धि रखने का सुन्दर उपदेश भी यहाँ दिया गया है।

(५) किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्णतया निर्दोष है, ऐसा होना कठिन है। आचार्य अपने विषय में भी समझता है कि उसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। इसलिए स्नातक के प्रति आचार्य का यह कथन है कि वह आचार्य के केवल सच्चरित्र और सत्कार्यों का ही अनुसरण करे, विशेष महत्त्व रखता है। स्नातक का कर्तव्य है कि वह अपनी जीवन-यात्रा में अन्ध-श्रद्धा से प्रेरित न होकर विवेक और बुद्धि के आधार पर ही अपने जीवनपथ का निर्माण करे और सदा जागरूक रहे।

(६) 'विद्या ददाति विनयम्' (अर्थात् विद्या मनुष्य को विनय सिखाती है) यह एक प्राचीन उक्ति है। विद्या का माधुर्य विनय में प्रकट होता है, होना चाहिए। उसी के आधार पर समाज में शील और सदाचार की सृष्टि होती है। इसी लिए विद्वानों के प्रति नम्रता और शिष्टता के आचरण पर इस अंश में बल दिया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् (६,१) में श्वेतकेतु के विषय में कहा गया है कि समस्त वेदों को पढ़ कर वह अभिमानी और उद्धत ('अनूचानमानी स्तब्धः') हो गया था। उसके पिता उद्दालक ने जब यह देखा, उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने कुछ तात्त्विक प्रश्नों द्वारा उसके दुरभिमान और औद्धत्य को दूर कर उसको फिर से विनीत और अध्यात्म-विद्या का जिज्ञासु बनाया।

सदा ही एक नव-शिक्षित में अविनय और दुरभिमान का डर रहता है। इसीलिए इस उपदेश में और मनुस्मृति

---

१. आचार्य को गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ धन दे कर प्रसन्न करने मात्र का अभिप्राय यहाँ नहीं लेना चाहिए; क्योंकि आचार्य अपने रूप में आचार्य-कुल का ही प्रतिनिधि होता था। २. तु. "गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्याम्" (मनु. ३।४) ३. तु. "दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः" (मैत्रायणी-उपनिषद् १।२) "एतद्ध स्म नैतत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः" (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२) ४. तु. "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि।" (महाभारत उद्योगपर्व, ४२।४)।

आदि में बड़ों के प्रति अभ्युत्थान आदि विनय प्रदर्शन का विधान किया गया है[1]।

(७) सच्चे अर्थों में दान का बड़ा महत्त्व है[2]। परन्तु दान का जैसा दुरुपयोग चिरकाल से भारत में होता आया है वैसा कदाचित् ही संसार में अन्यत्र देखने में आएगा।

प्रकृत उपदेश के इस अंश में दान का कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी वर्णन दिया गया है। अश्रद्धा से अर्थात् वास्तविक परार्थ हित-साधन की भावना के बिना और डर से किये हुए दान का कोई महत्त्व नहीं होता। सच्चे दान में श्रद्धा, प्रसन्नता, नम्रता और सहानुभूति का आधार होना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य में स्वार्थमयी प्रवृत्ति स्वभावतः विद्यमान है। इसीलिए शिक्षा का एक मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि मनुष्य में समाज के हित-संपादन और दूसरों के कष्टों के निवारण की भावना को उद्बुद्ध किया जाए। प्रकृत अंश में इसी महान् लक्ष्य को सामने रखा गया है।

(८) जीवन में कर्तव्य-अकर्तव्य की दुरूह समस्याएँ प्रायः उपस्थित होती रहती हैं। एवं अनेक प्रकार के प्रलोभनों में फँस कर मनुष्य के लिए कभी-कभी ऐसे लोगों के संपर्क में पड़ जाने का भय उपस्थित हो जाता है, जिनको शिष्ट समाज पसन्द नहीं करता। उक्त दोनों प्रकार के अवसरों में एक अनुभवहीन नव शिक्षित के लिए कैसे सच्चरित्र विचारशील विद्वानों के मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है, इसी बात का एक हृदयस्पर्शी वर्णन इस अंश में किया गया है।

यही आचार्य कुल से विद्या-समाप्ति पर लौटने वाले स्नातक के प्रति आचार्य का अन्तिम उपदेश है। अनेक दृष्टियों से सचमुच इसे हम अद्भुत, अद्वितीय कह सकते हैं॥

विद्वानों के विचारार्थ—

समिदाधान मन्त्रों की समस्या

(*ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, रेगरपुरा ४९४३, करोलबाग— दिल्ली*)

कुछ वर्ष पूर्व श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने संस्कार-विधि में निर्दिष्ट समिदाधान के मन्त्रों के विषय में लिखा था। अब पुनः 'एक पुरानी उलझन' नाम से उसे उपस्थित किया है। श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी के पहले लेख पर भी कुछ विद्वानों ने लिखा था। श्रीमती परोपकारिणी सभा ने भी इसी विषय में तीन विद्वानों की संमति मंगाकर पुस्तकाकार प्रकाशित की थी। इस बार भी श्री पं० गङ्गा-प्रसाद जी के लेख के उत्तर में श्री पं० रामावतारजी शर्मा और श्री पं० अमरसिंह जी ने लेख लिखे हैं। मैंने पूर्व प्रकाशित और वर्तमान में प्रकाशित एतद्विषयक सभी लेख पढ़े। मैं अभी तक इसलिए मौन रहा कि मेरा मत इन दोनों पक्षों से विलक्षण है। श्री पं० अमरसिंह जी ने मुझसे कुछ प्रश्न भी पूछे थे, परन्तु मैंने उन्हें उनका उत्तर भी नहीं दिया और उत्तर न देने का कारण उन्हे स्पष्ट लिख दिया।

दो स्वतन्त्र प्रश्नों को एक में उलझाना

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने जो लेख कतिपय वर्ष पूर्व लिखा था और जो अब लिखा है उन दोनों में उन्होंने दो स्वतन्त्र प्रश्नों को एक में उलझा दिया है। उत्तर देनेवाले महानुभावों ने उत्तर भी उसी प्रकार उलझा कर दिए हैं। वे दो स्वतन्त्र प्रश्न ये हैं—

१—क्या अयन्त इध्म आत्मा मन्त्र लेखक ने ऋषि दयानन्द के बिना निर्देश के प्रेस कापी में बढ़ा दिया और ऋषि दयानन्द को उसका ज्ञान भी नहीं हुआ, अथवा ऋषि

---

१. तु. "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥" मनु० २।१२०-१२१॥

२. दे. बृहदारण्यकोपनिषद् ५।२।२।

दयानन्द के निर्देश से बढ़ाया गया, वे इस वृद्धि से भले प्रकार परिचित थे।

२—यदि ऋषि दयानन्द की विना आज्ञा के लेखक ने अपनी ओर से बढ़ाया हो, तब तो इस समस्या का हल सीधा है। यदि यह मन्त्र ऋषि दयानन्द के निर्देश से बढ़ाया गया हो, उन्हें इस वृद्धि का परिज्ञान हो, उस अवस्था में संस्कारविधि का जो पाठ (मन्त्रपाठ-भाषापाठ) है वह उसी रूप में आंख मूंदकर 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार मान लिया जाए, अथवा उसपर विचार करना युक्त है?

माननीय उपाध्याय जी ने अपने लेखों में सदा यही लिखा है कि "**अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र संस्कारविधि की रफ कापी में नहीं है, प्रेसकापी में लेखक ने बढ़ाया है। अतः यह प्रक्षेप है। प्रक्षेप होने से परित्याज्य है।"

इस पर मेरा कहना यह है कि माननीय उपाध्याय जी ने हस्तलेख की जो परिस्थिति वर्णित की है, उससे प्रतीत होता है कि या तो उन्होंने उसे अधूरे रूप में उपस्थित किया है, अथवा उन्हें संस्कारविधि के हस्तलेखों की वास्तविक परिस्थिति का परिज्ञान ही नहीं है। उन्होंने हस्तलेख को न तो पूरी तरह से देखा है और न उतनी सूक्ष्मता से उसकी जांच की है, जितनी सूक्ष्मता से करनी चाहिए थी। इसलिए मैं उचित समझता हूँ कि संस्कारविधि के हस्तलेख की, विशेषतया इस विषय से संबद्ध अंश की, वास्तविक परिस्थिति स्पष्ट कर दूं और उस परिस्थिति में दोनों पक्षों के विद्वान् अपना विचार पुनः व्यक्त करें। ऐसा करने पर अवश्य किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

संस्कारविधि के हस्तलेखों की परिस्थिति मैं बहुत ही नपे तुले शब्दों में स्पष्ट करता हूँ। इसलिए पाठक महानुभाव मेरे शब्दों पर विशेष ध्यान दें।

१—संस्कारविधि की रफकापी के **सामान्य प्रकरण** में **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र समिदाधान प्रकरण में नहीं है।

२—संस्कारविधि की प्रेसकापी के **सामान्य प्रकरण** में **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र मार्जिन (हाशिए) पर लेखक की कलम से बढ़ाया हुआ है।

३—संस्कारविधि की **रफकापी के सामान्य प्रकरण से अगले भाग** में जहां जहां मन्त्र निर्देशपूर्वक समिदाधान का उल्लेख है, वहां सर्वत्र **अयन्त इध्म आत्मा** का उल्लेख है, **समिधाग्निम्** का नहीं। ऐसे स्थल रफकापी में छ हैं।

४—संस्कारविधि की प्रेसकापी के जिस पृष्ठ पर यह मन्त्र लेखक की कलम से बढ़ाया गया है, उसी पृष्ठ पर इस मन्त्र के बढ़ाने से अवश्यंभावी किए जाने वाले पाठ-परिवर्तन **ऋषि दयानन्द के हाथ के हैं**। यथा—

द्वितीय मन्त्र (समिधाग्निम्) के अन्त में इससे प... के आगे बढ़ाया हुआ **और** पद, तृतीय मन्त्र (सुसमिद्धाय) के आगे **अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी** ये पद ऋषि दयानन्द के अपने हाथ से परिवर्धित हैं।

इन परिस्थितियों को ध्यान में रखने से निम्नपरिणाम निकलते हैं—

१—संस्कारविधि की **सामान्य प्रकरण** की प्रेसकापी रफकापी के सामान्यप्रकरण के उत्तर भाग लिखने से पूर्व ... गई थी। और **अयन्त इध्म आत्म** मन्त्र का प्रेसकापी में परिवर्धन भी रफकापी के सामान्य प्रकरण से अगले उत्तर भाग के लिखने से पूर्व हो गया था।

२—संस्कारविधि की सामान्यप्रकरण से आगे की रफकापी में छ बार **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र का समिदाधान में विनियोग मिलने और प्रेसकापी में इस मन्त्र के बढ़ाये जाने के कारण किए गए परिवर्तन ऋषि दयानन्द के स्व हस्त के होने से स्पष्ट है कि समिदाधान के लिए बढ़ाया गया **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र ऋषि दयानन्द के निर्देश से लेखक ने लिखा था। अन्यथा उसका निर्देश रफकापी के उत्तर भाग में न मिलता और इस मन्त्र के बढ़ाने से अवश्यंभावी परिवर्तन ऋषि अपने हाथ से न करते।

इस वस्तुस्थिति के निर्देश से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रेस कापी में **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र लेखक (क्लर्क) का प्रक्षेप नहीं है, वह ऋषि दयानन्द द्वारा परिवर्धित है। इसलिए दोनों पक्षों के विद्वानों को चाहिए कि इस वस्तुस्थिति के प्रकाश में अपने अपने विचार पुनः प्रस्तुत करें।

अब मैं दोनों पक्षों के जो लेख वर्तमान में प्रकाशित हुए हैं, उनके विषय में कुछ लिखता हूँ—

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी ने तो **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र को क्लर्क का प्रक्षेप बताकर मुक्ति पाली, परन्तु श्री रामावतार शर्मा जी और श्री पं० अमरसिंह जी ने इस ...

वर्धन को ऋषि दयानन्द का मान कर उनके मत के पोषण में कतिपय युक्तियां तथा प्रमाण दिए हैं। उनपर विचार करना युक्त है।

श्री पं० अमरसिंह जी का कहना है कि ऋषि दयानन्द स्वतन्त्र कल्पकार थे। उन्हें स्वतन्त्र रूप से विनियोग करने का अधिकार था। अतः उन्हों ने चार मन्त्रों से तीन समिदाधान लिखा तो कोई भूल नहीं की। आपने तो यहां तक लिख दिया कि **समिधाग्निं०** मन्त्र में **स्वाहा** और **इदमग्नये इदं न मम** का पाठ भी करना चाहिए, चाहे हम समिधा का प्रक्षेप न करें।

इस विषय में मेरा माननीय पण्डित जी से निवेदन है कि वे सम्पूर्ण कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में से एक भी उदाहरण ऐसा दिखा दें, जहाँ मन्त्र में अपठित **स्वाहा** पद और **इदमग्नये इदं न मम** का बिना आहुति के जपादि में प्रयोग किया गया हो। शास्त्र-विचार में कल्पना से काम कहीं चलता। **शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्**–शब्द प्रमाण दीजिए। रहा स्वतन्त्र कल्पकारत्व, यह भी आपकी स्वकल्पना है। ऋषि दयानन्द ने ऐसी घोषणा कहीं नहीं की। अपनी कल्पना से उस निर्दोष ऋषि पर दोष मढ़ना उचित नहीं।

श्री पं० रामावतार जी ने शतपथ और कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चार मन्त्रों में तीन से आहुति और एक का जप अभिप्रेत है। कात्यायन श्रौतसूत्र की टीका (जिसे पं० गङ्गाप्रसाद जी ने पं० रामावतार की संस्कृत लिखा है, आर्यमित्र २१ अगस्त १९६० पृष्ठ ९) का वचन **द्वितीया च न समिच्छब्दवती अतो द्वितीयामेव जपति** वचन को उद्धृत करके **सुसमिद्धाय** मन्त्र के जपपक्ष का पोषण किया है। किन्तु यह प्रमाण यहाँ संस्कारविधि में उलटा पड़ गया। कात्यायन श्रौतसूत्र और यजुः संहिता की दृष्टि से दूसरा मन्त्र **सुसमिद्धाय शोचिषे** है। अतः उसके जप का वहाँ विधान है। **सुसमिद्धाय** मन्त्र ही समित् शब्द रहित है। यहाँ संस्कारविधि के प्रसंग में जपयोग्य मन्त्र ठहरता है **समिधाग्निं दुवस्यत०**। क्योंकि इससे आहुति नहीं देते। यह मन्त्र समित्पदघटित है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि पं० रामावतार जी ने जो प्रमाण दिया है, वह एक देश अर्थात् चार मन्त्रों में से तीन से आहुति और एक का जप इतने मात्र अंश को प्रमाणित करने के लिए दिया है, तब भी यह प्रश्न होता है कि उनके उदाहृत प्रमाण के अनुसार जब 'सुसमिद्धाय' मन्त्र का जप किया जाता है तब संहिता में यथापठित मन्त्र का ही जप होता है। संहिता में इस मन्त्र के आगे **स्वाहा इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम** पद नहीं हैं। अतः इनका उच्चारण नहीं किया जाता। यहां संस्कारविधि में जिस **समिधाग्नि** मन्त्र का जप अभिप्रेत है, उसके आगे संस्कारविधि में **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** पद पढ़े हैं। क्या जप करते समय मूलमन्त्र से अधिक पढ़े गए स्वाहा आदि पदों का भी जप करना चाहिए अथवा उनको छोड़ देना चाहिए (जैसा प्रायः समाजों में देखा जाता है)। इस पर अपना कुछ स्पष्ट निर्णय नहीं दिया।

श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी ने २१ अगस्त १९६० के लेख में (पृष्ठ ९) श्री पं० रामावतारजी शर्मा के **द्वितीया च न समिच्छब्दवती**······उद्धरण पर उन्हें बड़े आड़े हाथ लिया है। पहले तो माननीय उपाध्याय जी ने इस उद्धरण को श्री पं० रामावतार जी की संस्कृत समझ कर लिखा—"विद्वान् संस्कृतज्ञों की अपने वाक्य इस प्रकार मिला देना कि लोगों को सूत्रों का भ्रम हो, प्रशंसनीय प्रवृत्ति नहीं।" इस विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि श्रीमाननीय उपाध्याय जी को ही यह भ्रम हुआ है कि यह पं० रामावतार जी की संस्कृत है। वस्तुतः यह उनका वचन नहीं है, कात्यायन श्रौतसूत्र के टीकाकार का है। अतः पं० रामावतार जी उपालम्भयोग्य नहीं हैं।

इसी प्रसंग में श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी आगे लिखते हैं—"[न] समिच्छब्दवती ऐसा आपने कैसे लिख दिया। कात्यायन को भी ऐसा साहस न होता कि वह 'सुसमिद्धाय' को समिद्वती स्वीकार न करे" इत्यादि इत्यादि।

मुझे श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय का यह लेख पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने **सुसमिद्धाय** ऋचा को जो कि वस्तुत **समिद्वती नहीं है** कैसे **समिद्वती** लिख दिया। पण्डित जी ! आपकी परिभाषा तो ठीक है जिसमें क शब्द हो वह **कवती**, जिसमें समित् शब्द हो वह **समिद्वती** होती है। परन्तु आप **सुसमिद्धाय** मन्त्र को ध्यान से देखिये और जरा ढूंढिए कि इसमें आपका अभिप्रेत **समित्** शब्द कहां है? इस मन्त्र में समित् पद कहीं नहीं है। जिस शब्द से आपको भ्रम हो रहा है यह

सुसमिद्ध शब्द है, समित् नहीं। अतः यह ऋचा सुसमिद्धवती है समिद्वती नहीं है। सार्थक सुसमिद्ध पद में से पृथक् किया गया अथवा समझा गया समित् पद यहाँ अनर्थक है। **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** अर्थात् अर्थवान् पदों के ग्रहणप्रसंग में अनर्थक पद का ग्रहण नहीं होता, इस महाभाष्य-सम्मत न्याय के अनुसार जिन मन्त्रों में सार्थक अर्थात् स्वतन्त्र समित् शब्द होगा वे ही ऋचाएँ समिद्वती कहलाएँगी। सुसमिद्ध के एक देश रूप अनर्थक समित् शब्द के आधार पर इसे आपके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति समिद्वती कहने का साहस नहीं करेगा। अतः आपका पं० रामावतार जी को दिया उपालम्भ आपके गले ही पड़ता है।

यह हुई संस्कारविधि के हस्तलेखों की स्थिति और विद्वानों के लेखों के कतिपय अंश की आलोचना। यतः मैं लेख लिखने बैठा हूँ, अतः मुझे भी अपना पक्ष उपस्थित करना ही चाहिए। अन्यथा न्याय की परिभाषा में मैं वैतण्डिक की कोटि में आता हूं। अतः इस समय न चाहते हुए भी मुझे अपना विचार व्यक्त करना पड़ रहा है। यह मैं अपने विचार लिख रहा हूँ, अतः कोई भी अस्पष्ट बात न लिखूंगा, अपने विचार न छिपाऊँगा, चाहे उसके लिए मुझे कितना ही भला बुरा क्यों न सुनना पड़े।

मेरे विचार नपे तुले और स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार हैं—

१—समिदाधान के प्रकरण में **अयन्त इध्म आत्मा** मन्त्र ऋषि दयानन्द के निर्देश से ही बढ़ाया गया है। अत एव उन्होंने रफ कापी में आगे छः स्थानों पर इस मन्त्र का उल्लेख किया और जिस पृष्ठ पर यह मन्त्र लेखक की कलम से बढ़ाया गया उसमें वृद्धि से अवश्यंभावी परिवर्तन-परिवर्धन ऋषि ने स्वयं अपने हाथ से किए हैं।

२—**अयन्त इध्म आत्मा** को ऋषि दयानन्द का परिवर्धन मानकर भी मैं यह ठीक नहीं समझता कि दो मन्त्रों से एक आहुति दी जाए। [हम सहमत नहीं—सम्पादक]

३—कात्यायन वाला जपन्याय भी यहां प्रवृत्त नहीं होता। जपमन्त्र में संहितापाठ मात्र का जप होता है। यहां **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** पद भी रखे हुए हैं। यदि **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** बिना आहुतिप्रदान के बोलते हैं तो हम असत्य भाषण करते हैं। श्री पं० अमरसिंह जी की इस विषय की कल्पना अत्यन्त थोथी है। उन्हें कल्पना करने से पूर्व चाहिए कि वे सारे कर्मकाण्ड से एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें, जहां आहुतिप्रदान न हो और **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** आदि पदों का प्रयोग किया गया हो। **चित्रं देवानां** का उदाहरण भी असं-गत है, वह यजुर्वेद का मन्त्र दिया है। अतः वहां मन्त्र में स्वाहा पद पठित है।

४—यदि **समिधाग्नि** का जप मात्र मानकर **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** पद नहीं बोलते, जैसा प्रायः पण्डित करते हैं, तब ऋषि का अक्षर अक्षर तो प्रमाण कोटि में नहीं रहा। कुछ अंश मान लिया कुछ छोड़ दिया। यह आधा तीतर आधा बटेर अथवा अर्धजरतीय न्याय मुझे युक्तिसङ्गत नहीं दीखता। या तो अन्धश्रद्धानुसार **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** का भी पाठ करना चाहिए। जैसा श्री पं० अमरसिंह जी करते हैं। अथवा यदि ऋषि के लेख में अपनी बुद्धि का दखल देना है, तब तो शास्त्रव्यवस्थानुकूल दखल देना युक्त होगा। उस अवस्था में **अयन्त इध्म आत्मा** से समिदाधान करके **समिधाग्नि** आदि मन्त्रों से हो[म] करना चाहिए।

५—कोई यह न समझे कि **अयन्त इध्म आत्मा** समिदाधान में विनियुक्त करना मैं गलत मानता हूं। समिदाधान में विनियोग अशुद्ध नहीं है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में यह मन्त्र समिदाधान में विनियुक्त है। परन्तु मैं संस्कारविधि के प्रकरण में इस मन्त्र से समिदाधान युक्त नहीं मानता, क्योंकि ऐसा मानने पर एक मन्त्र पूरा अथवा **स्वाहा इदमग्नये इदं न मम** अंश व्यर्थ होता है।

६—संहितापाठ के अनुसार **समिधाग्नि** आदि तीन मन्त्र क्रमशः पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोकस्थ अग्नि (साधारण अग्नि—जातवेदा—आङ्गरस्) को उद्देश्य करके समिदाधान में विनियुक्त होते हैं। अतः शतपथ में प्रत्यृचं लिखकर क्रमशः तीन मन्त्रों से समिदाधान का विधान किया है। चौथे उपत्वाग्ने का जप विधान लिखा है। कात्यायन श्रौतकार ने सुसमिद्धाय मन्त्र में समित् शब्द का पाठ न होने से और चौथे उपत्वाग्ने में समित् का साक्षात् प्रयोग होने से विनियोग के सामञ्जस्य के लिए प्रथम, तृतीय, चतुर्थ मन्त्र से समिदाधान लिखा और द्वितीय का जप। वस्तुतः संहिता क्रमानुसार ही समिदाधान ठीक है। ऋषि दयानन्द के लेखानुसार एक जातवेदा देवता के लिए दो आहुतियाँ हो जाती हैं और श्रौत के अनुसार अग्नि के लिए। अतः दोनों चिन्त्य हैं।

यहाँ प्रसंगात् यह भी लिख देना युक्त होगा कि श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी ने २१ अगस्त १९६० के आर्यमित्र पृ० ९ पर लिखा है—"पं० जी ने न जाने अध्वर्यु पद पर क्यों अधिक ध्यान नहीं दिया, आहुतियां तो होता द्वारा ही दी जाती हैं···आदि"। इस लेख से पण्डितजी ने यह सिद्ध किया है कि समिदाधान आहुति है। आहुति का कर्म होता करेगा वह 'सुसमिद्धाय' मन्त्र से आहुति तो देगा ही, अध्वर्यु जप चाहे उप त्वा का करे अथवा 'सुसमिद्धाय' का 'सुसमिद्धाय' से समिदाधान आहुति का विकल्प नहीं । यह लेख यज्ञ-प्रक्रिया को ठीक प्रकार से न समझने के कारण लिखा गया है। प्रथम तो समिदाधान आहुति ही नहीं है। सारे प्राचीन कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में समिदाहुति पद का प्रयोग नहीं मिलेगा। दूसरा समिदाधान अध्वर्युकर्तृक कर्म है, होतृकर्तृक नहीं। पण्डितजी ने समिदाधान को भूल से आहुति समझकर उसे होतृकर्तृक कर्म मान लिया और पं० रामावतारजी पर आक्षेप किया है। यतः समिदाधान अध्वर्युकर्तृक कर्म है अतः द्वितीया वा सूत्र द्वारा जो अध्वर्युकर्तृक जप में विकल्प विधान किया है, उससे जब सुसमिद्धाय मन्त्र का अध्वर्यु जप करेगा तब उप त्वाग्ने से तीसरी समित् का आधान किया जायगा। अतः पण्डित रामावतार जी का लेख इस अंश में यथार्थ है, शास्त्रानुकूल है।

मैंने इस लेख में सारी परिस्थिति स्पष्ट करदी है। अपना मत भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है। विद्वानों के पूर्व लेखों में जो आलोचनीय अंश था, उसकी आलोचना भी करदी। अब अन्त में मैं विद्वानों से अनुरोध करूंगा कि वे अपने पक्षों को इसी प्रकार स्पष्ट रूप में लिखें। यथा—

१—अयन्त इध्म आत्मा का परिवर्धन ऋषिकृत होने पर भी वे उसे प्रामाणिकयुक्तिसङ्गत मानते हैं अथवा नहीं ?

२—यदि ठीक समझते हैं तो क्या कोई ऐसा प्रमाण है, जिससे सिद्ध हो कि बिना आहुति या द्रव्यत्याग के भी मन्त्र-बाह्य—स्वाहा इदमग्नये इदं न मम शब्द बोलने युक्त हैं ?

३—यदि कुछ अंश स्वीकार किया जाए, कुछ का परित्याग (स्वाहा इदमग्नये इदं न मम का) इस अर्धजरतीय न्याय में प्रमाण क्या है ?

इस प्रकार इस विचारणीय विषय का विभाग निर्देश-पूर्वक विचार किया जायगा तब तो अवश्य ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

मेरा तो विचार है कि ऋषि दयानन्द के जिन स्थलों में दो मत हों अथवा कुछ अस्पष्टता प्रतीत हो, उन पर विचार करने के लिए अपनी-अपनी कल्पनाओं का परित्याग करके उन ग्रन्थों के आधार पर विचार करना चाहिए, जिनके आधार पर ऋषि दयानन्द ने वे सन्दिग्ध अथवा अस्पष्टप्रतीयमान स्थल लिखे हैं। ऋषि दयानन्द प्राचीन आचार्यों के अनुगामी हैं। अतः हमें उनका परित्याग करके, शास्त्र की अवहेलना करके दयानन्द के वचनों पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं। अपनी कल्पनाएँ करना मिथ्याभाषणवत् हेय हैं। क्योंकि कल्पनाएँ तो कल्पनाएँ ही होती हैं, वे सत्य पर, यथार्थ वस्तु पर अर्थात् शास्त्र पर आधृत नहीं होतीं। जो शास्त्रानुसार ऊहा होती हैं वे तर्क अथवा अनुमान की कोटि में आती हैं।



विद्वानों के विचारार्थ—

यज्ञकर्म में मन्त्रोच्चारण एवं आधुनिक स्वरवाद

[*ले०—श्री पं० वेदपति जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, साङ्गवेदविद्यालय, नौनेर—मैनपुरी*]

मेरे सामने मार्च-अप्रैल १९६० की टंकारापत्रिका है। उसमें श्री पं० वीरसेन जी वेदश्रमी का लेख "यज्ञों में सस्वर मन्त्रोच्चारण, ऋषि के नाम पर क्या ? और क्या नहीं" छपा, उसे देखा, साथ ही मनमें कुछ विचार उठे।

पण्डितजी वैदिक विषय में आर्यजगत् में काफी खोजमें लगे हुए हैं, आपके ऊपर आर्यसमाज को गौरव है कि समाज में एक गुरुकुल के स्नातक ने जिनको अधिकतर वेदमन्त्र कण्ठ हों, वेदमन्त्रों के सस्वर उच्चारण पर अधिक बल दिया। आपकी मान्यता है—"यज्ञकर्म एवं यज्ञातिरिक्त कर्मों में वेदमन्त्र सस्वर उच्चारण करने चाहियें।"

वैसे आपका स्वरानुसन्धान प्रशंसनीय है, पर जो मान्यताएं आपने बनाई हैं वे नितान्त निर्भ्रान्त हों ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैदिक स्वरवाद जैसे गहन विषय को इतना साधारण बताना, कहां तक उपयुक्त होगा। इस लेख में हम उनकी कतिपय स्वरसम्बन्धी मान्यताओं की विवेचना करेंगे।

आपके स्वरवाद की विधि सौवर, महाभाष्योक्त "दुष्टः शब्दः" एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर अवलम्बित है।

आपने अपने लेख में सौवर की भूमिका प्रस्तुत की। उसमें अपने "दुष्टः शब्दः"·के द्वारा मन्त्रोच्चारण सस्वर होने की स्थापना की।

प्रथम तो "सौवर" जो कि वेदाङ्गप्रकाश का अङ्ग है उसके निर्माता के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं विद्वानों में प्रचलित हैं। कतिपय विद्वान् इसे स्वामीजी का बनाया हुआ नहीं मानते। इस प्रकार के विवादास्पद विषय को प्रमाण कोटि में रखना उचित नहीं। यदि हो तो भी भाष्य ने जो उदाहरण दिया वह "ऊह" का है। इसीलिये कैयट ने–इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति मंत्र ऊहितः– ऐसा लिखा है।

आपने लिखा––'यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु' सूत्र से यज्ञ में इस मन्त्र को एकश्रुति प्राप्त होने पर दोष नहीं आना चाहिये, परन्तु यहां 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' के रूप में स्पष्ट प्रस्तुत किया है।

ध्यान रहे पाणिनीय शिक्षा में पठित "मंत्रो हीनः०" इत्यादि पाठ के होने पर जो पतंजलि ने पढ़ा है वह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यज्ञकर्म में एकश्रुति होती है क्योंकि "अजपन्यूंखसामसु" में "अजप" यह प्रतिषेध किया जप शब्द के लिये। नागेश ने लिखा—

जपशब्दः करणमंत्रेषु यत्र जपति इति कल्पसूत्रकृतां व्यवहारः।

अर्थात्—जपति इसके द्वारा जहां जिस मंत्र का उल्लेख हो उसे जप शब्द से व्यवहृत करते हैं। जपमंत्रों को एकश्रुति-प्रतिषेध इस बात का ज्ञापक हुआ कि अन्यत्र मंत्रों में ही यज्ञकर्म में एकश्रुति होती है क्योंकि नञ् से युक्त स्वसादृश्य का ग्राहक होता है। ऊहादिशब्दः "इन्द्रशत्रु" मंत्र नहीं। ऊहादीनां च स्वेच्छया प्रयुज्यमानत्वान्न मंत्रत्वम्—अर्थात्––ऊहादिशब्द स्वेच्छा से प्रयुज्यमान होने के कारण मंत्र नहीं।

जैमिनि ने—

आम्नातेष्वमंत्रत्वम्।

आपस्तम्ब ने—

अनाम्नाता अमंत्रा प्रवरोहनामधेयग्रहणानि।

ऊह = इन्द्रशत्रुः
प्रवर = आर्षेयं वृणीते
नामधेय = देवदत्त आदि

अतः ये अनाम्नात अमंत्र हैं।

पर्युदास पक्ष मान लेने पर भी दोष नहीं क्योंकि मन्त्र विषय में नित्य एकश्रुति का विधान है, छन्दविषय में एकश्रुति विकल्प होने से छन्दग्रहण से ब्राह्मण का ग्रहण किया गया है।

जैसे सिद्धान्तसुधानिधि में—

छन्दःशब्दस्य सामान्यपरस्य मन्त्रातिरिक्तपरतां कल्पयित्वा विकल्पस्य ब्राह्मणपरत्वसम्भवात्।

"स्वरतोऽपराधाद्" का व्याख्या भेद

ध्यान रहे पतंजलि ने "दुष्टः शब्दः" प्रयोजन का श्लोक ही दिया उसकी व्याख्या तो नहीं की अर्थात् "अन्तोदात्त प्रयुक्त करना चाहिये था, उसकी जगह आद्युदात्त प्रयुक्त किया" यह सब तो टीकाकारों की व्याख्याओं के द्वारा जाना जाता है।

उसी प्रकार कुछ लोग इसकी यूँ भी व्याख्या करते हैं कि एकश्रुति बोलनी चाहिये थी उसकी जगह "आद्युदात्त" बोला, यही दोष किया।

(क) हरदत्त—

यदि वा एकश्रुत्यभावादेव प्रत्यववायः।

अर्थात् एकश्रुति के अभाव के कारण प्रत्यवाय (दोष) भाजन हुआ।

(ख) वीरेश्वर सूरी—सिद्धान्तसुधानिधि में—

केचित्तु एकश्रुतिप्रसङ्गे आद्युदात्तोच्चारणादेव इन्द्रशत्रुपदे दुष्टत्वम्।

अर्थात्—एकश्रुति के स्थान पर आद्युदात्त बोलने से ही इन्द्रशत्रुपद में दोष हुआ।

यदि इसको मन्त्र भी मान लिया जाय जैसा कि मैत्रायणी संहिता में—

ततो यः सोमोत्यरिच्यत तमग्ना उपप्रावर्तयत्।

स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व ॥ का० २ प्र० ४ अनु०

यहाँ दोष केवल एकश्रुति के स्थान पर आद्युदात्त का प्रयोग करना स्थिर होता है।

(ग) नागेश—नन्वत्र यज्ञकर्मणि इति एकश्रुतौ प्राप्तायां पूर्वपदप्रकृतिस्वरकरणं स्वरापराधः इति वक्तुं युक्तम्।

अर्थात्—यदि इसको मन्त्र ही मानें तब तो यज्ञकर्म में एकश्रुति ही करनी चाहिये थी जिसको न कर पूर्वपद-प्रकृतिस्वर किया, यही स्वरापराध उचित है।

(घ) भट्टोजी दीक्षित—इहापि एकश्रुतौ प्राप्तायां सत्यां तदकरणं बहुव्रीहिस्वरकरणं स्वरतोऽपराधाद् इत्यस्यार्थस्यानर्थम् आहुः।

अब कहिये, व्याख्याभेद से आपका सारा का सारा स्वरप्रासाद जो कि इस "इन्द्रशत्रु" को लेकर खड़ा किया गया था, ध्वस्त हो जाता है—वस्तुतः इस प्रकार की व्याख्या में सारल्य एवं स्पष्टता है, साथ ही खेंचातानी से भी बच जाते हैं। साथ में यज्ञकर्म में एकश्रुति ही करनी चाहिये, इस पाणिन्यादि सम्मत मत की पुष्टि भी हो जाती है।

"यजमान" शब्द की विविधार्थकता

आपने लिखा—"स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति" में यजमान पद यज्ञकर्त्ता का ही द्योतक है जिससे ज्ञात होता है कि यज्ञ में सस्वर मंत्रपाठ आवश्यक है।

आपने यजमान शब्द का अर्थ अत्यधिक संकुचित मात्रा में कर दिया, वस्तुतः "यजमान" का अर्थ विस्तृत है। इसी कारण स्वामीजी ने यजमान शब्द को ऋग्भाष्य में विविध अर्थों में प्रयुक्त किया—

१—प्राञ्चो यजमानमच्छ (ऋ. ५।४५।२)—संगन्तारं = मिलाने वाले को।

२—यजमानस्य सुन्वत (ऋ. ५।२६।५)—दात्रे = दाताजन के लिये।

३—यजमानस्य सुन्वत (ऋ. ६।६०।१५)—शुभगुणदातुः = शुभ गुण देने वाले।

४—यजमाने वयोधा (ऋ. ३।२९।४) संगतधर्मव्यवहार कर्त्तरि = योग्य धर्मसम्बन्धी व्यवहार करने वाले।

आप लिखते हैं—"पाणिनि के पक्ष का यदि महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदेशों से विरोध हो तो वहाँ महर्षि का ही आदेश मान्य है, वहाँ महर्षि के नामपर अन्य का पक्ष मान्य नहीं"।

आप का उपर्युक्त कथन कहाँ तक संगत है, जब कि स्वामी जी का सम्पूर्ण स्वरवाद पाणिनि एवं पतंजलि पर आधारित है। खुद उन्होंने जो "दुष्टः शब्दः" वाला उदाहरण एवं सौवरस्थ सूत्रों की व्याख्याएँ दीं, वे क्या स्वयं की बनाई हुई हैं? क्या स्वामी जी का स्वरसम्बन्धी नियम कोई अपना भी है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उदात्तादिकों के लक्षण दिये, वे महाभाष्य से लिये। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनि का मत अमान्य है। पाणिनि के मत से विरुद्ध महर्षि दयानन्द का मत है, ऐसा समझना नितान्त भूल है। दोनों को न समझ कर ही ऐसा कहा जा सकता है।

यदि स्वामी जी का स्वर सम्बन्धी मत देखा जाय तो अपना कुछ भी नहीं, जो कुछ है सो पाणिनीय व्याकरण पर अवलम्बित है, ऐसी अवस्था में स्वामी जी के मन्तव्य को पाणिनीय के मत से पृथक् बताकर—"महामुनि पाणिनि के मत को महर्षि दयानन्द का मत बताना वहाँ इस प्रसङ्ग में असंगत है", यह कहना कहाँ तक युक्तियुक्त है।

आपने कतिपय स्थल स्वामी जी के दर्शाये जिनके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि स्वामी जी सभी जगह यज्ञकर्म में एवं यज्ञातिरिक्त कर्म में त्रैस्वर्य के समर्थक थे एवं उसका उच्चारण करना चाहिये।

उनके दर्शाये हुए स्थलों में से उदाहरण के तौर पर दिखाता हूँ।

आप लिखते हैं—"एवमेव व्याकरणादिभिः वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानां उदात्तादिस्वरज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यम् उच्चारणं च" यहाँ पर भी वैदिक शब्दों के यथार्थ सस्वर उच्चारण करने का आदेश है, इससे छूट या विकल्पवृत्ति से एकश्रुति के उच्चारण का विधान नहीं"

इसका अर्थ तो करिये—इसका अर्थ यों होगा—वैदिक शब्दों का उदात्तादि स्वर ज्ञान यथावत् करना चाहिये, साथ ही उन शब्दों का उच्चारण करना चाहिये। किनसे?—व्याकरणादि वेदाङ्गों के द्वारा। व्याकरण के प्रयोजनों को बतलाते हुए महाभाष्यकार ने उच्चारण में आये दोष निषेध के लिये भी व्याकरण प्रयोजन बताया।

"तेऽसुराः हेलयो हेलयः कुर्वन्तः पराबभूवुः"

पस्पशाह्निक के अन्त में उच्चारण दोष भी दिखाये हैं।

आप लिखते हैं—"तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानाय अक्षरोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। "उदात्तादि स्वरों का वर्णों के साथ ज्ञान आरम्भ से ही होना चाहिये"।

पण्डित जी ! यहां स्थान-प्रयत्न-स्वर इनको जानने के लिये वर्णोच्चारण का उपदेश करना चाहिये जिससे स्वर में तथा वर्णोच्चारण में आपस में विरोध न हो।

इससे यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि यज्ञ में त्रैस्वर्य उच्चारण करना चाहिये। स्वरज्ञान का विरोध कोई भी नहीं करता। करे भी क्यों ? क्योंकि स्वर वेद की लक्ष्मी है, शोभा है। कहा है—"श्रीर्वै स्वरः" (श० ब्रा० ११।४।२।१०) परन्तु जो स्वर अद्यत्वे प्रचलित है उसपर विचार किया जाना चाहिये। जो स्वरोच्चारण आप करते हैं वह शुद्ध ही है, यह कैसे जाना जा सकता है जब कि पतंजलि ने "उच्चैरुदात्तः" इस सूत्र में—

सिद्धन्तु समानप्रक्रमवचनात्। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात्। समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः ? उरः कण्ठः शिर इति।

इसके लिये कैयट—**प्रक्रम्यन्तेऽस्मिन् वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः एकस्मिन् ताल्वादिकस्थाने ऊर्ध्वाधोभागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाणः उदात्तः, अधोभागनिष्पन्नोऽनुदात्तः, एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यनेनाधोभागः।**

अर्थात् ऊर्ध्वभाग से निष्पन्न उदात्त. अधोभाग से निष्पन्न अनुदात्त। 'ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाणः उदात्तः' के लिये नागेश—**ऊर्ध्वभागावच्छिन्नवायुसंयोगेन**—अर्थात् ताल्वादि के ऊर्ध्वभाग से युक्त जो वायु, उसके संयोग से निष्पन्न जो स्वर, वह उदात्त संज्ञक हो। इसी प्रकार अधोभाग से निष्पन्न अनुदात्त। स्वरित = जहाँ उदात्त एवं अनुदात्त स्पष्टतया प्रतिभासित होते हो वहाँ स्वरित होता है। अर्थात् आदि की केवल आधी मात्रा उदात्त बाकी बची अनुदात्त होती है। जैसे ह्रस्व अकार को लीजिये—इसमें आधी मात्रा उदात्त, बची आधी मात्रा अनुदात्त होती है। इसी प्रकार दीर्घ और प्लुत में समझना। स्वरों के भेद ७ माने जाते हैं जिनका वर्णन स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किया है। इन सबके उच्चारण के लिये आपका उच्चारण ही युक्त माना जाय, इसके लिये आपके पास प्रमाण क्या है ? प्रथम तो ताल्वादि स्थानों में विभाग का पता लगे, तदनन्तर आगे की प्रक्रिया पर विचार किया जा सके।

एकश्रुति के विषय में विभिन्न मत

एकश्रुति के सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत हैं।

(१) अभेदः—भाष्य १।२।१।३६ में—

किं पुनरियम् एकश्रुतिरुदात्ता ? इस शंका को उठाकर आगे लिखा कि यह उदात्त नहीं क्योंकि आगे "उच्चैस्तरां" करने की आवश्यकता नहीं। अनुदात्त भी नहीं क्योंकि यदि एक श्रुति को अनुदात्त माना जाय तो "सन्नतर" करना निरर्थक हो जाय। इस तरह यह सिद्ध हुआ—

कैयट के शब्दों में—

क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेदतिरोधानम् एकश्रुतिरित्यर्थः, स्वरिते तु विभागेनोपलब्धिः।

अर्थात् नीर-क्षीर की तरह उदात्त-अनुदात्त के स्पष्ट भेद से रहित एकश्रुति होती है अर्थात् उदात्त और अनुदात्त का जहाँ भेद स्पष्ट पता न चले वहाँ एकश्रुति होती है पर स्वरित में तो भेद रहता है।

सिद्धान्तसुधानिधि में—"सा च स्वराविभागः" अर्थात् उसमें स्वरों का विभाग नहीं रहता।

(२) उदात्तः—महाभाष्यकार ने "अथवा" कहकर आगे अन्य पक्ष स्थापित किया—

किम् एकश्रुतिरुदात्ता आहोस्विद् अनुदात्ता उच्चैर्दृष्टा उच्चैस्तरां भवति।

अर्थात् "सोमस्याग्ने व्रीही वौषट्" इस मन्त्र में यज्ञकर्म में पूर्व सूत्र से ही एकश्रुति = उदात्तश्रुति सिद्ध थी पुनः इस विधान इस बात का द्योतक है कि उदात्ततर हो जाये अतः "उदात्त" को भी एकश्रुति कहते हैं।

(३) अनुदात्तः—'अनुदात्ता च' यह कहकर बतलाया कि एकश्रुति अनुदात्त है। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकारेण यज्ञकर्म में एकश्रुति = अनुदात्त श्रुति होने पर पुनः सन्नतर विधान का प्रयोजन यही कि उसको अनुदात्ततर हो जावे।

(४) उभयपक्षः—वाजसनेय प्रातिशाख्य में—

एकम् सामजपन्यूंखवर्जम् तानकामाप्य कहते हुए लिखा कि

तानलक्षणम् एकं स्वरं आहुः यज्ञकर्मणि।

अर्थात् यज्ञकर्म में तान नाम का एक स्वर होता है। तान स्वर के लिये कात्यायन श्रौतसूत्र में "तानो वा नित्यत्वात्" का भाष्य करते हुए कर्काचार्य—**तानेन प्रयोगः एकश्रुत्या प्रयोगः** अर्थात् तान से एकश्रुति का प्रयोग होता है।

कात्यायन ने—"एकम्" इससे पूर्व सूत्र "द्वौ" दिया अर्थात् दो स्वर उदात्त तथा अनुदात्त यजुर्वेद में हो—आगे यज्ञकर्म में एक हो। इससे यह निकला कि कात्यायन ने उभयपक्ष माना है, चाहे उदात्तश्रुति चाहे अनुदात्तश्रुति कोई एक हो यज्ञकर्म में।

(५) प्रचयः—कुछ लोग एकश्रुति को प्रचय भी मानते थे—

ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः—अर्थात् उदात्त-अनुदात्त का ऐक्य वही प्रचय एकश्रुति है। प्रचय के लिये शौनक ने—स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः—इसका भाष्य करते हुए उवट—स्वरितात्परेषामनुदात्तानां प्रचयः स्वरो भवति। अर्थात् स्वरित से परे अनुदात्तों का प्रचय होता है।

स्वराङ्कुशशिक्षा में (पृ० ६५ पर) स्वरितात् प्रचयो भवेत्। अर्थात् स्वरित से परे प्रचय स्वर होवे। अतः उदात्त अनुदात्त का अद्भुत ऐक्य एकश्रुति होती है।

(६) त्रिविधपक्षः—आश्वलायन श्रौतसूत्र में—अध्याय १ खण्ड २—"ता एकश्रुतिरनुब्रूयात्" यह कहकर एकश्रुति क्या है, इसके उत्तर में उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्ष ऐकश्रुत्यम्" कहा इसका अर्थ करता हुआ नारायण—

उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् अभिव्यञ्जका ये प्रयत्ना आयामविस्रम्भाक्षेपास्तेषामन्यतमस्यैकस्य वात्यन्त-सन्निकर्षेण सजातीयप्रयत्नाव्यवधानेन यदुच्चारणं तदैक-श्रुत्यम् इत्यर्थः।

अर्थात् उदात्त-अनुदात्त स्वरित के बोधक प्रयत्न आयाम = ऊर्ध्वगमन, विस्रम्भ = अधोगमन, आक्षेप = तिर्यग्गमन इनमें से किसी एक का सहारा लेकर अन्य असजातीय प्रयत्नों का बीच में व्यवधान न करते हुए—अर्थात् यदि आयाम = ऊर्ध्वगमन का अवलम्बन न किया तो अन्त तक लगातार आयाम से ही उच्चारण करना एकश्रुति कहलाती है।

इसमें तथा पूर्व कथित एकश्रुति-भेदों में यह अन्तर है कि यहाँ तीनों स्वरों के बोधक प्रयत्नों में से किसी एक का अवलम्बन करके उच्चारण करना है परन्तु पूर्वों में उदात्त-अनुदात्त की अभेदेनोपस्थिति, या केवल उदात्तश्रुति या अनुदात्तश्रुति या दोनों में किसी एक की श्रुति, या उनका अद्भुत ऐक्य है। इनमें स्वरित का एकश्रुति से उच्चारण नहीं माना, परन्तु स्वरितबोधक प्रयत्न से भी उच्चारण करने में एकश्रुति हो सकती है।

(७) स्वर सर्वनामः—महाभाष्य में दाण्डिनायन० सूत्र में—ऐक्ष्वाकस्य स्वरभेदान्निपातनं पृथक्त्वेन। अर्थात् ऐक्ष्वाक शब्द का स्वरभेद के कारण निपातन पृथक् करना चाहिये क्योंकि एक जगह तो 'इक्ष्वाकोरपत्यं' इस अर्थ में अञ्—आदि उदात्त और एक जगह अञ् को बाधकर कोपध अण् होकर प्रत्ययस्वर—इस तरह दो स्वर ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकः हो जाते हैं। इसके खण्डन में भाष्यकार ने कहा—

एकश्रुति स्वरसर्वनाम, यथा–नपुंसकं लिङ्गं सर्वनाम।

अर्थात् एकश्रुति के द्वारा सभी स्वरों का ग्रहण होता है। जैसे तदादि सर्वनाम शब्द सर्वपदस्थान में बोले जाते हैं इसी प्रकार एकश्रुति सब स्वरों के स्थान में बोलनी चाहिये।

यहाँ नागेश—यथा सर्वनामशब्दास्तदादयः सर्वपदस्थाने प्रयुज्यन्ते एवं सर्वस्वरस्थाने एकश्रुतिः प्रयोक्तव्या। आविर्भाव, तिरोभाव, स्थिति इनके लिये पृथक् पृथक् लिङ्गों का व्यवहार है, पर सबका एक साथ नपुंसक लिङ्ग से भी व्यवहार हो जाता है।

इस तरह हम सामान्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह स्वर जहाँ उदात्तादिकों का भेद स्पष्ट गोचर नहीं हो रहा है, भले ही वह किसी भी एक स्वर में उच्चारित हो रहा हो सामान्यतः मध्यस्थान से, उसे एकश्रुति कहते हैं।

अब पाठक विचार करें कि पण्डित जी की एकश्रुति सम्बन्धित मान्यता कि "एकश्रुति में उदात्त, अनुदात्त, एवं स्वरित स्वरों का अभाव रहता है" का कहाँ तक औचित्य हैं, क्योंकि अभेद एवं अभाव में महान् अन्तर है।

यज्ञ में एकश्रुति ही बोलनी चाहिये

वस्तुतः पाणिनि का यज्ञकर्म में एकश्रुति-विधान अत्यधिक युक्त है एवं उसका ही उच्चारण होम काल में करना चाहिये।

हम अपनी पुष्टि के लिये निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) कात्यायन श्रौतसूत्र १।८।१६।१९॥

मंत्रे स्वरक्रिया यथाम्नातमविशेषात्—इस पूर्वपक्ष के स्थापित करने पर उत्तर पक्ष में तानो वा नित्यत्वात्—

अर्थात् यज्ञकर्म में नित्य ही एकश्रुति होती है। एकश्रुति यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यसामजपन्यूंखयजमानवर्जम् । अर्थात् सुब्रह्मण्यादि को छोड़कर अन्यत्र यज्ञकर्म में एकश्रुति ही होती है।

(२) वाजसनेय प्रातिशाख्य १।१३०।१३१ ॥

एकम् = तानलक्षणम् एकं स्वरम् आहुर्यज्ञकर्मणि।

अर्थात् तानलक्षण एक ही स्वर होता है यज्ञकर्म में।

सामजपन्यूंखवर्जम् = एतानि वर्जयित्वा यज्ञकर्मणि एकः स्वरो भवति तानलक्षणः। अर्थात् इनको छोड़कर यज्ञकर्म में एक स्वर होता है।

(३) 'इन्द्रशत्रु" इस मंत्र के स्वरदोष में महाभाष्य की 'स्वरतोपराधाद्' की व्याख्या, अर्थात् यहाँ एकश्रुति बोलनी चाहिये थी परन्तु आद्युदात्त का प्रयोग किया। इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

(४) पाणिनि—

यज्ञकर्मण्यजपन्यूंखसामसु।

जपन्यूंखसाम को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति होती है।

(५) स्वामी जी संस्कारविधि में लिखते हैं—

"मंत्रोच्चारण यजमान ही करे, न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे किन्तु मध्यभाग से जैसा जिस वेद का उच्चारण है करे।"

यहाँ स्वामी जी ने दोनों का प्रतिषेध कर केवल मध्यभाग = एकश्रुति का विधान किया। तुलना करो भाष्य के एकश्रुति लक्षण से—

सैषा ज्ञापकाभ्याम् एकश्रुतिरुदात्तानुदात्तयोर्मध्ये मेकश्रुतिरन्तरालं ह्रियते। इस पर उद्योत—ज्ञापकाभ्याम् कर्तृभ्याम् एकश्रुतिरुदात्तानुदात्तयोर्मध्यस्थानं प्राप्यते

अर्थात् एकश्रुति उदात्त-अनुदात्त के मध्यस्थान = मध्यभाग को प्राप्त होती है। इसी मध्यभाग से उच्चारण एवं अन्य स्वर से निषेध स्वामी जी ने स्पष्ट किया है।

(६) जिस सौवर का आप प्रमाण देते हैं उसी में यज्ञकर्म० की व्याख्या—

"समिधाग्निं यजु ३. १ इत्यादि मंत्र होम करते समय स्वरभेद के बिना ही बोले जाते हैं। तीनों स्वरों के विभाग से वेदमंत्रों का पाठ होना चाहिये, इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक् उच्चारण प्राप्त था। इसलिये इस सूत्रका आरम्भ है।

यह सन्दर्भ कितना स्पष्ट है जिससे यज्ञकर्म में त्रैस्वर्य निषेध एवं एकश्रुति-विधान स्वामी जी ने किया।

अब पण्डित जी ! आप का यह कहना—महर्षि दयानन्द सरस्वती यज्ञों में भी सस्वरपाठ (त्रैस्वर्य विधि विधान को उचित मानते हैं। पाणिनि के भाष्य के अतिरिक्त उनके किसी लेख में स्वरपाठ का विरोध नहीं न एकश्रुति का प्रतिपादन ही उन्होंने कहीं किया, परन्तु संस्कारविधि के इस सन्दर्भ से पाठक स्वयं विचार कर लेंगे।

अतः यज्ञ में एकश्रुति का ही पक्ष दयानन्द एवं पाणिन्यादि सम्मत है और उसी को बोलना चाहिये। अन्य विद्वान् इस पर विचार करेंगे॥

—❀❀❀—

महान् आर्यनेताओं का निधन

(१) श्री० स्वामी सत्यानन्द जी महाराज

प्रसिद्ध महान् आर्यसंन्यासी श्री० स्वामी सत्यानन्द जी महाराज १३ नवम्बर १९६० की रात्रि में परलोक सिधारे। सुदीर्घकाल तक आप आर्यसमाज तथा वैदिकधर्म का प्रचार करते रहे। हम लोगों ने बाल्यकाल से ही स्वामी जी के प्रवचन सुने। आज से ५२ वर्ष पहिले का चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित हो रहा है जब आर्यसमाज अड्डा होशियारपुर में स्वामी जी के मधुर, आकर्षक और योग्यतापूर्ण भाषण सुनने का शुभ अवसर मिलता था। श्री स्वामी जी ने जब लाहौर में उपदेशक विद्यालय खोला तो उसमें अध्यापक के मुख्य पद पर ले जाने के लिये इन पंक्तियों के लेखक से सस्नेह बहुत आग्रह किया था। राम नाम की दीक्षा के सम्बन्ध में मेरी उनसे एकान्त में बहुत कुछ बात हुई थी। भिन्न मत होने पर भी उनका स्नेह बराबर रहा। वास्तव में वह स्नेह की मूर्ति थे। मेरे हृदय में उनके प्रति सम्मान रहा। वह सच्चे ईश्वरभक्त उच्च आत्मा, कर्मवीर–राजसंन्यासी थे। श्री पं० ठाकुरदत्त जी अमृतधारा और उनके परिवार ने उनकी भारी निरन्तर सेवा की।

इस विषय में हम अपने आदरणीय नेता महाशय कृष्ण

के विचार उपस्थित करना अधिक उपयोगी समझते हैं जिससे श्री स्वामीजी महाराज का परिचय "वेदवाणी" के पाठकों को कुछ अधिक मिल सके—

१३ नवम्बर की रात्रि को स्वामी सत्यानन्द जी दिल्ली के मोटरव्यवसायी ला० भगवान्दास कल्याल के निवास-स्थान पर स्वर्गवास हो गए। वह कई मास से अस्वस्थ चले आ रहे थे और ला० भगवान् दास जिस श्रद्धा और लग्न से उनकी सेवा करते रहे वह हम आर्यसमाजियों के लिये अनुकरणीय है।

खेद है कि स्वामी जी अपने जीवन के १०० वर्ष पूरे न कर पाए। अढ़ाई वर्ष की कसर रह गई। उनकी मृत्यु के साथ ही मेरा ५०–६० वर्ष का सम्बन्ध टूट गया। वह अल्पायु में ही आर्य समाज में शामिल हुए और एक लम्बे समय तक आर्यसमाज में रहे। वह बड़े मधुरभाषी थे और लाहौर में जब उनकी कथा होती थी तो हजारों नरनारी उसमें शामिल होते थे। मुझे वह अपना एक प्रिय समझते थे और मुझे यह गौरव उनके जीवन के अन्तिम काल तक प्राप्त रहा।

इसी मध्य मुझे कई अवसरों पर उनसे मिलकर कार्य करने का अवसर मिला। १९२५ में जब ऋषि दयानन्द की जन्मशताब्दी मनाई गई तो उन्हें लाहौर में दयानन्द उपदेशक विद्यालय स्थापित करने का विचार आया और उन्होंने इसके लिये डेढ़ लाख रुपये एकत्र किये। इस प्रसंग में मैंने उनके साथ कार्य किया। वह कुछ समय तक गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के आचार्य भी रहे। मैं उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मन्त्री था। गुरुकुल के लिए धन एकत्र करने में मैं उनकी सेवा में रहा। एक घटना इस समय मेरे मस्तिष्क में है। रावलपिंडी का साहनी परिवार आर्यसमाज का बड़ा संरक्षक रहा है। वहाँ का समाजमन्दिर भी स्वर्गीय ला० कृपाराम ने बनवा कर दिया था। स्वामी जी और मैं गु कुल के लिए दान लेने रावलपिडी पहुँचे। रात को हम साहनी जी की कोठी पर एकत्र हुए। एक ओर ला० हरिराम साहनी और उनके लड़के लाला सीताराम साहनी और दूसरी आर स्वामी जी और मैं। स्वामी जी संन्यासी थे। इसलिए उनका बल इस बात पर था कि जो कोई श्रद्धा से दे वह स्वीकार करना चाहिए। परन्तु मैं इस बात पर दृढ़ था कि जो कुछ हम माँगते हैं वह हमें मिलना चाहिए। इस पर मेरे और ला० हरिराम साहनी के दोनों पुत्रों में ठन गई। मैं बहुत अधिक मांगता था और वह कम देते थे। बात टूट गई। इस पर लाला हरिराम ने हस्तक्षेप किया और कहा कि हम स्वामी जी को खाली हाथ नहीं भेज सकते।

इस पर ३० हजार गुरुकुल के लिये और १० हजार विदेश प्रचार के लिए मिल गया। तीसरा अवसर जब कि मैंने उनकी छत्रछाया में कार्य किया, १९३९ में आया जबकि मुझे हैदराबाद सत्याग्रह का छठा डिक्टेटर नियुक्त किया गया। उस समय स्वामी जी ने मेरी बड़ी सहायता की और कई नगरों में मेरे साथ गए और यदि मैं ७० या ८० हजार रुपये की थैली ले कर हैदराबाद गया तो यह स्वामी जी का ही प्रताप था।

मैं ने स्वामी जी के जीवन के कई पक्ष देखे हैं। एक बार उन्होंने डलहौज़ी में निरन्तर डेढ़ वर्ष रह कर योगाभ्यास किया परन्तु इस अभ्यास का विचित्र प्रभाव उनके मस्तिष्क पर हुआ। उपदेश देते २ वह आंखें बंद करके मौन हो जाते थे। कभी २ बड़े क्रोध में आते थे। उनकी यह स्थिति उस समय समाप्त हुई जब महाशय राजपाल के बलिदान के बाद वह उनकी दुकान पर बैठे हुये थे। एक पठान आया और उन्हें छुरे से घायल करके भाग गया। स्वामी जी को उसी समम म्यू० अस्पताल ले जाया गया जहाँ उनका आप्रेशन हुआ। फिर उनके जीवन में वह समय आया जब कि वह आर्यसमाज से पृथक् हो गये। परन्तु आर्यसमाज से पृथक् होने पर भी आर्यसमाजियों से उन का सम्बन्ध न टूटा। वर्षों तक वह दिल्ली में ला० नारायणदत्त और बाबा मिल्का सिंह ठेकेदार की कोठियों पर ठहरते रहे और उन के सुपुत्र बाबा दान सिंह उनकी पूरी श्रद्धा से सेवा करते थे। अतः १ नवम्बर को बाबा जी की कोठी पर आने वाले थे, जब उन्हें हृदयरोग का दौरा पड़ा, जिसने उनके प्राण ले कर छोड़े। मुझ पर उनकी कृपादृष्टि थी और मेरी उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। कुछ मास हुये वह अधिक बीमार हो गये थे। उन्हें हृदय गति का रोग था। उन्हें मैडिकल इन्स्टीट्यूट अस्पताल में ले जाया गया था। मैं प्रतिदिन उनके दर्शनों के लिए वहां जाया करता था। एक दिन उन्होंने मुझे अपने बिस्तर पर बिठा लिया और बड़े प्रेम से मेरी पीठ और सिर पर हाथ फेरते रहे। उनका यह स्नेह मुझे जीवन भर स्मरण रहेगा। जब वह वहां से ला० भगवान् दास की

कोठी पर आ गये फिर भी मैं उनकी सेवा में उपस्थित होता रहा, इन दिनों वह अच्छे हो रहे थे। इसलिए हम से बातें करते थे। आर्यसमाज से पृथक् होने पर भी उन्हें आर्यसमाज से घनिष्ठ रुचि थी और हम से जानकारी प्राप्त करते रहते थे। मेरी तरह अपितु मुझसे भी अधिक ला० चरणदास पुरी उनके भक्त थे। वह भी उनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे। दो तीन दिन हुये मैं पुनः उनके दर्शनों को गया परन्तु वह आंखें बन्द किये पड़े थे।

आर्यसमाज से पृथक् होने पर उन्हें हजारों नए श्रद्धालु भक्त मिल गए। इनमें कई बड़े धनाढ्य हैं और वह स्वामी जी की सेवा में हजारों लुटा देने को तैयार रहते थे। वह हरिद्वार में भी वार्षिक सत्संग लगाया करते थे। विगत दिनों वह एक ऐसे ही सत्संग में शामिल होने के लिए हरिद्वार पधारे। आश्चर्य नहीं कि इस यात्रा ने उनके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डाला हो क्योंकि वह वहां से आने के बाद बीमार पड़ गये।

स्वामीजी ने अपने जीवन में कई पुस्तकें लिखीं। उन्होंने ऋषि दयानन्द की जीवनी लिखी जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। आर्यसमाज से पृथक् होकर भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं जो उनके नए भक्तों के लिये शास्त्र का स्थान रखती हैं। स्वामी जी के स्वर्गवास के साथ एक पवित्र और महान् आत्मा हमसे पृथक् हो गई जिसकी स्मृति हमें वर्षों रहेगी। —कृष्ण

(२) तपोधन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

समस्त आर्य बन्धुओं को यह जानकर अत्यन्त दुःख होगा कि ११ दिसम्बर १९६० की रात्रि में श्री० स्वामी आत्मानन्द जी महाराज इस संसार से चल दिये। आप काशी में बहुत वर्षों तक अनेक शास्त्रों, विशेष कर दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। आप का जन्म मेरठ जिले में बड़ौत के पास एक ग्राम में हुआ था। काशी निवास काल में उनका आर्यसमाज की ओर झुकाव हुआ, और धीरे २ आर्य सिद्धान्तों में निष्ठा हो गई। पीछे आप स्व० स्वामी दर्शनानन्द जी द्वारा स्थापित गुरुकुल चोहाभक्तां का एक लम्बे काल तक संचालन करते रहे। आप से पढ़े अनेक विद्वान् आर्यसमाज को प्राप्त हुये जिन में प्रमुख महाविद्वान् पं० ईश्वरचन्द्र जी दर्शनाचार्य और पं० रामदेव जी आचार्य-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब आदि हैं। स्वामी जी जहाँ आर्यसमाज के सर्वमान्य अग्रणी नेता थे, वहां उच्चकोटि के विद्वान् भी थे। दर्शन आप का प्रियतम विषय था। कुछ समय पूर्व आप ने शिवसंकल्प मन्त्रों की अपूर्व और उत्तम व्याख्या की थी। आप संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

पूज्य स्वामी जी का जीवन क्या था, उनका पाण्डित्य कितना था, उनके अन्दर वैदिक धर्म के लिये कितना प्रेम और भावना थी। उनका तप, त्याग, सरलता, ज्ञान, योगानुराग—गम्भीर परिशीलन एवं बलिदान उत्सर्ग की भावना कितनी थी, इन सब पर प्रकाश डालने के लिये एक लम्बे लेख की आवश्यकता है। रुग्ण होते हुए भी आप हिन्दी रक्षा आन्दोलन में सबसे आगे झण्डा ले कर चले। समन्वयवाद की भावना आप के जीवन में गहरी थी। पाकिस्तान बनने पर आप ने अपने जीवन को खतरे में डाल कर जाति और देश की महती सेवा की। हमें तथा आर्य जनता को उनकी स्मृति चिरकाल तक रहेगी॥

अन्त में हम उनके अन्त समय का समाचार आर्यसमाज के वृद्ध नेता श्री० महाशय कृष्ण जी के शब्दों में देते हैं—

अच्छा ही हुआ, जो मैं ९ दिसम्बर को स्वामी आत्मानन्दजी के अन्तिम दर्शन कर आया, क्योंकि विगत ११ दिसम्बर प्रातःकाल उनके देहान्त का शोकजनक समाचार मिला। ९ दिसम्बर को भी उनकी हालत अच्छी न थी। इसलिये मैंने रुक-रुक कर लिखा था कि स्वामीजी कुछ अधिक ही बीमार हैं। इस समय उनकी आयु ८६ अथवा ८७ वर्ष की थी। वह वर्षों से रक्तचाप से पीड़ित थे। अधरंग के भी शिकार थे। इसलिये उनके स्वस्थ होने की बहुत कम आशा थी। स्वामी जी उच्चकोटि के विद्वान् थे। उन्होंने कई उत्तम ग्रन्थ लिखे। स्वामी दर्शनानन्दजी ने चोहाभक्तां में गुरुकुल स्थापित किया। वह आचार्य मुक्तिराम के नाम से वर्षों उसके आचार्य रहे। फिर वह गुरुकुल रावलपिंडी लाया गया। वहां से ९ मील दूर रावल नामक स्थान पर उसका स्थायी भवन बनाया गया। उसे एक औद्योगिक विद्यालय का रूप दिया गया। उसमें १५०

[शेष टा. पृ. ३ पर]

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राश्वासनम्

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् । इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः पुत्रः स पुरुषोत्तमः । किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥
यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः । साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत्प्रेत्य फलोदये । रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥४॥
वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः । दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥
अरण्यवासे यद्दुःखं जानती वै सुखोचिता । अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥
कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः । दमसत्यव्रतधनः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥
व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् । न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥
शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः । राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥
शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् । रश्मिभिः संस्पृशञ्शीतैश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥१०॥
ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे । दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥११॥

चवालीसवां सर्ग

सुमित्रा का आश्वासन

स्त्रियों में श्रेष्ठ महारानी कौसल्या को इस प्रकार विलाप करते हुए देखकर धर्मचारिणी महारानी सुमित्रा धर्मानुकूल यह वचन बोलीं ॥ १ ॥ हे आर्य ! सम्पूर्ण सद्गुणों से परिपूर्ण तुम्हारा पुत्र पुरुषोत्तम रामचन्द्र है, इस लिये उसके लिये विलाप करने तथा दीनता प्रकट करने से क्या लाभ है ॥ २ ॥ हे आर्य ! जो महात्मा सत्यवादी अपने पिता की प्रतिज्ञा पूर्ण करता हुआ राज्य को छोड़कर आप का पुत्र वन में चला गया है । विश्ववन्द्य महापुरुषों ने जिस धर्म का सदा अभिनन्दन किया है, ऐसे श्रेष्ठ धर्म पर स्थित रहने वाले रामचन्द्र के लिये शोक तुम्हें कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३, ४ ॥ पापरहित तथा सम्पूर्ण प्राणियों पर दयालु लक्ष्मण रामचन्द्र के प्रति उत्तम वर्त्ताव तथा सेवा करते है, इस में लक्ष्मण का भी महान् लाभ है ॥ ५ ॥ सुख पूर्वक रहने वाली तथा वनवास के दुःखों को जानती हुई जानकी भी धर्मात्मा तुम्हारे पुत्र राम के पीछे २ गई ॥ ६ ॥ जो अपनी कीर्ति की पताका सारे जगत् में फहरा रहा है और श्रेष्ठ धर्म तथा सत्य व्रत धारण करने वाले आप के पुत्र राम ने क्या नहीं प्राप्त किया । [अर्थात् उसके लिये अप्राप्य वस्तु कोई नहीं रह गई है ।] ॥ ७ ॥ निश्चय ही रामचन्द्र के शुद्ध तथा उत्तम माहात्म्य को जान कर सूर्य अपनी सन्तप्त किरणों से राम के शरीर को सन्तप्त नहीं करता होगा ॥ ८ ॥ सम्पूर्ण काल में कल्याण करने वाला वन से निकला हुआ समशीतोष्ण वायु राम की सेवा करेगा ॥ ९ ॥ रात्रि में सोते हुए रामचन्द्र को धूप का नाश करने वाला चन्द्रमा इस प्रकार आह्लादित करेगा जिस प्रकार पिता अपने पुत्र का आलिङ्गन करके आह्लादित होता है ॥ १० ॥ दानवेन्द्र तिमिध्वज-पुत्र सुबाहु को संग्राम में मरा हुआ देखकर ब्रह्मा ने जो दिव्य अस्त्र महान् ओज वाले विश्वामित्र को दिये थे [वे सब अस्त्र रामचन्द्र को प्राप्त हो गये] ॥ ११ ॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः । असंत्रस्तोऽप्यरण्यस्थो वेश्मनीव निवत्स्यति ॥१२
यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः । कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥१३
या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता । निवृत्तारण्यवासः स क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥१४
सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः । श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥१५
दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः । तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥१६
पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः । क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥१७
दुःखजं विसृजन्त्यस्रं निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् । अयोध्यायां जनाः सर्वे शोकवेगसमाहताः ॥१८
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम् । सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥१९
धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत्स्वयम् । लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥२०
निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् । जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥२१
शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते । पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥२२
पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम् । समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां क्षिप्रमानन्दजं पयः ॥२३
मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम् । क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥२४
त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यदानघे । किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लबम् ॥२५

उन अस्त्रों तथा अपने बाहुबल के आश्रय से नरकेशरी रामचन्द्र वन में निर्भय इस प्रकार सोयें जैसे कोई अपने घर में सो रहा हो ॥ १२ ॥ जिसके प्रखर बाणों के प्रहार से सम्पूर्ण शत्रुगण नष्ट हो जा हैं, उस रामचन्द्र के शासन में पृथ्वी क्यों न रहेगी ॥ १३ ॥ जो श्री तथा कल्याणकारी धैर्य और रामचन्द्र का है, उस के द्वारा वनवास से लौट कर शीघ्र ही रामचन्द्र अपने राज्य को प्राप्त कर लेंगे ॥ १४ सूर्य का भी सूर्य होता है, अग्नि की भी अग्नि, प्रभु के प्रभु, लक्ष्मी की लक्ष्मी, कीर्त्ति की कीर्त्ति तथा क्ष की भी क्षमा होती है, [किन्तु राम के राम नहीं] । ऐसे अनुपम रामचन्द्र के अन्दर अवगुणों का व नगर में या बाहर कौन कर सकता है ॥ १५, १६ ॥ पृथ्वी, जानकी तथा लक्ष्मी इन तीनों के साथ शीघ्र पुरुषोत्तम राम का राज्याभिषेक होगा ॥ १७ ॥ अयोध्या से वनवास को निकलते हुए पराजित न होने व कुशचीरधारी जिस वीर रामचन्द्र को देखकर सम्पूर्ण अयोध्यावासियों ने शोकाक्रान्त आंखों से आं बहाये तथा सीता के रूप में साक्षात् लक्ष्मी ही जिसके साथ गई, उस रामचन्द्र को इस जगत् में क्या दु है ॥ १८, १९ ॥ बाण, खड्ग आदि शस्त्रों के धारण करने वाले धनुर्धारी लक्ष्मण जिस के आगे २ चलते उस राम को संसार में क्या दुर्लभ है ॥ २० ॥ वनवास को समाप्त करके आने वाले रामचन्द्र को अ पुनः देखेंगी । इसलिये, हे देवि ! शोक और मोह को छोड़ दीजिये, आप से सत्य कहती हूँ ॥ २१ ॥ अनिन्दिते ! अपने चरणों में सिर झुका कर प्रणाम करते हुए नवोदित चन्द्रमा के समान पुनः अपने रामचन्द्र को देखोगी ॥ २२ ॥ वन से लौट कर पुनः अयोध्या नगरी में प्रविष्ट हुए तथा महान् धान्य से परिपूर्ण राजपद पर अभिषिक्त हुए अपने पुत्र रामचन्द्र को देखकर शीघ्र ही आनन्द से होने वाले अश्रुओं का विसर्जन करोगी ॥ २३ ॥ हे देवि ! तुम्हें सुख तथा दुःख नहीं करना चाहिये क्यों राम के प्रति किसी प्रकार का अमङ्गल नहीं दिखाई दे रहा है । शीघ्र ही सीता तथा लक्ष्मण के साथ अ पुत्र राम को आप देखेंगी ॥ २४ ॥ हे निष्पापे ! तुम्हें इस समय इन सब लोगों को आश्वासन देना चाहि पुनः ऐसी अवस्था में अपने मनको इतना अधीर तथा चञ्चल क्योंकर बना रही हो ॥ २५ ॥ हे देवि ! तु

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः । न हि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥२६॥
अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् । मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघलेखेव वार्षिकी ॥२७॥
पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः । पाणिभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥२८॥
अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् । मुदास्रैः प्रोक्ष्यसि पुनर्मेघराजिरिवाचलम् ॥२९॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यैर्वाक्योपचारे कुशलानवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा देवी सुमित्रा विरराम रामा ॥३०॥
निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सुमित्राश्वासनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

पौरयाचनम्

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् । अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥
निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्धर्मेण राजनि । नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

किसी अवस्था में शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि नरपुंगव राम जैसे पुत्र को पैदा करने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। सन्मार्ग पर चलने वाला राम से बढ़कर इस संसार में कोई नहीं है ॥ २६ ॥ सम्पूर्ण मित्र-मण्डल के साथ प्रणाम करते हुए अपने पुत्र रामचन्द्र को देखकर इस प्रकार आनन्दाश्रु का विसर्जन करोगी जिस प्रकार प्रावृट् काल का मेघ वर्षा करता है ॥ २७ ॥ श्रेष्ठ दान के देने वाले रामचन्द्र शीघ्र ही अयोध्या में आयेंगे और कोमल तथा पुष्ट हाथों से आप के चरणों को प्रणाम करेंगे ॥ २८ ॥ परिचयपूर्वक प्रणाम करते हुए मित्रमण्डल के सहित अपने पुत्र रामचन्द्र को आनन्दाश्रुओं से इस प्रकार सिञ्चित करोगी जिस प्रकार मेघमाला पर्वत को सिञ्चित करती है ॥ २९ ॥ निर्दोष तथा बोलने में कुशल सुमित्रा देवी ने नाना प्रकार के उपचारों से राम की माता कौसल्या को आश्वासन देती हुई अपनी वाणी को विराम दिया (अर्थात् चुप हो गई) ॥ ३० ॥ लक्ष्मण की माता सुमित्रा की इन बातों को सुन कर नरदेवपत्नी, राम की माता कौसल्या का सम्पूर्ण शोक शीघ्र ही इस प्रकार नष्ट हो गया जैसे थोड़े जल वाले शरत्काल के मेघ देखते देखते आकाश में नष्ट हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'सुमित्रा का आश्वासन' विषयक चवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

नागरिकों की याचना

सत्यपराक्रमी महात्मा रामचन्द्र में अनुरक्त होने के कारण अयोध्यावासी सम्पूर्ण मनुष्य वनवासी रामचन्द्र के पीछे वन में चले गये ॥ १ ॥ मित्रधर्म के अनुसार बलपूर्वक किसी प्रकार राजा दशरथ तो लौटा दिये गये, किन्तु अयोध्या नगर वासियों ने राम के रथ का अनुगमन करना नहीं छोड़ा ॥ २ ॥ अयोध्या-

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः । बभूव गुणसंपन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३॥
स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा । कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४॥
अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव । उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५॥
या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् । मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६॥
स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः । करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७॥
ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः । अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८॥
स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः । अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९॥
न संतप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि । महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १०॥
यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवास्थितोऽभवत् । तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११॥
बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह । चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२॥
ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा । वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३॥
वहन्तो जवना रामं भो भा जात्यास्तुरङ्गमाः । निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४॥
कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः । यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५॥
धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः । उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद्वनम् ॥ १६॥

वासी पुरुषों की दृष्टि में महायशस्वी तथा सर्वगुण सम्पन्न रामचन्द्र पूर्ण चन्द्रमा के समान प्रिय थे ॥ ३॥ अयोध्यावासी प्रजा के बार बार लौटने के लिये प्रार्थना करने पर भी रामचन्द्र ने अपने पिता को सत्यवादी बनाने के लिये वन में जाना ही निश्चित किया ॥ ४॥ अयोध्यावासी प्रजा को अपने पुत्रों के समान स्नेहदृष्टि से देखते हुए रामचन्द्र उनसे बोले ॥ ५॥ जो प्रीति तथा सम्मान अयोध्यानिवासियों का मेरे प्रति है, वह प्रेम तथा सम्मान मेरी प्रसन्नता के लिये, हे अयोध्यावासियो ! तुम लोग भरत के प्रति करो ॥ ६॥ वे शुभचरित्र कैकेयी माता के आनन्द बढ़ाने वाले भरत आप लोगों का यथावत् हित तथा प्रिय करेंगे ॥ ७॥ वे अल्पवय होने पर भी ज्ञानवृद्ध, कोमलचित्त और बल-वीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हैं। वे तुम अयोध्यावासियों के राजा होने योग्य हैं और तुम लोगों की सब प्रकार से वे रक्षा करेंगे ॥ ८॥ पूज्य पिता राजा दशरथ के द्वारा राजगुणों से युक्त भरत को ही युवराज बनाना निश्चित किया गया है। मैंने भी समय समय पर भरत को शिक्षा दी है, इसलिये तुम लोगों को राजा का शासन मानना चाहिये ॥ ९॥ मेरे वनवासी होने पर जिस प्रकार पूज्य पिताजी को सन्ताप न हो, मेरी प्रियपात्रता के कारण आप लोगों को वही काम करना चाहिये ॥ १०॥ जैसे जैसे रामचन्द्र ने धर्मानुकूल पिता की आज्ञा पालन में दृढ़ता दिखलाई, वैसे वैसे सम्पूर्ण अयोध्यावासी प्रजा ने राम के प्रति प्रेम प्रकट करते हुए उन्हीं को अपना राजा बनाने की कामना प्रकट की ॥ ११॥ दुःख पूर्वक आंखों से आंसू बहाते हुए लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र ने अपने गुण से बंधी हुई प्रजा को अपने साथ खींच लिया ॥ १२॥ ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध तथा तपोबलवृद्ध ब्राह्मणवर्ग वयोवृद्धता के कारण जिनके सिर कांप रहे थे, वे दूर से ही ये वचन बोले ॥ १३॥ अपने ही स्वामी राम को वन में ले जानेवाले श्रेष्ठ जाति के घोड़ो ! तुम लौट आओ। अपने स्वामी का कल्याण चाहते हुए आगे मत जाओ ॥ १४॥ वैसे तो सभी प्राणी कान वाले होते हैं, किन्तु विशेष कर घोड़ों की श्रवण शक्ति अधिक होती है। इसलिये यदि हमारी बात को तुमने सुन लिया है तो लौट आओ ॥ १५॥ धर्म के नाते रामचन्द्र विशुद्धात्मा, वीर तथा शुभ दृढ़व्रती हैं, ऐसे गुणालंकारभूत रामचन्द्र को नगर में ले जाना चाहिये, न कि वन में ॥ १६॥ इस प्रकार के दुःखपूर्वक विलाप करने वाले वयोवृद्ध द्विजों को देखकर

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान् । अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥१७॥
पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः । संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥१८॥
द्विजातींस्तु पदातींस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः । न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥१९॥
गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः । ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥२०॥
ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत्त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति । द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी ॥२१॥
वाजपेयसमुत्थानि छत्राण्येतानि पश्य नः । पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥२२॥
अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते । एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयिकैः ॥२३॥
या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी । त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥२४॥
हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परं धनम् । वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥२५॥
न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः । त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम् ॥२६॥
याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः । शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥२७॥
बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः । तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥२८॥
भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च । याचमानेषु राम त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥२९॥

सहसा रामचन्द्र रथ से नीचे उतर गये ॥ १७ ॥ लक्ष्मण और सीता के साथ रामचन्द्र पैदल ही वन की ओर शनैः शनैः चल पड़े [वृद्ध द्विजातियों का ध्यान रखते हुए भी रामचन्द्र ने अपने वनवास के व्रत को नहीं तोड़ा] ॥ १८ ॥ चरित्र के पुजारी रामचन्द्र पैदल चलने वाले उन वृद्ध द्विजातियों को न तो रथ के पास से लौटा सके । और न उनको पैदल चलते हुए देख ही सकते थे, अतएव वे रथ से उतर पड़े ॥ १९ ॥ रामचन्द्र वनकी ही ओर चले जा रहे हैं, इस प्रकार अत्यन्त घबराये हुए तथा परम दुःखी वे वयोवृद्ध द्विज राम से ये वचन बोले ॥ २० ॥ हे रामचन्द्र ! ब्राह्मणों के हितकारी आपके पीछे यह ब्राह्मणों का समूह आपके साथ जा रहा है और वे अपने कन्धों पर अग्नित्रय को भी साथ साथ ले जा रहे हैं ॥ २१ ॥ अपने पीछे चलने वाले वाजपेय यज्ञ में प्राप्त होनेवाले हम लोगों के इन छत्रों को देखो जो शरद् ऋतु के मेघ के समान स्वच्छ हैं ॥ २२ ॥ वनवासी होने के नाते आपके पास छाता नहीं है, इसलिये सूर्य रश्मियों से सन्तप्त आपको हम लोग इन वाजपेय यज्ञ में प्राप्त होने वाले छातों से छाया करेंगे [अर्थात् हमलोग आपको सुख ही देंगे न कि कष्ट] ॥ २३ ॥ जो हम लोगों की बुद्धि अब तक वेद मन्त्रानुसारिणी थी, हे वत्स रामचन्द्र ! वह बुद्धि हमलोगों ने आपके लिये वनवास के अनुगमन करनेवाली बना ली है ॥ २४ ॥ जो वेद हम लोगों के परम धन हैं वे हमारे हृदय में वास कर रहे हैं । स्त्रियां घर में वास कर रही हैं । उन स्त्रियों का चरित्र ही उनकी रक्षा करेगा [अर्थात् हम लोगों को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ।] ॥ २५ ॥ हम लोगों को पुनः किसी बात का विचार नहीं करना है । आपके साथ जाने का निर्णय हम लोगों ने कर लिया है । यदि आप ही इस धार्मिक निर्णय का विरोध करेंगे तो इस धर्मपथ का अनुसरण कौन करेगा ॥२६॥ हे अटल आचार वाले रामचन्द्र ! हमलोग हंस के समान श्वेत बाल वाले तथा पृथ्वी पर सिर झुकाने से जो धूल-धूसरित हो गये हैं, उन सिरों को झुकाकर आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप अयोध्या लौट चलें ॥ २७ ॥ बहुत से द्विज जो यहां पर आये हुए हैं, उनका यज्ञ अभी विस्तारपूर्वक चल रहा है । यज्ञसमाप्ति के साधन होने पर भी आपके लौटने पर ही उसकी समाप्ति होगी ॥ २८ ॥ जंगम तथा स्थावर सभी प्राणी आपके प्रति निष्ठा वाली भक्ति रखते हैं । इस प्रकार याचना करने वाले अपने भक्तों के प्रति अपनी भक्ति तथा प्रेम का परिचय दीजिये ॥ २९ ॥ मूल वाले ये वृक्ष आपके साथ चलने में असमर्थ होते हुए उद्धत वायु

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः । उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥३०॥
निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थानविष्ठिताः । पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥३१॥
एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने । ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥३२॥
ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य श्रान्तान् हयान् संपरिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गानचारयद्वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पौरयाचनं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

पौरमोहनम्

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः । सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १॥
इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् । वनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २॥
पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः । यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३॥
अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम । सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४॥

के वेग से जो ये शब्दायमान हो रहे हैं, मानो ये आप से लौटने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३०॥
निश्चेष्ट ये पक्षिगण भी जो केवल आहार के लिये ही इधर-उधर जाते हैं तथा निश्चलरूप से जो एक ही वृक्ष
पर वास करते हैं, वे भी सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने वाले आप से प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ इस
प्रकार द्विजातियों के दुःखपूर्वक लौटने की प्रार्थना करते हुए वहाँ पर तमसा नदी दिखाई दी, मानो वह
रामचन्द्र को आगे बढ़ने से रोक रही है ॥ ३२ ॥ उसके पश्चात् सुमन्त्र ने भी थके हुए घोड़ों को रथ से
छोड़कर, उनकी थकावट को दूर करने के लिये भूमि पर लिटा कर, पानी पिलाकर उनको स्नान कराया
पश्चात् तमसा के समीप उनको इधर उधर घुमाया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'नागरिकों की याचना' विषयक पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

छियालीसवां सर्ग

नागरिकों को भुलावा

पश्चात् रमणीय तमसा तट पर ठहर कर जानकी को देखते हुए श्री रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण से
बोले ॥ १ ॥ हे लक्ष्मण ! वनवास में आने वाले हम लोगों की यह प्रथम रात्रि है, इस में तुम्हारा कल्याण
हो । अयोध्या नगर के लिये तुम उत्कण्ठित मत होना ॥ २ ॥ हे लक्ष्मण ! देखो, वन में पशु-पक्षियों के
शब्द न होने से शून्य हो रहा है । सम्पूर्ण पशु-पक्षी अपने अपने स्थानों में छिप गये हैं, मानो यह शून्य
वन हम को देख कर रो रहा है ॥ ३ ॥ आज मेरे पूज्य पिता की राजधानी अयोध्या नगरी के लोग सब
स्त्री-पुरुष वनवास में आये हुए लोगों के लिये अवश्य शोक कर रहे होंगे, इस में कोई संशय नहीं ॥४॥ राजा

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः । त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥
पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् । अपि वान्धौ भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥
भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे । धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥
भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः । नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ॥ ८ ॥
त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् । अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९ ॥
अद्भिरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् । एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥१०॥
एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः । अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥११॥
सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते । प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥१२॥
उपास्य तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपस्थिताम् । रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥१३॥
तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम् । रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥१४॥
सभार्यं संप्रसुप्तं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः । कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान् ॥१५॥
जाग्रतो ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः । सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥१६॥
गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः । अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥१७॥
उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च । अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥१८॥

दशरथ के अनेक गुणों के कारण अयोध्या की प्रजा उन में बहुत अनुराग रखती है। नरव्याघ्र लक्ष्मण! उसी प्रकार तुम में, मुझ में तथा भाई भरत-शत्रुघ्न में भी अयोध्या की जनता प्रेम रखती है ॥५॥ मैं भी यशस्वी पिता और यशस्विनी माता की चिन्ता कर रहा हूँ। हम लोगों के लिये निरन्तर रोते हुए कहीं वे अन्धे न हो जायँ ॥ ६ ॥ धर्मात्मा भाई भरत मेरे पूज्य पिता और माता जी को धर्मार्थकामयुक्त वाक्यों के द्वारा अवश्य ही आश्वासित करेंगे ॥ ७ ॥ हे विशाल बाहु वाले लक्ष्मण ! भरत की दयालुता का बार बार चिन्तन करके मैं पूज्य पिता और माता जी के लिये शोक नहीं कर रहा हूँ ॥ ८ ॥ हे नरकेसरी लक्ष्मण ! वनवास गमन के समय तुम ने मेरा साथ देकर बहुत अच्छा काम किया है, अन्यथा सीता की रक्षा करने के लिये मुझे किसी सहायक को ढूँढना पड़ता ॥ ९ ॥ हे लक्ष्मण ! यद्यपि वन में अनेक प्रकार की वस्तु हैं, तो भी इस रात्रि को मैं पानी पीकर ही रहना चाहता हूँ, मुझे यही अच्छा लग रहा है ॥ १० ॥ रामचन्द्र इस प्रकार अपने भाई लक्ष्मण से कह कर सुमन्त्र से बोले—हे सौम्य ! तुम भी सावधानी से घोड़ों की देख भाल करो ॥ ११ ॥ सूर्यास्त हो जाने के पश्चात् सुमन्त्र घोड़ों को बांध कर तथा उनको खाने के लिये यथेष्ट घास आदि देकर अन्य काम में लग गये ॥ १२ ॥ रात्रि के आगमन को देख कर उन लोगों ने पश्चिम काल की सन्ध्या की। पश्चात् रामचन्द्र के शयन करने के लिये लक्ष्मण ने सुमन्त्र के साथ शय्या का निर्माण किया ॥ १३ ॥ तमसा नदी के तट पर वृक्षों के पत्तों से बनी हुई उस शय्या को देख कर लक्ष्मण और सीता के साथ में श्री रामचन्द्र उस पर बैठे ॥ १४ ॥ जानकी के साथ में थके हुए रामचन्द्र को सोते देख कर लक्ष्मण उनके अन्यगुणों का वर्णन सूत सुमन्त्र से करने लगे ॥ १५ ॥ इस प्रकार सूत सुमन्त्र के साथ में रामचन्द्र के गुणों का वर्णन करते हुए तथा लक्ष्मण के जागते हुए वह रात्रि समाप्त हुई और सूर्य उदय हो गया ॥ १६ ॥ गोसमूहों से व्याप्त उस तमसा के किनारे से कुछ थोड़ी दूर पर अयोध्या पुरवासियों के साथ में रामचन्द्र ने उस रात्रि को निवास किया ॥ १७ ॥ रात्रि में सोते हुए रामचन्द्र ने उठकर सोती अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा को देखा। पश्चात् पुण्यलक्षण अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि । वृक्षमूलेषु संसुप्तान् पश्य लक्ष्मण सांप्रतम् ॥१९॥
यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने । अपि प्राणानसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥२०॥
यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु । रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥२१॥
अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः । स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलानि संश्रिताः ॥२२॥
पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोक्ष्या नृपात्मजैः । न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥
अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् । रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥२४॥
अथ रामोऽब्रवीच्छ्रीमान् सुमन्त्रं युज्यतां रथः । गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥२५॥
सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः । योजयित्वाथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥२६॥
अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर । त्वरयारोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥२७॥
तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः । शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥२८॥
स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम् । प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥२९॥
मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः । उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे ॥३०॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः । यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥३१॥
रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः । प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥३२॥

हम लोगों से अधिक प्रेम करने वाले तथा घर द्वार से उदासीन रहने वाले ये अयोध्यावासी वृक्षों के मूल में सो रहे हैं, इनको देखो ॥ १९ ॥ जिस प्रकार ये पुरवासी लोग हम लोगों के लौटाने का प्रयत्न कर रहे हैं, इनको देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्राणों को छोड़ देंगे किन्तु अपने प्रयत्नों को नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥ इस लिये जब तक ये लोग सो रहे हैं, तभी हम लोग रथ पर चढ़ कर चल दें। इस मार्ग में कोई भय नहीं है ॥ २१ ॥ इस लिये कि इस के आगे हम लोगों से प्रेम रखने वाले ये अयोध्या वासी लोग फिर वृक्षों के मूल में न सोयें [अर्थात् इन्हें अधिक कष्ट न हो] ॥ २२ ॥ राजकुमारों को चाहिये कि पुरवासियों ने जो दुःख उठाने का निश्चय किया है, उससे उनको छुड़ायें। अपने दुःख में पुरवासियों को कभी भी सम्मिलित नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥ साक्षात् धर्म के स्वरूप में वर्तमान श्री रामचन्द्र से लक्ष्मण ने कहा--मुझे भी आप का यह विचार अच्छा प्रतीत होता है, इस लिये आप शीघ्रातिशीघ्र रथ पर बैठें ॥ २४ ॥ इसके पश्चात् रामचन्द्र ने सूत सुमन्त्र से कहा--शीघ्र रथ को तैयार करो क्योंकि यहाँ से शीघ्र ही वन में जाऊँगा ॥ २५ ॥ रामचन्द्र की बातों को सुन कर सूत सुमन्त्र उत्तम घोड़ों को रथ में जोत कर ले आये तथा हाथ जोड़ कर रामचन्द्र से यह निवेदन किया ॥ २६ ॥ रथियों में श्रेष्ठ हे महाबाहो! यह रथ तैयार है, अतः लक्ष्मण तथा सीता के साथ शीघ्र आप इस पर बैठें ॥ २७ ॥ सम्पूर्ण सामग्री तथा साथियों के साथ रामचन्द्र ने उस रथ पर बैठ कर वेग से बहने वाली तथा आवर्त्त वाली उस तमसा नदी को पार किया ॥ २८ ॥ भयातुरों को सदा अभय देने वाले विशाल भुजा वाले रामचन्द्र शत्रुहीन तथा कल्याणमय मार्ग पर पहुँचे ॥ २९ ॥ पुरवासियों को भुलावा देने के लिये रामचन्द्रजी सूत सुमन्त्र से बोले-हे सुमन्त्र ! रथ पर बैठ कर तुम उत्तर दिशा में ले जाओ ॥ ३० ॥ शीघ्रतापूर्वक थोड़ी दूर उत्तर जाकर फिर रथ को लौटा लाओ। जिस से पुरवासी मुझे न जान जायें, ऐसी सावधानी से काम करो ॥ ३१ ॥ रामचन्द्र की बातों को सुन कर सुमन्त्र ने वैसा ही किया। पश्चात् वहाँ से लौट कर रामचन्द्र को रथ पर बैठने को कहा ॥ ३२ ॥ रघुवंश की कीर्ति बढ़ाने वाले राम-लक्ष्मण सीता के साथ में, आये हुए रथ पर बैठ गये।

तौ संप्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरङ्गमान् स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥
ततः समास्थाय रथं महारथः ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार स प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात् ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पौरमोहनं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

पौरनिवृत्तिः

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना । शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥ १ ॥
शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणाः समन्ततः । आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥ २ ॥
ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता । कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः ॥ ३ ॥
धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः । नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥
कथं नाम महाबाहुः स तथावितथक्रियः । भक्तं जनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः ॥ ५ ॥
यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् । कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥
इहैव निधनं यामो महाप्रस्थानमेव वा । रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हितम् ॥ ७ ॥

पश्चात् सारथि सुमन्त्र ने घोड़ों को उधर हांका जिधर तपोवन में जाना था ॥ ३३ ॥ सारथि के साथ महारथी रामचन्द्र ने रथ में बैठ कर वन को प्रस्थान किया। सारथि ने रथ को उत्तर की ओर किया केवल शुभ शकुन देखने के लिये ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'नागरिकों को भुलावा' विषयक छियालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवां सर्ग

नागरिकों का लौटना

रात्रि के समाप्त हो जाने पर प्रातःकाल रामचन्द्र को न देखकर पुरवासी अत्यन्त शोक के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ तथा निश्चेष्ट हो गये ॥१॥ पश्चात् कुछ होश आने पर इधर उधर देखते हुए विलाप करने लगे। रामचन्द्र के गमन का कोई चिह्न भी जब नहीं दिखाई दिया तो वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ २ ॥ वे मननशील अयोध्यावासी राम के वियोग से अत्यन्त आर्त्त हो कर परस्पर दीनतापूर्ण वाणी का उच्चारण करने लगे ॥३॥ उस निद्रा को धिक्कार है जिससे बेहोशी में आकर हम लोग आज विशाल वक्षस्थल वाले महाबाहु रामचन्द्र को नहीं देख रहे हैं ॥ ४ ॥ सकल कर्म करने वाले महाबाहु रामचन्द्र हम भक्त जनों को छोड़ कर वन में कैसे चले गये ॥ ५ ॥ जो सदा हम पुरवासियों को औरस-पुत्र के समान पालन करते हैं वे ही रघुकुल के श्रेष्ठ रामचन्द्र वन में कैसे चले गये ॥ ६ ॥ हम लोग यहीं मर जायेंगे अथवा हिमालय में जाकर गल जायेंगे। राम के बिना अब हम लोगों का जीवन और सुख किस काम का ॥७॥ यहाँ पर प्रचुर मात्रा में सूखे काष्ठ

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च। तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम् ॥८॥
किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः। नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥९॥
सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना। भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका ॥१०॥
निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना। रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम् ॥११॥
इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः। विलपन्ति स्म दुःखार्ता विवत्सा इव धेनवः ॥१२॥
ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित्क्षणं पुनः। मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥१३॥
रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः। किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥१४॥
ततो यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः। अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥१५॥
आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः। आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥१६॥
एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते। आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥१७॥
चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्। अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥१८॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं परं वा निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पौरनिवृत्तिर्नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

पड़े हुए हैं, उनकी विशाल चिता प्रज्वलित करके हम लोग उसमें प्रवेश कर जायें ॥ ८ ॥ हम लोग यहाँ से अयोध्या लौट जाने पर क्या कहेंगे ? अनिन्दित तथा प्रियवादी रामचन्द्र को हम लोग वन में छोड़ आये, यह तथ्य भी हम कैसे कहेंगे ॥९॥ निश्चय ही वह नगरी रामचन्द्र के विना हम लोगों को लौटे हुए देखकर अत्यन्त दुःखी हो जायेगी। स्त्री-बालक-वृद्ध सभी आनन्दरहित हो जायेंगे ॥ १० ॥ वीरवर महात्मा रामचन्द्र के साथ हम लोग अयोध्या से निकले और उनके विना उसी अयोध्यापुरी में हम लोग कैसे लौटेंगे ॥ ११ ॥ जैसे वत्सहीन गौ अपने बछड़ों के लिये रोती हैं, उसी प्रकार वे अयोध्यावासी दोनों हाथों को उठाकर नाना प्रकार का विलाप करते हुए रोने लगे ॥ १२ ॥ पश्चात् रामचन्द्र के जाने के मार्ग का अनुसरण कर कुछ दूर उत्तर की ओर गये। जब उन्हें गमनमार्ग का चिह्न भी नहीं दिखाई दिया तब वे अत्यन्त दुःखी हो गये ॥ १३ ॥ वे मनस्वी अयोध्यावासी रथ के मार्ग के चिह्न को नष्ट हुआ देख कर लौट पड़े। अब हम लोग क्या करें। हम लोगों का भाग्य ही फूट गया ॥ १४ ॥ तब वे अयोध्यावासी अत्यन्त दुःखित अवस्था में जिस रास्ते से आये थे उसी रास्ते से अयोध्या को लौट गये जहाँ के सभी सज्जन वृन्द अत्यन्त दुःखित हो रहे थे ॥ १५ ॥ अयोध्या नगरी की विपन्न अवस्था को देख कर व्याकुल चित्तवाले वे अयोध्यावासी अत्यन्त शोक से पीडित हो कर आंखों से आंसू बहाने लगे ॥ १६ ॥ यह रामचन्द्र की नगरी आज रामचन्द्र के विना इस प्रकार शोभा को नहीं प्राप्त हो रही है, जिस प्रकार किसी नदी से गरुड़ के द्वारा नाग निकाल लिया गया हो ॥ १७ ॥ जैसे चन्द्रमा के विना आकाश तथा पानी के विना सागर, उसी प्रकार आज राम के बिना आनन्दहीन उस नगरी को देख कर पुरवासी खिन्न हो गये ॥ १८ ॥ शोकाक्रान्त तथा दुःख से जिनकी स्मृति नष्ट हो रही है, उन्होंने धन-धान्य पूर्ण अपने घरों में प्रवेश किया। अत्यन्त शोक के कारण जिन की स्मृति तथा हर्ष नष्ट हो रहे हैं वे लोगों को देखते हुए भी इन में कौन अपना है कौन पराया, यह नहीं जान सके ॥ १९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'नागरिकों का लौटना' विषयक सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

पौराङ्गनाविलापः

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च । बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अनुगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् । उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥
स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः । अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥
न चाहृष्यन्न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन् । न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥
नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम् । पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ ५ ॥
गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम् । व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥
किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा । पुत्रैर्वा किं सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥
एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया । योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥
आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च । येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥
शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः । आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥१०॥
काननं वापि शैलं वा यं रामोऽभिगमिष्यति । प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥११॥

अड़तालीसवां सर्ग

नागरिक महिलाओं का विलाप

इस प्रकार रामचन्द्र के पास से लौट आने वालों की अत्यन्त दुःखित अवस्था हो रही थी। उनके नेत्रों से अश्रुपात हो रहा था। अत्यन्त शोक से वे मूर्च्छित भी हो रहे थे। खिन्नचित्त से लौटने वाले उन लोगों की ऐसी अवस्था हो रही थी, मानो उनके प्राण ही निकल रहे हों॥ १, २ ॥ स्त्री-पुत्र आदि से परिपूर्ण अपने अपने घरों में आकर वे लोग अपनी आँखों से आँसू बहा रहे थे। अत्यन्त अश्रुपात से उनका मुख-मण्डल भी गीला हो रहा था॥ ३ ॥ वहाँ के वैश्य वर्ग न तो प्रसन्न हुए, न आमोद-प्रमोद किया और न दुकानें ही खोलीं। उनकी दुकानें शोभाहीन हो गईं तथा गृहस्थों ने अपने घरों में भोजन भी नहीं पकाया ॥ ४ ॥ नष्ट हुए धन के मिलने पर भी कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं कर रहा था। माताएँ प्रथम पुत्र के उत्पन्न करने पर भी किसी प्रकार का उत्सव नहीं मना रही थीं ॥ ५ ॥ घर २ में रोती हुई तथा अत्यन्त दुःखी स्त्रियां वन से घर पर लौट आने वाले पतियों की इस प्रकार निन्दा करने लगीं जैसे कोई व्यक्ति हाथी पर अंकुश से प्रहार करता है॥ ६ ॥ उनको घरके कार्य स्त्री, धन, पुत्र अथवा सब प्रकार के सुखों से भी क्या लाभ जो कि रामचन्द्र को नहीं देख रहे हैं॥ ७ ॥ संसार में एक लक्ष्मण ही महापुरुष हैं जो सीता के साथ वनवासी रामचन्द्र की सेवा करने के लिये वन में जा रहे हैं ॥ ८ ॥ वे नदियां तथा कमल से विकसित सरोवर भाग्यशाली हैं जिनमें स्नान करके रामचन्द्र वन में जायेंगे॥ ९ ॥ वन के वृक्ष, रमणीय कानन, नदियां तथा बड़े २ सरोवर, विशाल चोटी वाले पर्वत ये सब रामचन्द्र की सोभा बढ़ायेंगे॥ १० ॥ जिस रमणीय वन में तथा पर्वत पर रामचन्द्र जायेंगे, आये हुए अपने प्रिय अतिथि के समान बिना इनका सत्कार किये हुए इन्हें वे जाने न देंगे॥ ११ ॥ नाना चित्र-विचित्र पुष्पों से सुशोभित, बहुत प्रकार की

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः । राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥१२
अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च । दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्गिरयो राममागतम् ॥१३
प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः । विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥१४
पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् । यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥१५
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च । पुरा भवति नो दूरादनुगच्छाम राघवम् ॥१६
पादच्छाया सुखा भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः । स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥१७
वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम् । इति पौरस्त्रियो भर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥१८
युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति । सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥१९
को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च । संप्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥२०
कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् । न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥२१
यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् । कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥२२
कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका निवसेम हि । जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥२३
या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा । कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्या दुष्टचारिणीम् ॥२४
उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम् । कैकेय्या हि कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥२५

मञ्जरियों के धारण करने वाले तथा भ्रमरों से गुञ्जायमान पर्वत-शिखर अपने वास्तविक स्वरूप को रा
चन्द्र को प्रकट करेंगे ॥ १२ ॥ असमय में फलने फूलने वाले वृक्षों से युक्त पर्वत अत्यन्त आदर से राम
स्वागत करेंगे ॥ १३ ॥ नाना प्रकार के झरनों तथा विमल जलों से वह पर्वत माला रामचन्द्र के सा
अपने वास्तविक रूप को प्रकट करेगी ॥ १४ ॥ पर्वत चोटियों पर रहनेवाले वृक्ष मण्डल रामचन्द्र के आ
न्द को बढ़ायेंगे। जहां पर रामचन्द्र रहेंगे, वहां न किसी प्रकार का भय और न पराजय की भावना रहे
॥ १५ ॥ वे राजा दशरथ के पुत्र महाबाहु रामचन्द्र वीर हैं। इसलिये जब तक वे अयोध्या से दूर न
चले जाते, हम लोग उनके पास चलें ॥ १६ ॥ इस प्रकार अपने स्वामी के चरण कमलों में रहना सब
बड़ा सुख होता है। हम नगरवासियों के वे नाथ हैं, वे ही हम लोगों तथा हम लोगों की सुख-शान्ति
केन्द्र हैं ॥ १७ ॥ हम लोग सीता की सेवा करेंगी, आप लोग रामचन्द्र की सेवा करेंगे। इस प्रकार की बा
अयोध्या नगर की स्त्रियों ने अपने पतियों से कीं ॥१८॥ वन में आप लोगों के कुशल-क्षेम का प्रबन्ध रामच
करेंगे और हम नारी-समाज के कुशल-क्षेम का प्रबन्ध सीता करेंगी ॥ १९ ॥ अविश्वास के वातावरण वा
और रातदिन रामचन्द्र में ही जिसकी उत्कण्ठा लगी हो, राम के वियोग से जहां की सारी सुन्दरता नष्ट
गई हो तथा जिसका चित्त विचलित हो गया हो, ऐसे वातावरण वाले स्थान में रहना कौन पसन्द करे
॥ २० ॥ यदि यह राज्य कैकयी के आधीन हो गया तो अनाथमय वातावरण में अधर्म का ही दौरदौ
होगा। ऐसे दूषित वातावरण में हम लोगों के जीने का क्या प्रयोजन तथा पुत्र और धन से क्या प्रयोज
॥ २१ ॥ कुलका नाश करनेवाली जिस कैकेयी ने अपने ऐश्वर्य तथा स्वार्थ के लिये अपने पुत्र और पति
त्याग कर दिया, वह फिर दूसरों को क्या छोड़ सकती है ॥ २२ ॥ इस प्रकार पतित कैकेयी के राज्य में ह
लोगों का चाहे भरण पोषण भी हो तो भी जीते २ हम लोग नहीं रहेंगी, यह बातें हम अपने पुत्रों की श
लेकर कहती हैं ॥ २३ ॥ जो दुष्टा सम्राट् राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र को बनवास दे सकती है, भला
पापमयी दुष्टाचारिणी कैकेयी के शासन में सुखपूर्वक कौन रह सकता है ॥ २४ ॥ कैकेयी के कारण
राज्य में अनेकों भयङ्कर उपद्रव होंगे क्योंकि इसका न कोई सहारा है और न कोई नायक है। कैकेयी के
दुष्कर्म से सम्पूर्ण राष्ट्र का नाश हो जायेगा ॥ २५ ॥ रामचन्द्र के पूर्णरूप से वनवासी हो जाने पर रा

न हि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः । मृते दशरथे व्यक्तं विलापस्तदनन्तरम् ॥२६॥
ते विं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुर्गताः । राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥२७॥
मिथ्या प्रव्राजितो रामः ससीतः सहलक्ष्मणः । भरते संनिसृष्टाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥२८॥
पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः । आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥२९॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः । सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥३०॥
नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः । शोभयिष्यत्यपण्यानि विचरन् स महारथः ॥३१॥
तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरास्त्रियः । चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥३२॥
इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम् । जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥३३॥
नष्टज्वलनसंपाता प्रशान्ताध्यायसत्कथा । तिमिरेणाभिलिप्तेव सा तदा नगरी बभौ ॥३४॥
उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया । अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥३५॥

तथा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते ।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः सुतैर्हि तासामधिको हि सोऽभवत् ॥३६॥

दशरथ कभी जीवित नहीं रहेंगे । राजा दशरथ के मरने पर स्पष्ट ही इस सारे समृद्ध राष्ट्र का नाश हो जायेगा ॥ २६ ॥ क्षीण पुण्यवाले दुःखभागी आप लोग या तो विष पान कर लें या रामचन्द्र के पास ही वन में चले जायें अथवा किसी ऐसे स्थान पर चले जायें जहां आप लोगों के नामोनिशान का भी कोई पता न लगा सके ॥ २७ ॥ मिथ्या प्रपञ्च के द्वारा लक्ष्मण और सीता के साथ रामचन्द्र वन में चले गये । हम लोग सारे अयोध्यावासी भरत के अधीन इस प्रकार कर दिये गये हैं जैसे पशुवर्ग कसाई के हाथ में दे दिया जाता है ॥ २८ ॥ पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखमण्डल वाले, युवा, जिनके वक्षस्थल तथा कंधे की हड्डी ढकी हुई हैं; जानु तक जिनकी विशाल भुजायें हैं, कमल के समान जिनके नेत्र हैं, ऐसे लक्ष्मण के ज्येष्ठ बन्धु रामचन्द्र हैं ॥ २९ ॥ आगन्तुकों के साथ में प्रथम बोलने वाले, सरल स्वभाव, सत्यवादी, महाबलवान्, सौम्य व्यवहार वाले, सम्पूर्ण प्राणिमय जगत् के लिये चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी रामचन्द्र हैं ॥ ३० ॥ निश्चय ही मतवाले गजराज के समान गतिवाले महारथी नरकेसरी रामचन्द्र अपनी कमनीय गति से वन की शोभा बढ़ाते होंगे ॥ ३१ ॥ इस प्रकार से अयोध्यानगर वासी स्त्रियां अत्यन्त दुःख से पीडित हो कर इस प्रकार घोर विलाप करने लगीं जैसे मृत्यु को देखकर प्राणी दुःखी होता है ॥ ३२ ॥ घर घर में इस प्रकार स्त्रियों के विलाप करते हुए सूर्य अस्त हो गया तथा रात्रि हो गई ॥ ३३ ॥ अग्निहोत्र आदि क्रिया के बन्द हो जाने से अग्नि का प्रकाश आदि समाप्त हो गया था और धार्मिक कथा आदि सब बन्द हो गये थे । सम्पूर्ण अयोध्यानगरी अन्धकार से आच्छादित मालूम पड़ती थी ॥ ३४ ॥ अयोध्या की दुकानें आदि सब बन्द पड़ी थीं । प्रसन्नता हर्ष सब समाप्त हो गये थे । सभी लोग आश्रयहीन हो रहे थे । सारी नगरी नक्षत्रमण्डलहीन आकाश के समान हो रही थी ॥ ३५ ॥ सम्पूर्ण स्त्रियां राम के निमित्त इस प्रकार से दुःखी हो रही थी जैसे कोई अपना सहोदर बन्धु या औरस पुत्र विवासित हो गया हो । उस समय विलाप करती हुई सब स्त्रियां मूर्च्छित हो गई । उस समय रामचन्द्र उन के लिये अपने पुत्रों से अधिक प्रिय हो रहे थे ॥ ३६ ॥ उस समय अयोध्या नगर में गान, उत्सव, नृत्य, वादन

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्तवादना व्यपास्तहर्षा पिहितापणोदया ।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पौराङ्गनाविलापो नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

जानपदाक्रोशः

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम् । जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥
तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा । उपास्य स शिवां सन्ध्यां विषयान्तं व्यगाहत ॥ २ ॥
ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च । पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शरैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥
शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् । राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥
हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी । तीक्ष्णा संभिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥
या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् । वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी । सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

आदि सब बन्द हो गये थे । नगर का सारा आनन्द भी समाप्त हो गया था । सारे बाजार और दुकानें बन्द हो गई थीं । उस समय सम्पूर्ण अयोध्यानगरी जलहीन समुद्र के समान प्रतीत होती थी ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'नागरिक महिलाओं का विलाप' विषयक अड़तालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

—❀❀—

उनचासवां सर्ग

जनपदवासियों का कोसना

उधर रामचन्द्र भी उसी रात्रि के शेष भाग में पिता की आज्ञा को स्मरण करते हुए बहुत दूर चले गये ॥ १ ॥ उसी प्रकार रामचन्द्र के जाते हुए कल्याणमयी रात्रि समाप्त हो गयी । प्रातः काल की मङ्गलमयी सन्ध्या-उपासना करके रामचन्द्र अन्य स्थान पर चले गये ॥ २ ॥ ग्राम की सीमाओं पर जोते हुए खेतों को तथा पुष्प से विकसित वनों को देखते हुए उत्तम घोड़ों से जुते हुए रथ के द्वारा आगे चले गये ॥ ३ ॥ मार्ग में, 'पापी राजा दशरथ को धिक्कार है' इस प्रकार की ग्रामवासी मनुष्यों की बातों को सुनते हुए रामचन्द्र आगे चले गये ॥ ४ ॥ [ग्रामवासी यह कहते हुए सुने गये] हा निर्दयिनी कैकेयि ! हा पापिनि ! तथा पापकर्म में लिप्त रहने वाली ! तू मर्यादा से रहित नीच काम करने वाली है ॥ ५ ॥ जो कि तू इस प्रकार धार्मिक महाबुद्धि सम्पन्न, दयालु तथा जितेन्द्रिय राजकुमार रामचन्द्र को वन में भेज रही है ॥ ६ ॥ सदा सुख में जीवन व्यतीत करने वाली महाभाग्या जनक नन्दिनी सीता वन के दुःखों को किस प्रकार सहन कर सकेगी ॥ ७ ॥ अहो ! राजा दशरथ कितने निःस्नेह हो रहे हैं जो निष्पाप तथा

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रियम् । प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥
एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् । शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥
ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् । उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥१०॥
गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम् । गोमतीं गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥११॥
गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः । मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥१२॥
स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा । स्फीतां राष्ट्रावृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥१३॥
सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः । मत्तहंसस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषर्षभः ॥१४॥
कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने । मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः ॥१५॥
नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने । रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसंमता ॥१६॥
राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने । काले वृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१७॥
स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा । तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे बाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे जानपदाक्रोशो नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

प्रजा के कल्याणकारी अपने पुत्र रामचन्द्र का त्याग करना चाहते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकार की ग्रामवासियों की बातों को सुनते हुए कोसलेश्वर रामचन्द्र कोसल की सीमा से बाहर चले गये ॥ ९ ॥ तदनन्तर निर्मल जल वाली वेदश्रुति (= बेसवा) नदी को पार करके अगस्त नक्षत्र से सेवित दक्षिण दिशा को चले गये ॥१०॥ चिरकाल तक चलने के पश्चात् निर्मल शीत जलवाली तथा समुद्र में जाकर मिलनेवाली और जिसके किनारे गोसमूह विचरण कर रहा था, उस गोमती नदी को पार किया ।।११॥ गोमती नदी को पार करके श्री रामचन्द्र ने अत्यन्त वेगवान् घोड़ों से युक्त रथ पर बैठ कर मोर तथा सारस पक्षियों से शब्दायमान स्यन्दिका (= सई) नदी को पार किया ॥ १२ ॥ सई नदी को पार करके कोसल देश की उस दक्षिण सीमा को सीता को दिखाया जिस कोसल देश की भूमि को महाराज मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया था तथा जो विस्तृत राष्ट्रों से घिरी हुई है ॥ १३ ॥ 'हे सूत !' इस प्रकार बार बार पुकार कर मतवाले हंस के स्वर में श्रीमान् पुरुषोत्तम रामचन्द्र सारथि सुमन्त्र से बोले ॥ १४ ॥ हे सूत ! वह कौन सा समय आयेगा जब मैं वनवास से आकर तथा माता पिता से मिलकर फूलों से विकसित सरयू के तट वाले वन में अहेर खेलूँगा ॥ १५ ॥ मैं सरयू के वन में मृगया के प्रति इतना प्रेम नहीं करता किन्तु लोक में लोग इस से अधिक प्रेम करते हैं तथा राजर्षि-गण भी इस का समर्थन करता है ॥ १६ ॥ संसार में राजर्षियों का मन बहलाने के लिये मृगया का निर्माण किया गया है। समय-समय पर मनुष्यों ने इसका प्रदर्शन किया है। धनुर्धारियों को इस से लक्ष्य साधने का अवसर मिलता है ॥ १७ ॥ इस प्रकार मधुर शब्दों में अनेक प्रकार की बातें सुमन्त्र के साथ करते हुए रामचन्द्र ने उस मार्ग को पार किया ॥ १८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'जनपदवासियों का कोसना' विषयक उनञ्चासवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

गुहसंगतम्

विशालान्कोमलान्रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः। अयोध्याभिमुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ १॥
आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते। दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥ २॥
निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः। पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥ ३॥
ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम्। अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम्॥ ४॥
अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः। चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये॥ ५॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्। विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठन्त क्वचित्क्वचित्॥ ६॥
तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः। अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे॥ ७॥
ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्शुभान्। अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान्॥ ८॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् संपन्नसलिलाशयान्। तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोपगोकुलसेवितान्॥ ९॥
रक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान्। रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत॥ १०॥
मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम्। राज्यं भोग्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः॥ ११॥

पचासवां सर्ग

गुह से मिलन

लक्ष्मण के बड़े भाई रामचन्द्र रमणीय तथा विशाल कोसल को पार करके तथा अयोध्या की ओर मुख करते हुए हाथ जोड़कर बोले॥ १॥ ककुत्स्थ आदि अनेक सूर्यवंशी राजाओं से पालित पुरीश्रेष्ठ हे अयोध्या! मैं आप का स्वागत करता हूँ और जो देवमण्डल आप की सदा रक्षा करता आया है उसका भी मैं अभिनन्दन करता हूँ॥ २॥ वनवास से लौटने पर तथा पिता जी के ऋण से उऋण होकर माता पिता के साथ सस्नेह पुनः आप का दर्शन करूँगा॥ ३॥ तत्पश्चात् सुन्दर अरुणनेत्र वाले तथा आंखों में आँसू भरे हुए रामचन्द्र दाहनी भुजा उठाकर जनपदवासियों से बोले॥ ४॥ आप लोगों ने मेरा अत्यन्त आदर तथा मेरे ऊपर बहुत कृपा की है। इसलिये आप लोगों को मैं अपने दुःख में सम्मिलित कर अपराधी नहीं बनना चाहता। अब आप लोग यथेष्ट स्थान को लौट जायें, मैं भी अपने कार्य को सिद्धि के लिये वन में जाऊँगा॥ ५॥ रामचन्द्र की बातों को सुन कर उन लोगों ने महात्मा रामचन्द्र को प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। अनन्तर विलाप करते हुए वे जहाँ तहाँ ठहर गये॥ ६॥ इस प्रकार उनके विलाप करते हुए जो राम के दर्शन से अभी तृप्त नहीं हुए हैं, रामचन्द्र जी उनकी आंखों से इस प्रकार ओझल हो गये जैसे सूर्य रात्रि के समय लोगों की आंखों से ओझल हो जाता है॥ ७॥ तत्पश्चात् धनधान्य से परिपूर्ण, दान, चरित्र तथा कल्याण कारी व्यक्तियों से परिपूर्ण, अत्यन्त रमणीय तथा यज्ञ-मण्डप से परिपूर्ण और जहां किसी प्रकार का भय आदि नहीं है, आम्रादि वृक्षों की वाटिकाओं से परिपूर्ण, निर्मल जलवाले सरोवरों से युक्त, हृष्ट-पुष्ट लोगों से परिपूर्ण, गौओं के झुण्ड के झुण्ड जहां विचरण कर रहे हैं, राजाओं के रमण करने योग्य और वेदपाठियों का जहां वेदपाठ हो रहा है, ऐसे कोसल देश को नरकेसरी राम ने रथ के द्वारा पार किया॥ ८, ९, १०॥ धैर्यशालियों में श्रेष्ठ रामचन्द्र उस देश के मध्य से गुजरे जो विशाल, रमणीय वाटिकाओं से अलंकृत, प्रसन्नता से परिपूर्ण और राजाओं के विहार करने योग्य है॥ ११॥

[पृ० २० का शेष]

अधिक छात्र प्रविष्ट हुए। उसकी सफलता के लक्षण थे लेकिन स्वामी जी को उसकी शिक्षापद्धति पसन्द न थी, इसलिये उसे बन्द कर दिया गया। देश के विभाजन के बाद वह गुरुकुल तो वहीं रह गया, लेकिन स्वामीजी ने यमुना नगर में वैदिक साधना आश्रम के नाम से नई संस्था स्थापित की। अब वहां आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का उपदेशक विद्यालय चल रहा है। स्वामीजी बहुत सौम्य स्वभाव के थे। बहुत कम बोलते थे। हिन्दी रक्षा सत्याग्रह के डिक्टेटर के तौर पर वह पंजाब के सामने आये। और यद्यपि उनका रक्तचाप बहुत बढ़ा हुआ था, उनका जीवन खतरे में था और उन्हें कई बार अस्पताल ले जाना पड़ा, लेकिन एक मिनट भी ऐसा न आया, जब उनके पग लड़खड़ाये हों। वह अपनी बात पर डटे रहे। स्वामी स्वतंत्रानन्द, स्वामी वेदानन्द और स्वामी आत्मानन्द के देहान्त के साथ आर्य संन्यासियों की पुरानी पीढ़ी समाप्त हो गई। हाल ही में स्वामी सत्यानन्दजी का देहान्त हुआ। यद्यपि वह कुछ वर्षों से आर्यसमाज से अलग हो गये थे, फिर भी वह आर्यसमाज के ही थे। संसार ने भी उन्हें आर्यसमाज का ही समझा।

परमात्मा स्वामीजी की आत्मा को सद्गति प्रदान करें।

—कृष्ण

एक सच्चे आर्य का निधन

हमें यह समाचार देरी में प्राप्त हुआ कि श्री० चौधरी फुल्लूराम जी (जालन्धर छावनी) इस संसार में नहीं रहे। हम उन्हें लाहौर से जानते थे। वे ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के सच्चे भक्त, उसके लिये सब प्रकार कष्ट उठाने वाले उदार आर्य पुरुष थे। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी और इन पंक्तियों के लेखक में उनका श्रद्धा, प्रेम था। चौधरी जी के पिता का नाम चौधरी नन्दराम जी यादव था। जन्मस्थान पलड़ा जिला रोहतक (पंजाब), आयु लगभग ७० वर्ष थी। ६–८ वर्ष की आयु में देहली आये, माता का देहान्त हो गया। देहली में हलवाई की दुकान पर दोनों भाई नौकर थे। हलवाई ने भी हटा दिया तो छाबड़ी से ~)॥ प्रतिदिन कमाते थे। पीछे गाँव की जमीन सम्बन्धियों से जैसे-तैसे वापस ली। फिर पटियाला जाकर एक मुसलमान बेकरीवाले के यहाँ काम सीखा। पाँच साल उसके साथ काम किया। फिर जब उस मुसलमान ने उन्हें शादी का प्रलोभन देकर मुसलमान बनाना चाहा, तो वे नाराज होकर लाहौर चले आये। पाकिस्तान बनने तक रामगली लाहौर में बेकरी का ही काम करते रहे जो बहुत अच्छा चलता रहा। खूब रुपया कमाया और खूब ही दान भी दिया। आर्यसमाजों में जाना-आना, साधु-संन्यासियों की सेवा करना, विद्वानों वा अन्य अतिथि-अभ्यागतों का यथायोग्य सत्कार करना, विद्यार्थियों की सहायता करना ये उनके स्वाभाविक विशेष कर्म थे। निर्भीक और दबंग व्यक्तित्व होने के कारण, सर्वथा अशिक्षित होते हुये भी, उनका प्रभाव डी० एस० पी० वा एस० पी०, डिप्टी, कमिश्नर आदि सरकारी अधिकारीक्षेत्र में भी बहुत अधिक था।

पाकिस्तान के पश्चात् वे जालन्धर छावनी में आ गये थे। यहाँ भी बड़े जोर-शोर से बेकरी का काम चलाया। यहीं इनका शरीरान्त हृदय के फेल होने से हुआ। पुत्र नत्थूराम, देवदत्त को जमीन और बेकरी दे दी, सोमप्रकाश इङ्गलैण्ड में है। छोटा पुत्र सुरेन्द्र चण्डीगढ़ में सरकारी नौकरी में है। धर्मपत्नी गौरां देवी धार्मिक विचार की महिला हैं। प्रभु इस परिवार में धर्मभावना सदा बनाये रहें। साधारण व्यक्ति भी सत्सङ्ग से कितना कार्य कर जाता है, उपर्युक्त लेख से यह पता लगता है॥

विविध समाचार

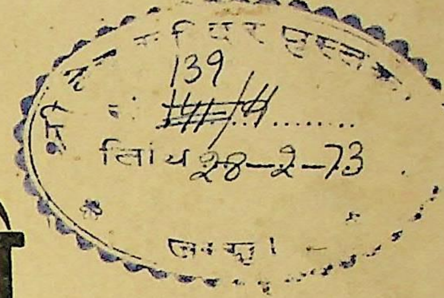
उत्तर प्रदेश में नया मन्त्रिमण्डल

श्री चन्द्रभानु गुप्त के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में नया मन्त्रिमण्डल गठित हुआ है। सम्प्रति मन्त्रिमण्डल में १४ सदस्य हैं। श्री चन्द्रभानु गुप्त ने सामान्य प्रशासन, उद्योग आदि कई विभाग अपने पास रखे हैं। श्री हुकुमसिंह को राजस्व, श्री चरणसिंह को गृह, आचार्य युगलकिशोर को शिक्षा तथा श्रीमती सुचेता कृपलानी को सामुदायिक विकास विभाग दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त पांच राज्यमन्त्री तथा चार उपमन्त्रियों की नियुक्ति की गई है। मन्त्रिमण्डल के संघटित होते ही प्रदेश के अधिकारी वर्ग में

[शेष टा० पृ० २ पर]

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३]  [अङ्क ४

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

माघ २०१७ वि०, फरवरी १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी न० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
” ” विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६**

मुझसे चूक हो गई

समिद्वती ऋचाओं के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने श्री विद्वद्वर पं० रामावतार शर्मा के लिए यह लिख दिया कि पं० जी ने स्वयं अपनी संस्कृत में एक वाक्य जोड़ दिया। वस्तुतः यह वाक्य कात्यायन के भाष्यकार कर्क का है, पं० जी का नहीं। इस उपालम्भ के पात्र पं० जी नहीं हैं, कर्क हो सकते हैं। मुझे खेद है कि मुझसे यह चूक हो गई। मैं श्री पं० जी से खुले तौर पर क्षमा माँगता हूँ। जिस जिस पत्र ने मेरा वह लेख छापा हो वह कृपा करके मेरी यह क्षमा-याचना भी छाप दें जिससे इस चूक का कुछ प्रायश्चित्त हो जाय। रहा मूल प्रश्न। उसका इस उपालम्भ या तत्प्रतिकार से कोई ऋणात्मक या धनात्मक सम्बन्ध नहीं है। यदि आवश्यक समझा गया तो उस पर फिर कभी लिखूँगा।

गंगा प्रसाद उपाध्याय

क्या आप जानते हैं?

१—हमारे देश में हर साल लग-भग ५ लाख लोग तपेदिक से मरते हैं। लग भग २५ लाख लोगों को यह रोग होने का अनुमान है।

२—तपेदिक की रोक-थाम के बारे में अनुसन्धान करने और प्रशिक्षण देने के लिये बंगलौर में राष्ट्रिय क्षय संस्था खोली गई है।

३—हाल की पड़ताल से पता चला है कि देश में फेफड़ों के तपेदिक के १५ लाख रोगी हैं।

४—इससे यह भी पता चला है कि कम उम्र के लोगों की तुलना में अधिक उम्र के ज्यादा लोगों को तपेदिक है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह रोग कम है।

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, माघ सं० २०१७ वि०, फरवरी १९६१ ई० { अङ्क ४

महर्षि भाष्य—

रक्षक परमेश्वर

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते।

स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य॥ ऋ० १।३६।२॥

पदार्थः—हे (सन्त्य) सब वस्तु देने वाले ईश्वर! जैसे (हविष्मन्तः) उत्तम देने लेने योग्य वस्तु वाले (जनासः) विद्या में प्रसिद्ध हुए विद्वान् लोग जिस (ते) आप के आश्रय का (दधिरे) धारण करते हैं, वैसे उन (सहोवृधम) बल को बढ़ाने वाले (अग्निम्) सबके रक्षक आपको हम लोग (विधेम) सेवन करें। (सः) सो (सुमनाः) उत्तम ज्ञान वाले (त्वम्) आप (अद्य) आज (नः) हम लोगों के (इह) इस संसार और (वाजेषु) युद्धों में (अविता) रक्षक और सब विद्याओं में प्रवेश कराने वाले (भव) हूजिये।

भावार्थः—मनुष्यों को एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना से ही सन्तुष्ट रहना चाहिये। क्योंकि विद्वान् लोग परमेश्वर के स्थान में अन्य बहुत को उपासना भाव से स्वीकार कभी नहीं करते। इसी कारण उनका युद्ध वा इस संसार में पराजय कभी दीख नहीं पड़ता, क्योंकि वे धार्मिक ही होते हैं और इसी से ईश्वर की उपासना न करने वाले उनके जीतने को समर्थ नहीं होते ? क्योंकि ईश्वर जिनकी रक्षा करने वाला है, उनका कैसे पराजय हो सकता है।

दूसरों की भलाई का कारण शुभ इच्छा है

[ले०—श्री स्वामी गंगागिरि जी, आचार्य गुरुकुल रायकोट (जि०लुधियाना)]

जब तक किसी पदार्थ की इच्छा नहीं की जाती, उसका मिलना कठिन है, जब उस पदार्थ की अभिलाषा नहीं तो वह मिलेगा कैसे, इसी वास्ते वेद ने बलपूर्वक कहा है भद्रमिच्छन्तः—भद्र को चाहते हुए, पहिले मन में भला बनने का संकल्प धारण करो तभी भलाई की ओर चल सकोगे, अन्यथा कठिनाई है। भलाई का ज्ञान आप को विद्वानों की संगति से होगा। वेद कहता है-'सर्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवाः' वह सब भला है, जिसे देव पसन्द करते हैं। जीवन की शिक्षा जीवन से ही मिलती है, पुस्तकें तो जीवन के समाचार देती हैं। जीवन का पाठ पढ़ना हो तो, जीवन वाले सत्पुरुषों से मिलेगा। पूर्व समय में जब कोई किसी ऋषि के पास जाकर प्रश्न करता था कि मैंने यह बात आप से पूछनी है। उत्तर में ऋषि कहते थे—यहाँ पर बसो, इन-इन नियमों का पालन करो–फिर शंका समाधान करेंगे, उनके कहने का आशय यह होता था—जब यह यहाँ पर रहेगा, हमारे जीवन को देखेगा तो उससे शिक्षा प्राप्त करेगा।

कितने ही मन्त्रों में वेद ने निष्काम परोपकारी महात्मा को देव कहा है। परोपकार-प्रिय, स्वार्थ-रहित महात्मा जिसे पसन्द करें, उसके भद्र होने में संदेह ही क्या हो सकता है। संकल्प मात्र से कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। उस की प्राप्ति के साधनों का ज्ञान भी होना चाहिये। साधनों के ज्ञान बिना मनुष्य इधर उधर ठोकरें खाता फिरता है। अतः वेद ने कहा—'स्वर्विदः'—सुख साधनों को जानने वाले मनुष्य के अन्दर इच्छा हो, उसके साथ ही इच्छापूर्ति के साधनों का ज्ञान भी, तब मनुष्य यथेष्ट फल पाता है। विलम्ब नहीं होता है। इस रहस्य के जानने वाले ब्रह्मर्षियों ने पहिले तप और दीक्षा को अपनाया है, तप का स्वरूप वेद भगवान् ने इस प्रकार बताया है,—चिन्ताशून्य होकर भूख, प्यास, सुख, दुःखादि का सहन करना ही तप है।

ऋ० ९।८३।१ में कहा है-अतप्ततनूर्न तदमोऽश्नुते—जिस मनुष्य ने शरीर को तप से नहीं तपाया है, वह उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है, अर्थात् आत्म सुख का एक साधन तप भी है। वेद में दूसरे स्थान में कहा है—

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापिगच्छतात् ॥
अ० १०।१५।४२।

जो तप से अनाधृष्य हैं अर्थात् किसी से न दबने वाले हैं, जिन्होंने तप के द्वारा स्वर्=सुख को प्राप्त किया है, जिन्होंने निष्काम भाव से तप किया है, उन्हें ही मनुष्यों में पूजा प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तप मनुष्य के महान् सुख का कारण है। सुख चाहने वाले किसी तपस्वी आदमी के साथ दीक्षित हो, तभी उसको तप का मार्ग मिलेगा। आजकल तपस्वियों का मिलना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य के जन्म जन्मान्तरों के पवित्र कर्मों का जब उदय होता है तभी किसी श्रेष्ठतम तपस्वी की संगति प्राप्त होती है। उस संग से मनुष्य के हृदय मन्दिर का अज्ञानजन्य जो अन्धकार है उसका नाश होकर विवेक ज्ञान का उदय होता है। तभी मनुष्य को तप से प्रेम होता है। मनु जी ने इसी आशय को लेकर कहा है—'तपसा किल्विषं हन्ति'—मनुष्य के अन्तःकरण के तीन मल, विक्षेप, आवरण दोषों का नाश होता है। दोषों की विद्यमानता में दूसरों की भलाई का होना असंभव है।

इसी लिये पतञ्जलि मुनि ने योग दर्शन में कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसा।

इसका भाव यह है कि शरीर की इन्द्रियाँ विशुद्ध होती हैं तप से। बिना तप के मनुष्य का मन पवित्र नहीं होता है। मन के शुद्ध हुए बिना इन्द्रियें मनुष्य

के वश में नहीं होती हैं। इन्द्रियां के वश में किये विना आत्मा पवित्र नहीं होता है। आत्मा के पवित्र हुए विना मनुष्य स्वार्थ का त्याग नहीं कर सकता है। स्वार्थ के त्यागे विना परोपकार में मन नहीं लगता है। परोपकारोकर्म किये विना मनुष्य में विवेक, ज्ञान का उदय नहीं हो सकता है। यह है ज्ञान की प्राप्ति का कारण सत्य शास्त्रों में कथित। ज्ञान को प्राप्ति का कारण आत्मा और मन का संयोग ही मुख्यत: है। बिना मन के संयोग के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, यह बिल्कुल ठीक है।

पाठक प्रश्न करेंगे—इसमें प्रमाण कौन सा है? इसमें प्रमाण सुषुप्ति अवस्था है। जिस समय मनुष्य घोर निद्रा में सोया पड़ा है, उसको यह भी पता नहीं मेरे नीचे क्या बिछा है, ऊपर क्या है, मकान कितना बड़ा है, परिवार कितना है, मैं धनी हूँ या निर्धन हूँ, रोगी हूँ या नोरोग हूँ, तात्पर्य यह है कि सांसारिक किसी पदार्थ का भी ज्ञान नहीं है। क्योंकि मन और आत्मा का संयोग टूटा हुआ है। मन पुरीतति नाड़ी में प्रवेश कर चुका है। जिस समय आत्मा के साथ जुड़ता है तो मनुष्य को जाग आती है, जाग कर अपने अनुभव को स्मरण करता है। और कहता है—सुख पूर्वक सोया। जानता कुछ नहीं था, वह सुख मुझे कहाँ से प्राप्त हुआ था, वहाँ पर संसार का पदार्थ तो कोई था ही नहीं। वह सुख परमात्मा की प्राप्ति का था, जिसके लिये कपिल मुनि अपने दर्शन में लिखते हैं—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता।

तीन समय में हमारा आत्मा परमात्मा से मिलता है। एक तो समाधि में—यह तो योगियों को होता है, जो समाधि में स्थित होकर परमात्मा का मिलाप प्राप्त होता है। दूसरे सुषुप्ति अवस्था में सब प्राणिमात्र उस प्रभु की गोद में विश्राम लेते हैं। तीसरे वह तत्त्ववेत्ता जन हैं, जो मोक्ष में भगवान् से मिल कर शान्ति प्राप्त करते हैं। जितने काल तक मनुष्य परमात्मा से मिल कर पवित्र इच्छा तथा दीक्षा और तपस्या का भाव प्राप्त न करले, उस समय तक इसके हृदय में दूसरे की भलाई की भावना पैदा नहीं होती है। सद् इच्छा का पैदा होना ही प्रभुभक्ति है॥

वेद में विद्या और अविद्या का स्वरूप

[ले०—श्री पं० चक्खनलाल जी एम० ए०, आगरा]

यजुर्वेद अध्याय ४० मंत्र १४ में कहा गया है:—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अर्थात् जो विद्वान् पूर्वोक्त विद्या और उसके सम्बन्धी साधन उपसाधन पूर्व कही अविद्या और इसके उपयोगी साधन समूह को और उस ध्यानगम्य मर्म इन दोनों को साथ ही जानता है, वह शरीरादि जड़ पदार्थ से किये पुरुषार्थ से मरण दुःख के भय को उलंघन करके आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शन विद्या से नाश रहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को प्राप्त होता है (महर्षिभाष्य)।

महर्षि ने अविद्या का अर्थ कर्म और उपासना किया है। इसके विपरीत योगशास्त्र में अविद्या मिथ्या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।

अर्थात्—अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना, अपवित्र वस्तुओं को पवित्र मानना, दुःखों में सुखों की भावना करना और अनात्मा में आत्मा को स्वीकार करना अविद्या है। इस मिथ्या ज्ञान के सहारे मृत्यु के भय से मनुष्य त्राण नहीं पा सकता।

अब यहाँ पर ये शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं—

(१) विद्या के विपरीत अविद्या से मृत्यु पर

विजय प्राप्त करने की जो बात वेद ने कही है, वह कहाँ तक ठीक है ?

(२) महर्षि का अविद्या को कर्म और उपासना के अर्थों में प्रयुक्त करना कहाँ तक न्याय-सङ्गत है ?

(३) योगशास्त्र में अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान करना क्या वैदिक परम्परा के अनुकूल है ?

उपर्युक्त तीनों शंकाएँ एक मननशील व्यक्ति को भ्रम में डालने के लिये पर्याप्त हैं। परन्तु इन तीनों शङ्काओं का उचित समाधान है। इस समाधान के आधार पर इन तीनों शङ्काओं में विरोध तनिक भी नहीं रह जाता।

वेद में विद्या का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान है ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त और जितने प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान हैं, उनका नाम अविद्या है। प्रकृति के विना जोव का इस संसार में जन्म नहीं हो सकता और मनुष्य जन्म न मिलने से जीव ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता प्रकृति ही भोग और मोक्ष पुरुष को देने में सहायक है। इसलिये यह ईश्वरीय ज्ञान में सहायक है और इसलिये यह साधन है। ईश्वरीय ज्ञान साध्य है, प्रकृति साधन है, इसलिये यह अविद्या है अर्थात् इसके द्वारा ही कर्म और उपासना सम्भव है, इसीलिये कर्म और उपासना को अविद्या की संज्ञा महर्षि ने दी है।

अविद्या का एक अर्थ विद्या का न होना भी है, अर्थात् जो विद्वान् नहीं उसको अविद्वान् अथवा मूर्ख की संज्ञा दी जाती है। प्रकृति और उसके कर्म ज्ञान शून्य हैं, इसलिये भो कर्म और उपासना अविद्या है।

अर्थात् कर्म और उपासना अविद्या इस लिये है कि यह बाह्य और अन्तर क्रिया विशेष है, ज्ञान-विशेष नहीं (सत्यार्थप्रकाश-समु० ९)। योगदर्शनकार ने अविद्या का अर्थ मिथ्याज्ञान जो किया है वह उसकी अपनी शैली है। प्रत्येक दर्शनकार ने कुछ शब्दों के अर्थ अपने ढंग से किये हैं, जो उनके विषय को प्रतिपादन करने में सहायक हुए हैं, प्रकृति को माया से कुछ लोग भिन्न मानते हैं और कुछ दोनों को एक ही कहते हैं। अद्वैतवादी जड़ तत्त्व को 'अनिर्वचनीय' माया अथवा अविद्या मानते हैं, जो न सत् है न असत्।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

माया न असद्रूप है और न सद्रूप और न उभयात्मिका ही। वह सत्-असत् दोनों से अनिर्वचनीय, मिथ्यारूप और सनातन है। इसके विपरीत महर्षि प्रकृति को सत्, स्वतंत्र सत्ता वाली, कभी नष्ट न होने वाली मानते हैं। यही जगत् का उपादान कारण है।

अतः वेदमन्त्र के अविद्या शब्द का अर्थ योग-दर्शनकार के अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि मिथ्याज्ञान से मनुष्य मृत्यु के भय को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। मिथ्या ज्ञान तो मनुष्य का पतन की ओर ले जाता है। उसके आधार पर जगत् का व्यवहार चलाने में भी मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता, फिर आत्मोन्नति करने में तो मिथ्या ज्ञान तनिक भी सहायक नहीं हो सकता।

इससे यह भली प्रकार सिद्ध होता है कि अविद्या का अर्थ जो वेदमन्त्र में विदित है, वह ईश्वरज्ञान के साधन प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

महर्षि ने इसी लिये अविद्या का अर्थ कर्म और उपासना किया है कि वे ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने में सहायक ही नहीं अपितु मूलाधार हैं।

योगदर्शनकार ने अविद्या का अर्थ जो मिथ्या ज्ञान किया है वह उनकी अपनी शैली है, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने दर्शन की सिद्धि के लिये किया है।

अविद्या के अर्थ मिथ्याज्ञान का प्रयोग हम वेद में आये हुए अविद्या के अर्थ में नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से वेद के मंत्र का अर्थ ठीक नहीं हो सकता।

[अविद्यमाना विद्या यत्र = अविद्या जो विद्या नहीं, वह अविद्या। यह पर्युदास कहलाता है—विद्या से भिन्न। दूसरा प्रकार—न विद्या = अविद्या, अविद्या = ज्ञानरहित। यह प्रसज्य प्रतिषेध कहलाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये—सम्पादक वेदवाणी]

विश्व-विज्ञान का आदि-स्रोत वेद

[ले०—प्रो० किशोरीलाल गुप्त एम० ए०, साहित्य वाचस्पति, काव्यतीर्थ]

प्रशिक्षण-विज्ञान [The Science of Teaching]

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥
(अथर्व—कां १—मं० १)

प्रशिक्षण—प्राप्ति की सर्वोत्तम पुस्तक प्रकृति (Nature) है और विज्ञान-विज्ञ बनने का सर्वोत्तम साधन है प्रकृति-सपरोक्षण-निरीक्षण (Experimental study of Nature) इसी प्रकार इस सपरोक्षण-निरीक्षण करने के लिये उत्सुकता उत्पन्न करना परमावश्यक है। यह उत्सुकता क्यों कर उत्पन्न की जाय? जिज्ञासा उत्पन्न किये जाने से। यह जिज्ञासा छात्र हृदयों में कौन जागृत कराये? परमकरुणामयी जगद्धात्री जगदम्बा मां। किस प्रकार? आदि वाणी, विश्व-वाणी, वेद-वाणी द्वारा। इस वाणी, विलक्षण वाणी, प्रकृति-पुस्तक (The Book of Nature) का परिचय कौन कराये? वही परमकारुणिका दिव्य-देवी-मां सङ्केत करती है—"वाचस्पतियों" द्वारा, अध्यापकों द्वारा, प्रोफेसरों द्वारा, शिक्षकों द्वारा, बाल-गुरुओं द्वारा। किस प्रकार? और कहाँ? तोते की भाँति पुस्तकें रटवाकर बाल-मन्दिरों, पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्व-शिक्षण-केन्द्रों में? नहि नहि! ये तो सैकिण्ड-हैण्ड साधन हैं, गये गुजरे तरीके हैं। तब फर्स्ट-हैण्ड साधन क्या और कहाँ हैं? उपर्युक्त मंत्र में तलाश करो, खोज लगाओ। अहो! मिल गया। "विश्वा रूपाणि बिभ्रतः परियन्ति।" विश्वरूप बिभ्रतों का परिभ्रमण-मार्ग-निरीक्षण, परीक्षण तथा परिवेष्टन। नाना-रूप-धारी सत्त्वों के परिगमन-मार्ग का अध्ययन करना।

अच्छा तो बताओ—ये नाना-रूप-धारी सत्त्व क्या बला हैं? क्या वस्तु हैं? भाई! कोई भय-प्रद वस्तु नहीं। वे ही हमारे चिर-परिचित "त्रिषप्ताः" तीन-सात हैं। फिर वही बे तुकी-बात? बन्धुवर्य्य! अप्रसन्न न हूजियेगा। बात बे-तुकी नहीं, बा-तुकी है। इसमें भी कुछ तुक है, राज है, गुप्त-रहस्य है। क्या गुप्त रहस्य है भला? इस गुप्त रहस्य का उद्घाटन आगामी लेखों में किया जायगा। धैर्य्य के साथ प्रतीक्षा करें॥

ऋषि दयानन्द के पूर्वज

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, अध्यक्ष—अनुसन्धान विभाग, म. द. स्मारक, टंकारा, (सौराष्ट्र)]

मैंने टंकारा में रहते हुए ऋषि दयानन्द के परिवार (पूर्वज-उत्तरज) के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है और कर रहा हूँ। इस प्रयत्न से कुछ नई सामग्री प्रकाश में आई है। यतः यह विषय परोक्ष भूतकाल का हो गया, अतः इस विषय में इदमित्थमेव (यह ऐसा ही है) कहना तो अशक्य है, परन्तु जहाँ तक हो सका है, मैंने वास्तविकता तक पहुँचने का प्रयत्न किया है और कर रहा हूँ।

ऋषि दयानन्द के परिवार के उत्तरवर्ती सदस्यों (वर्तमानकाल तक) के विषय में **महर्षि दयानन्द का भ्रातृ-वंश और स्वसृवंश**[1] पुस्तक प्रकाशित कर चुका हूँ। इस विषय में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं।

प्रतिकूल प्रतिक्रिया के दो अंश हैं। प्रथम—कुछ एक महानुभावों का कहना है (यथा—श्री पं० कृष्णदेव जी, राजकोटा) कि मैंने भ्रातृवंश की जो वंशावली छापी है

1. प्रकाशक—प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, ४९४३, रेगरपुरा गली ४०, करोल बाग देहली।

वह गलत है। मैंने महर्षि के वैमातृक भाइयों में एक का नाम वरणागजी लिखा है। इस पर इन लोगों का कहना है कि यह नाम त्रिवेदी ब्राह्मणों में हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नाम सौराष्ट्र में ब्राह्मणों में नहीं होता, अन्त्यजों में होता है।

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि उपर्युक्त कथन किसी सीमा तक युक्त हो सकता है क्योंकि मैं सौराष्ट्र के रीति-रिवाजों से भली प्रकार परिचित नहीं हूँ। परन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि यह नाम कर्शन जी त्रिवाड़ी के लड़के का अवश्य था। जिसे इस विषय में प्रामाणिक रूप से जानने की इच्छा हो वह कर्शन जी के प्रपौत्र श्री त्र्यम्बकलाल जी त्रिवाड़ी ग्राम हड़मतिया (टंकारा के पास) जाकर वरणाग जी के स्वहस्त से लिखी कर्मकाण्ड की पुस्तक देख ले। उसके अन्त में लेखक ने अपना नाम वरणाग जी पिता का नाम कर्शन जी त्रिवाड़ी और लेखन काल सं० १९१६ स्पष्ट लिखा है।[1] इनके पास एक पुस्तक और है जो वरणाग जी के पुत्र के हाथ की लिखी हुई है। नाम सम्बन्धी विवाद तो इस प्रत्यक्ष प्रमाण से समाप्त हो जाता है। मैंने स्वयं टंकारा निवासी दयाल जी मावजी भाई के साथ जाकर ये दोनों पुस्तकें देखी थीं। अतः कर्शन जी के एक पुत्र का नाम वरणाग जी था, यह सर्वथा सत्य है। इसको झूठा कहना सूर्य पर थूकना है।

आक्षेप का दूसरा अंश है कि ऋषि दयानन्द के पिता ने दो विवाह किए थे, सत्य होने पर भी इसको प्रसिद्ध करने से क्या लाभ। इससे उलटा अपयश होता है।

इस विषय में मेरा कहना इतना ही है कि इतिहास इति-ह-आस ही रहना चाहिए। उसमें कल्पना को स्थान नहीं देना चाहिए। उसमें जो सत्य हो उसे प्रकट करना ही चाहिए। वर्तमान दृष्टि से दो विवाह चाहे कुत्सित हों, परन्तु जिस काल में कर्शन जी थे उस काल में यह प्रवृत्ति निन्दित नहीं समझी जाती थी। हमें घटना काल की स्थिति में बैठकर किसी अतीत घटना पर विचार करना चाहिए। ऐसा आक्षेप करने वालों से मैं पूछना चाहता हूँ कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत में अपनी उत्पत्ति (पराशर का मल्लाह की क्वारी कन्या से समागम) का जो वर्णन किया है वह भी उन्हें नहीं करना चाहिए था? ऋषि लोग सत्यवक्ता होते थे। वे इतिहास लिखने बैठें, तब उन्हें सत्य बात लिखनी ही चाहिए। सत्य को छिपाना भी असत्याचरण का एक अंग ही है, अतः वह भी पाप ही है। अतः यदि कर्शन जी के संबन्ध में मैंने उक्त तथ्य प्रकट कर दिया तो उसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है। मैं पूर्व वृत्त लिखने बैठा, अतः मुझे लिखना ही चाहिए। उसी के आश्रय पर उनके अद्य यावत् वर्तमान वंश तक पहुँच सकते हैं।

नई उलझन

उपर्युक्त पुस्तिका प्रकाशित करने के बाद मैं श्री पं० त्र्यम्बक लाल जी (कर्शन जी के प्रपौत्र) से मिला। उन्होंने कहा कि कर्शन जी के पिता का नाम विश्राम जी था। लालजी नाम था या नहीं मैं नहीं जानता। हां, हमारे परिवार में यह प्रसिद्धि है कि हमारे एक पूर्वज घर छोड़ कर चले गए थे। उन्होंने विश्राम जी से दो पीढ़ी पूर्व के नाम भी मुझे बताए। उनमें से एक का नाम श्री पं० देवेन्द्रनाथ के जीवन-चरित में मिलता है।

इससे मैं नई उलझन में पड़ गया। जिनसे (श्री पं० लाभशंकर जी) मैंने वंशावली प्राप्त की थी, उन्हें यह पूर्णतया ज्ञात नहीं था। श्री पं० देवेन्द्र बाबू ने कर्शन जी के पिता का नाम लालजी लिखा है। अतः प्रश्न पैदा हो गया कि क्या विश्राम जी और लालजी एक ही कुटुम्ब के दो व्यक्ति हैं और दोनों के पुत्रों का नाम कर्शनजी एक ही है और दोनों समकालिक तथा राज्य के संभ्रान्त व्यक्ति हैं। इस उलझन को सुलझाने में यद्यपि पर्याप्त समय लगा, परन्तु अब वह सुलझ गई।

श्री पं० त्र्यम्बकलाल जी और श्री पं० लाभशंकर जी (कर्शन जी के प्रपौत्र) के कथन से इतना तो स्पष्ट है कि उनके पूर्वज कर्शन जी थे। वे टंकारा में राजकीय प्रतिष्ठित पद पर अधिष्ठित थे। वे घोर शैव थे। उन्होंने टंकारा में कुबेरनाथ नाम से शिव मन्दिर बनाया था। इधर ऋषि दयानन्द के पिता कर्शन जी का भी ऐसा ही वर्णन श्री बाबू देवेन्द्र नाथ ने किया है। अतः एक काल में एक ही कार्य करने वाले दो व्यक्ति नहीं हो सकते।

श्री पं० देवेन्द्रनाथ ने जीवनचरित के अन्त में छपे परिशिष्ट (१) में लिखा है—"विश्रामजी जीवापुर चले

१. हो सका तो इसका फोटो कभी प्रकाशित करूँगा।

गए और उनके सगे भाई डोसाजी टंकारा में रहे।" (प्रथम सं० पृष्ठ ७४५ द्वि० सं० ३८०) श्री देवेन्द्र बाबू ने इसी प्रसङ्ग में पुनः लिखा है—"डोसाजी के कुमार जी हुए और कुमार जी के पुत्र बेल जी। पोपटरावल की भुवा बेनी बाई के कथनानुसार कर्शन जी त्रिवाड़ी के बेलजी चचेरे भाई होते हैं।" (पृष्ठ पूर्वोक्त)।

इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि कर्शन जी के पिता लालजी का संबन्ध किस से था। विश्रामजी से अथवा डोसाजी से। उन्होंने लालजी के पिता का नाम स्पष्ट रूप में कहीं नहीं लिखा। यदि ये लालजी डोसाजी के वंशज होते तो इनका कहीं न कहीं सम्बन्ध बताया होता (हमारे विचार में वे निश्चय नहीं कर पाए थे)। इतना ही नहीं, इसी परिशिष्ट में अगले पृष्ठ (प्र० सं० ७४६, द्वि० सं० ३८१) में लिखा है—"बड़ाल निवासी वेलजी कर्शनजी के चचेरे भाई थे।" उधर पूर्व पृष्ठ पर लिखा है—"एक मोटा दल बड़ाल में और दूसरा टंकारा में आकर बसा। पहले दल के वंश में कोई शेष नहीं।" प्रश्न होता है कि बेलजी जिन्हें दोनों स्थानों पर कर्शनजी का चचेरा भाई लिखा है वे टंकारा निवासी थे अथवा बड़ाल निवासी किसी वंशके ? इस विरोध से इतना स्पष्ट है कि श्री देवेन्द्र बाबू का उक्त लेख अस्पष्ट है। उसमें दो न्यूनताएँ हैं—

प्रथम—कर्शन जी के पिता लालजी का न टंकारा निवासी डोसाजी के साथ संबन्ध बताया न विश्राम जी के साथ। दूसरा—वेलजी के विषय में एक स्थान पर टंकारा-निवासी कहना, दूसरी जगह बड़ाल-निवासी बताना परस्पर विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त उनके समस्त वर्णन में एक भारी कमी यह है कि टंकारा के जिस मोहल्ले में कर्शन जी रहते थे, उसका नाम उसी समय बसे[1] जीवापुर (टंकारा के पास एक गांव है। यहां कर्शनजी के वंशज अभी तक हैं) ग्राम के नाम पर क्यों पड़ा, इस पर कुछ भी प्रकाश उनके लेख से नहीं पड़ता।

उलझन का सुलझाव

अन्त में यह सारी उलझन सुलझ गई। निश्चय हो गया कि कर्शन जी त्रिवाड़ी एक ही थे। उनके पिता का जो लाल जी नाम श्री देवेन्द्र बाबू ने लिखा, वह भी ठीक है और श्री पं० त्र्यम्बक लाल जी का बताया हुआ विश्राम जी नाम भी। ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के थे। इधर दो-दो नाम रखने की प्रायः परिपाटी है। श्री स्वामी जी की बहिन के पौत्र का प्रसिद्ध नाम पोपट रावल था, परन्तु मूल नाम प्राणशंकर था। इसी प्रकार कर्शन जी के पिता का प्रचलित नाम लाल जी था और मूल नाम विश्राम जी। जीवापुर ग्राम में एक कुबेरनाथ महादेव का मन्दिर है। वह ग्राम से बाहर नदी के किनारे है। मुझे जीवापुर के एक व्यक्ति से ज्ञात हुआ है कि यह मन्दिर लाल जी का बनाया हुआ है ऐसा वृद्ध लोगों से विदित होता है।

टंकारा में कर्शन जी ने गाँव के बाहर नदी के किनारे कुबेर नाथ महादेव का मन्दिर बनाया था (यह आज भी विद्यमान है) यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। कर्शन जी का अपने पिता के अनुकरण पर उसी नाम से उसी स्थिति में गाँव से बाहर नदी किनारे महादेव के मन्दिर की स्थापना करना युक्तिसंगत है अन्यथा दोनों स्थानों के मन्दिरों की एक सी स्थिति तो कदाचित् हो सकती है, पर कुबेरनाथ समान नाम होना कठिन है।

इतना ही नहीं, यदि कर्शन जी जीवापुर से टंकारा आकर न रहे हों तो यह बताना होगा कि वे जिस मोहल्ले में रहे उसका नाम जीवापुर कैसे पड़ा ? क्योंकि जीवापुर पुराना ग्राम नहीं है उसे जीवा मेहता ने उसी समय बसाया था और उसने विश्राम जी को वहाँ भूमि दी थी।[2] विश्राम जी के पुत्र कर्शन जी ही जीवापुर से टंकारा आनेवाले प्रथम संभ्रान्त व्यक्ति थे। अतः कर्शन जी जैसे राज्य-संभ्रान्त व्यक्ति के जीवापुर से आकर टंकारा बस जाने पर उस मोहल्ले का नाम जीवापुर पड़ना बहुत साधारण बात है।

यद्यपि मैं इस निर्णय पर पहुँच गया हूँ कि विश्राम जी और लाल जी दोनों एक ही व्यक्ति के नाम थे, तथापि अभी अनुसन्धान चल रहा है। नए-नए स्थान ध्यान में आ रहे हैं जहाँ से कुछ काल गर्भ में प्रसुप्त बातों का परिज्ञान हो सकता है। इस कार्य में सबसे भारी बाधा मेरी दीर्घकालीन अस्वस्थता की है, परन्तु यह निश्चय कर लिया है कि इस स्थान से हटने से पूर्व ऋषि दयानन्द के परिवार के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करलूं।

१. आगे श्री देवेन्द्र बाबू का लेख उद्धृत किया है।
२. देखो देवेन्द्र० जीवनचरित परिशिष्ट पृ० ७४५ प्र. सं. द्वि. सं. ३८०।

ऋषि के पूर्वज

श्री बाबू देवेन्द्र नाथ जी ने ऋषि के पिता का नाम कर्शनजी तथा उनके पिता का नाम लालजी लिखा है। लालजी के पिता-पितामह का नाम अज्ञात है। अब नए प्रयत्न से लालजी के दो पूर्वजों के नाम और प्रकाश में आ गए हैं। तदनुसार यह वंशावली इस प्रकार बनती है—

संघजी
|
मेघजी
|
विश्रामजी (लालजी) — डोसाजी
|
कर्शनजी (विश्रामजी के पुत्र) — कुमारजी (डोसाजी के पुत्र)
|
प्र० पत्नी — द्वि० पत्नी — बेल जी (कुमारजी के पुत्र)

वरणाग जी आदि चार भाई (प्र० पत्नी से)
मूलशंकर आदि पाँच भाई बहिन (द्वि० पत्नी से)

इस वंशावली के अनुसार दो नई बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम—श्री देवेन्द्र बाबू ने बेलजी को कर्शनजी का चचेरा भाई लिखा है वह मूलशंकर का चचेरा भाई था। दूसरा—ऋषि दयानन्द के आत्म-चरित से व्यक्त होता है कि ऋषि के चाचा एक विद्वान्, सदाचारी और दयालु व्यक्ति थे। श्री पं० देवेन्द्र बाबू ने भी जीवनचरित (पृ० ७४५ प्र० सं०, द्वि० सं० ३८०) में लिखा है—"डोसाजी टंकारा में रहे। वह एक विद्वान् पुरुष थे। उनके पास संस्कृत-ग्रन्थों का अच्छा संचय था।" अतः सम्भव है कि ऋषि द्वारा आत्म-चरित में संकेतित चाचा डोसाजी के पुत्र कुमारजी ही हों। विद्वान् पिता के पुत्र का विद्वान् होना अधिक सम्भव है, परन्तु यह विचार अभी अधिक पुष्टि चाहता है। कर्शनजी का कोई सगा भाई था, ऐसा आज तक कोई संकेत नहीं मिला।

एक और भी बात है मूलशंकर का दूसरा नाम दयाशंकर था, ऐसा श्री देवेन्द्र बाबू ने लिखा है (जी० च० पृष्ठ ७४३ प्र० सं०, ३७८ द्वि० सं०), यह भी नए अनुसन्धान से अशुद्ध ठहरता है। दयाराम नाम मूलशंकर के वैमातृक वरणागजी के सगे भाई का था (देखो-महर्षि का मातृवंश स्वसृवंश)। हाँ, प्यार का नाम दयालजी संभव हो सकता है॥

दयानन्द सरस्वती के निर्वचनों और अर्थों का एक अध्ययन

[ले०—डा० सुधीर कुमार जी एम० ए०, पी० एच०डी० शास्त्री प्रभाकर, आचार्य संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, ४ हीरापुरी, गोरखपुर]

मई १९६० की 'वेदवाणी' में इस शीर्षक से एक ग्रन्थ की विस्तृत रूपरेखा प्रकाशित की गई थी। उससे पूर्व जनवरी के अंक में अश्वमेध, ऋज्राश्व और पज्रिय के निर्वचनों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। उसी मास में श्री गंगा प्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ में दधिक्रा के और 'विवृति' हैदराबाद में शुनःशेप के निर्वचनों और अर्थों का अध्ययन प्रकाशित हुआ था। इन पर श्री विन्ध्यवासिनी प्रसाद के अतिरिक्त अन्य किसी आर्य विद्वान् की सम्मति या विचार अभी तक लेखक को प्राप्त नहीं हुए हैं। आज इस लेख में पुनः कतिपय पदों के दयानन्दभाष्य के निर्वचनों और अर्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इनमें से कुछ पद अल्प प्रयुक्त और अस्पष्ट अर्थ वाले भी हैं—

अङ्ग

१. द० भा० के निर्वचन—

१. √अंग् = जाना से—योऽगति जानाति।[1]

२. √अंक् = बताना, अंकित करना से—अंगांगेति क्षिप्रनामांकितमेवांकितं भवति।[2]

२. दयानन्दभाष्य में इस पद के अर्थ ये हैं—

१. सम्बोधित करने में[3] (१ अ) उक्त हे सज्जन।[4]

---

१. य० १०।३२. २. य० ८।२९; नि० ५।१६. ३. य० ६।३७. ४. ऋ० १।११८।३.

(१ आ) हे विद्वान् पुरुष।[५] (१ इ) हे पूर्वोक्त अध्यापक उपदेशको[६] (१ ई) प्यारे।[७]

२. ज्ञानवान् राजन्।[८]

३. मित्र[९]—(३ अ) सर्वमित्र।[१०] (३ आ) मित्र अध्यापक और उपदेशक[११] (हि अ०)। (३ इ) मित्र पुरुषार्थी राजन्।[१२] (३ ई) मित्र जिज्ञासु[१३]

४. अवयव (=अंग—शिर, श्रोत्र आदि[१४])—(४ अ) अंग के समान वर्तमान[१५]। (४ आ) सेना के अवयव[१६]। (४ इ) योग के अंग[१७]।

५. चिह्नित—व्यञ्जक[१८]।

६. शीघ्रकारी[१९]—(६ अ) क्षिप्रकारी सुहृद्[२०]।

विवेचन

३. दयानन्द सरस्वती ने यास्क के निर्वचन को ही अपनाया है। यास्क ने दो स्थानों पर इस पद का निर्वचन दिया है—एक स्थान पर – 'अंगमंगनाद् वा अंचनाद्वा'[२१]। और दूसरे स्थान पर—'अंकितमेवांकितम् (अञ्चितं वा) भवति[२२], इन निर्वचनों में इस पद को तीन धातुओं—√अंग्, √अंच् और √अंक् से निरुक्त किया गया है।

४. डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने प्रथम दो निर्वचनों की परीक्षा की है। उन्होंने √अंग् से निर्वचन को दुर्ग के व्याख्यान की दृष्टि में अस्पष्ट माना है[२३]। यास्क ने 'अंगनात्' का कोई अर्थ नहीं दिया है। वस्तुतः इस धातु का अर्थ बहुत ही परिचित है—वेद में भी और लोक में भी। इस दृष्टि से यास्क का लेख सुव्यक्त है।

५. इस पद के √अञ्च् से निर्वचन को डा० सिद्धेश्वर ने आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि में मान्य माना है। उनका मत है कि भायो० √अंक् 'झुकना' भाषाविज्ञान के नियमों के अनुसार संस्कृत में √अञ्च् बन जाता है। संस्कृत में भी इस धातु का अर्थ 'झुकना' है। ग्रीक में अंकान् 'कुहनी' है और अंकोइन—'हर टेढ़ी वस्तु' है। 'अंकः' पद भी इसी धातु से है और यास्क ने भी इसी धातु से माना है।[२५]

६. परन्तु संस्कृत धातुकोषों में √अंक् और √अंच् दो धातु हैं। √अंक् 'लक्षण' अर्थ में आती है और √अंच् 'गति,[२६] याचन और पूजन' अर्थों में आती है। 'कुटिल होना,' 'झुकना' गति के लाक्षणिक अर्थ हैं, जो धातुकोषों ने देने आवश्यक नहीं समझे क्योंकि उन के देने पर अन्य अर्थ, जो उन के वाच्य हैं परन्तु 'झुकना' आदि से भिन्न हैं, नहीं निकल सकते थे। अतः 'वक्र होना' इस धातु का मूल अर्थ नहीं। इस दृष्टि से 'अञ्चनात्' और 'अंगनात्' के अर्थों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता, केवल रूप में ही भेद है। दुर्ग ने भी 'धात्वन्यत्वमथैकत्वम्' कह कर इसी भाव को ग्रहण किया है[२७]।

७. लक्षण का भाव ज्ञापन और प्रकाशन हैं। ये अर्थ

---

५. ऋ० २।४९।१० ६. ऋ० ३।५८।३. ७. ऋ० १।१६४।७. ८. य० १०।३२.

९. य० १९।६; २३।३८; ऋ० १।८४।७; १९; ३।३२।११; ५।३।११; ६।५०।१०; ६।५२।१३.

१०. ऋ० १।१।६. ११. ऋ० ६।७२।५. १२. ऋ० ७।२०।९. १३. ऋ० ७।५६।२.

१४. य० ६।१०; ८।२९। (हि० अ०); १२।४; ८६; १८।३; २०।६; ८; २१।४३–४५.

१५. ऋ० ६।४४।१०. १६. य० १७।४४. १७. य० १९।९३. १८. य० ८।२९.

१९. य० ८।२९; ऋ० १।८४।८. २०. ऋ० १।८४।९. २१. नि० ४।३.

२२. नि० ५।१७. दुर्ग ने इस पाठ को ग्रहण नहीं किया है। डा० लक्ष्मण स्वरूप का पाठ कोष्ठकों में दिया है। दयानन्द ने 'अंकितम्' ही पढ़ा है और यही मूल पाठ मालूम होता है क्योंकि डा० स्वरूप के पाठ में √अंक् और √अञ्च् एकार्थक हो जाते हैं, जो कोषों की दृष्टि के विपरीत है।

२३. एया० पृ० १२३। दुर्ग के लेख—'अंगितं हि तत्कालेन भवति, गतमित्यर्थः' (पृ० २७३) का भाव 'वृद्धि और विकास' प्रतीत होता है। इसके पाठभेद 'कार्येण' से भाव स्पष्ट हो जाता है – 'अंग कालान्तर में कार्य करने योग्य हो जाता है।' डा० ल० स्वरूप ने इस वाक्य का अर्थ—'समयान्तर में प्रत्येक अंग झुक जाता है'—किया है (अंग्रेजी अनुवाद पृ० ५७)। दुर्ग को यह भाव अभिप्रेत मालूम नहीं पड़ता।

२४. देखो धातुपाठ आदि। २५. एया०, पृ० १७. २६. दुर्गवृत्ति, पृ० २७३.

२७. दुर्ग, चन्द्रमणि आदि ने भी इस धातु को यहाँ गत्यर्थक ही माना है। देखो दुर्गवृत्ति, पृ०२७३; नि भा० १।२४५.

भी 'गति' से ही प्राप्त हो जाते हैं।

८. इस प्रकार यास्क के तीनों निर्वचन एक ही अर्थ की ओर निर्देश करते हैं। निष्पन्न रूप और धातु के रूप में समानता के आधार पर √अंग् से, अवयवों के अंगी को लक्षित करने में 'लक्षण' अर्थ की प्रधानता के कारण √अंक् से, तथा सम्बोधन और मित्र आदि अर्थों में पूजन और याचन का भाव होने से √अंच् से निर्वचन दिए गए प्रतीत होते हैं। द०भा० ने इस अन्तिम निर्वचन का उल्लेख नहीं किया है, तो भी यह निर्वचन अर्थ संख्या १ और ३ से व्यक्त है। वस्तुतः √अंग् से ही इस पद का निर्वचन करना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। उसी से द० भा० के सब अर्थ प्राप्त हो सकेंगे।

अस्मेराः

१. द० भा० का निर्वचन—

अस्मद् + √ईर् = प्रेरित करना से—या अस्मानीरयन्ति ताः। अत्र पृषोदरादिना तलोपः।[1]

२. द० भा० का अर्थ—

हम लोगों को प्रेरणा देने वाली (युवतियां)।[1]

विवेचन—

३. यह पद मूल वेद संहिताओं[2अ] में केवल एक बार ही आया है। तैत्तिरीय संहिता[2] और मैत्रायणी संहिता[3] में यही मन्त्र स्वल्प पाठभेद से आया है। सायण ने इस का अर्थ 'अस्मयमाना दर्परहिताः' (न मुस्कराती हुई अर्थात् घमण्ड रहित) किया है। श्री राजवाड़े 'अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः'[4] के आधार पर 'तमस्मेराः' को 'तमु स्मेराः' पढ़ने का सुझाव देते हैं,[5] क्योंकि 'स्मेराः' और 'स्मयमानासः' पदों के अर्थों में साम्य है।

४. श्री राजवाड़े द्वारा उद्धृत मन्त्र के ऋष्यादि 'वामदेवो गौतमः। अग्निः सूर्यो वाऽऽपो वा गावो वा घृत-[6] स्तुतिर्वा। त्रिष्टुप्' हैं। स्वर 'धैवतः' है[7]। इस मन्त्र से पूर्व चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः'[7अ] आदि 'वाक्' के प्रशंसक पद आए हैं। जातवेदस् को वाक् और अग्नि का पर्यायवाची बताया गया है।[8] अतः यहाँ 'स्मयमानासः योषाः' पद 'ईषद् विकसित वर्णसमुदाय' की ओर निर्देश करते हैं। यास्क ने इस मन्त्र को आधिदैविक अर्थ में विद्युत्परक लगाया है और 'स्मयमानासः' को अव्याख्यात छोड़ दिया है।[9]

५. 'अस्मेराः' पद वाले मन्त्र के ऋष्यादि 'गृत्समदः। अपां नपात्। त्रिष्टुप्' हैं। स्वर यहाँ भी 'धैवतः' है। गृत्समद ब्रह्मज्ञानी मेधावी अर्थ का वाचक है।[10] अपां नपात् अग्नि का ही एक रूप है। अप्रकेत सलिल से ही अग्नि और वाक् की उत्पत्ति होती है।[11] त्रिष्टुप् वाक् से सम्बन्धित है ही।[12] अतः इस मन्त्र में भी वाक् का विषय लिया जा सकता है। सायण आदि ने यहाँ लुप्तोपमा ली है। परन्तु अस्मेराः, युवतयः और मर्मृज्यमानाः को 'आपः' का विशेषण मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। तीसरे पाद—'स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे' की दृष्टि में 'अस्मेराः' को दस० के समान 'अस्मे (अस्मद् से) और र (ईर से)' अथवा 'अस्म और ईर' का रूप लेना उचित जान पड़ता है।

---

१. ऋ० २।३५।४॥ २ अ. इस परिभाषा के लिए नेवैशा० देखें।

२. तैसं० २।५।१२।२—.........'शुक्रेण शिक्वना रेवदग्निः'।

३. मैसं० ४।१२।१५—...निध्मां......। ४. ऋ० ४।५८।८।

५. देखो—प्रिंसिपल वी० के० राजवाड़े—औन दी पौसिबिलिटी आफ़ करप्शन्ज़ इन दी ऋग्वेद, के बी० पाठक कौमोमोरेशन वाल्युम। ६. दस०—घृतं वा। ७. देखो दभा०॥ ७अ. ऋ० ४।५८।२

८. देखो वैको० में जातवेदा; नि० ७।२०, बृहद्देवता, १।......गौतम, अग्नि, सूर्य, आपः और गो भी वाणी के द्योतक हैं। [देखो गाऋ० (गायत्री मंत्राक्षराणामृषिछन्दआदयः) ३।१; १।३; ४।२; ३।४ तथा वेला० (वेदलावण्यम्) भाग २ में वाक्सूक्त। ऋष्यादि के आधार पर अर्थ करने की प्रणाली के सिद्धान्त के लिए ऋऋसद० (ऋग्वेद के ऋषि उनका सन्देश और दर्शन) तथा क्रियात्मक रूप के लिए वेला० और गाऋ० देखें।]

९. नि० ७।१५ देखो १०. वेला० मंसं, ७।१३ (iv') ११. वही, मं० ५४।० (iv') गाऋ० ११।४ (ii)

१२. गाऋ० ११।४ (ii); ४।३ में वाक् और त्रिष्टुप् का स्वरूप देखें।

ग्ना

१. द० भा० का निर्वचन—

√गम् जाना से—गच्छन्ति ज्ञानं यया (सा)[१]।

२. द० भा० के उर्थ—

१. पृथिवी आदि पदार्थ[२]। (१ अ) गमन करने योग्य भूमि [३]। (१ आ) सब पदार्थों की प्राप्ति[४]।

२. स्त्रियां[५]—(२ अ) वेदवाणी को जानने वाली स्त्री[६]।

३. वाणी[७]—(३ अ) ज्ञानप्रापिका (वाणी)[८]। (३ आ) वेदवाणी[९]। (३ इ) उत्तम प्रकार सुशिक्षित वाणी[१०]। (३ ई) प्रशंसित वाणी[११]।

विवेचन

३. इन अर्थों की पुष्टि में दयानन्द ने 'ग्ना' के निघण्टु में उत्तरपदों[१२] और वाङ्नामों[१३] में पाठ का प्रमाण उपस्थित किया है।

४. निघण्टु के वाङ्नामों में गौः[१३], सूर्या[१४], स्वरः[१५], और ऋक्[१६] आदि कुछ ऐसे पद हैं जो गत्यर्थक धातुओं से निष्पन्न होते हैं, जैसे गौः √गम् से, सूर्या √सृ से स्वरः गतिकर्मा स्वरति से और ऋक् √ऋ जाना से। डा० फतह सिंह ने 'अक्षरम्' को भी गत्यर्थक √क्षर् से व्युत्पन्न माना है[१७]। अतः 'ग्ना' के वाङ्नामों में पाठ से इसके गत्यर्थक धातु से निष्पन्न होने में कोई बाधा नहीं है। वाक् पद स्वयं पदनामों में[१८] पढ़ा जाने से गत्यर्थ का द्योतक है।

५. जैसा पहले लिखा जा चुका है निघण्टु के उत्तर पदों में पठित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थों के द्योतक हैं।[१९] अतः 'ग्ना' पद भी इन तीनों अर्थों का प्रकाशक है। पद का पर्याय होने के कारण इसकी व्युत्पत्ति गत्यर्थक धातु से अभीष्ट है। यह धातु नैघण्टुक 'गन्ति'[२०] और 'गवते'[२१] तथा धातुपाठ के √गम् या √गाङ् में से एक हो सकता है। 'गन्ति' √गम् का ही रूप प्रतीत होता है। 'गवते' और 'गाङ्' ग्ना के रूप से विप्रकृष्ट हैं। अतः 'ग्ना' के रूप के निकटतम धातु 'गम्' ही है जिससे इसकी व्युत्पत्ति की जा सकती है।

६. डा० इराच० जे० एस० तारापोरेवाला[२२] ने अवै० गॅना (gdnā), ग्रीक गुने (gunē) को 'ग्ना' के अनुरूप बताया है। अवै० और ग्रीक में इन पदों का अर्थ 'स्त्री' है। वैदिक 'ग्ना' का भी एक अर्थ 'स्त्री' है[२३]। अवेस्ता में इस पद को ज़न् (सं० √ जन्—जा) उत्पन्न करना से निष्पन्न मानते हैं[२४]। राथ आदि ने भी ग्ना को √ जन् से निष्पन्न घोषित किया है[२५]। डा० सिद्धेश्वर वर्मा[२६] ने भी इसे भायो० गुना (स्त्री), अवै० ना (गॅना) के समकक्ष मानकर तथा इस पद के यास्कीय निर्वचनों को 'जे' श्रेणी में रखकर इसे अव्युत्पन्न माना है[२६]।

७. फारसी पदों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ पर कुछ पद ऐसे हैं जो जफ़् ज़ल् या √ ज़म् के रूप प्रतीत होते हैं। इन पदों के अर्थों में गत्यर्थ प्रमुख हैं। तु० क०[२७]—

ज़फाफ—वधू को वर के घर भेजना, दोनों को एक शय्या पर पहुँचाना

ज़ल्ज़ला—भूचाल

---

१. ऋ० ५।५३।६ २. ऋ० १।२२।१० ३. ऋ० १।१६१।४ ४. ऋ० १।१५।३
५. ऋ० ४।४३।७ ६. य० ११।६१ (हिअ०) ७. ऋ० २।३८।१०. ८. ऋ० ५।४३।६.
९. ऋ० १।६७।८. (हिअ०), य० ११।६१. १०. ऋ० २।३१।४, ४।९।४, ६।४९।७; य० ३३।४८.
११. ऋ० २।१।१५; य० २६।२१. १२. निघं० ३।२९।१८. १३. वही, १।११।४
१४. वही, १।११।२१. १५. वही, १।११।३१. १६. वही, १।११।३४. १७. वैए० १.
१८. निघं० ५।५।१९। वेला० भाग २ में वाक् का स्वरूप, वाक्सूक्त, मं० ५४।१ (iv) में वाक् की उत्पत्ति देखें।
१९. वेभाय० १३।३४—३६. अध्याय ३० भी देखें। २०. निघं० २।१४।८३. २१. वही २।१४।२८.
२२. डिसोज़०, पृ० ६०६. २३. तां० १।८।९ में साभा० तथा नि० ३।२१. २४. देखो डिसोज़०, पृ० ६०६.
२५. वैपको० १।२।१२६४ h. पं० विश्वबन्धु ने इस पद की व्युत्पत्ति को अज्ञात माना है—तु. क.—'व्यु०', उन्होंने नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार इसे √ घृण् दीप्तौ से निष्पन्न बताया है।
२६. एया०, पृ० ८८. २७. करीमुल्लुगात, पृ० १३२.

ज़माना—काल, समय (गतिशील है)।

ज़मीन—पृथिवी

ज़ना—अगम्या स्त्री के पास जाना

ज़न—स्त्री, पत्नी

आपाततः सब ही पद '√जन्' के रूप प्रतीत होते हैं। परन्तु ग्रीक गेमास[२८] और संस्कृत गम्या में भी 'स्त्री के पास जाने' का भाव है। यह भाव अंग्रेज़ी के गेमोजेनेसिस और मोनोगेमी आदि पदों में परिलक्षित होता है। ग्रीक और अवे० के गेना और गुने में भी 'ग' है, 'ज' या 'ज़' नहीं है। भायो० रूप में 'ग्' ही आता है। ऐसी स्थिति में 'ग्ना' को √जन् से व्युत्पन्न करना समीचीन नहीं जान पड़ता।

८. फारसी भाषा का 'ज़' अवश्य समस्या उत्पन्न करता है। यह पीछे का विकार प्रतीत होता है और कौलिटी के तालव्यीय नियम से व्याख्येय है। संस्कृत में मूल रूप सुरक्षित रहा और फारसी में वह विकृत हो गया। यह भी सम्भव है कि √जन् का एक मुख्य अर्थ 'गति' भी रहा हो जिससे ये सब पद उत्पन्न हुए। वहाँ का 'ज़' अरबी के प्रभाव के कारण भी हो सकता है। कोष ने ज़मीन और ज़न को छोड़कर शेष सब पदों को अरबी का बताया ही है।

९. अतः 'ग्ना' को √गम् से निष्पन्न मानना ही उचित होगा। शतपथ ब्राह्मण[२९] यास्क[३०] और सायण[३१] ने भी यही निर्वचन अपनाया है। स्कन्द आदि भाष्यकारों ने इसके अर्थ बहुधा देवपत्नियाँ और स्त्रियाँ किए हैं।[३२] स्कन्द ने एक मन्त्र[३३] में इसका 'गमन स्वभाव होते हुए भी स्थित, देवों की रक्षक गायत्री आदि देवता' अर्थ दिया है—'गमनस्वभावा अपि स्थिताः। देवानां पालयित्र्यो गायत्र्यादयो देवताः।' सायण ने कुछ मन्त्रों में 'गमनशील ज्वालाएँ',[३४] 'पत्नी',[३५] 'गायत्री आदि छन्द (रूपी) देवपत्नियाँ',[३६] 'सबके द्वारा पहुँचने योग्य ग्ना नामक देवता'[३७] 'स्त्रियों की रक्षा करने वाली'[३८] और 'स्तुति की वाणियाँ'[३९] किया है। उवट-महीधर ने भी शतपथ ब्राह्मण[४०] के आधार पर इसका अर्थ 'छन्द'[४१] किया है। ग्रिफिथ ने साधारणतया 'स्त्री और देवपत्नी' अर्थ लिए हैं। एक मन्त्र[४२] में 'उत ग्ना' को 'उत् अग्ना' पाठ मानकर 'अग्नि' अर्थ भी किया है। अन्तिम रूप की अवतारणा में सन्धिच्छेद विचार का विषय है।

ग्नास्पतिः

१. द० भा० के निर्वचन और अर्थ—

दयानन्द ने यहां पर दो पृथक् पद माने हैं—(ग्नाः) वाचः। (पतिः) पालकः।[१] 'पतिः' को प्रथमान्त रक्खा है, और 'ग्नाः' को द्वितीयान्त। इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्म का है। 'पतिः' का अर्थ 'पालना करने वाला ईश्वर' और 'ग्नाः' का अर्थ 'वाणियों को' किया है।[१]

[इनके निर्वचन के लिए ग्ना और पति पद देखें।]

विवेचन

२. पदपाठ में इसे एक अनवगृहीत पद माना है। 'ग्नाः पतिः' उसके आधार पर वेंकट माधव ने इसका अर्थ 'त्वष्टा' और सायण ने 'देवपत्नियों या छन्दों का पति—सविता' किया है। वेदमन्त्रों में त्वष्टा और ग्नाओं का सम्बन्ध बताया गया है—'त्वष्टा॑ नो॒ ग्नाभिः॑ सुवि॒ताय॑ जिन्वतु'[२]। तथा 'शं न॒स्त्वष्टा॒ ग्नाभि॑रि॒ह शृ॑णोतु'।[३]

३. यह पद ऋग्वेद में केवल एक ही स्थल पर आया है। दयानन्द ने उस मन्त्र में 'ईश्वर विषय' माना है। मन्त्र का ऋषि गृत्समद, देवता सविता, छन्द विराट् त्रिष्टुप् और स्वर धैवत हैं। ये सभी पद व्युत्पत्ति द्वारा 'ईश्वर' अर्थ के द्योतक बन जाते हैं। अतः दयानन्द ने मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ—' (नराशंसः) मनुष्यों से प्रशंसित किया हुआ (पतिः) पालना करने वाला ईश्वर (नः) हम लोगों (ग्नाः) और वाणियों की (अव्याः) रक्षा करे'—किया है। इस प्रकार दयानन्द ने इसकी व्याख्या आध्यात्मिक प्रकरण में की है। सायण ने सविता नामक

---

२८. सीईडी०, पृ० २८९, का० ३ में गेमोजीनेसिस आदि पदों में भी यह भाव माना गया है।

२९. श० ६।५।४।७—'छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति'।

३०. नि० ३।२९. ३१. तां० १।८।९ पर अपने भाष्य में। ३२. ऋ० १।२२।१०; ५।४६।२ आदि।

३३. ऋ० १।६१।८. ३४. ऋ० ५।४३।१३. ३५. ऋ० १।१५।३. ३६. ऋ० २।३१।४.

३७. ऋ० ५।४३।६. ३८. ऋ० ४।३४।७. ३९. ऋ० २।१।५. ४०. श० ६।५।४।७.

४१. य० ११।६१. ४२. ऋ० ४।९।४. १. ऋ० २।३८।१०. २. ऋ० १०।६६।३. ३. ऋ. ७।३५।६.

देवता की याज्ञिक स्तुति और वेंकट माधव ने विभिन्न त्वष्टा आदि देवों की स्तुति समझी है। अतः दृष्टि-भेद से पदच्छेद और अर्थ में भेद है। पद के रूप की दृष्टि से दयानन्द का पक्ष उचित प्रतीत होता है क्योंकि मूल पद 'ग्ना' है, 'ग्नाः' नहीं। यदि यहाँ समास होता तो 'ग्नापतिः' पद होना चाहिए था। विसर्गों को विकार माना तो जा सकता है, परन्तु जब उसका वैसे ही ठीक व्याख्यान हो सकता है, तब वहाँ विकार की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती।

४. ग्ना पद भी देखें।

ग्नास्पत्नीभिः

१' द० भा० का निर्वचन और अर्थ—

१. द० भा० ने इसका व्याख्यान इस प्रकार किया है—'पतियों की स्त्रियों के साथ—या ग्नाः पतीनां स्त्रियः ताभिः'।[1]

विवेचन

२. यह पद केवल ऋग्वेद में ही एक स्थल पर आया है। वेमा० ने 'ग्ना नामक देव पत्नियों के साथ' और सायण ने 'स्त्रियों की रक्षा करने वाली देवी (देव ?) पत्नियों के साथ'[2] अर्थ किए हैं।

३. दयानन्दभाष्य का भाव कुछ अस्पष्ट प्रतीत होता है। सम्भवतः उनका भाव पतिव्रता, नियमानुसार विवाहित पत्नियाँ हैं—ग्नाः (स्त्रियः) पतीनां याः ताभिः। अथवा इस समास को—ग्नाः (पुरुषाः) पतयः यासां ताभिः—लिया जा सकता है। दोनों ही अवस्थाओं में एक ही अर्थ होगा।

४. द०भा० के इस व्याख्यान में 'ग्नास्पत्नी' को एक शब्द माना है, जब कि 'ग्नास्पतिः' में 'ग्नाः' और 'पतिः' को पृथक्-पृथक् लिया है। इन दोनों में से कोई भी वनस्पत्यादि गण[2]। में नहीं पढ़ा गया है। दभा० के परीक्ष्यमाण व्याख्यानमें 'स्' और स्वर दोनों की ही समस्या उपस्थित होती है।

५. इस पद का मन्त्र में प्रयोग इस प्रकार है—

स॒जोषा॑ इन्द्र॒ वरु॑णेन॒ सोमं॑ स॒जोषा॑ः पाहि गिर्वणो म॒रुद्भिः॑। अ॒ग्रे॒पाभि॑र्ऋ॒तु॒पाभिः॑ स॒जोषा॒ ग्नास्पत्नी॑ रत्न॒धाभिः॑ स॒जोषाः॑ ॥[1]

इस मन्त्र में सब ने 'सोमम्' को कर्म माना है। इस मन्त्र के ऋष्यादि 'वामदेवो गौतमः, ऋभवः त्रिष्टुप् और धैवतः हैं। गौतम और त्रिष्टुप् पदों से इस मन्त्र में 'वाणी' का वर्णन भी अभिप्रेत है। अतः यदि इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध की योजना अग्रेपाभिः ऋतुपाभिः सजोषाः, रत्नधाभिः पत्नीभिः सजोषाः ग्नाः पाहि कर लें तो स्वर, स् और अर्थ सब की समस्या हल हो जाती है और दभा० के 'ग्नास्पतिः' के व्याख्यान से अनुरूपता भी बन जाती है। इस योजना में पत्नियाँ ऋभुओं की शक्तियाँ हैं, और 'ग्ना' वाणी। इस योजना से द० भा० के मन्त्र के शेष अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

६. 'ग्ना' पद भी देखें।

ग्नावः

१. द० भा० का निर्वचन—

ग्ना + मतुप् से—ग्ना प्रशंसिता वाणी विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ।[1]

२. द० भा० के अर्थ—

१. सब पदार्थों की प्रापिका[2] सर्वपदार्थप्राप्तिर्यस्य व्यवहारे[3]।

२. प्रशंसित वाणी से युक्त जन[4]। (२ अ) प्रशस्तवाग्मिन्[5]।

विवेचन

३. सायण ने 'पत्नीयुक्त'[6], और 'स्तुति की वाणियाँ'[7], वे० मा० ने 'देवपत्नी वाला'[8] और 'देवपत्नियां'[9] उवट और महीधर ने 'पत्नीवान्'[10] और ग्रिफिथ ने 'स्त्रियों के साथ'[11] अर्थ किए हैं।

४. अतः सभी ने और दभा० ने भी इसे ग्ना से मतुबर्थ में निष्पन्न रूप माना है।

५. ग्नापद भी देखें।

विद्मनापसः

१. द० भा० का निर्वचन—

१. विद्मन् (√ विद् = जानना से) + आ + अपस्—

१. ऋ० ४।३४।७ २. गपा० १६८
३. ऋ० १।१५।३ ४. ऋ० २।१।५.
७. ऋ० २।१।५ ८. ऋ० १।१५।३
११. ऋ० १।१५।३ आदि।

१. ऋ० २।१।५ २. ऋ० १।१५।३ (हिअ०)।
५. य० २६।२१. ६. ऋ० १।१५।३
९. ऋ० २।१।५. १०. य० २६।२१.

वेदनं विद्म, तद्विद्यते येषु तानि (विद्मनानि[१]) विज्ञान-निमित्तानि। (आ) समन्ताद् अपांसि कर्माणि येषां ते।[२]

२. विद्मन्+अपस् से—विद्मनानि विदितान्यपांसि कर्माणि येषां ते[३]।

२. द० भा० के अर्थ—

१. ज्ञान के हेतु कामयुक्त[४]।

२. प्रसिद्ध कर्मों वाले[५]।

विवेचन

३. यह पद ऋग्वेद में एक ही मन्त्र में आया है[६]। इसका अर्थ वे० मा० ने 'लब्धवेगा लब्धव्याप्तयो वा', स्कन्द ने 'यागादि कर्मों के ज्ञाता या जानने योग्य कर्मों वाले या कर्मों के ज्ञाता' और ग्रिफिथ ने 'बुद्धि से फुर्तीला' किए हैं। माधव भट्ट के अर्थ और सायण के प्रथम अर्थ में अक्षरशः समानता है[७]।

४. माधव भट्ट के लेखानुसार इसका पदपाठ[८] 'विद्मन ऽ अ॑पसः' था—'पूर्वपदं ह्रस्वान्तमवगृह्णन्ति'। परन्तु अधुना उपलब्ध पदपाठ 'वि॒द्मनाऽअ॑पसः' है[९]। दभा० ने इस पदपाठ में 'आ' की कल्पना कर दोनों पदपाठों का समन्वय कर दिया है। यजुर्वेद भाष्य[१०] में दयानन्दभाष्य माधवभट्ट के पदपाठ के अनुसार अर्थ देता प्रतीत होता है—'विद्मनानि विदितान्यपांसि कर्माणि येषां ते।' अतः दभा० के यजुर्वेद के पदपाठ में 'वि॒द्मनाऽअ॑पसः' के स्थान पर 'वि॒द्मनऽअ॑पसः' पढ़ना चाहिए। 'विद्मना' और 'विद्मन' दोनों ही पदच्छेदों में पूर्वपद 'विद्मन' अकारान्त है। दभा० के प्रथम निर्वचन में यह नकारान्त अभीष्ट है।

५. ऋग्वेद में वि॒द्मना' पद का प्रयोग अन्य मन्त्रों में भी हुआ है[११]। वहाँ पर उसे 'विद्मन्' का तृतीयान्त पद माना गया है। सम्भव है, शाकल्य को तृतीया अलुक् तत्पुरुष समास अभिप्रेत हो, अथवा दभा० के समान 'आ' की सत्ता अभिप्रेत हो। ऋग्वेद में 'वि॒द्मने॑' पद का प्रयोग भी हुआ है[१२]। जिसे साभा० और दभा ने 'विद्मन्' का चतुर्थी का रूप माना है। ये पद अन्य मूल वेद संहिताओं में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

६. इस पद का अथर्व वेद का प्रयोग भी दभा० के अर्थ की ओर इंगित करता है—

कु॒हूं दे॒वीं सु॒कृतं॑ विद्म॒नाप॑समस्मिन् य॒ज्ञे सु॒हवा॑ जोह-वीमि[१३]। इस मन्त्र में प्रकृत पद 'कुहू' का विशेषण है। ऐतरेय ब्राह्मण में कुहू को 'अनुष्टुप्' कहा है—'या कुहूः सा ऽनुष्टुप्'[१४]। अनुष्टुप् स्तुत्य वाणी[१५]—ज्ञान (अनु+√स्तुभ् से[१६]) का द्योतक है। इस मन्त्र के ऋषि 'अथर्वा' और छन्द 'जगती' हैं। अतः स्तुत्य, ज्ञानमय या प्रशंसनीय कर्म युक्त' भाव यहाँ अभिप्रेत है। मन्त्र में 'सुकृत' के प्रयोग से भी इस भाव की पुष्टि होती है। इस मन्त्र में इस पद का प्रयोग साभिप्राय है। विद्मनापस ही प्रार्थना को सुनकर पूर्ण कर सकता है।

वि॒श्यः॑

१. द० भा० का निर्वचन—

विश् से तद्धित रूप—

१. विक्षु प्रजासु साधवो वणिग्जनाः[१]।

२. विक्षु प्रजासु भवेषु वणिग्जनेषु[२]।

२. द० भा० के अर्थ—

(१.) प्रजाजनों में उत्तम वणिग्जन[१]।

(२.) प्रजाजनों में हुए वैश्यों में[२]।

---

१. सुपा० में ये पद नहीं हैं, परन्तु आवश्यक और दभा० को अभीष्ट होने के कारण यहाँ पर दिखाए गए हैं।
२. ऋ० १।३१।१. ३. य० ३४।१२.
४. ऋ० १।३।११. हि अ० ५. य० ३४।१२. ६. ऋ० १।३१।१.
७. यहाँ डा० सी० के० राजा ने माधव भट्ट के 'ज्ञातकर्माण' के स्थान पर 'यज्ञकर्मणि' पढ़ने का सुझाव दिया है। साभा० ने इसे 'ज्ञातकर्माणः' बनाकर वैकल्पिक अर्थ माना है। ८ ऋ० १।३१।१.
९. देखो ऋ० १।३१।१ का सुपा०। य० ३४।१२ में दस० ने भी यही पपा० दिया है। उवट और महीधर को भी यही अभीष्ट है। १०, य० ३४।१२. ११. ऋ० १।११०।६; ५।८७।२; ६।१४।५; ७।४।१.
१२. ऋ० १।१६४।६; १०।८८।१८. १३. अवे० ७।४९।१. १४. ऐ० ३।४७–४८.
१५. निघं० १।११।५१; नि० ७।१२—अनुष्टुबनुष्टोभनात्। १६. गाऋ० ३।३ भी देखें।
१. ऋ० १।१२६।५ २. य० १८।४८

विवेचन

३. यह पद ऋग्वेद में एक बार और आया है—'जनं जनं जन्यो नाति मन्यते विश आक्षेति विश्यो इं विशं-विशम्'[३] में। यहां पर सायण ने 'विश्यः' का अर्थ 'विड्भ्यो हितः' प्रजाओं के लिए कल्याणकारी अग्नि—किया है। दभा० में व्याख्यात पूर्वमन्त्र[१] में सायण का व्याख्यान 'विशः प्रजाः, तत्र भवाः'—प्रजाओं में उत्पन्न अर्थात् प्रजाएं है।

४. यजुर्वेद में[२] उवट ने विश्येषु और शूद्रेषु को समानाधिकरण अर्थात् विशेष्य विशेषण माना मालूम पड़ता है। महीधर ने 'विश्येषु' का अनुवाद 'वैश्य' किया है। इस मन्त्र का पाठ—'रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्'—स्पष्ट बताता है कि यहां 'विश्येषु' और 'शूद्रेषु' विशेष्य-विशेषण हैं, दो भिन्न जातियों के द्योतक पद नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो 'च' का प्रयोग होता, अथवा 'रुचम्' की पुनरावृत्ति होती। जैसा अन्यत्र दिखाया जा चुका है शूद्र पद किसी जाति विशेष का द्योतक नहीं है। पुरुष सूक्त में यह 'पुरुष'—परमेश्वर का ही नाम है, अन्यत्र सब जातियों में—प्रजाजनों में श्रेष्ठ अर्थात् ऋषि अर्थ का द्योतक है[४]। अतः यहां 'विश्येषु, पद 'वैश्य' का वाचक नहीं है।

५. ऋग्वेद के प्रथम स्थल पर भी 'विश्याः' को वणिग्जन के अर्थ में लेना अनावश्यक है। वहाँ 'विक्षु साधवः' अर्थ ही पर्याप्त है। ऋग्वेद के दूसरे मन्त्र में भी यही अर्थ सुसंगत रहता है। वहाँ सायण का अर्थ भी यही भाव ग्रहण कर रहा है। मन्त्र के वाक्यांशों—'जनंजनं जन्यो नाति मन्यते' और 'विश आ क्षेति...विशं विशम्' से भी कल्याण, परोपकार और अनुकूलता का भाव प्रकाशित हो रहा है।

विश्वप्स्न्यः

१. द० भा० के निर्वचन—

१. विश्व + प्स्न्य (√प्सा गतिकर्मा से) से—विश्वस्य पालनाय[१]।

२. विश्व + √प्सा भक्षणे से—विश्वं सर्वं भोग्यं वस्तु प्सायते भक्ष्यते यया।[२]

३. विश्व + स्नु (√सन् से ?)—विश्वेषु समग्रेषु स्नुषु स्वरूपेषु भवस्य।[३]

२. द० भा० के अर्थ—

१. संसार की पालना के लिए[४]।

२. सब भोगने योग्य पदार्थों की भुगवाने हारी[५]।

(२ अ) सब पदार्थों के भोगने का साधन[६]।

३. समग्र रूपों में हुए। [६अ]

विवेचन

३. यजुर्वेद में विश्वप्स्न्या दो मन्त्रों में आया है।[६आ] दोनों ही मन्त्र एक ही मन्त्र के आवृत्त रूप हैं और उनमें वत्सप्री ऋषि, अग्नि देवता, निचृद् गायत्री छन्द और षड्ज स्वर हैं। दभा० में दोनों ही स्थलों पर 'धारया' पद को मुख्य मान कर शेष को इसका विशेषण माना है। निघण्टु में 'धारा' पद वाङ्नामों में पढ़ा गया है।[७] वाक् का नाम अग्नि है।[८] गायत्री अग्नि का छन्द है[९], ब्रह्म[१०] और यज्ञ[११] है।[११अ] षड्ज स्वरविशेष का वाचक होने से वाणी का नाम है। इसे √सन् संभक्तौ या √षट् अवयवे से निरुक्त किया जा सकता है। अग्नि को ही ब्रह्म का वत्स कहा गया है।[१२] उणादि सूत्रों में इसे √वद् से निरुक्त किया गया है।[१३] 'प्री' श्रद्धा का द्योतक है।[१४] अतः ऋषि देवता, छन्द और स्वर के आधार पर यहाँ इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'वाणी' ठहरता है।

---

३. ऋ० १०।९१।२. ४. वेला०, पाउ०, भूमिका, संदर्भ ४१-५९; मं० ३२-३३, १२, २०, ५८ आदि की टिप्पणियाँ भी देखें।

१. ऋ० २।१३।२. २. य० १२।१० ३. ऋ० ७।४२।६. ४. ऋ० २।१३।२

५. य० १२।१० हिअ० ६. य० १२।४१ ६अ० ऋ० ७।४२।६. ६ आ० य० १२।१०;४१

यही मन्त्र सा० १८।३३ में आया है। ७. निघं० १।११।३ ८. गो० २।४।११.

९. कौ० १०।५; ऋ० १०।१३०।४. १०. जैउ० १।१।८. ११. श० ४।२।४।२० ११. अ. गाऋ० १।२ भी देखें।

१२. जैउ० २।१३।१ १३. उ० ३।१६२

१४. तु. क.तां० १३।११।२५—वत्सप्रीर्भालन्दनः श्रद्धान्नाविन्दत। स तपो ऽतप्यत। स एवद्धास्तप्रमपश्यत्। स श्रद्धामविन्दत। श्रद्धां विन्दामहा इति वै सत्रमासते विन्दते श्रद्धाम्।

४. ऋग्वेद के प्रथम स्थल में [१५] गृत्समद ऋषि, इन्द्र देवता, त्रिष्टुप् छन्द और धैवत स्वर हैं। यहाँ पर दभा० ने प्राण का विषय माना है। ये सब पद प्राण के वाचक हैं।[१६]

५. दूसरे स्थल[१७] में वसिष्ठ ऋषि, विश्वेदेवाः देवता, पंक्ति देवता, पंक्ति छन्द और पञ्चम स्वर हैं। इस मन्त्र में दभा० ने 'रायस्कामः' को प्रधान माना है और धनेच्छुओं के कर्त्तव्य कर्मों का वर्णन किया है। 'वसिष्ठ' वसु से निरुक्त है।[१८] वैश्यों को विश्वेदेवाः कहा गया है।[१९] पंक्ति अन्न[२०] और प्रतिष्ठा[२१] की द्योतक है। पञ्चम और पंक्ति एक ही धातु से व्युत्पन्न हैं।[२१अ] अकोसु०[२२] ने पंक्ति को √पचि विस्तारे से व्युत्पन्न किया है जिससे अथवा जिसका विस्तार किया जाए वह पञ्च या पञ्चम है।

६. अतः विषय प्रतिपादन की दृष्टि से तो दभा० की स्थिति समुचित है!

७. प्स्न्य पद √प्सा से 'वदान्य' आदि के समान बहुल से उणादि 'अन्य' प्रत्यय से व्युत्पन्न हो जाता है[२३]। 'आ' का लोप पृषोदरादि[२४] या निपातन से सिद्ध हो जायगा। स्त्रीलिंग में 'प्सानी' की सिद्धि कोई कठिन नहीं।

८. 'स्नु' शब्द को अकोसु० ने √ष्णा शौचे से भी व्युत्पन्न किया है[२५]। इसे √सन् का ह्रसित स्वर वाला रूप भी माना जा सकता है। दोनों ही व्युत्पत्तियों में यह 'रूप' का वाचक हो सकता है।[२६] यदि दयानन्द के तृतीय निर्वचन में भी √प्सा से 'प्स्नु' रूप माना जाए तो भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। केवल दभा० के पदपाठ में 'विश्वऽप्स्न्यस्य' करने की आवश्यकता होगी। वहाँ पर दभा० का मुद्रित पद पाठ 'विश्वप्स्न्यस्य' है, जब कि अन्यत्र सर्वत्र 'विश्वऽप्स्न्यस्य' दिया गया है। शाकल्य के पद पाठ में भी यही सर्वगृहीत रूप मिलता है।

९. वेमा० ने 'विश्वव्यापी समुद्र,[२७] विश्वप्स्न्य (नामक) राजा,[२८] अनेकविध स्तुतियों के कारण वैश्वरूप अथवा विश्व का व्यापक,[२९] सायण ने 'समस्त जलों का आश्रय समुद्र,[२७] विविध रूप धन का लाभ,[२८] व्याप्त रूप और बहुरूप,[३०] ग्रिफिथ ने सबका धारक,[२७] सम्पूर्ण अन्न से परिपूर्ण,[२८] और 'पूर्णतया पोषक,'[३१] यजुर्वेद में[३२] 'किनारों पर बहते हुए जलवाली' (—ओवर फ़्लोइंग), उवट ने 'सबके उपभोग के योग्य' अर्थ किए हैं।

१०. इन अर्थों में 'प्स्न्य' और 'प्स्नी' को उवट और महीधर ने √प्सा भक्षणे से, ग्रिफिथ ने √आप्, √पुष्, और √प्सा (गति) से, सायण ने 'अपस्' और 'प्स' से, तथा वेंकट माधव ने √आप् और 'प्स' से व्युत्पन्न किया है। इन समस्त अर्थों और व्युत्पत्तियों की दृष्टि में इस पद को '√प्सा गतिभक्षणयोः' से निरुक्त करना समीचीन प्रतीत होता है। इससे उपर्युक्त सभी अर्थों की प्राप्ति हो सकेगी।

११. इसकी पुष्टि ऋग्वेद में प्रयुक्त 'विश्वप्सु' पद और उसके रूपों से भी होती है। दभा० ने इसका अर्थ 'विविध रूप' किया है।[३३] सायण और वेमा० ने भी सर्वत्र[३३अ] यही अर्थ लिया है। ग्रिफिथ ने 'सर्वधारक[३४], सर्वरूप'[३५] और 'सर्वपोषक'[३६] अर्थ दिए हैं॥

---

१५. ऋ० २।१३।२.
१६. देखो वैको० में इनके अर्थ
१७. ऋ० ७।४२।३.
१८. देखो वसिष्ठ पद
१९. तै० २।७।२।२.
२०. ऐ० ६।२०.
२१. कौ० ११।३.
२१. अ. गाऋ० २।२;९।७ देखें।
२२. अकोसु० २।४।४.
२३. उ० ३।१०४.
२४. पा० ६।३।१०९.
२५. अकोसु० २।३।५. (√ सन् से)।
२६. तु. क. 'स्नुषा' (—स्नु = रूप से युक्त) पद
२७. ऋ० २।१३।२.
२८. ऋ० ७।४२।६.
२९. ऋ० ७।७१।४.
३०. ऋ० ७।७१।४; ८।९७।१५.
३१. ऋ० ८।९७।१५.
३२. य० १२।१०,
३३. ऋ० ६।३५।३.
३३. अ० ऋ० ६।३५।३; ८।२२।१२; १०।७७।४.
३४. ऋ० ६।३५।३
३५. ऋ० ८।२२।१२.
३६. ऋ० १०।७७।४.

कृष्णावतार की कल्पना

[ले०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी 'पथिक' बी. ए. सि० शास्त्री, विद्यावाचस्पति, कानपुर]

यजुर्वेद ४०।८ से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि परमात्मा का अवतार नहीं होता है। पौराणिक वर्ग मत्स्य, कूर्म, वराह, परशुराम, राम, कृष्ण, वामन, बुद्ध, कल्कि प्रभृति अवतार मानते हैं जिनमें राम व कृष्ण की पूजा सर्वत्र भारतवर्ष भर में प्रचलित है। रामचन्द्र जी को 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहा जाता है क्योंकि वे सप्त मर्यादाओं का पालन करते थे। अपने जीवन में उन्होंने कभी बुरा कर्म नहीं किया। शराब, मांस-भक्षण तथा परस्त्री को कभी कुदृष्टि से नहीं देखा, ऐसा उज्ज्वल चरित महाकवि वाल्मीकि जी ने अपने "रामायण महाकाव्य" में कहा है। कृष्ण जी को योगिराज कहा जाता है, वे वेद-मंत्रों के प्रचारक, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ और ज्ञानी थे, पर "श्रीमद्भागवत पुराण" एकादश स्कन्ध में उनका जीवनचरित कुछ विकृत रूप में दिया गया है। सनातन-धर्मी भाई कहते हैं कि वह वेदव्यास कृत है और महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि वह बोपदेवजी कृत है। योगिराज कृष्ण जी का जीवन महाभारत में सर्वोत्तम बताया गया है। एक ही लेखक (वेदव्यास) भागवत व महा-भारत में कृष्णजी के दो रूप कैसे बतलायेगा? कृष्णजी के नाम पर आज कितना अनाचार फैला हुआ है इसे सभी जानते हैं। जिसको धनोपार्जन करना होता है और अपनी काम-पिपासा शान्त करनी होती है वह अपने को 'कृष्णावतार' घोषित कर देता है।

अभी कई वर्ष पूर्व, कानपुर आर्यनगर के एक महोदय ने अपने को दयानन्द का अवतार घोषित किया, पर मेरे व स्वामी ब्रह्मानन्दजी दण्डी एटा के फटकारने से वह शान्त हो गया। वह समझ गया कि आर्यसमाज तो शिक्षितों की संस्था है यहाँ मेरी दाल नहीं गलेगी।

योगिराज कृष्णजी के समय में ही एक नकली कृष्ण था; पर आज कई कलयुगी नकली कृष्ण हैं। हमारी भारत सरकार तो इस धार्मिक मामले में कुछ बोलती नहीं है क्योंकि उसका 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' है। हिन्दू इतने भोले हैं कि अपनी बहू-बेटियों को इन 'कृष्ण' कहानेवाले गुण्डों के पास भेजते हैं। इस हिन्दू जाति का बेड़ा कैसे पार लगेगा, इसे सनातन-धर्मी भाई भी सोचें। मासिक पत्र "सङ्कीर्त्तन" मेरठ के "अवतार-अङ्क" वर्ष ७ सितम्बर ५, सन् १९३९ ई०, संख्या १ के पृष्ठ २८५ से २९१ तक "कलियुगी नकली अवतारों से सावधान!" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें अपने को अवतार माननेवाले सर आगा खाँ (एक हाथ में गीता और दूसरे में कुरान लेकर प्रचार करता था); लाहौर के एक मुसल-मान साहब, मौलाना मोहम्मद सद्दीक दीनदार, साईं साहब, मेंहदी साहब, कृष्णानन्दजी दादा धूनीवाले, कृष्ण-मूर्त्ति, बधावारामजी, भगवान् राम कायस्थ, राजनारायण शास्त्री, बाबा मुलतानसिंह पंजाबी साधु, पं० दीनानाथ चुटैल शास्त्री, सच्चे बाबाजी, स्वामी प्रणवानन्दजी प्रभृति का कच्चा चिट्ठा प्रकाशित है।

मासिक पत्र "श्रद्धानन्द" दिल्ली वर्ष ७, अक्टूबर १९३८ ई० संख्या १, पृष्ठ ३, ४ में "क्या 'कल्कि' अवतार पैदा हो गए!" शीर्षक लेख में इसके सुयोग्य सम्पादक स्वामी चिदानन्दजी संन्यासी ने "तेलगू के मौलाना सिद्दीक, सर आगा खाँ, समडियाल, एन. डब्ल्यू. आर. स्टेशन के एक मुसलमान स्टेशन मास्टर, उड़ीसा के एक साधु, अमृतसर के भगवानदास बाबू, ओम् मण्डली के प्रवर्तक दादा 'लेखराज' आदि की पोल खोली थी।

दादा लेखराज की पार्टी "ब्रह्माकुमारी संस्था" के नाम से अब भी अनाचार फैला रही है और हिन्दुओं की सहस्रों बहू-बेटियाँ पाप-पङ्क में डूब रही हैं। पर सनातन धर्मी धर्म के नाम पर सब सहन कर रहे हैं और प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

दैनिक "हिन्दी-मिलाप" लाहौर, वर्ष १४, सोमवार, आश्विन २०००, सितम्बर २०, सन् १९४३ ई., संख्या ३१८, पृष्ठ २ कॉलम २ में श्री गुलाम अहमद कृष्ण कादि-यानी नामक यवन की पोल खोली गई थी।

अब श्री रामकृपालु त्रिपाठी नामक प्रतापगढ़ का एक व्यक्ति अपने को कृष्ण का अवतार कह कर हिन्दुओं की बहू-बेटियों से अपनी काम-पिपासा शान्त कर रहा है जिसकी पोल बम्बई के आंग्ल भाषा के साप्ताहिक पत्र "ब्लिट्ज़" ने खोली थी। 'आर्यमित्र', आर्यज्योति, आर्य-

जगत्, सार्वदेशिक पत्रों में भी इसकी चर्चा हो रही है। 'वीर अर्जुन' ने भी लिखा था।

गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होनेवाले "कल्याण" मासिक पत्र इस सम्बन्ध में हिन्दुओं को क्यों सावधान नहीं करता है, यह समझ में नहीं आता है। पं० दीनानाथ शास्त्री, पं० माधवाचार्य शास्त्री प्रभृति के मुँह पर ताले लगे हुए हैं? महर्षि दयानन्द जी व उनकी संस्था आर्य-समाज को पानी पी पी कर कोसने वाले सनातनधर्मी विद्वान् आज कहाँ सोये हुए हैं?

श्री रामकृपालु त्रिपाठी जैसे नराधम व्यक्ति को 'कृष्ण' का अवतार कहने का साहस क्यों हो रहा है इसका सारा दोष सनातनधर्मियों का है कि योगिराज कृष्ण को ईश्वरावतार मानते हैं।

अपने पक्ष की पुष्टि में पौराणिक वर्ग वेदमन्त्रों को प्रस्तुत करते हैं—

कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥
(ऋ० मं० ४ सू० ७ मं० ९)

विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भाषार्थ—"हे भूमन् आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्र रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्ण भा रूप को हम प्राप्त होवें, जिस आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूप से वर्तमान हैं और जो कृष्ण भा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ग्रस्त देवकी गर्भ-रूप से धारण करती भई, छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है, हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए, इससे कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीव का पूर्वनिरूपित चिदंशत्व बोधन किया। इस मन्त्र में सब अवतारादि हैं[1]।"

पं० माधवाचार्य शास्त्री—"हे भगवन् आपको (अप्रवीता) निगड़ बन्धन में बद्ध श्रीदेवकी जी गर्भ में धारण करती हुई; और आप अवतरित होते ही तत्काल माता से पृथक् हो गए अर्थात् गोकुल चले गये[2]।"

विज्ञ पाठक गण इस मन्त्र के अर्थ पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि सनातन-धर्मी पण्डितों ने कैसा अर्थ का अनर्थ किया है। अप्रवीताः का अर्थ देवकी, दूत का अर्थ माता, "कृष्णं भा" का अर्थ "सत्यानन्द चिन्मात्र रूपं" किस कोष, व्याकरण वा आचार्य की शैली के अनुसार है? इस प्रकार खींचातानी से ये लोग 'कृष्णावतार' वेद से सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं।

सभी सनातनी श्री सायणाचार्य के अर्थ को मानते हैं। इस पर सायणभाष्य देखिए—"हे अग्ने! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन्शब्देन गमनमार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति भाः तव सम्बधिनी दीप्तिः पुरः पुरस्तात् भवति। चरिष्णुं संचरणशीलम् अर्चिस्त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वं अप्रवीता अनुपमता यजमानः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु। स त्वं सद्यश्चित्सद्य एव जात उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव।"

अर्थात्—"हे अग्ने! तुझे प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गए हुए यजमान लोग ज्योंही तेरे गर्भ रूप अरणि को धरते हैं त्योंही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है।"

तात्पर्य यह है कि अग्नि का मार्ग काला है। जहाँ होकर आग निकलती है वहाँ काला पड़ जाता है। आग के साथ-साथ आगे-आगे प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का ही प्रकाश तत्त्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञ-कर्ता यजमान लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं, तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमान के दिए हुए हविर्भाग, वायु आदि देवों को पहुँचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में बहुधा गाया गया है।

इस अर्थ में कृष्ण, देवकी की गन्ध भी नहीं है। श्री

१. "दयानन्द तिमिर भास्कर" सप्तम समुल्लास खण्डनम्, पृष्ठ २१३ (संवत् १९६२ वि, तृतीय संस्करण, बम्बई), तुलना करो पं० कालूराम शास्त्री कृत "अवतार मीमांसा", पं० साधुसिंह कृत "सत्यार्थविवेक" पृष्ठ ९४;

२. "पुराण-दिग्दर्शन" पृष्ठ २६७ (सं० २००६ वि. दिल्ली संस्करण)

ज्वालाप्रसाद मिश्र, श्री माधवाचार्य व श्रीकालूराम ने अपना-अपना अटकल लगाया है।

श्री ज्वाला प्रसाद व श्री कालूराम दोनों ने 'नीलकण्ठ' भाष्य देकर हिन्दी अनुवाद किया है। 'नीलकण्ठ' कौन सा भाष्यकार हुआ ? क्या ऋग्वेद पर उसका भाष्य कहीं मिलता है ? क्या सायणाचार्य जी के भाष्य को मानने से कोई पौराणिक असहमति प्रकट कर सकता है !

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता
वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
[यजु० १०।२४]

पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र—"वह भगवान् (हंसः) अहंकारहारी (शुचिषत्) आदित्यरूप से दीप्ति में रहने वाले (वसुः) मनुष्यों के प्रवर्तक (अन्तरिक्षसत्) वायु रूप से आकाश में रहने वाले (होता) देवताओं के आह्वान करने वाले (वेदिषत्) अग्नि रूप से वेदी में बैठने वाले (अतिथिः) अतिथि रूप से सबके पूजनीय (दुरोणसत्) आहवनीय से यज्ञ में बैठने वाले (नृषत्) रामकृष्ण वा प्राण रूप से मनुष्यों में होने वाले (वरसत्) उत्कृष्ट स्थान क्षेत्र आदि में बैठने वाले (ऋतसत्) यज्ञ वा सत्य में स्थित होने वाले (व्योमसत्) मण्डल रूप से आकाश में स्थित होने वाले (अब्जाः) मत्स्यादि रूप से जल में होने वाले (गोजाः) पृथ्वी में चतुर्विध भूतग्राम रूप से होनेवाले (ऋतजाः) सत्य में होने वाले (अद्रिजाः) पाषाण में मूर्ति और अग्नि रूप से होने वाले वा मेलजोल रूप से होने वाले (बृहत्) महान् परब्रह्म रूप हो ॥"[3]

समीक्षा—मिश्रजी ने 'नृषत्' का अर्थ 'रामकृष्ण' किस धातु, कोष, निघण्टु के द्वारा किया है, यह तो वही जानें, पर उनका यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। श्री महीधर व श्री उव्वटाचार्य ने भी ऐसा अर्थ नहीं किया है।

'नृषु' का अर्थ महीधरने 'मनुष्येषु······व उव्वट ने 'मर्त्येषु प्राणभावेन······' किया है। इन दोनों ने तो 'रामकृष्ण' अर्थ किया नहीं है। अतः मिश्रजी का अर्थ कैसे माना जाय ?

इसका अर्थ महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने जो किया है वह निरुक्त, निघण्टु और ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार शुद्ध है। महर्षि दयानन्दजी का अर्थ—"हे मनुष्यो ! आप लोगों को चाहिए कि जो परमेश्वर (हंसः) सब पदार्थों को स्थूल करता (शुचिषत्) पवित्र पदार्थों में स्थित (वसुः) निवास करता और कराता (अन्तरिक्षसत्) अवकाश में रहता (होता) सब पदार्थ देता, ग्रहण करता, और प्रलय करता (वेदिषत्) पृथिवी में व्यापक (अतिथि !) अभ्यागत के समान सत्कार करने योग्य (दुरोणसत्) घर [आदि कार्य पदार्थों] में स्थित (नृषत्) मनुष्यों के भीतर रहता (वरसत्) उत्तम पदार्थों में बसता (ऋतसत्) सत्य प्रकृति आदि नाम वाले कारण में स्थित (व्योमसत्) पोल में रहता (अब्जाः) जलों को प्रसिद्ध करता (गोजाः) पृथिवी आदि तत्त्वों को उत्पन्न करता (ऋतजाः) सत्य विद्याओं के पुस्तक वेदों को प्रसिद्ध करता (अद्रिजाः) मेघ, पर्वत और वृक्ष आदि को रचता (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, अनन्त है, उसी की उपासना करो ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वत्र व्यापक और पदार्थों की शुद्धि करने हारे ब्रह्म परमात्मा ही की उपासना करें, क्योंकि उसकी उपासना के बिना किसी को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से होने वाला पूर्ण सुख कभी नहीं हो सकता।"

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण ५।४।३।२२ में भी है पर वहाँ भी 'रामकृष्ण' अवतार की गन्ध नहीं है।

श्री महीधराचार्यजी—ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए "नृषत्" शब्द का अर्थ किया है—"यश्च नृषु मनुष्येषु प्राणभावेन सीदतीति नृषत्।"[4] इसी प्रकार श्री उव्वटाचार्यः—"यश्च नृषु मर्त्येषु प्राणभावेन सीदति।"[5] इन दोनों के भाष्य को पौराणिक वर्ग मानता है, पर दोनों ही इस मन्त्र से 'रामकृष्ण' का अवतार नहीं सिद्ध कर रहे हैं।

[सशेष]

३. "दयानन्दतिमिरभास्कर" पृष्ठ २१४ (तृतीय संस्करण बम्बई)

४. शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उव्वट-महीधर भाष्य, प्रथमखण्ड, पृष्ठ ४८८ [सन् १९१२ ई० में चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बाराणसी से प्रकाशित]।

५. वही, पृष्ठ १३५.

विविध समाचार

धर्मनिष्ठ आर्य सज्जन का देहावसान

आर्य जगत् को यह जानकर अतीव दुःख होगा कि १५ दिसम्बर को पटना में श्री मोहनलाल जी पोद्दार कलकत्ता निवासी का स्वर्गवास हो गया है। आप आर्ष गुरुकुल एटा के प्रारम्भ काल से ही संचालक रहे थे। एटा में १३ वर्ष पूर्व जो चारों वेदों से अपूर्व यज्ञ का समारोह हुआ था, वह भी आपके ही पुरुषार्थ का परिणाम था। आप गुरुकुल की आत्मा थे। गुरुकुल एटा आप ही के कारण शीघ्र इतना प्रसिद्ध और विस्तृत हो सका है। यह गुरुकुल आपकी ही विभूति है, आपका सच्चा स्मारक है, गुरुकुल निवासी आपके निधन से अतीव दुःखी हैं। श्री पोद्दार जी सारे जीवन आर्य जगत् की सेवा करते रहे, प्रायः उनसे सभी आर्य सज्जन परिचित हैं। आप बहुत ही निरभिमानी, मधुरभाषी, अथक परिश्रमी, प्रेम की साक्षात् मूर्त्ति, धर्मपरायण और कर्मठ व्यक्ति थे। प्रभु से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को सद्गति एवं शान्ति प्रदान करें, तथा उनके परिवार के सब व्यक्तियों, सम्बन्धियों और सुहृज्जनों को सान्त्वना प्रदान करें।

ज्योति-स्वरूप आचार्य, आर्ष गुरुकुल एटा

अकाली आन्दोलन समाप्त

पंजाबी सूबा आन्दोलन के संचालक सन्त फतहसिंह ने ९ जनवरी को अपना आमरण अनशन भंग कर दिया। इसके फलस्वरूप पंजाब सरकार ने ५ हजार अकाली बन्दियों को मुक्त कर दिया। आन्दोलन की कार्य समिति ने आन्दोलन वापस ले लिया। इस सम्बन्ध में सन्त फतहसिंह ८ फरवरी को नेहरू जी से मिलेंगे। स्मरण रहे कि यह आन्दोलन गत ८ मास से चल रहा था और पंजाब सरकार इस पर लगभग २२ लाख रुपया व्यय कर चुकी है।

तृतीय योजना में १ खरब २० अरब रुपये के व्यय का अनुमान

राष्ट्रीय विकास परिषद् की दो दिनों की बैठक के पश्चात् यह पता चला है कि ६ मास पूर्व तृतीय पंचवर्षीय योजना का जो प्रारूप प्रकाशित किया गया था उसकी तुलना में लगभग ३॥ प्रतिशत वित्तीय व्यय में वृद्धि होगी और सार्वजनिक क्षेत्र के आकार-प्रकार में भी १० प्रतिशत से अधिक विस्तार होगा। सरकारी क्षेत्र में ८० अरब तथा निजी क्षेत्र में पूर्ववत् ४० अरब रुपये के व्यय का अनुमान किया गया है। योजना का अन्तिम स्वरूप सम्भवतः मार्च में संसद् में प्रस्तुत किया जायेगा।

महारानी एलिजाबेथ का भारत आगमन

ब्रिटिश महारानी एलिजाबेथ अपने पति एडिनबरा के ड्यूक के साथ २१ जनवरी को वायुयान द्वारा देहली पहुँचीं। वायुयान के हवाई अड्डे पर उतरते ही २१ तोपों की सलामी दी गई। राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, उपराष्ट्रपति, केन्द्रिय मन्त्रिमण्डल के सदस्य, विदेशों के राजदूत, उच्च अधिकारी तथा निमन्त्रित सदस्यों ने हवाई अड्डे पर महारानी का स्वागत किया।

हवाई अड्डे से राष्ट्रपति-भवन तक का मार्ग जन-समूह से पूर्ण था। सड़क के दोनों ओर खड़े अनुमानतः १५ लाख व्यक्तियों ने महारानी का स्वागत किया। महारानी के जीवन में यह पहला अवसर है, जब उनका ऐसा उल्लास और स्नेह से पूर्ण स्वागत हुआ। वे इस यात्रा से अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। यह यात्राक्रम फरवरी के अन्त तक चलेगा।

भारतीय गणतन्त्र समारोह सोल्लास सम्पन्न

ग्यारहवां भारतीय गणतन्त्र समारोह देश-विदेश में सोत्साह सम्पन्न हुआ। इस वर्ष राजधानी में इस अवसर पर २५ लाख दर्शक रहे। इसका कारण महारानी एलिजाबेथ की उपस्थिति था। शोभा यात्रा अत्यन्त मनोरम थी, जिसमें आगे एक दर्जन सजे हुए हाथी थे और बीस झाँकियाँ थी। दर्शकों में ७००० विदेशी, ४०० विधायक ४० न्यायाधीश तथा अनेक वैज्ञानिक भी सम्मिलित थे। सांस्कृतिक कार्यक्रम अत्यन्त आकर्षक थे॥

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम् । ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम् ॥१२॥
[आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् । कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोह्रदां शिवाम् ॥१३॥
देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभिताम् । नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥१४॥
देवक्रीडाशताकीर्णां देवोद्यानशतायुताम् । देवार्थमाकाशगमां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥१५]
जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् । क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥१६॥
क्वचित्स्तिमितगम्भीरां क्वचिद्वेगजलाकुलाम् । क्वचिद्गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद्भैरवनिस्वनाम् ॥१७॥
देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलशोभिताम् । क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥१८॥
हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपकूजिताम् । सदा मत्तैश्च विहगैरभिसंनादितान्तराम् ॥१९॥
क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् । क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित्पद्मवनाकुलाम् ॥२०॥
क्वचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् । नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ॥२१॥
व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम् । दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः ॥२२॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् । प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥२३॥
फलैः पुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा । शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजङ्गैश्च निषेविताम् ॥२४॥

तदनन्तर शीतल जल तथा शैवाल वाली, तीन पथ में बहनेवाली, तपस्वी ऋषि मुनियों से घिरी हुई दिव्य तथा रमणीय गंगा को रामचन्द्र ने देखा ॥ १२ ॥ उस गंगा नदी के किनारे अच्छे २ ऋषि मुनियों के आश्रम थे और समय २ पर अप्सरायें वहां स्नान करने आती थीं और बहुत सी अच्छी २ झीलें थीं ॥ १३ ॥ देव, दानव, गन्धर्व तथा किन्नरों से अत्यन्त सुशोभित थी। नाग-गन्धर्व जाति की स्त्रियों से निरन्तर अलंकृत हो रही थी ॥ १४ ॥ देवताओं की बड़ी २ वाटिकायें तथा उनके क्रीडा करने के लिये अच्छे २ स्थान बने हुये थे। वह नदी देवताओं के लिये आकाश में गई तथा देव कमलिनीओं से प्रसिद्ध हो रही थी ॥ १५ ॥ परस्पर जल के आघात से अट्टहास के समान शब्द हो रहा था। निर्मल फेन ही उसके हास के समान थे। कहीं २ उसका जल वेणी के समान तथा कहीं भंवर से युक्त हो रहा था ॥ १६ ॥ उस नदी का जल कहीं स्थिर तथा गम्भीर प्रतीत होता था। कहीं उसका जल बहुत वेग से बह रहा था। कहीं गम्भीर मृदङ्ग के समान उसके शब्द हो रहे थे तथा कहीं भयंकर वज्रपात के समान उसका शब्द हो रहा था ॥ १७ ॥ कहीं विद्वान् तपस्वी लोग उसमें स्नान कर रहे थे। निर्मल कमलों से भरी हुई थी। कहीं किनारे तक जल भरा हुआ था तथा कहीं किनारे पर बालू ही बालू दिखाई दे रहा था ॥ १८ ॥ हंस और सारस पक्षी के शब्द उसके किनारे पर हो रहे थे। चकवी-चकवे उसके तट की शोभा को बढ़ा रहे थे। सदा प्रसन्न रहने वाले पक्षिगण उस कल्याणमयी नदी की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १९ ॥ कहीं २ उसके तटके वृक्ष माला के समान उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे। कहीं २ उसका जल कमल दल से आच्छादित हो रहा था तथा तट पर कहीं झुण्ड के झुण्ड कमल के वन दिखाई दे रहे थे ॥ २० ॥ कहीं २ कमलों के वन तथा उनकी कलियों से तट अलंकृत हो रहा था। कहीं २ अनेक पुष्पों के पराग से उसका जल परिपूर्ण हो रहा था। कहीं २ मतवाली की तरह वह प्रतीत हो रही थी ॥ २१ ॥ हर प्रकार के मल को दूर करने वाली तथा मणि के समान निर्मल जल वाली वह नदी दिशा जाति के गजों, वन में रहने वाले तथा पालतू गजों से परिपूर्ण हो रही थी ॥ २२ ॥ देवर्षि तथा राजर्षियों के गज अपनी प्रतिध्वनि से उसे परिपूरित कर रहे थे। यत्नपूर्वक उत्तम भूषणों से अलंकृत स्त्री के समान वह नदी सुभूषित हो रही थी ॥२३॥ फल, फूल, पत्र, लता तथा पक्षियों से आवृत तथा नाना प्रकार के सर्प घड़ियाल आदि जल जन्तुओं से वह नदी परिपूर्ण हो रही थी ॥२४॥ विष्णु के चरणों से निकली हुई, दिव्य, निष्पाप तथा पाप को नाश करनेवाली वह नदी

[विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम् । तां शंकरजटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा ॥२५]

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् । आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥२६॥

तामूर्मकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः । सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥२७॥

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् । सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥२८॥

द्रक्ष्यामः सरितां श्रेष्ठां संमान्यसलिलां शिवाम् । देवदानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥२९॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् । उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥३०॥

रामोऽभीयाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः । रथादवातरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥३१॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान् । वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥३२॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा । निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥३३॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् । वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥३४॥

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् । सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ॥३५॥

तमार्तः संपरिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् । यथायोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥३६॥

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् । ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम् ॥३७॥

अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह । स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥३८॥

भगीरथके तेजसे पुनः महादेव की जटासे निकलने वाली है ॥२५॥ समुद्र की पत्नी के समान सारस तथा क्रौञ्च पक्षियों से नादित उस गंगा के तट पर शृंगवेरपुर में महाबाहु रामचन्द्र पहुँचे ॥ २६ ॥ नाना प्रकार की लहरियों तथा भँवरसे युक्त उस गंगा को देखकर महारथी रामचन्द्र सुमन्त्र से बोले—हमलोग आज यहीं वास करेंगे ॥२७॥ हे सारथि सुमन्त्र ! इस नदी के समीप ही बहुत फूल तथा पत्तों से ढका हुआ यह जो इङ्गुदी वृक्ष है, हम लोग आज यहीं रहेंगे ॥ २८ ॥ विद्वान् तथा गान-वाद्यादि करने वाले मनुष्यों और पशु-पक्षिगण से परिपूर्ण पवित्र जल वाली कल्याणमयी श्रेष्ठ जल वाली इस नदी को देखेंगे ॥ २९ ॥ रामचन्द्र के इस प्रकार कहने पर 'बहुत ठीक है' ऐसा रामचन्द्र से कहकर अश्वों पर बैठकर इङ्गुदी वृक्ष के समीप गये ॥ ३० ॥ उस रमणीय इंगुदीवृक्ष के पास जाकर लक्ष्मण तथा सीता के सहित रामचन्द्र भी रथ से उतर पड़े ॥ ३१ ॥ सुमन्त्र भी रथ से उतर कर घोड़ों को रथ से छोड़कर वृक्ष के मूल में बैठे हुए रामचन्द्र के पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥ उस शृङ्गवेरपुर में रामचन्द्र का परम मित्र बलवान् निषाद जाति का गुह नाम वाला एक राजा था ॥ ३३ ॥ वह यह सुनकर कि रामचन्द्र मेरी नगरी में आये हुए हैं, अपने वृद्ध मन्त्रियों तथा बन्धु बान्धवों सहित रामचन्द्र के पास आया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर निषादों के राजा गुह को दूर से ही आते हुए देखकर लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र उससे प्रेमपूर्वक मिले ॥ ३५ ॥ दुःख से पूर्ण वह निषादराज रामचन्द्र का आलिङ्गन करके उनसे बोला—हे राम ! जैसी आपकी अयोध्या है, वैसी ही इस नगरी को समझें। मैं आपके लिये क्या करूँ ? ॥ ३६ ॥ इस प्रकार का माननीय तथा प्रिय अतिथि किसको प्राप्त होगा, ऐसा कह कर गुण वाले अच्छे अन्न आदि पदार्थों तथा अर्घ्य आदि स्वागत-वस्तुओं को राम के पास में उपस्थित किया और शीघ्र ही वह बोला—हे महाबाहु ! मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह सम्पूर्ण पृथ्वी आपकी है ॥ ३७,३८ ॥ मैं आपका सेवक हूँ, आप मेरे स्वामी हैं। आप इस सम्पूर्ण राज्य का शासन कीजिये। भक्ष्य

वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः । भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥३९॥
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ॥
गुहमेवं ब्रुवाणं तं राघवः प्रत्यभाषत । अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वथा वयम् ॥४०॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च । भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत् ॥४१॥
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि नीरोगं सह बान्धवैः । अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च धनेषु च ॥४२॥
यदेतद्भवता किंचित्प्रीत्या समुपकल्पितम् । सर्वं तदनुजानामि न हि वर्ते प्रतिग्रहे ॥४३॥
कुशचीराजिनधरं फलमूलाशिनं च माम् । विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥४४॥
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित् । एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥४५॥
एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे । एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥४६॥
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् । गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥४७॥
ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् । जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥४८॥
तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः । सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥४९॥
गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन् । अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥५०॥

भोज्य, पेय, लेह्य (चटनी आदि) तथा शयन करने का सामान तथा घोड़ों के खाने की सब सामग्री ये सब आपके चरणों में उपस्थित हैं ॥ ३९ ॥ निषादराज के इस प्रकार कहते हुए उनसे रामचन्द्र बोले—आप लोगों ने सदा हमारा सत्कार किया है और हम लोग सदा उससे प्रसन्न भी हुए हैं ॥४०॥ आपके पैदल ही यहां आने से तथा इस प्रकार के स्नेह प्रदर्शन से हम प्रसन्न हैं। मोटी तथा विशाल भुजाओं से निषाद का आलिङ्गन करते हुए रामचन्द्र उनसे बोले—॥ ४१ ॥ बन्धु-बान्धवों के सहित हे गुह ! आपको मैं स्वस्थ देख रहा हूँ, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। आपके राष्ट्र में, मित्रों में तथा इस वन के भूभाग में कुशल तो है ? ॥ ४२ ॥ आप यह जो कुछ भी वस्तु प्रीतिपूर्वक ले आये हैं, उन सबको मैं स्वीकार करता हूं किन्तु इन दान की वस्तुओं का उपयोग नहीं करूंगा ॥ ४३ ॥ कुश-चीर-अजिन (मृगछाला) का धारण करने वाला तथा फल मूल आदि भोजन करने वाला मुझे समझें। वनवासी तपस्वियों के धर्म में दीक्षित इस समय मैं हो रहा हूं ॥ ४४ ॥ मैं इन वस्तुओं में से घोड़ों के खाने की जो वस्तु है उसी को स्वीकार करूंगा, अन्य किसी को नहीं। केवल इतने ही से मैं आपके द्वारा अपने को सम्मानित मानूंगा ॥ ४५ ॥ ये घोड़े मेरे पूज्य पिताजी के अत्यन्त प्रिय हैं। इनके भोजन आदि से मैं अपने को सत्कृत समझूंगा ॥ ४६ ॥ रामचन्द्र के ऐसा कहने पर निषादराज ने पुरुषों को आज्ञा दी कि घोड़ों के खाने पीने की सम्पूर्ण वस्तु इनको शीघ्र प्रदान करो ॥ ४७ ॥ तदनन्तर चीर से अपने को आच्छादित करके रामचन्द्र ने सायंकाल की सन्ध्या समाप्त की। उस दिन लक्ष्मण के द्वारा लाये हुए जल को ही भोजन के रूप में स्वीकार किया ॥ ४८ ॥ भूमि पर लेटे हुए सीता के सहित रामचन्द्र के चरणों को धोकर राम के पास ही लक्ष्मण वृक्ष के नीचे बैठ गये ॥ ४९ ॥ सूत सुमन्त्र के साथ निषादराज लक्ष्मण से बात करता हुआ धनुष बाण को लेकर सावधानी से रात्रि भर जागता रहा ॥ ५० ॥ जिन्हों ने कभी दुःख नहीं देखा, सुखपूर्वक ही जिनका समय बीता है, ऐसे यशस्वी

तथा शयानस्य ततोऽस्य धीमतो यशस्विनो दाशरथेर्महात्मनः ।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा तदा व्यतीयाय चिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे गुहसंगतं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

गुहलक्ष्मणजागरणम्

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् । गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता । प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥
उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः । गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥ ३ ॥
न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन । ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥
अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद्यशः । धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ ॥ ५ ॥
सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया । रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वतो ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥
न हि मेऽविदितं किंचिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा । चतुरङ्गं ह्यपि बलं सुमहत्प्रसहेमहि ॥ ७ ॥
लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ । नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥

तथा मनस्वी दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के इस प्रकार सोते हुए वह रात्रि अति विलम्ब से बीती ॥ ५१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'गुह से मिलन' विषयक पचासवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

इक्यावनवां सर्ग

गुह और लक्ष्मण का जागरण

स्वभावतः सोते हुए अपने भाई रामचन्द्र की रक्षा के लिये जागते हुए लक्ष्मण को देखते हुए निषाद अत्यन्त सन्तप्त हो गया। पश्चात् लक्ष्मण से यह बोला—॥ १ ॥ हे लक्ष्मण! आपके सोने के लिये यह शय्या हमने निर्मित की है। आप विश्वासपूर्वक इस पर सोइये ॥ २ ॥ मैं हर प्रकार के क्लेशों के सहने का अभ्यासी हूँ। आपका जीवन सुख में बीता है। इसलिये आप सोइये, हमलोग रामचन्द्र की रक्षा करने के लिये रात्रि भर जागेंगे। राम से बढ़कर इस संसार में हमारा अन्य कोई प्रिय पात्र नहीं है। मैं यह सत्य कह रहा हूँ तथा सत्य की शपथ कर रहा हूँ ॥ ४ ॥ मुझे इनकी कृपा से संसार में सुमहान् यश, धर्म की प्राप्ति तथा पुष्कल धन आदि की प्राप्ति होगी ॥ ५ ॥ इसलिये बन्धु-बान्धवों के सहित मैं हाथ में धनुष-बाण लेकर सीता के साथ सोते हुए अपने परम मित्र रामचन्द्र की रक्षा करूंगा ॥ ६ ॥ इस वन में घूमते हुए मुझ से कोई वस्तु छिपी नहीं है। बड़ी विशाल चतुरङ्गिणी सेना पर भी हम लोग विजय प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७ ॥ निषाद के ऐसा कहने पर लक्ष्मण बोले—हे निष्पाप! आप जैसे धर्मात्मा के संरक्षण में हम लोग किसी प्रकार से भयभीत नहीं हैं ॥ ८ ॥ जानकी सहित भूमि पर सोते हुए

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया । शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ ९ ॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि । तं पश्य सुखसंविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥
यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः । एको दशरथस्येष्टः पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति । विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १२ ॥
विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः । निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥
कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम । नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥
जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया । तद्दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १५ ॥
अनुरक्तजनाकीर्णा सुखा लोकप्रियावहा । राज्यव्यसनसंतप्ता सा पुरी विनशिष्यति ॥ १६ ॥
कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठं प्रियमपश्यतः । शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥
विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति । अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥
अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् । रामे राज्यमनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥
सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् कालेऽप्युपस्थिते । प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ २० ॥
रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् । हर्म्यप्रासादसंपन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥
रथाश्वगजसंबाधां तूर्यनादविनादिताम् । सर्वकल्याणसंपूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥
आरामोद्यानसंपन्नां समाजोत्सवशालिनीम् । सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

रामचन्द्र को देखकर मैं निद्रा कैसे प्राप्त कर सकता हूँ तथा जीवन के सुखों को कैसे भोग सकता हूँ ॥ ९ ॥ संग्राम में जिसका सामना देव और असुर कोई नहीं कर सकता, देखो ! आज वही रामचन्द्र सीता सहित तृण की शय्या पर सो रहे हैं ॥ १० ॥ जो नाना प्रकार की तपश्चर्या और अनेक उत्तम उपायों के द्वारा पूज्य पिता ने एक पुत्र राम को अपने समान उत्पन्न किया है ॥ ११ ॥ इस प्रकार राम के वनवासी होने पर महाराज दशरथ अधिक दिन तक जीवित न रह सकेंगे । निश्चय ही यह पृथ्वी शीघ्र ही विधवा (= विना राजा की) हो जायेगी ॥ १२ ॥ बहुत देर तक विलाप करने के पश्चात् थक कर राजमहल की स्त्रियों ने रोना बन्द कर दिया होगा । इसलिये निश्चय ही इस समय राजमहल सुनसान हो गया होगा ॥ १३ ॥ माता कौसल्या, पूज्य पिता जी तथा मेरी माता सुमित्रा ये तीनों आज रात्रि में जीवित रहेंगे, इसकी मुझे आशा नहीं ॥ १४ ॥ हो सकता है, मेरे भाई शत्रुघ्न को देखकर मेरी माता जीवित रहे, किन्तु इस भयङ्कर दुःख को न सह सकने वाली माता कौसल्या अवश्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेगी ॥ १५ ॥ राम के भक्तों से परिपूर्ण सुख देने वाली वह प्रिय नगरी अयोध्या राजा के दुःख से नष्ट हो जायेगी ॥ १६ ॥ अपने प्राणप्रिय ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को न देखते हुए राजा दशरथ कैसे जीवित रहेंगे ॥ १७ ॥ पूज्य पिता राजा दशरथ के नष्ट हो जाने पर माता कौसल्या भी विनाश को प्राप्त हो जायेगी । माता कौसल्या की मृत्यु के पश्चात् मेरी माता भी प्राण त्याग देगी ॥ १८ ॥ रामचन्द्र के राजगद्दी पर बैठाने का मेरे पूज्य पिता जी का मनोरथ पूर्ण न होने पर पिता जी अवश्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे ॥ १९ ॥ वे सफल-मनोरथ तथा भाग्यशाली माने जायेंगे जो पिता जी की मृत्यु के पश्चात् उनका अन्त्येष्टि संस्कार करेंगे ॥ २० ॥ जिसके चौराहे बड़े रमणीय हैं, जिसकी विशाल अच्छी अलग २ सड़कें हैं, जिसमें बड़ी २ गगन-चुम्बी अट्टालिकायें हैं, उत्तम तथा श्रेष्ठ सभाओं से परिपूर्ण, रथ-घोड़े-हाथी से युक्त, जहाँ पर अच्छे नृत्य-गान वादन होते हैं, जिसमें सम्पूर्ण कल्याण की वस्तुएँ उपस्थित हैं, हृष्ट पुष्ट लोगों से परिपूर्ण, वाटिका उपवाटिका से युक्त, तथा ऐसे समाज जहाँ नित्य उत्सव मनाये जाते हों, ऐसी जो मेरे पूज्य पिता की राजधानी है, यदि पिता जी कुशलपूर्वक रहे तो लोग उसमें सुख से विचरण करेंगे ॥ २१-२३ ॥ यदि

अपि जीवेद्दशरथो वनवासात्पुनर्वयम्। प्रत्यागम्य महाभागमपि पश्येम सुव्रतम् ॥२४॥
अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिनो वयम्। निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥२५॥
परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः। तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥२६॥

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते नरेन्द्रपुत्रे गुरुसौहृदाद्गुहः।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे गुहलक्ष्मणजागरणं नाम एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

गङ्गातरणम्

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः। उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥
भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा। असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥
बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने। तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरंगमाम् ॥ ३ ॥
विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः। गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥

वनवास से हम लोग लौट कर आये और उस समय तक पूज्य पिता जी जीवित रहे, तो उनका दर्शन करके हम लोग सुखी होंगे ॥ २४ ॥ सत्यप्रतिज्ञ मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के साथ वनवास की अवधि समाप्त करके हमलोग कुशलपूर्वक अयोध्या में प्रवेश करें ॥ २५ ॥ इस प्रकार लक्ष्मण के दुःखमय विलाप करते हुए वह रात्रि समाप्त हो गई ॥ २६ ॥ इस प्रकार से प्रजा के हित में सद्विचार रखने वाले लक्ष्मण के सभी घटनाओं के वर्णन करने पर मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र से प्रेम करने वाले निषाद की आँखों से इस प्रकार पानी गिरने लगा जैसे ज्वराक्रान्त दुःखित गजराज की आँखों से पानी गिरता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'गुह और लक्ष्मण का जागरण' विषयक इक्यावनवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

बावनवां सर्ग

गङ्गा को पार करना

रात्रि के समाप्त होने के पश्चात् प्रभात होने पर विशाल वक्षःस्थल वाले महायशस्वी रामचन्द्र शुभ लक्षण वाले अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥ १ ॥ भगवती रात्रि का अवसान हो गया है और इस समय सूर्योदय की वेला है। देखो, वह काली कोयल बोल रही है ॥ २ ॥ वन में मोरों के बोलने का शब्द सुनाई दे रहा है। इसलिये हे सौम्य! समुद्र को जाने वाली अत्यन्त वेगवती गंगा को हमलोग पार करें ॥ ३ ॥ सुमित्रा के आनन्द बढ़ाने वाले लक्ष्मण रामचन्द्र की इस बात को सुनकर तथा निषादराज को आदेश देकर पुनः रामचन्द्र के सामने खड़े हो गये ॥ ४ ॥ निषादराज ने रामचन्द्र के वचन को सुनकर

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च । स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् । सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥
तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यगणो महान् । उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥
ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् । उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥
तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगां नदीम् । नौरियं पुरुषव्याघ्र तां त्वमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥
अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः । कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥ १० ॥
ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बद्ध्वा च धन्विनौ। जग्मतुर्येन तौ गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥ ११ ॥
राममेवं तु धर्मज्ञमुपगम्य विनीतवत् । किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १२ ॥

ततोऽब्रवीद्दाशरथिः सुमन्त्रं स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन ।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥ १३ ॥

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम । रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥
आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः । सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् । तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥ १६ ॥
न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः । मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥

उसको स्वीकार किया । पश्चात् उसने अपने सचिवों को बुलाकर यह आदेश दिया ॥ ५ ॥ रामचन्द्र को गंगा पार करने योग्य कर्णधार वाली ऐसी शुभनाव को ले आओ जो पानी को चीरतो हुई सीधे घाट पर लग जाय ॥ ६ ॥ निषादराज की बात को सुन कर उसके प्रधान मन्त्रो ने सुन्दर तथा दृढ़ नाव को लाकर उसकी सूचना निषादराज को दे दी ॥ ७ ॥ तदनन्तर निषादराज हाथ जोड़ते हुए रामचन्द्र से बोला—हे देव ! यह नौका आप की सेवा में उपस्थित है । और हमारे लिये क्या आज्ञा है ॥ ८ ॥ हे सुव्रत ! देव तुल्य आपके लिये गंगा को पार करनेवाली यह नौका उपस्थित है । इसलिये हे नरकेसरी ! आप इस पर आरोहण कीजिये ॥ ९ ॥ पश्चात् महातेजस्वी रामचन्द्र निषादराज से बोले हे तात ! आपके द्वारा मैं सफल मनोरथ हुआ, अब हमलोगों की वस्तुएँ नौका पर रखवाइये ॥ १० ॥ तदनन्तर धनुष-बाण-कवच आदि से सुसज्जित राम-लक्ष्मण जानकी के साथ उस मार्ग से गंगा के तट पर गये, जिससे प्रायः सब लोग जाया करते थे ॥ ११ ॥ गंगा के तट पर पहुँचे हुए धर्मात्मा रामचन्द्र के पास जाकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर सुमन्त्र उनसे बोले—हे कृपानिधान ! अब मैं क्या करूँ ॥ १२ ॥ तत्पश्चात् दशरथ-कुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने दक्षिण हाथ से सुमन्त्र को स्पर्श करते हुए सुमन्त्र से यह बोले—हे सुमन्त्र ! तुम शीघ्र ही अयोध्यापुरी को लौट जाओ और पूज्य पिताजी के पास सावधान होकर रहो ॥ १३ ॥ अब तुम यहां से लौट जाओ, इस प्रकार रामचन्द्र ने सुमन्त्र से कहा । क्योंकि मैंने गंगा तट तक ही रथ को स्वीकार किया था । अब यहां से रथ को छोड़कर पैदल हो इस महावन में प्रस्थान करूंगा ॥ १४ ॥ 'तुम लौट जाओ'—अपने लिये इस बात को सुनकर सारथि सुमन्त्र दुःखित होते हुए नरकेसरी इक्ष्वाकुवंशीय रामचन्द्र से बोले—॥१५॥ अपने भाई लक्ष्मण तथा जानकी के साथ आपका इस प्रकार साधारण पुरुषों के समान वन में रहना इस संसार में कोई पसन्द नहीं करता, मैं इसे पसन्द करूं इसका तो कहना ही क्या ? ॥ १६ ॥ ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य पालन करना, अध्ययन करना, दया तथा नम्रता आदि का जो उत्तम फल मिलना चाहिये, वह नहीं मिलता क्योंकि इन सब गुणों से सम्पन्न होते हुए भी आप इन सब दुःखों के भागी हो रहे

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् । त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥१८॥
वयं खलु हता नाम यत्त्वयाप्युपवञ्चिताः । कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥१९॥
इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा । दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥२०॥
ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम् । रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥२१॥
इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये । यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥२२॥
शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः । कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥२३॥
यद्यदाज्ञापयेत्किंचित्स महात्मा महीपतिः । कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविशङ्कया ॥२४॥
एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः । यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥२५॥
यद्यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति । न च ताम्यति दुःखेन सुमन्त्र कुरु तत्तथा ॥२६॥
अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् । ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥२७॥
नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली । अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति च ॥२८॥
चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः । लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान् ॥२९॥
एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे । अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥३०॥
आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् । सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥३१॥

हैं ॥ १७ ॥ अपने भाई लक्ष्मण तथा जानकी के साथ व्रत पूर्वक वनवास करते हुए आप त्रिलोकी की विजय के समान गति को प्राप्त होंगे ॥ १८ ॥ हे रामचन्द्र! आपके त्याग देने से हमलोग तो अब मृतवत् हो रहे हैं क्योंकि हम अभागों को अब उस क्रूरकर्मा पापिनी कैकेयी के ही वश में रहना पड़ेगा ॥ १९ ॥ इस प्रकार अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल ही बोलते हुए सारथि सुमन्त्र यह समझ कर कि अब रामचन्द्र हम लोगों से बहुत दिनों के लिये दूर हो रहे हैं, चिरकाल तक रोते रहे ॥ २० ॥ पश्चात् आंसुओं के रुकने पर सुमन्त्र ने पवित्र जल से आचमन किया। सुमन्त्र के सावधान हो जाने के पश्चात् रामचन्द्र ने बार २ उनसे यह कहा ॥ २१ ॥ हे तात ! इक्ष्वाकुवंश का शुभ चिन्तक तुमसे बढ़कर कोई नहीं दिखाई दे रहा है। इसलिये पूज्य पिताजी मेरे वन गमन के पश्चात् मेरे लिये चिन्तित या दुःखित जिस प्रकार न हों आप वैसा करें ॥ २२ ॥ पूज्य पिताजी इस वृद्धावस्था में कामादि तथा राजभार से खिन्न हो रहे हैं और मेरे वन गमन से अत्यन्त शोकातुर हैं, इसीलिये मैं तुमसे ये बातें कह रहा हूं ॥ २३ ॥ माता कैकेयी की प्रिय कामना के लिये पूज्य पिताजी जो कुछ भी तुम्हें आज्ञा दें उसे आदर पूर्वक करना ॥ २४ ॥ इसलिये ही राजा लोग शासन का भार उठाते हैं कि उनकी मनोरथ प्राप्ति तथा शासनकार्य में कोई बाधा न उपस्थित हो ॥ २५ ॥ जिनसे पूज्य पिता महाराज दशरथ कोई अशोभन काम न करें तथा शोक के द्वारा उनको किसी प्रकार का दुःख न हो, आप वे ही उपाय करें ॥ २६ ॥ जिन्हों ने आज तक कोई दुःख नहीं देखा, जो सर्वश्रेष्ठ, जितेन्द्रिय तथा वृद्ध हैं, ऐसे पूज्य पिताजी के चरणों में प्रणाम करके मेरे लिये उनसे यह कहना ॥ २७ ॥ मुझे लक्ष्मण और सीता को किसी प्रकार का शोक नहीं है और अयोध्या से हमलोग अलग करके वनवासी बना दिये गये इसका भी हमें कोई दुःख नहीं है ॥ २८ ॥ चौदह वर्ष का वनवास समाप्त कर पुनः लौटने पर लक्ष्मण मुझे तथा सीता को शीघ्र ही आप आनन्द पूर्वक देखेंगे ॥ २९ ॥ पूज्य पिताजी से यह कहकर मेरी माता कौसल्या, अन्य जो माताएं हैं उनसे तथा माता कैकेयी से बार-बार ये ही बातें कहना ॥ ३० ॥ मैं आरोग्यपूर्वक हूँ यह बात मेरी माता कौसल्या से कहना और उनको मेरी ओर से चरण स्पर्श करके प्रणाम कहना। यही सन्देश जानकी तथा भ्राता लक्ष्मण के विषय में कहना ॥ ३१ ॥ पूज्य पिताजी से यह बातें

ब्रूयाश्च हि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय । आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥३२॥
भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च । अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामाभिभविष्यति ॥३३॥
भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे । तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥३४॥
यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः । तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥३५॥
तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता । लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥३६॥
निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः । तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत् ॥३७॥
यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवम् । भक्तिमानिति तत्तावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥३८॥
कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् । तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामिव ॥३९॥
सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः । विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥४०॥
दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् । सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥४१॥
दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् । चिन्तयन्त्योऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥४२॥
दृष्टं तद्धि त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने । प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥४३॥
आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने । सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥४४॥
अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया । नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति ॥४५॥

कहना कि भाई भरत को शीघ्र बुला लेवें तथा उनके आ जाने पर शीघ्र ही उनका राजपद पर अभिषेक कर देवें ॥ ३२ ॥ भरत के राज्याभिषेक हो जाने पर तथा प्रेम-पूर्वक उनका आलिङ्गन करने पर हमलोगों के वन-गमन के कारण जो आपको दुःख हो रहा है, वह नहीं होगा ॥ ३३ ॥ तदनन्तर भाई भरत से यह कहना जिस प्रकार नम्रता तथा आदरपूर्वक व्यवहार राजा दशरथ में करें, वही आदरणीय व्यवहार सम्पूर्ण माताओं के प्रति वर्त्तें ॥ ३४ ॥ हे सुमन्त्र ! भरत से यह कहना कि जैसे तुम्हारी माता कैकयी है और शत्रुघ्न के नाते जैसे तुम्हारी माता सुमित्रा हैं, उसी प्रकार मेरी माता कौसल्या भी तुम्हारी माता हैं ॥ ३५ ॥ पूज्य पिताजी की यथायोग्य सेवा करने से तथा युवराज पद के भार को धर्मतः परिवहन करने से आप लोक-परलोक दोनों की सुख शान्ति को प्राप्त करेंगे ॥ ३६ ॥ समझा बुझाकर सुमन्त्र को लौटने के लिये जो बातें रामचन्द्र ने कहीं, उनको सुनकर स्नेहपूर्वक सुमन्त्र पुनः रामचन्द्र से बोले—॥ ३७ ॥ स्नेहपूर्वक आपको प्रसन्न करने के लिये यदि मैं कोई अयुक्त बातें आपसे कहूँ तो 'यह मेरा भक्त है' इस भक्ति के नाते आप मुझे क्षमा करेंगे । अपने औरस पुत्र के वियोग के समान जो सारी नगरी आप के वियोग से दुःखित हो रही है, उस अयोध्या नगरी में मैं आप के बिना कैसे लौटकर जाऊँगा ॥ ३९ ॥ उस समय रामचन्द्र से युक्त इस रथ को लोगों ने देखा था, अब उसी रथ को राम से विहीन जब नगरी देखेगी तो वह अत्यन्त दुःख से विदीर्ण हो जायेगी ॥ ४० ॥ इस शून्य रथ को देखकर सम्पूर्ण नगरी इस प्रकार दीनता को प्राप्त हो जायेगी जिस प्रकार संग्राम में महारथी के मर जाने पर सूतावशेष रथ और अपनी सेना को देखकर लोग दुःखी होते हैं ॥ ४१ ॥ अयोध्या से दूर निवास करने पर भी आप जनता के हृदय में ही वास करते हैं, इस लिये अपने हृदयाराध्य आप का स्मरण करती हुई अयोध्या की प्रजा आज भूखी रहेगी ॥ ४२ ॥ हे रामचन्द्र ! आप के अयोध्या से निकलते समय जिस शोक-सन्ताप से सारी अयोध्या की प्रजा क्लान्त हो रही थी, उस अवस्था को आप ने देखा ही है ॥ ४३ ॥ अयोध्या से प्रवासी होने के समय जो आर्त्तनाद प्रजा ने किया था, आप के बिना शून्य रथ से युक्त-मुझको देखकर उससे सौ गुणा आर्त्तनाद करेगी ॥ ४४ ॥ मैं उस देवी कौसल्या से जाकर क्या कहूँगा । मैं ने तुम्हारे पुत्र को मामा के कुल में पहुँचा दिया, अब

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् । कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥४६॥
मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः । कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥४७॥
तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ । वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥४८॥
यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि । सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया ॥४९॥
भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते । रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सत्त्वानि राघव ॥५०॥
त्वत्कृतेन मयावाप्तं रथचर्याकृतं सुखम् । आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥५१॥
प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः । प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥५२॥
इमे चापि हया वीर यदि ते वनवासिनः । परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥५३॥
तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् । अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥५४॥
न हि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना । राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥५५॥
वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः । यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥५६॥
चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने । क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यान्यतोऽन्यथा ॥५७॥
भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि । भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्यां त्वं न मां हातुमर्हसि ॥५८॥
एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः । रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥५९॥

सन्ताप मत करो, [क्या यह कहूँगा ?] ॥ ४५ ॥ इस प्रकार की असत्य बात भी मैं नहीं कह सकता और यह हृदय-द्रावक सत्य वचन भी कैसे कहूँगा ? ॥ ४६ ॥ आप जैसे बन्धुओं को वहन करने वाले ये घोड़े मेरी आज्ञा से चलते हैं। आप जैसे बन्धुओं से विहीन उस रथ को लेकर ये घोड़े अब कैसे चलेंगे ॥ ४७ ॥ इस लिये हे निष्पाप रामचन्द्र ! मैं आपके बिना अयोध्या नहीं लौटूँगा । मुझे आप बन में चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥ यदि इतनी प्रार्थनापूर्वक याचना करने पर भी आप मेरा त्याग ही करेंगे, तो आप के द्वारा त्यागे जाने पर मैं रथ के साथ अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४९ ॥ हे रामचन्द्र ! तप के विघ्न करने वाली जो भी बाधायें बन में होंगी, मैं इस रथ के द्वारा उन बाधाओं को दूर करूँगा ॥५०॥ आप के द्वारा ही मैं ने सारथि पद को और उससे होने वाले सुख को प्राप्त किया । अब मेरी बड़ी प्रबल इच्छा तथा इस बात की आशा है कि वनवास का सुख भी प्राप्त करूँ ॥ ५१ ॥ मैं आप का अनुचर होना चाहता हूँ, आप मुझ पर प्रसन्न हों । प्रसन्नता पूर्वक आप यह कह दें—हाँ, हे सुमन्त्र ! मेरे साथ बन को चलो ॥ ५२ ॥ हे वीर रामचन्द्र ! यदि ये घोड़े वनवासी आप की सेवा करेंगे तो इनको भी बहुत सुख-शान्ति मिलेगी ॥ ५३ ॥ बन में आप की हर प्रकार की सेवा आदर पूर्वक करूँगा । आप के साथ रह कर अयोध्या तथा देवलोक के सुख को भी मैं छोड़ दूँगा ॥ ५४ ॥ जैसे किसी दुष्कर्म करने वाले पापी का महेन्द्र की राजधानी अमरावती में प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार मैं भी आप के बिना अयोध्या राजधानी में प्रवेश न कर सकूँगा ॥ ५५ ॥ मेरी यह परम अभिलाषा है कि वनवास की समाप्ति पर मैं इसी रथ पर बैठा कर आप को अयोध्या पुरी में ले चलूँ ॥ ५६ ॥ आप के साथ रहने से मेरे ये चौदह वर्ष एक क्षण के समान बीत जायेंगे, अन्यथा आप के बिना ये चौदह वर्ष मेरे लिये सौ वर्ष के समान हो जायेंगे ॥ ५७ ॥ मैं आप का एक परम भक्त सेवक हूँ और आप मेरे स्वामी के पुत्र होकर जिस पथ के पथिक हो रहे हैं मुझे भी एक सच्चे भृत्य होने के नाते उसी पथ का अनुसरण करना चाहिये । ऐसी स्थिति में मेरे जैसे सेवा करने वाले भक्त को आप न त्यागें ॥ ५८ ॥ सुमन्त्र के इस प्रकार दीनता पूर्वक बार-बार याचना करने पर अपने सेवकों पर अनुकम्पा करने वाले रामचन्द्र जी सुमन्त्र से यह बोले ॥५९॥

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल। शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥६०॥
नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी। कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥६१॥
परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि। राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥६२॥
एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी। भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्नुयात् ॥६३॥
मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज। संदिष्टश्चासि यानर्थांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा ॥६४॥
इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः। गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत् ॥६५॥
नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने। अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥६६॥
सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम्। हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥६७॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय। तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥६८॥
लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः। दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥६९॥
तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ। अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥७०॥
ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः। व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥७१॥
अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा। भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥७२॥
ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः। जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥७३॥

हे स्वामिभक्त सुमन्त्र ! अपने प्रति तुम्हारी इस प्रकार की भक्ति को मैं जानता हूँ किन्तु मैं तुम्हें यहाँ से अयोध्या किस लिये भेज रहा हूँ, इसको सुनो ॥ ६० ॥ तुम्हारे अयोध्या लौट जाने पर जब माता कैकेयी तुमको देखेगी तब उसे पूर्ण विश्वास हो जायेगा कि अब रामचन्द्र वन में चला गया ॥ ६१ ॥ मेरे वनवास के लिये चले जाने का जब उसे विश्वास हो जायेगा तो मेरी माता बड़ी प्रसन्न हो जायेगी और पूज्य पिता जी के मिथ्यावादी होने की आशङ्का भी दूर हो जायेगी ॥ ६२ ॥ मेरी यह हार्दिक भावना है कि मेरी छोटी माता भाई भरत के द्वारा शासित राज्य का सुख प्राप्त करे ॥ ६३ ॥ हे सुमन्त्र ! मेरी तथा पूज्य पिता राजा दशरथ की प्रसन्नता के लिये तुम अयोध्या पुरी को लौट जाओ और जिन सन्देशों को मैं ने तुम से कहा है, उन सबको उसी प्रकार जाकर कह दो ॥ ६४ ॥ इस प्रकार सुमन्त्र सूत से कह कर तथा बार-बार उसे सान्त्वना देकर ओजस्वी रामचन्द्र हेतु पूर्वक निषादराज से यह वचन बोले ॥ ६५ ॥ हे निषाद ! अब हमें अपने आत्मीयजनों में रहना उचित नहीं। अब वानप्रस्थ आश्रम में रहना तथा उसकी विधि का नियमानुकूल पालन करना परम आवश्यक है ॥ ६६ ॥ अब मैं वही नियम आदि जो तपस्वियों का भूषण है लक्ष्मण तथा सीता की सम्मति से पिता की हित-कामना के लिये करूँगा ॥ ६७ ॥ अब मैं जटा का निर्माण करके वन में जाऊँगा, तुम वट का दूध ले आओ। रामचन्द्र के ऐसा कहने पर निषाद ने दूध लाकर उनको दे दिया ॥ ६८ ॥ उस दूध से रामचन्द्र तथा लक्ष्मण ने अपनी जटाओं का निर्माण किया। उससे विशाल भुजा वाले रामचन्द्र ने जटावस्था को धारण किया ॥ ६९ ॥ तदनन्तर चीर तथा जटा मण्डल धारण करने वाले वे दोनों भाई रामलक्ष्मण ऋषियों के समान प्रतीत होने लगे ॥ ७० ॥ पश्चात् राम-लक्ष्मण दोनों भाई वानप्रस्थ के मार्ग का अवलम्बन करते हुए ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने वाले अपने सहायक निषादराज से यह बोले ॥ ७१ ॥ हे गुह ! सेना कोश, दुर्ग तथा जनपद की रक्षा में सावधानी से रहना क्योंकि राज्य का संचालन तथा उसका रक्षण बड़ी कठिनता से होता है ॥ ७२॥ उसके पश्चात् निषादराज को आदेश देकर इक्ष्वाकु कुलनन्दन रामचन्द्र बहुत शीघ्र ही निर्भय होकर लक्ष्मण तथा सीता के साथ वहाँ से आगे चल दिये ॥ ७३ ॥ गंगानदी के तट पर नाव को

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः। तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥७४॥
आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः। सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥७५॥
स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन्। आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥७६॥
अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः। ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥७७॥
राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः। ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥७८॥
[आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया। प्राणमत्प्रीतिसंहृष्टो लक्ष्मणश्चामितप्रभः ॥७९॥]
अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम्। आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥८०॥
ततस्तैश्चोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता। शिवस्फ्यवेगाभिहता गङ्गासलिलमत्यगात् ॥८१॥
[मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता। वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥८२॥
पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः। निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥८३॥
चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने। भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥८४॥
ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता। यक्ष्ये प्रमुदिता गंगे सर्वकामसमृद्धिनी ॥८५॥
त्वं हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोकं समीक्षसे। भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् संप्रदृश्यसे ॥८६॥
सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने। प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते ॥८७॥
गवां शतसहस्राणि वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्। ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥८८॥

देख कर इक्ष्वाकु कुलनन्दन रामचन्द्र पार जाने की इच्छा रखते हुए अपने भाई लक्ष्मण से यह बोले ॥७४॥ हे नरकेसरी! सामने उपस्थित इस नाव पर आरोहण करो तदनन्तर सहारा देकर सीता को चढ़ाओ ॥ ७५ ॥ अपने भाइ रामचन्द्र को आज्ञा को सुनकर सर्वथा उसके अनुकूल करते हुए लक्ष्मण ने पहले सीता को चढ़ाया पश्चात् स्वयं चढ़े ॥ ७६ ॥ लक्ष्मण के चढ़ने के अनन्तर तेजस्वी रामचन्द्र स्वयं नाव पर चढ़े, पश्चात् निषादराज ने नाव को चलाने वाले अपनो जाति वालों को प्रेरित किया ॥ ७७ ॥ नाव पर चढ़कर महातेजस्वी रामचन्द्र ने भी ब्राह्मण और क्षत्रियों के सदृश अपने कल्याण के लिए मन्त्र जप किया ॥७८॥ सीता के सहित रामचन्द्र ने शास्त्रपूर्वक आचमन करके गंगा को प्रणाम किया। पश्चात् लक्ष्मण ने भी प्रसन्न होकर गंगा को प्रणाम किया ॥ ७९ ॥ सुमन्त्र को तथा बन्धु-बान्धवों सहित निषादराज को आज्ञा देकर रामचन्द्रजी ने नाविकों को नाव ले चलने की आज्ञा दो ॥ ८० ॥ कुशल नाविकों के द्वारा संचालित वह नौका वेगवान् दण्ड आदि के संचालन से बहुत शीघ्रता पूर्वक जल में चलने लगी ॥ ८१ ॥ आनन्दित सीता गंगा के मध्य में नाव आने पर हाथ जोडकर उस पवित्र नदी गंगा से बोली ॥ ८२ ॥ धीमान् महाराजा दशरथ के पुत्र ये रामचन्द्र हे देवि गंगे! आप से संरक्षित होकर अपने पिता की आज्ञा पालन करें ॥ ८३ ॥ समग्र चौदह वर्ष वन में निवास करने के पश्चात् अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ जब लौट कर अयोध्या आजायेंगे ॥ ८४ ॥ पश्चात् हे देवि गंगे! सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि वाली तथा कुशल पूर्वक लौटने वाली मैं प्रसन्नता पूर्वक आप की पूजा करूँगी ॥ ८५ ॥ हे गंगे! तुम्हारी कीर्ति की धाक ब्रह्मलोक तक फैली हुई है। इस संसार में तुम उदधिराज की धर्मपत्नी प्रसिद्ध हो ॥ ८६ ॥ हे शोभने गंगे! इस लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करती हूँ तथा तुम्हें प्रणाम करती हूँ। रामचन्द्र के कुशलतापूर्वक लौट आने तथा राजसिंहासन प्राप्त कर लेने पर तुम्हारी प्रसन्नता के लिए एक लाख गौएँ, उत्तम वस्त्र तथा अन्न मैं ब्राह्मणों को प्रदान करूँगी ॥ ८७, ८८ ॥ एक हजार मदिरा के घट से तथा मांस युक्त भात

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च । यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरुपागता ॥८९॥
यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च । तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥९०॥
पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः । अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥९१॥
तथा संभाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता । दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत्] ॥९२॥
तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः । प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः ॥९३॥
अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् । भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥९४॥
अवश्यं रक्षणं कार्यमदृष्टे विजने वने । अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥९५॥
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन् । अन्योन्यस्येह नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥९६॥
न हि तावदतिक्रान्ता सुकरा काचन क्रिया । अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥९७॥
प्रनष्टजनसंबाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् । विषमं च प्रपातं च वनं ह्यद्य प्रवेक्ष्यति ॥९८॥
श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः । अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥९९॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टिर्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥१००॥
स लोकपालप्रतिमप्रभावस्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।
ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥१०१॥

से नम्रता पूर्वक तुम्हारी पूजा करूँगी यदि कुशल पूर्वक लौट कर यहाँ आगई ॥ ८९ ॥ हे गंगे ! जो तुम्हारे तट पर रहने वाले देवता हैं तथा अन्य तीर्थ और उनके स्थान बने हुए हैं, उन सभी की प्रसन्नता पूर्वक मैं पूजा करूँगी ॥९०॥ हे निष्पाप गंगे ! महाबाहु रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण तथा मेरे साथ वनवास को समाप्त कर पुनः अयोध्या में प्रवेश करें, [यह मेरी आप से प्रार्थना है ।] ॥ ९१ ॥ इस प्रकार पवित्र विचार वाली पतिपरायण सीता के भाषण करते हुए वह नौका शीघ्र ही गंगा के दक्षिण तट पर आकर लग गई ॥ ९२ ॥ शत्रुओं के मान मर्दन करने वाले नर-श्रेष्ठ रामचन्द्र ने नौका के किनारे पहुँचने पर नाव को छोड़ दिया तथा अपने भाई लक्ष्मण एवं सीता के साथ वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥ तदनन्तर महाबाहु रामचन्द्र अपने भाई लक्ष्मण से बोले—जन-सहित तथा जनरहित स्थान में सीता की रक्षा के लिए तुम सन्नद्ध हो जाओ ॥ ९४ ॥ इस विजन में रक्षा का प्रबन्ध हम लोगों को अवश्य करना चाहिए। हे लक्ष्मण ! तुम आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता चले ॥ ९५ ॥ तत्पश्चात् तुम्हारी तथा सोता को रक्षा करते हुए मैं चलूँगा। हे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! हम लोगों को परस्पर एक दूसरे की रक्षा करनो होगी ॥ ९६ ॥ हम लोगों ने अभो उस कठिन कार्य को समाप्त नहीं किया जिसका अभो-अभो आरम्भ ही हुआ है। सीता वस्तुतः आज वन के दुःख का अनुभव करेगी ॥ ९७ ॥ जिसमें मनुष्यों का सम्पर्क नहीं रहेगा, खेत और बगीचों से जो रहित है, ऊँची-नीची भूमि तथा जहाँ जल के प्रपात हैं, सीता आज उस वन में प्रवेश करेगी ॥ ९८ ॥ राम की बातों को सुन कर लक्ष्मण आगे चल पड़े, उनके पीछे सोता चली, लक्ष्मण तथा सीता के पोछे रघुकुल शिरामणि रामचन्द्र जी चल पड़े ॥ ९९ ॥ गंगा के उस पार शीघ्र ही राम के चले जाने पर सुमन्त्र उनको बहुत देर तक देखते रहे। अधिक दूर चले जाने के कारण उन्होंने उधर से अपनी दृष्टि लौटा ली तथा दुःख पूर्वक अश्रुपात करने लगे ॥ १०० ॥ लोकपालों के सदृश अमित प्रभाव वाले तथा वर देने वाले महात्मा रामचन्द्र उस महानदी गंगा को पार करके थोड़ी ही देर में धन धान्य से समृद्ध, रमणीय तथा प्रसन्न लोगों से परिपूर्ण

[तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान् वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ वासाय कल्ये ययतुर्वनस्पतिम् ॥१०२॥]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे गङ्गातरणं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

रामसंक्षोभः

स तं वृक्षं समासद्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् । रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥
अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद्बहिः । या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥
जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्य प्रभृति रात्रिषु । योगक्षेमं हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥
रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे । उपावर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥
स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः । इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥
ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण । कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥
सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् । अपि न च्यावयेत्प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥
अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः । किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥

वत्स देश में पहुँच गये ॥ १०१ ॥ वहाँ वे दोनों भाई वराह, ऋश्य, पृषत् और रुरु इन चार प्रकार के मृग जातीय पशुओं को मारकर तथा इन पवित्र पशुओं को लेकर भूखे प्यासे निवास करने के लिए वृक्ष के पास पहुँचे ॥१०२॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'गंगा को पार करना'
विषयक बावनवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

तिरपनवां सर्ग

राम का विलाप

रमण करने वालों में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी उस वृक्ष के समीप जाकर तथा सायंकाल की सन्ध्या को समाप्त करके अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥ १ ॥ सुमन्त्र के बिना नगर से बाहर आज हम लोगों की यह पहली रात्रि है । इसलिये तुम किसी प्रकार उदास न होना ॥ २ ॥ आज से लेकर हम लोगों को आलस्य छोड़कर रात्रि में जागना चाहिये क्योंकि सीता के योग-क्षेम का भार हम लोगों के ऊपर है ॥ ३ ॥ अपने हाथों से तृण आदि की शय्या भूमि पर बना कर उसपर सोते हुए किसी प्रकार आज की रात्रि बितायें ॥ ४ ॥ उत्तम शय्या पर शयन करने वाले पृथ्वी पर सोते हुए रामचन्द्र ने इस प्रकार की शुभ कथा वार्त्ता लक्ष्मण से कहना आरम्भ किया ॥ ५ ॥ हे लक्ष्मण ! निश्चय ही आज पूज्य पिता जी दुःख की नींद सोयेंगे और सफल मनोरथ वाली कैकेयी आज प्रसन्न होगी ॥ ६ ॥ अपने पुत्र भरत को आये हुए देखकर राज्य प्राप्ति के कारण कैकेयी कहीं पूज्य पिता जी की हत्या न करा दे, [ऐसी आशंका हो रही है] ॥ ७ ॥ मेरे वनवास में चले आने के पश्चात् पूज्य पिता जी इस समय अनाथ से हो रहे हैं । कामुकता के कारण कैकेयी के वश में हो रहे हैं । ऐसी अवस्था में वृद्ध पिता जी अपनी रक्षा कर ही क्या सकते

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् । काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥
कोह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्। छन्दानुवर्तनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥१०॥
सुखी बत सभार्यश्च भरतः कैकयीसुतः । मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥११॥
स हि सर्वस्य राज्यस्य सुखमेकं भविष्यति । ताते च वयसातीते मयि चारण्यमास्थिते ॥१२॥
अर्थधर्मौ परित्यज्य सुखमेकं भविष्यति । एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥१३॥
मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च । कैकेयी सौम्य संप्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥१४॥
अपीदानीं न कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता । कौसल्यां च सुमित्रां च संप्रबाधेत मत्कृते ॥१५॥
मा स्म मत्कारणाद्देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् । अयोध्यामित एव त्वं कल्ये प्रविश लक्ष्मण ॥१६॥
अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् । अनाथाया हि नाथस्त्वं कोसल्याया भविष्यसि ॥१७॥
क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्याय्यमाचरेत् । परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं मम मातरम् ॥१८॥
नूनं जात्यन्तरे कस्मिंस्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः । जनन्या मम सौमित्रे तस्मादेतदुपस्थितम् ॥१९॥
मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च । विप्रयुज्येत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् । सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥२१॥

हैं ॥ ८ ॥ पिता जी की आई हुई इस विपत्ति तथा मतिविभ्रम को देखकर अब मेरा ऐसा विचार हो रहा है कि त्रिवर्गों (धर्म-अर्थ-काम) में धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम ही प्रधान है ॥ ९ ॥ मूर्ख भी ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने आज्ञाकारी पुत्र को अपनी स्त्री के कारण छोड़ दे, हे लक्ष्मण ! जैसे पूज्य पिता जी ने मुझको छोड़ा है ॥ १० ॥ कैकेयी का पुत्र भरत ही इस समय सुखी है तथा उसकी स्त्री भाग्य वाली है, जो प्रसन्न धन-धान्य से पूर्ण अयोध्या का साम्राज्य महाराज के समान भोगेगा ॥ ११ ॥ पूज्य पिताजी के वृद्ध होने पर तथा मेरे वनवासी हो जाने पर सम्पूर्ण राज्य सुख के भागी केवल भरत ही होंगे ॥ १२ ॥ धर्म और अर्थ का परित्याग करके जो व्यक्ति केवल काम का ही आश्रय लेता है, वह शीघ्र ही इस प्रकार की विपत्ति में फँसता है जिस प्रकार इस समय पूज्य पिता राजा दशरथ पड़ गये हैं ॥ १३ ॥ हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि पूज्य पिता जी की मृत्यु, मुझे वनबास तथा भरत को राज्य दिलाने के लिये ही कैकेयी का इस कुल में आना हुआ है ॥ १४ ॥ सौभाग्य मद से दर्पित कैकेयी मेरे कारण माता कौसल्या और सुमित्रा की कहीं हत्या न करा दे ॥ १५ ॥ हमारे कारण माता कौसल्या तथा माता सुमित्रा विपत्ति में न पड़ँ, इस लिये हे लक्ष्मण ! समय रहते तुम यहाँ से शीघ्र अयोध्या को चले जाओ ॥ १६ ॥ मैं सीता के साथ अकेला ही दण्डक बन में जाऊँगा । तुम्हारे अयोध्या लौट जाने पर मेरी अनाथ माता कौसल्या सनाथ हो जायेगी ॥ १७ ॥ क्षुद्र कर्म करनेवाली कैकेयी द्वेष के कारण घोर अन्याय कर सकती है, यहाँ तक कि हे धर्मज्ञ ! मेरी माता कौसल्या तथा तुम्हारी माता सुमित्रा को विष भी दे सकती है ॥१८॥ हे लक्ष्मण ! निश्चय ही मरने के पश्चात् जन्मान्तर में स्त्रियों को पुत्र का वियोग सहना पड़ता है। मेरी माता कौसल्या को तो इसी जन्म में यह दुःख आकर उपस्थित हो गया है ॥ १९ ॥ चिर काल तक मेरी माता ने हम को पालन पोषण करके बढ़ाया और आज मेरे द्वारा सेवा के समय उस माता का वियोग हो गया है (अर्थात् मैं इस अवस्था में उनकी सेवा नहीं कर सका)। मुझको धिक्कार है ॥ २० ॥ कोई भी माता हमारे जैसा भाग्यहीन पुत्र न पैदा करे क्योंकि हे लक्ष्मण ! देखो, मैं माता को कितना असहनीय कष्ट दे रहा हूँ ॥ २१ ॥ हे लक्ष्मण ! मुझ से तो अच्छी तथा माता के प्रति अधिक प्रेम करने वाली वह

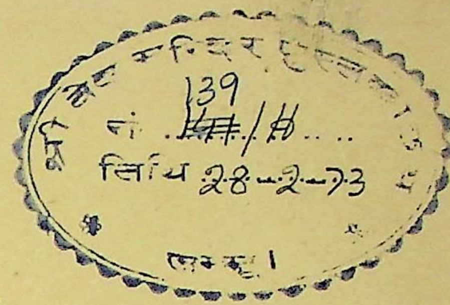
मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका। यस्यास्तच्छ्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥२२॥
शोचन्त्या अल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता। पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिंदम ॥२३॥
अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया। शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥२४॥
एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम् ॥२५॥
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ। तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ॥२६॥
एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने वने। अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तूष्णीमुपाविशत् ॥२७॥
विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्। समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥२८॥
ध्रुवमद्य पुरी राजन्नयोध्या युधिनां वर। निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ॥२९॥
नैतदौपयिकं ह्यार्य यदिदं परितप्यसे। विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥३०॥
न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥३१॥
न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप। द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं वापि त्वया विना ॥३२॥
ततस्तत्र सुखासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्। न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥३३॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥३४॥

सारिका (मैना) पक्षी है, जिसका यह वाक्य सुना जाता है—'हे शुक ! शत्रु के पैर को काट ले।' [मैं तो इतना भी नहीं कर सकता।] ॥ २२ ॥ हे शत्रुनाशक लक्ष्मण ! अल्प भाग्य वाली कौसल्या के इस प्रकार शोक-सन्ताप में मैंने कोई सहायता या उपकार नहीं किया, इसलिये मुझ ऐसे पुत्र के होने से उन्हें क्या लाभ हुआ [अर्थात् पुत्रवती होने पर भी वे पुत्रहीन ही रहीं।] ॥ २३ ॥ मेरी माता भाग्यहीन है जो मेरे बिना शोक सागर में निमग्न तथा परम दुःखी होकर सो रही है ॥ २४ ॥ हे लक्ष्मण ! मैं अकेला ही क्रुद्ध होकर इस अयोध्या तथा सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने बाणों से वश में कर सकता हूँ। किन्तु इस अवसर पर पराक्रम दिखाना व्यर्थ है क्योंकि उसका अवसर नहीं है ॥ २५ ॥ पिता की प्रतिज्ञा-भङ्गरूपी अधर्म तथा परलोक के भय से हे लक्ष्मण ! मैं आज अपना अभिषेक नहीं करा रहा हूँ॥ २६ ॥ उस विजन वन में नाना प्रकार के विलाप करते हुए अश्रुपूर्ण दुःखी रामचन्द्र उस रात्रि में चुप चाप बैठ गये ॥ २७ ॥ ज्योतिहीन अग्नि के समान तथा तरङ्गहीन समुद्र के समान विलाप के पश्चात् रामचन्द्र को लक्ष्मण ने समझाया ॥ २८ ॥ हे वीरों में श्रेष्ठ रामचन्द्र ! निश्चय ही आज अयोध्या आप के चले आने से प्रभाहीन हो रही होगी जैसे चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि प्रभाहीन हो जाती है ॥ २९ ॥ हे रामचन्द्र ! इस प्रकार का परिताप करना आप को उचित नहीं है। इस प्रकार के विलाप आदि करने से आप मुझे तथा सीता को भी दुःखी कर रहे हैं ॥ ३० ॥ आपके बिना सीता तथा मैं एक क्षण भर भी नहीं जी सकते, जैसे कि जल से निकाली हुई मछली एक क्षण भर भी नहीं जी सकती ॥ ३१ ॥ हे शत्रुतापी रामचन्द्र ! मैं आपके बिना पिता जी, माता जी तथा अनुज शत्रुघ्न को भी देखना नहीं चाहता और न ही मुझे स्वर्ग की कामना है ॥ ३२ ॥ कुछ समय राम-लक्ष्मण इस प्रकार वार्तालाप करते हुए वहाँ बैठे रहे। पश्चात् राम-सीता ने वटवृक्ष के समीप ही लक्ष्मण के द्वारा निर्मित शय्या का आश्रय लिया ॥ ३३ ॥ इस प्रकार लक्ष्मण की उपदेशपूर्ण उत्तम बातों को आदरपूर्वक सुनकर शत्रुनाशी रामचन्द्र ने अनेक वर्ष धर्मानुकूल वन में रहने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ उस विजन वन में रहते हुए महापराक्रमी रघुकुल की कीर्ति बढ़ानेवाले राम-लक्ष्मण

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा [illegible] वाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३] [अङ्क ५



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

फाल्गुन २०१७ वि०, मार्च १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६०

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

'वेदवाणी' नामक हिन्दी मासिक पत्र के सम्बन्ध में विवरण

१—प्रकाशक का स्थान—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

२—प्रकाशन की अवधि—मासिक

३—मुद्रक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

४—प्रकाशक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस वाराणसी नं० ६

५—सम्पादक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

६—उन व्यक्तियों के नाम व पते जो इस समाचार पत्र के मालिक हैं, जो इसकी पूँजी के भागीदार हैं—रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरु बाजार—अमृतसर (पंजाब)

मैं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार यथार्थ हैं॥

२८ फरवरी १९६१ ई०

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
प्रधान रामलाल कपूर ट्रस्ट
प्रकाशक

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, फाल्गुन सं० २०१७ वि०, मार्च १९६१ ई० { अङ्क ५

महर्षिभाष्य से

सब मनुष्य परमेश्वर की ही पूजा करें

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ ऋ० १।१०।१॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्म और उत्तम ज्ञानयुक्त परमेश्वर! (ब्रह्माणः) वेदों को पढ़कर उत्तम २ क्रिया करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ उपदेश, गुण और अच्छी २ शिक्षाओं से (वंशमिव) जैसे अपने वंश को (उद्येमिरे) प्रशस्त गुणयुक्त करके उद्यमवान् अर्थात् पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही जो (गायत्रिणः) गायत्र अर्थात् प्रशंसा करने योग्य छन्द राग आदि पढ़े हुए धार्मिक और ईश्वर की उपासना करने वाले पुरुष हैं वे (त्वा) आपकी (गायन्ति) सामवेद आदि के गानों से प्रशंसा करते हैं तथा (अर्किणः) अर्क अर्थात् जो कि वेद के मन्त्र पढ़ने के नित्य अभ्यासी हैं, वे (अर्कम्) सब मनुष्यों को पूजने योग्य (त्वा) आपको (अर्चन्ति) नित्य पूजन करते हैं।

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। सब मनुष्यों को परमेश्वर ही की पूजा करनी चाहिये अर्थात् उसकी आज्ञा में सदा वर्त्तमान रहना चाहिये। जैसे पुरुषार्थी वेदविद्या को पढ़कर अच्छे २ गुणों के साथ अपने और अन्यों के वंश को भी पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही अपने आपको भी होना चाहिये और जो परमेश्वर के सिवाय दूसरे का पूजन करने वाला पुरुष है, वह कभी उस उत्तम फल को प्राप्त होने योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि न तो ईश्वर की ऐसी आज्ञा ही है और न ईश्वर के समान कोई दूसरा पदार्थ है कि जिसका उसके स्थान में पूजन किया जावे। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर ही का गान और पूजन करें।

उपनिषद् का सन्देश

[*ले०—महात्मा श्री आनन्द स्वामी जी महाराज*]

पिछले लेख में मैं आप को बता रहा था कि उपनिषद् के अनुसार प्रभुदर्शन बहुत पढ़ने और लिखने से नहीं मिलता, बहुत बुद्धि दौड़ाने से नहीं मिलता, बहुत सुनने और सुनाने से नहीं मिलता—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥

तब फिर किस प्रकार मिलता है यह आत्मा। उपनिषद् का ऋषि कहता है कि—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

उसे मिलता है यह आत्मा जिसे वह स्वयं ही वरण करता है, जिस पर वह स्वयं ही कृपा कर देता है।

यह तो बहुत कष्ट की बात है, प्रभु को मिलने के लिये निकलो और वह मिले उसको जिस पर उसकी कृपा हो, तब वह कार्य बनेगा ? इसलिये मैंने आप को बताया कि ईश्वर कृपा किस पर करता है, उस कृपा को पाने की विधि क्या है ?

नाविरतो दुश्चरितात्.........

पाँच ऐसे दुरित हैं जिनके विद्यमान रहने से आत्मा नहीं मिलता। सब से पहली बुराई है—बुरा चलन, चरित्र से गिर जाना, दूसरी बुराई है—इन्द्रियों का वश में न होना, तीसरी बुराई है—चित्त का एकाग्र न होना, चौथी बुराई है—मन में कामनाओं का बना रहना और पाँचवीं बुराई है—'प्रज्ञान' आत्मा के ज्ञान का न होना—ये पाँच बुराइयाँ जब तक दूर न हों तब तक प्रभु की कृपा नहीं मिलती।

इन पाँच दुर्गुणों के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह भी देखा कि चरित्र का अर्थ केवल स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध नहीं अपितु उस से आगे बढ़ कर चरित्र का अर्थ समस्त जीवन नीति है। यह भी देखा कि जिस ने जिह्वा, कान, नाक, और आंख आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं किया, वह इन्हीं के जाल में फँस के, इन्हीं का दास बनकर रह जाता है। यह भी देखा कि चित्त क्या है ? कैसे वह एकही समय अनेकों स्थानों पर विद्यमान रहता है। और किस प्रकार उस को एकाग्र करने के लिये "एक तत्त्व" अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का अभ्यास ही एक मात्र साधन है। यह भी देखा कि ब्रह्मतत्त्व का नाम ओम् है और यह भी कि उसके जाप की विधि क्या है ? फिर हमने यह भी देखा कि चरित्र अच्छा हो, इन्द्रियां वश में हों, चित्त एकाग्र हो, इस एकाग्रता के कारण ध्यान लग जाता हो और यह सब कुछ होने के पश्चात् भी मन में यदि कोई तृष्णा हो तो प्रभु की कृपा नहीं मिलती। योगदर्शन के विभूतिपाद में बहुत सी सिद्धियों का वर्णन आता है जिन्हें योगी प्राप्त कर सकता है। इन्हें प्राप्त करके संसार को चमत्कार दिखा सकता है। वायु में उड़ सकता है। पानी पर चल सकता है। सहस्रों मील दूर की बातें बता सकता है। महर्षि दयानन्द ने इन सिद्धियों का वर्णन किया तो मैडम ब्लैवस्टकी और करनल अलकाट ने उन्हें लिखा कि वे संसार को ऐसे चमत्कार दिखाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? तब महर्षि ने उन्हें लिखा कि "करने को मैं सब कुछ कर सकता हूं, परन्तु मैं तो अपना जीवन वेदभाष्य और वैदिक धर्म के प्रचार में लगाना चाहता हूं। यदि चमत्कार ही दिखाना शुरु कर दूँ तो फिर इस कार्य को कौन करेगा ? यदि आप चाहते हैं तो मैं आप को सिद्धियाँ प्राप्त करने का मार्ग बता सकता हूं, आप स्वयं इस मार्ग पर चल कर देखिये। स्वयं इन सिद्धियों को प्राप्त करके लोगों को चमत्कार दिखाइये।"

यह बात महर्षि के उन पत्रों में आज भी लिखी है जो पं० भगवद्दत्त जी ने एकत्रित किये और जिन्हें ग्रन्थ के रूप में रामलाल कपूर ट्रस्ट वालों ने प्रकाशित कराया है। यह बात आप को केवल इसलिये बता

रहा हूं कि ये सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं अवश्य। परन्तु इन्हें प्राप्त करने की तृष्णा बनी रहे तो फिर ये सिद्धियां ही मिलती हैं, प्रभु का दर्शन नहीं मिलता, प्रभु की कृपा नहीं मिलती। तब हमने यह भी देखा कि 'प्रज्ञान' का अर्थ है इन्द्र का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान और यह भी देखा कि जिसने यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसको भी प्रभु की कृपा नहीं मिलती।

तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि इसको नहीं मिलती, उस को नहीं मिलती, तो फिर मिलती किस को है? मुण्डकोपनिषद् के ऋषि इस का उत्तर देते हुए कहते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

इन वस्तुओं से मिलता है यह आत्मा—सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान और ब्रह्मचर्य। ये चार बातें विद्यमान हों, तो उस तपस्वी को जिसने बुराइयों को समाप्त कर दिया है, अपने शरीर में ही उस महान् प्रकाशमय ज्योति का दर्शन होता है जिसे देखने वाले ज्योतियों की ज्योति कहते हैं और जिस के सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति॥

वह प्रकाश सूर्य के प्रकाश जैसा नहीं, सूर्य वहां नहीं चमकता, ये चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते, बिजलियां नहीं चमकतीं, फिर यह अग्नि उसकी तुलना कैसे कर सकती है? उसकी ज्योति से ये सूर्य चन्द्रमा और तारे चमक रहे हैं। उसके प्रकाश से विद्युत् चमकती है, अग्नि प्रज्वलित है। प्रत्येक वस्तु जो प्रकाशित है उस में उस की ज्योति है। उस प्रकाश को देखता है जिज्ञासु। आत्मा उसको मिलता है। वहां मिलने के लिये लभ शब्द आया है। पंजाबी भाषा में भी ढूँढने और मिलने को 'लभना' कहते हैं, परन्तु यह आत्मा मिलता है सत्य, तप, आत्मज्ञान और ब्रह्मचर्य से।

सत्य का तात्पर्य केवल सच बोलना नहीं, अपितु सब से पहले सत्य आहार, फिर सत्य आचार, तब सत्य विचार और इन तीनों बातों से उत्पन्न होता है सत्य व्यवहार। फिर आता है सत्य भाषण और सब के साथ रहता है सत्य आधार। ये छः सत्य जिसमें हैं, उसको आत्मा मिलता है। उस पर प्रभु कृपा होती है।

इसके पश्चात् है तप। परन्तु तप का अर्थ क्या है? हमारे शास्त्रों के अनुसार तप का अर्थ है अपने उद्देश्य की पूर्त्यर्थ द्वन्द्वों को सहन करना। ये द्वन्द्व क्या? सुख और दुःख एक जोड़ा है, समृद्धि और निर्धनता दूसरा जोड़ा है, मान और अपमान तीसरा, सर्दी और गर्मी चौथा। इस प्रकार कितने ही जोड़े हैं। सुख और कष्ट, वर्षा और धूप, शक्ति-सम्पन्नता और विवशता, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता, भूख और प्यास, इनमें से एक हो या दूसरा अपने आदर्श या उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दोनों को सहन करना। दोनों में से किसी के कारण भी रुकना नहीं, पीछे नहीं हटना, डगमगाना नहीं, यह तप है। गालियां मिलें या फूलों के हार, मान हो या अपमान, पेट भर भोजन न मिलने वाली निर्धनता हो या भोगविलास की प्रभूत सामग्री—किसी भी समय जीवन के उद्देश्य को न भुलाना, यह तप है।

तीसरी वस्तु है सम्यग्ज्ञान, यथार्थज्ञान, आत्मा का ज्ञान। यह समझना कि शरीर क्या है, आत्मा क्या है। दोनों की वास्तविकता को समझ कर आत्मा को शरीर से कुछ अलग कर देने का नाम है सम्यग्ज्ञान। परन्तु देखिये, मैं थोड़ा अलग करने की बात कह रहा हूं। पूर्ण रूप से और सदा के लिये अलग करने की बात नहीं कहता। पूरा पृथक् कर दिया तब तो श्मशान ले जाने की आवश्यकता पड़ जायेगी। नहीं ऐसा नहीं करना, नहीं तो आप के नगर के लोग मुझे गालियां देंगे कि आप को यह क्या सिखा दिया। ऐसे कई योगी मैंने देखे हैं जो आत्मा को शरीर से बिल्कुल पृथक् भी कर देते हैं। शरीर से बाहर जाकर दूर दूर की सैर करते हैं। फिर यहां वायु का सहारा

लेकर शरीर में वापस भी आ जाते हैं, परन्तु यह कठिन कार्य है, आप ऐसा मत कीजिये। आत्मा को केवल इस सीमा तक पृथक् कीजिये कि अपने आप को शरीर समझना बन्द कर दीजिये क्योंकि आप शरीर हैं नहीं, आत्मा हैं आप। ज्वर हो जाये तो यह मत कहिए कि मुझे ज्वर हो गया, यह समझिये कि शरीर को ज्वर हुआ है। चोट लगे तो यह मत कहिये कि मुझे चोट लगी है, यह समझिये कि शरीर को चोट लगी है। मत कहिये कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, मैं युवा हूं, मैं बच्चा हूं, मैं स्त्री, पुरुष, लड़का अथवा लड़की हूं, क्योंकि आत्मा कभी बूढ़ा नहीं होता, वह कभी युवा या बच्चा नहीं होता, वह स्त्री, पुरुष, लड़की या लड़का भी नहीं। उसका कोई रंग नहीं। पानी गिलास में हो तो गिलास के रूप का हो जाता है, देगची में तो देगची के रूप का, थाली में हो तो थाली के रूप का परन्तु वस्तुतः पानी केवल पानी है, वह गिलास थाली या देगची कुछ भी नहीं।

यह सब मैंने आप को बताया था। इसे सुनने के पश्चात् एक सज्जन मेरे पास आये, बोले—यह बात अच्छी प्रकार समझ में नहीं आई कि आत्मा शरीर से पृथक् कैसे हो सकता है? उन्हें मैंने बताया कि प्रतिदिन तो आत्मा शरीर से पृथक् होता है, फिर इस बात को समझने में कठिनता क्या है? प्रति दिन जब हम गाढ़ निद्रा में सो जाते हैं, जब सारा शरीर सो जाता है, मन भी सो जाता है, स्वप्न भी दिखाई नहीं देते, उस समय आत्मा शरीर में बैठा हुआ भी शरीर से पृथक् हो जाता है। परमात्मा से मिलता है। परमात्मा है परम आनन्द। उस आनन्द को अनुभव करने के पश्चात् मनुष्य जागता है तो कहता है, आज बहुत अच्छी नींद आई, बहुत आनन्द आया। प्रश्न यह है कि जब शरीर सो रहा था, मैं भी सो रहा था, तब यह आनन्द किसको आया। शरीर को तो आया नहीं। शरीर तो संज्ञाहीन पड़ा था। फिर कौन इस आनन्द को लेता रहा? यह आत्मा जो इतनी देर के लिये इस शरीर से पृथक् हो गया था फिर यह आनन्द उसको किस समय मिला?

उस समय जब वह शरीर से पृथक् हो गया। परमात्मा से मिल गया। जितनी देर मिला रहा उतनी देर ही आनन्द को अनुभव करता रहा। तब इसका तात्पर्य क्या है? यह कि आत्मा जितनी देर प्रकृति में फँसा रहता है उतनी देर दुःख भोगता है। प्रकृति और शरीर से पृथक् होकर जितनी देर ईश्वर से मिलता है उतनी देर आनन्द अनुभव करता है।

इस बात को और अच्छी प्रकार समझने के लिये एक कथा सुनिये जो महात्मा नारद ने बहुत प्राचीन काल में सुनाई थी।

पुरंजन नाम का एक राजा था किसी समय में। एक बार उसे इच्छा हुई कि किसी नगरी में जाकर रहूं। कई नगर उसने देखे, कोई भी उसे पसन्द नहीं आया, तब हिमालय के दक्षिण में उसने एक नौ द्वारों वाली नगरी देखी। यह भी देखा कि उस नगरी में एक सुन्दरी भी रहती है। दस सेवक सदा उसकी सेवा करते हैं। पांच फन वाला एक सर्प सदा उसकी रक्षा करता है। उस स्त्री ने भी पुरंजन राजा को देखा। दोनों एक दूसरे को देखते ही एक दूसरे पर मोहित हो गये। पुरंजन राजा इस नगरी में गया। उस स्त्री ने उसको अपना स्वामी बना लिया। दोनों इस नगरी में रहने लगे। रहते रहते वर्षों व्यतीत हो गये। इसके कितने ही बच्चे भी हुए। तब अन्त में पुरंजन राजा का शरीर ढीला होने लगा। कितने ही रोगों ने उसे दबा लिया। तब एक दिन दुःखी होकर उसने वह नगरी छोड़ दी।

यह सारी कथा वास्तव में आत्मा की कहानी है। क्योंकि पुरंजन राजा कोई दूसरा नहीं यह आत्मा है और नौ द्वारों वाली जिस नगरी में आकर उसने निवास किया वह नौ द्वारों और आठ चक्रों वाला यह मानव शरीर है। वेद भगवान् ने इस नगरी का वर्णन करते हुए कहा—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

आठ चक्रों वाली, नौ द्वारों वाली यह वह पुरी है जिसे कोई जीत नहीं सकता। इसमें एक चमकते हुए प्रकाश में परमात्मा के प्रकाश से आवृत्त वह आत्मा बैठा रहता है जो अपने आप में सुखरूप है॥

प्रो० मैक्समूलर के वेद सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन

[ले०—*श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय, एम० ए०, सि० वाचस्पति*]

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर वेदों को आर्यजाति का प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं। शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों तक वेदों की रक्षा जिस खूबी के साथ वेदपाठी ब्राह्मणों ने की, उसकी प्रशंसा भी उन्होंने की है। अपने What is the veda ? शीर्षक व्याख्या में वे कहते हैं—"In the Aryan world, Veda is certainly the oldest book, and its preservation amounts almost to a marvel." मैक्समूलर इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि भारत में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान समझा जाता रहा है। यद्यपि अन्यान्य देशों और जातियों में भी भिन्न २ सम्प्रदायों के ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है परन्तु इस पाश्चात्य विद्वान् की सम्मति में ईश्वरीय ज्ञान के इस सिद्धान्त को जितनी सूक्ष्मता से भारत में प्रतिपादित किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं। उसके शब्द हैं—In no country, I believe, has the theory of revelation been so minutely elaborated as in India."

वेद अपने अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के बल पर अपने ईश्वरोक्त होने की घोषणा करे, परन्तु ईसाई मत के पूर्वाग्रह के वश मैक्समूलर कम से कम उसके इस दावे को स्वीकार नहीं करते। वे तो अन्यान्य पाश्चात्य मनीषियों की धारणाओं के अनुकूल ही वेद का कर्तृत्व भिन्न २ ऋषियों पर थोपते हैं। उनकी इस विषयक धारणा इस प्रकार व्यक्त हुई है—"In many a hymn the author says plainly that he or his friends made it to please the gods, that he made it as a carpenter makes a chariot." अर्थात् अनेक सूक्तों में उनका रचयिता यह स्पष्ट कहता है कि उसने या उसके मित्रों ने इस सूक्त को बनाया है—किसलिये ? देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, उसी प्रकार जिस प्रकार एक बढ़ई रथ बनाता है। अब यदि मैक्समूलर इस मन्त्र का पता बताते कि ऋग्वेद के अमुक मण्डल के अमुक सूक्त का ऋषि अपने मन्त्रकर्ता होने की घोषणा करता है, तो हम उस मन्त्र के वास्तविक अर्थ की मीमांसा में प्रवृत्त होते। पते के अभाव में तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वेदों के ईश्वरोक्त होने की बात भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा में इतने स्पष्ट और दृढ़ रूप में कही गई है कि उसका सहज में ही प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। यह भी बात नहीं कि यह सिद्धान्त केवल भावुकता या अंधविश्वास से प्रेरित होकर ही कहा गया है। अपितु जब हम यह देखते हैं कि न्याय, वेदान्त, मीमांसा आदि दर्शनों में जिस शास्त्रीय ऊहापोह और युक्ति तथा तर्क पूर्ण ढंग से इसकी मीमांसा की गई है, उसकी विद्यमानता में वेद के अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान होने के मत को सहज ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अतः मैक्समूलर का उक्त विचार हमें संगत प्रतीत नहीं होता।

जब मैक्समूलर ने वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के दावे को ठुकरा दिया, तब हम उससे यह भी आशा नहीं कर सकते कि वह वेदों के कालनिर्णय में पूर्वग्रह रहित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेगा। मैक्समूलर ने वेदकाल-निर्णय के लिये जिस युक्ति का सहारा लिया है वह नितान्त हास्यास्पद और अविश्वसनीय है। वह यह मान कर चलता है कि वैदिक साहिय निश्चय ही बुद्ध पूर्व का है। बुद्ध लगभग ६०० वर्ष ईसापूर्व हुये। अब वह अपनी युक्ति का सहारा लेकर वैदिक साहित्य को तीन कालों में विभाजित करता है—संहिताकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल। सूत्रों का समय इस शृंखला में नवीनतम है। यदि ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल के बीच का समय लगभग ५००—६०० वर्ष माना जावे, तो इतना ही अन्तर संहिताकाल और ब्राह्मणकाल में मानना पड़ेगा। इस प्रकार वेदों का समय ईसा से १२०० या १५०० वर्ष पूर्व ठहरता है। मैक्समूलर के इस वेदकाल निर्णय की आलोचना में इतना लिख देना ही

पर्याप्त है कि उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पाश्चात्य विद्वान ने उसके इस मत को स्वीकार नहीं किया। विन्टरनिट्ज़ ने वेदकाल को मैक्समूलर के द्वारा बताये गये काल से अधिक पीछे बताया। जहाँ तक भारतीय विद्वानों का प्रश्न है—लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष की गणना के आधार पर उसे ईसा से कई लाख वर्ष पूर्व माना। बंगाली वेदज्ञ उमेशचन्द्र विद्यारत्न और अविनाशचन्द्र दास ने इस तिथि को और भी पीछे डाला। परन्तु इन सभी विद्वानों ने इस परम्परानुमोदित तथ्य को सर्वथा उपेक्षित ही रक्खा कि वेद सृष्टि की रचना के समय में ही ईश्वर से प्रादुर्भूत होकर मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ प्रचारित हुये। यद्यपि मैक्समूलर ने अत्यन्त श्रमपूर्वक अपनी इस उपपत्ति को सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु उसे भी यह विश्वास नहीं था कि उसका यह मत सर्वांश में स्वीकृत ही होगा या अन्य विद्वान् उसे आदृत करेंगे। वह अपने Hymns of the Vedas शीर्षक व्याख्या में कहता है—"Though this date has met with very general acceptance, I am the very last person to consider it as firmly established.' अर्थात् यद्यपि यह काल सामान्यतया मान लिया गया है फिर भी मैं ही इसको एक निर्धारित तथ्य के रूप में स्वीकार करने वाला अन्तिम मनुष्य होऊँगा। उसकी इस स्पष्टोक्ति से यह विदित हो जाता है कि वह स्वयं ही संशयपूर्ण स्थिति में था।

इसके पूर्व कि हम मैक्समूलर की वैदिक देवताओं तथा वेदप्रतिपादित धर्म के विषय में मान्यताओं और धारणाओं की आलोचना करें, यहाँ यह लिखना आवश्यक समझते हैं कि अन्य पाश्चात्य विद्वानों की तरह वह भी केवल ऋग्वेद को ही वेद का अभिधान ग्रहण करने का एक मात्र अधिकारी समझता है। यजु, साम तथा अथर्व को वह 'वेद' नाम से भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। यद्यपि अपने आग्रह के पक्ष में उसके पास, सिवाय यह कहने के कि अन्य वेदों में भी ऋग्वेद के ही मंत्रों की पुनरुक्ति हुई है (सामवेद में) अथवा उनमें केवल यज्ञों के मन्त्र प्रयोग (यजुर्वेद में) तथा जादू टोना (अथर्ववेद में) आदि हैं, और कोई युक्ति नहीं है, फिर भी वह यह कहने से विरत नहीं होता—"The other so called Vedas contain chiefly extracts from the Rig-veda, together with sacrificial formulas, charms and incantations, many of them, no doubt, extremely curious, but never likely to interest any one except the Sanskrit scholar by profession." (what is the Veda? P. 16.) अर्थात् इन तथाकथित वेदों में सिवाय पुनरुक्ति, कर्मकाण्ड तथा जादू टोने के और कुछ नहीं है तथा ये ग्रन्थ सिवाय उस व्यक्ति के, जो अपने व्यवसाय की दृष्टि से संस्कृत का अध्ययन करता है, अन्य किसी व्यक्ति को आकर्षित नहीं कर सकते।

यहाँ इतना स्थान नहीं है कि हम यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषयों की विस्तृत मीमांसा करें और यह सिद्ध करें कि उन वेदों की उपयोगिता इसके अतिरिक्त भी है जो मैक्समूलर ने बताई है। परन्तु हम इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि हमारी परम्परा में चारों वेद क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान इन चार विभिन्न प्रस्थानों का प्रतिपादन करने वाले माने गये हैं। अतः मैक्समूलर द्वारा प्रकट सम्मति को कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

मैक्समूलर ने वेदमंत्रों के प्रति जो धारणायें व्यक्त की हैं, उनमें सर्वत्र परस्पर विरोध और असंगति दीख पड़ती है। कहीं तो उन्हें वेदमन्त्रों में अनेक उदात्त और महनीय तत्त्वों की प्रतीति होती है परन्तु अन्यत्र वे वेदमन्त्रों को बालिश (childish), कठिन (tedious), निम्न (low) और साधारण (common place) कहने से भी विरत नहीं होते। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वेदमंत्रों को यह सब कुछ कह कर भी वे अपने पक्ष की सिद्धि में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते जिससे मंत्रों का बालिश होना सिद्ध किया जा सके। अतः 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः, न तु प्रतिज्ञामात्रेण' के न्याय से उनका कथन कैसे न्याय्य हो सकता है। अन्यत्र अपनी यही सम्मति प्रकट करते हुये लिखते हैं—"I remind you again that the Veda contains a great deal of what is childish and foolish, though very little of what is bad and objectionable..... many hymns are utterly unmeaning and insipid.' (what is the Veda? P. 34.) अर्थात् मैं आप को एक बार पुनः यह बतला दूँ कि वेद में पर्याप्त मात्रा में बालपन और मूर्खता के भावों का उल्लेख है, यद्यपि उसमें ऐसे तत्त्व कम

हैं जो बुरे या आपत्तिजनक कहे जा सकते हैं...कई सूक्त तो नितान्त अर्थशून्य और नीरस हैं। यह गनीमत है कि मैक्समूलर साहब ने वेदों में आपत्तिजनक अंश कम ही बताया, अन्यथा ग्रिफिथ जैसे विद्वानों ने तो वेदों पर ऐसे ऐसे लांछन लगाये हैं और कहा है कि इन मंत्रों का अङ्ग-रेजी अनुवाद कर सकना भी उनके लिये कठिन है। अतः वह उनको लैटिन में अनूदित करते हैं। परन्तु क्या मैक्स-मूलर और ग्रिफिथ के कथन में कुछ सत्यता भी है? जिस प्रकार प्रो. मैकडोनल ने ऋग्वेद के 'पूषा' देवता के सूक्त के अभिप्राय को न समझ कर उसका अर्थ गडरियों के गीतों से लिया, उसी प्रकार वेद के अन्य सूक्तों के गूढ़ार्थ को हृदयंगम न कर सकने की स्थिति में यदि मैक्समूलर भी वेदों को गड़रियों या कृषकों के सीधे सादे भावों की अभि-व्यक्ति (Simplest thoughts of shepherds and cultivators of the land) ही करें तो उन्हें कौन रोक सकता है। "मुखमस्तीति वक्तव्यम्, दशहस्ता हरीतकी।"

मैक्समूलर वेदोक्त धर्म को बहुदेवोपासक धर्म मानता है। भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुतियों को देखकर ही उसे यह भ्रम हुआ और उसने लिखा—"The religion of Veda is Polytheism, not monotheism. Deities are invoked by different names, some clear and intelligible, such as अग्नि, सूर्य, उषा, मरुत्, पृथ्वी, आप, नदी : Others such as वरुण, मित्र, इन्द्र etc." (What is the Veda. P. 27.) अर्थात् वेद का धर्म बहुदेववादी है—एकेश्वरवादी नहीं। विभिन्न नामों से भिन्न-भिन्न व्यक्त और अव्यक्त देवताओं की स्तुति की गई है। यद्यपि यह बात नहीं कि मैक्समूलर ऋग्वेद तथा अन्यत्र प्रतिपादित एके-श्वरवाद सम्बन्धी मंत्रों की सत्ता से अनभिज्ञ हों। वे जानते हैं कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद १।१६४। ४६) जैसे मंत्रों में स्पष्ट ही एक परमात्मा का विविध प्रकार से स्तवन किये जाने का उल्लेख मिलता है, फिर भी केवल अपनी बात रखने के लिये ही वे इस जिद पर कायम रहते हैं कि वेद में 'एकेश्वरवाद' का प्रतिपादन उस अर्थ में नहीं है जो कि इस शब्द का सहजग्राह्य अर्थ है। जरा उनके इस वक्तव्य को देखिये—"I could not even answer the question; if you were to ask it, whether the religion of the Veda was polytheistic or monotheistic. Monotheistic, in the usual sense of that word, it is decidedly not, though there are hymns that assert the unity of the Divine as fearlessly as any passage of the Old Testament or the New Testament, or the koran." (The Religion of the Veda. P. 43.) यह स्वीकार करते हुये भी कि वेदों में ऐसे स्पष्ट और निर्भीक कथन मिलते हैं जो परमात्मा की एकता का वर्णन करते हैं फिर भी यह कहना कि यह एकेश्वरवाद नहीं है—शब्दों की कलाबाजी के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? निश्चय ही पुराने और नये अहदनामे तथा कुरान जैसी सैमेटिक मजहबी पुस्तकों को ही ईश्वरीय ज्ञान मानने वाला मैक्समूलर वेद के एकेश्वरवाद की गम्भीरता और उदात्तता को कैसे समझ सकता था?

वेदों को लेकर मैक्समूलर का विवेचन केवल Polytheism या Monotheism तक ही सीमित नहीं रहा, उसने एक कदम और आगे बढ़ कर एक नया शब्द गढ़ा Kathenotheism या Henotheism. इस शब्द को गढ़ कर उसने यह सिद्ध करना चाहा कि वेद-मन्त्रों में न तो बहुदेववाद है और न एकेश्वरवाद ही। अपितु वेदमन्त्र जिस प्रसंग में जिस देवता की स्तुति करते हैं वहाँ उसे ही सब से बड़ा बना देते हैं। (Worship of single gods, each occupying for a time a supreme position.) यह ध्यान रहे कि मैक्समूलर का यह स्वनिर्मित सिद्धान्त भी यूरोपीय विद्वानों को मान्य नहीं हो सका। इसकी स्पष्ट और खरी २ आलोचना यदि किसी ने की है तो वे हैं योगिराज अरविन्द जिन्होंने ऋषि दयानन्द के वेदार्थ की प्रशंसा करते हुये मैक्समूलर के इस कपोलकल्पित 'हीनोथीज्म' की धज्जियाँ बिखेर दी हैं। योगिराज का मत यहाँ उल्लेख न कर हम पाठकों को उस मूल लेख के पढ़ने का ही आग्रह करते हैं।

मैक्समूलर के वेदाध्ययन में पूर्वाग्रह और ईसाइयत का पक्षपात कितनी तीव्रमात्रा में था, यह तो इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि वे इतना भी स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं कि वेदकालीन आर्यों को 'ईश्वर' का ज्ञान था—उन अर्थों में जिनमें ईसाई लोग 'ईश्वर' का अर्थ समझा करते हैं—"They had not as yet a

name for God-certainly not in our sense of the word." (the Religion of the Veda. P. 103) अब यहाँ यह लिखना तो अप्रासंगिक ही होगा कि 'ईश्वर' का जो अर्थ बाइबिल में लिया गया है वह वेदप्रतिपादित 'ईश्वर' की तुलना में कितना छिछला और बेहूदा है ।

अन्यान्य यूरोपीय विद्वानों की भांति ही मैक्समूलर भी वेदों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। उनकी दृष्टि में वेदों में आर्यों के इतिहास और तत्कालीन समाज के बहुत से उपादान मिल सकते हैं। मैक्समूलर के शब्दों में ही—"We meet occasionally with wars of kings, with rivalries of ministers, with triumphs and defeats with war-songs and imprecations." (The Veda and Zinda Avesta. P. 10.) अर्थात् वेदों में राजाओं के युद्ध, मंत्रियों की प्रतिद्वन्द्विता, युद्धों में विजय और पराजय, तथा वीर गीतों की उपलब्धि होती है। यह लिखकर उसने एक और महत्त्वपूर्ण विवाद को छेड़ दिया है और वह यह है कि वेदों में लौकिक इतिहास उपलब्ध होता है अथवा नहीं। भारतीय परम्परानुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार है, अतः उसमें किसी प्रकार का मानवीय इतिहास नहीं हो सकता। दयानन्द पूर्व के वेदभाष्यकारों ने यद्यपि प्रतिज्ञा रूप में यह स्वीकार किया था, परन्तु वे अपने भाष्य में इसका पूर्ण पालन नहीं कर सके और यत्र तत्र राजाओं, ऋषियों, नदियों, नगरों, जनपदों आदि का इतिहास वेद के आधार पर लिखते रहे। यही परिपाटी पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपनाई। दयानन्द और उनके अनुयायी विद्वान् ही उसका अपवाद रहे। पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ, पं० प्रियरत्न आर्ष, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार आदि वैदिक विद्वानों ने वेद में प्रतीत होने वाले इतिहासाभास का युक्तिपूर्ण ढंग से स्वरचित ग्रन्थों में समाधान किया है।

इस प्रकार मैक्समूलर के वेदाध्ययन का निष्पक्ष दृष्टि से आलोचन करने पर हमें उसकी त्रुटियाँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं, यद्यपि कहीं २ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त जैसे स्थलों का मूल्यांकन करते समय वे यथार्थ के अधिक निकट हो सके हैं॥

कृष्णावतार की कल्पना

[ले०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी 'पथिक' बी. ए. सि. शास्त्री, विद्यावाचस्पति, कानपुर]

[गताङ्क से आगे]

पं० बलदेवप्रसाद मिश्र—"(यः कृष्णः) जो कृष्ण (केश्यसुरः) केशी असुरः केशी असुर को तथा (स्तम्बजः) स्तम्ब से उत्पन्न दावानल को (उत) और (तुण्डिकः) बकासुर को तथा (अरायानस्या मुष्काभ्याम्) शकट के दोनों ओर के भागों को (भंससः) विदीर्ण करके (अपहन्मसि) नाश करते हुए।" ६

समीक्षा—पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र विद्यावारिधि के भ्राता पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने भी अथर्ववेद के इस मंत्र का ऊटपटांग अर्थ करके कृष्णावतार को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास किया है। 'तुण्डिकः' का अर्थ 'बकासुर' 'मुष्क' का अर्थ 'शकट', 'भंससः' का अर्थ 'विदीर्ण करके' किस व्याकरण, निघण्टु, कोष के अनुसार किया गया है यह तो मिश्र जी ही जानें।

इस मंत्र पर श्री सायणाचार्य का भाष्य—"यः प्रसिद्धः कृष्णः कृष्णवर्णः केशी केशवान् प्रकृष्टकेशः एतन्नामा असुरः तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः। उत अपि च तुण्डिकः, तुण्डं मुखं, कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः एते सर्वे अराया दुर्भगास्तान् अण्यदु अस्य गर्भिण्याः मुष्काभ्याम्। स्त्रीणामपि मुष्कमस्ति "व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः" इति स्मरणात्। मुष्कः स्वप्रदेशाभ्यां तत्रापि भंससः कटिसन्धिप्रदेशात् अपहन्मसि अपहन्मः॥"

अर्थात्—"जो प्रसिद्ध काले रंगवाला, बालों वाला,

६. धर्मदिवाकर" पृ० १९ पंक्ति ७.

प्रकृष्ट केश नामक असुर है तथा स्तम्ब में उत्पन्न हुआ असुर है और जो निन्दित मुखवाला तुण्डि नामक असुर है। ये सब दुर्भग हैं। इन दुर्भगों को इस गर्भवती के मुष्कों से और उसमें भी कटि भाग की सन्धि के स्थान से भगाते हैं। स्त्रियों के भी मुष्क होते हैं क्योंकि 'पुरुष के प्रकट और स्त्री के प्रकट नहीं' ऐसी स्मृति के प्रमाण से।

वेदों में अन्यत्र आए हुए 'कृष्ण' शब्द

"आ कृष्णेन रजसा०......" (यजु० ३३।४३)

"रात्रिलक्षणेन सह = रात्रि के लक्षण के साथ। [महीधरः]

आकर्षण से परस्पर सम्बन्ध [दयानन्दः]

"...व्रजनं कृष्णमस्ति" [यजु० १५।६२]

जहाँ पर जाये उसको व्रज कहते हैं। अग्नि का मार्ग कृष्ण (काला) है। जहाँ की अग्नि निकल जाती है। वह स्थान काला पड़ जाता है।

"कृष्णाय स्वाहा" [यजु० २५।१]

"शुक्लेन कृष्णेन चाश्वाङ्गेन प्रजापतिं प्रीणाति" [महीधरः]

श्वेत और कृष्ण घोड़े से प्रजापति को प्रसन्न करता हूँ।

"...अश्विनः कृष्णा रात्र्या०" [यजु० २४।३६]

कृष्णो मृगः रात्र्यै = काला मृग रात्रि के लिए [महीधरः]

"काले रंग के हरिण आदि हैं वह रात्रि के लिए" [दयानन्दः]

"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्ने त्वा [यजु० २.१]

"कृष्णोऽसि ! हे इध्म ! त्वं कृष्णोऽसि कृष्णमृगरूपो यज्ञोऽसि" [महीधरः]

हे इध्म = इन्धन तू काला है। तू कृष्ण मृग रूप यज्ञ है।

"भौतिक अग्नि से छिन्न अर्थात् सूक्ष्म रूप और हवन के गुणों से आकर्षण को प्राप्त—[दयानन्दः]

"मेषो यमाय कृष्णो" [यजु० २४।३०]

"एकः कृष्णो मेषः यमाय"—[महीधरः]

एक काला मेढ़ा यम के लिए।

"काला हिरण मनुष्यों के लिए" [दयानन्दः]

"कृष्णं पिङ्गलाक्षम्" [यजु० ३०।२१]

"रात्र्यै कृष्णवर्णं पिङ्गलाक्षम्" [महीधरः]

रात्रि के लिए काले वर्णवाला पीले नेत्रवाला।

"काले रंगवाले पीले नेत्रों से युक्त पुरुष को दूर कीजिए"—[दयानन्दः]

"...कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति" [यजु० ३३।३८]

"अन्यत् कृष्णं द्वैतलक्षणं रूपं हरितः दिशः [महीधरः]

सूर्य का दूसरा गुण काला है।

"अविद्यादि मलिन गुणवाले भिन्न जगत् को—[दयानन्दः]

..."कृष्णेन रजसा "[यजु० ३४.२५]

"कृष्णेन रजसा अन्धकारलक्षणेन"—[महीधरः]

अन्धकार के लक्षण सहित।

"काले अन्धकार रूप से"—[दयानन्दः]

"आग्नेयः कृष्णोऽजः—" [यजु० २९।५९]

"कृष्णः श्यामोऽजो मेषः" [महीधरः]

काला बकरा।

"खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः" [यजु० २४।४०]

"एकः कृष्णः श्वा सारमेयः" —[महीधरः]

एक काला कुत्ता।

"काले रंग का कुत्ता"—[दयानन्दः]

"आग्नेयः कृष्णग्रीवः" [यजु० २९।५८]

"कृष्णा ग्रीवा यस्य स कृष्णग्रीवः पशुराग्नेयः [महीधरः]"

काली गर्दनवाला कृष्णग्रीव अग्नि-सम्बन्धी पशु।

"काली गर्दनवाला पशु" [दयानन्दः]

"...आ कृष्ण ईं जुहुराणो...।" [ऋ० ४।१७।१४]

यहाँ 'कृष्ण' का अर्थ काले बादल वा सूर्य के हैं।

"यत्ते कृष्णः शकुनः..." [ऋ० १०।१६।६]

यहाँ पर 'कृष्णः' शकुनः (पक्षी) का विशेषण है अर्थात् काला शकुन पक्षी।

"कृष्णो अश्विना...सोमस्य पीतये कृष्णस्य" [ऋ० ८।८५।३]

यहाँ कृष्ण का अर्थ "शत्रु को पीड़ा देनेवाला" है।

"कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर" [ऋ० १।५८।४]

यहाँ 'कृष्ण' का अर्थ "काला मार्ग" है।

..."तुम्हारा गमनमार्ग काला हो जाता है" [पं० रामगोविन्द त्रिवेदी तथा पं० गौरीनाथ झा व्याकरणतीर्थ कृत "ऋग्वेदसंहिता सरल हिन्दी टीका सहित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९०]

"कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः।" [ऋ० १।७३।७]

"रात्रि को कृष्णवर्ण और उषा को अरुण वर्ण किया है" [पं० रामगोविन्द त्रिवेदी]

इसी प्रकार ऋ० १।९२।५; १।११५।५; १।१४०।५; १।१६४।४७; ४।५५।११; ६।९।१; ७।३।२; १०।१२७।७; ८।९६।१४; ८।८५।४; १०।१११।७ में भी 'कृष्ण' शब्द

आया है, पर किसी भी भाष्यकार ने 'कृष्णावतार' सिद्ध नहीं किया है।

कृष्ण की व्रजलीला और विभूतियाँ

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" [ऋ० ६।९।१]

"स्तोत्रं राधानां पते" [ऋ० १।३०।५]

"गवामप व्रजं वृधि" [ऋ० १।१०।७]

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् [ऋ० १।३२।११]

"त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि" [अथर्व० ३।१५।३]

"कृष्णा रूपाणि अर्जुना वि वो मदे।" [ऋ० १०।२१।३]

"तमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु" [ऋ० ८।९३।१३]

इनमें राधा, गौ, व्रज, गोप, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण, अर्जुन सभी मण्डली एकत्रित है। इसी मण्डली के आधार पर भागवत की रचना हुई है।

वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं हैं। अतः इनका अर्थ भी कुछ दूसरा ही है।

उपर्युक्त मंत्रों पर विचार

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" [ऋ० ६।९।१]

यहाँ 'कृष्ण' का अर्थ 'रात्रि' और 'अर्जुन' का अर्थ 'सरल गमन आदि गुण' है।

इस मंत्र का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द जी महाराज लिखते हैं—"(अहः) दिनम् (च) (कृष्णम्) रात्रिः (अहः) व्याप्तिशीलम् (अर्जुनम्) ऋजुगत्यादि-गुणम्..."

अर्थात्—"हे मनुष्यो! (अहः) दिन (कृष्णम्) रात्रि (च) और (अहः) व्याप्तिशील (अर्जुनम्) सरलगमन आदि गुणों को ..."[७]

पौराणिक पं० रामगोविन्द वेदान्तशास्त्री तथा पं० गौरीनाथ व्याकरणतीर्थ:—"कृष्णवर्ण रात्रि और शुक्लवर्ण दिवस अपनी-अपनी ज्ञातव्य प्रवृत्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् को रञ्जित करके नियत परिवर्तित होते हैं।"...[८]

"स्तोत्रं राधानां पते" [ऋ० १।३०।५]

महर्षि दयानन्द जी महाराज—"...(राधानाम्) जिन पृथिवी आदि पदार्थों से सुख सिद्ध होते हैं उनके (पते) पालन करने वाले सभा वा सेना के स्वामी विद्वन्!"

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री—"धनरक्षक और स्तोत्र पात्र इन्द्र।..."

"गवामप व्रजं वृधि"—[ऋ० १।१०।७]

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती—"...(गवाम्) किरणों के (व्रजम्) समूह को संसार में प्रकाश होने के लिए (अपवृधि) फैलाता है।"

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्—" [ऋ० १।३२।११]

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती—"(दासपत्नीः) अति बल देने वाला मेघ जिनका पति के समान और (अहिगोपाः) रक्षा करने वाला जिस वृत्र से...।"

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी—"वृत्र की स्त्रियाँ भी मेघ द्वारा रहित होकर..."[९]

"त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि।" [ऋ० ३।१५।३]

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी—"अभीष्ट-वर्षक अग्नि, तुम मनुष्यों के दर्शक हो। तुम अंधेरी रात में अधिक दीप्तिमान् होते हो।..."[१०]

"कृष्णा रूपाणि अर्जुना वि वो मदे।" [ऋ० १०।२१।३]

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी—"यज्ञ के धारक ऋत्विक् लोग होम पात्रों से वैसे ही तुम्हारी सेवा करते हैं, जैसे जल पृथिवी को सींचता है। अग्निदेवों के मठ, के लिए तुम कृष्ण वर्ण ज्वाला रूपी और सारी शोभा को धारण करते हो।..."[१२]

"तमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु"— [ऋ० ८।९३।१३]

पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ—"(कृष्णासु) काली (रोहिणीषु च) और रक्त वर्ण की (परुष्णीषु) गौओं में (त्वम् एतत् रुशत् पयः अधारयः)

७. "ऋग्वेदभाष्यम्" षष्ठ मण्डलम्, पृष्ठ १०३५–१०३६ [संवत् १९५२ वि०, वैदिकयन्त्रालय, प्रयाग में मुद्रित]
८. ऋग्वेद संहिता [सरल हिन्दी-टीका-सहित], चतुर्थ अष्टक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५९.
९. वही, प्रथम अष्टक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०.
१०. वही, पृष्ठ ४६. ११. वही, तृतीय अष्टक, पृष्ठ १५. १२. वही, सप्तम अष्टक, प्रथम संस्करण पृष्ठ १८३.

तू ही इस चमकते दूध को धारण कराता है।"[13]

प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचो
य कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।" [ऋ० १।१०१।१]

इस मंत्र में 'कृष्ण' शब्द देखकर पौराणिक कृष्णावतार का स्वप्न देखते हैं।

श्री सायणभाष्यम्—"कृष्णो नाम कश्चिदसुरस्तेन निषिक्ता गर्भास्तदीयां भार्यां निरहन् अवधीत् कृष्णमसुरं हत्वा पुत्राणामप्यनुत्पत्त्यर्थं गर्भिणीस्तस्य भार्या अप्यवधीत् कृष्णेन निषिक्ता गर्भा या सुताः।"

अर्थात्—इन्द्र ने कृष्ण नाम वाले राक्षस को मारा तथा उसकी गर्भवती स्त्री को मारा जिससे उसके गर्भ में कोई बालक उत्पन्न न हो।"

पं० रामगोविन्द त्रिवेदी—"जिन इन्द्र ने ऋजिश्वा राजा के साथ कृष्ण नाम के असुर की गर्भवती स्त्रियों को निहत किया था, उन्हीं हृष्ट इन्द्र के उद्देश से, अन्न के साथ, स्तुति अर्पित करो! हम रक्षण पाने की इच्छा से उन अभीष्टदाता और दक्षिण हाथ में वज्रधारी इन्द्र को, मरुतों के साथ, अपना सखा होने के लिए, आह्वान करते हैं।"[14]

इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि 'कृष्ण' ईश्वर के अवतार नहीं थे। अतः नकली कृष्ण, छली श्री रामकृपालु त्रिपाठी पर उचित कार्रवाई होनी चाहिए॥

विद्वानों के विचारार्थ

वेद और आर्य समाज

[ले०—श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए०]

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है', यह है आर्य्यसमाज का तीसरा नियम, 'धर्म' शब्द के साथ 'परम' विशेषण का प्रयोग वेद के व्यावहारिक महत्त्व को बहुत बढ़ा देता है। इसका अर्थ यह है कि वेद का पढ़ना भी और पढ़ाना भी धार्मिक बनने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। या यों कहना चाहिये कि अनिवार्य है। श्री विदेह जी इस नियम को अपूर्ण समझते हैं। उनका प्रस्ताव है कि इस में वेदों के अनुकूल आचरण करना और बढ़ा देना चाहिये। श्री विदेह जी की भावना दूषित नहीं है। परन्तु मैं ऐसा समझता हूं कि पठन पाठन और श्रवण श्रावण में आचरण का अर्थ समाविष्ट है। अतः नियम अधूरा नहीं है। जो न समझ सके उसके लाभ के लिये वार्तिक तथा भाष्य से काम लिया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम किसी अधूरे या त्रुटिपूर्ण कार्य्य को सुधारने का अधिकार नहीं रखते। परन्तु हर अधिकार को बड़ी सावधानी के साथ वरतना चाहिये, विशेष कर मौलिक नियमों के साथ क्योंकि मौलिक नियमों के साथ प्रवर्तक की महत्ता, आदिमता, परम्परा तथा प्रत्नता की एक विशेष पवित्रता सम्बद्ध रहती है। इस लिये उस को यथाशक्ति अक्षुण्ण ही रखना चाहिये। मुझे आर्य्यसमाज के वर्तमान दस नियमों में कोई ऐसा दोष दिखाई नहीं पड़ता जिसके बदलने की आवश्यकता हो। हाँ! समय समय पर विद्वानों द्वारा स्पष्टीकरण और व्याख्यायें हो सकती हैं।

जनता की भावनायें किसी विषय के प्रति समय समय पर बदलती रहती हैं। वेद के विषय में भी ऐसा ही होता आ रहा है। अतः यदि आर्य्यसमाज संसार भर में वेदों का प्रचार करना अपना मुख्य उद्देश्य समझता है तो उसको इन भावनाओं को दृष्टि में रखना होगा। हम इन युगों की मोटी सी विवेचना इस प्रकार कर सकते हैं:—

(१) आदि-युग—जब वेदों का प्रचार आरंभ ही हुआ था। वैदिक शब्द शुद्ध यौगिक थे और ऋषि लोग वैदिक आचार व्यवहार के प्रचार में संलग्न थे। उस समय वैयक्तिक मानव-इतिहास का नाम तक न था। न वैदिक धर्म की स्थूल परिपाटियाँ विकसित होने पाई थीं। या यों कहना चाहिये कि अपौरुषेय वेदों में पुरुषों (मनुष्यों)

---

१३. ऋग्वेद संहिता भाषाभाष्य, पंचम खंड, प्रथमावृत्ति पृष्ठ ७५२.

१४. ऋग्वेद संहिता [हिन्दी टीका सहित], प्रथम अष्टक, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५०.

द्वारा कोई हाथ नहीं लगाया गया था। वेद थे वेदाङ्ग न थे।

(२) **वेदाङ्ग-युग**—जिस में ऋषियों ने वेदज्ञता तथा सांसारिक अनुभव के आधार पर शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि वेदाङ्गों का विकास किया। ये वेद न थे। मूल वेद के फूल-पत्ते थे जिन में मूल-वेदों का रस विद्यमान था। इन वेदाङ्गों के मूल ग्रन्थ कौन-कौन से थे और पीछे से उन में क्या-क्या सुधार या परिवर्तन हुये और नये आचार्यों ने कब-कब किन-किन ग्रन्थों का निर्माण किया, यह अनुसन्धान का विषय है। निघण्टु में दिये हुये पर्य्याय-शब्दों का आविर्भाव इसी युग में हुआ होगा। एक भाव के लिये अनेक शब्द क्यों हों। इस का भी एक कारण है। एक पदार्थ में अनेक गुण होते हैं और उन गुणों की अपेक्षा से उनके वाचक शब्द भी अनेक होते हैं, परन्तु वे सब स्थूलरूप से उसी पदार्थ के द्योतक होते हैं। अतः उन सब शब्दों को पर्य्याय कहते हैं, परन्तु हर एक शब्द सभी गुणों का द्योतक नहीं है। अतः पर्य्याय शब्द केवल स्थूल रूप से समानार्थक होते हैं, सूक्ष्म रूप से नहीं। शाखी, वृक्ष, तरु यह सब पर्य्याय हैं। परन्तु एक ही गुण के द्योतक नहीं हैं। नदी और सरिता, भूमि और पृथिवी मोटे अर्थ में ही पर्य्याय हैं, इनका पर्य्यायत्व बहुत दिनों में स्थिर हो पाया होगा। यौगिक से योगरूढि की अवस्था को प्राप्त करने में समय लगता है। अतः वेदों के मूलार्थ जानने में इस का भी ध्यान रखना चाहिये।

(३) **यज्ञ-युग**—यह युग बड़ा लम्बा प्रतीत होता है। किस मन्वन्तर की किस चतुर्युगी में इसका आरंभ हुआ और कब तक चलता रहा, यह कहना कठिन है। यह युग तो एक प्रकार से अब भी चल रहा है। इस युग में यज्ञ के वे तरल और यौगिक अर्थ लुप्तप्राय हो गये जो आदि युग में थे। अनुसन्धान करने से इस युग के भी अवान्तर युग मिलेंगे। शतपथ ब्राह्मण में दिये हुये दर्श और पौर्णमास यज्ञ वही नहीं हैं जो बौद्धकाल के पशुयाग थे या वर्तमानकाल के कई देवियों के मन्दिरों में किये जाते हैं। इन्हीं यज्ञों का विकृत रूप दूसरे देशों और धर्मों में 'कुर्बानी' का रूप धारण किये हुये है। गृह्यसूत्र, कल्पसूत्र तथा ब्राह्मणकाल के यज्ञों में बड़ा भेद है। और जहाँ कहीं वैदिक शब्दों का प्रयोग किया गया है उन शब्दों के अर्थ बदल गये हैं। 'अश्व' का अर्थ कहाँ 'राष्ट्र' है और कहाँ चार पैर का घोड़ा, ,अश्व' का अर्थ 'राष्ट्र' क्यों है और सबसे पहले यह शब्द इस अर्थ में कैसे और क्यों तथा किसके द्वारा प्रयोग में लाया गया इसका निर्णय अत्यन्त कठिन है। परन्तु वेदार्थ जानने के लिये कितना आवश्यक है? शाकटायन के उणादिकोष में दी हुई व्युत्पत्तियाँ अर्थ को जानने में शत-प्रतिशत तक निर्णयक नहीं हो सकतीं। यज्ञ की पूर्ति के लिये यज्ञ के भिन्न-भिन्न आचार्यों ने जो विधियाँ निर्धारित कीं उनमें वैदिक मंत्रों का जो क्रम है वह मूल वेदमंत्रों से कितना भिन्न है, यह बात भी दृष्टि में रखने की है। जैसे स्वामी दयानन्द जी महाराज ने प्रार्थना के आठ मंत्र (विश्वानिदेव०) भिन्न-भिन्न स्थलों से लेकर इकट्ठे कर दिये, इस प्रकार का संग्रह अनेक यज्ञों के विधानों में दृष्टि-गोचर होता है। प्रायः उन स्थलों पर जहाँ 'ऊह' हुये या सामगानार्थ तृच बनाये गये, वहाँ अनेक परिवर्तन हुये दिखाई देते हैं। पूर्व मीमांसा और उसके भाष्यों में जैसे शाबर भाष्य या कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक, तंत्रवार्तिक आदि में यह बात स्पष्टतया दिखाई देती है।

(४) **पौराणिक-युग**—इस युग में वैदिक शब्दों के अर्थ सर्वथा ही बदल गये। 'देव' का अर्थ हो गया स्वर्ग में रहने वाले देवी-देवते। 'शिव' का अर्थ हुआ कैलाश-पति। विष्णु का अर्थ हुआ क्षीरसागर में सोने वाले लक्ष्मी-पति। अभिधा को लक्षणा ने तिरोभूत कर दिया। गणेश का अर्थ हो गया पार्वती-पुत्र वक्रतुण्ड। आजकल पौराणिक जगत् में यह एक प्रथा सी हो गयी है कि शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदाय अपने धर्म का विकास वेद से सिद्ध करते हैं। क्योंकि इन धर्मों में वैदिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, परन्तु यह कोई नहीं पूछता कि यह शब्द कई युगों के मध्य में से गुजरते हुये अपनी मौलिक भावनाओं से कितनी दूर जा चुके हैं और इनके कारण वेदों का ठीक-ठीक अर्थ जानना कितना कठिन हो गया है। जब हम किसी वेदमंत्र का अर्थ करने बैठते हैं तो स्वभावतः हमारा ध्यान शब्दों की व्युत्पत्ति की ओर जाता है। वहाँ हम एक शब्द को कई धातुओं से निकला हुआ पाते हैं और हम सन्देह में पड़ जाते हैं कि कौन-सा अर्थ ठीक बैठेगा। इस ऊहापोह में हम एक मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि किसी आदिम भाषा के आदिम शब्द धातुओं से नहीं निकलते अपितु धातुओं को उन शब्दों से निकाला जाता है। पालक के साग में लोहा होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लोहे से पालक

बनाया जाता है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'गच्छति' शब्द 'गम्' धातु से निकलता है तो इसका यही अर्थ है कि 'गच्छति' शब्द के अन्तर्गत जो भाव निहित है, वह 'गम्' धातु में पाया जाता है। वैदिक शब्दों से पहले धातु ज्ञात न थे, धातुओं से पहले शब्द विद्यमान थे। वैयाकरण उन धातुओं का आविष्कार करता है जो शब्दों में ओत-प्रोत हैं जिससे लोग नये शब्दों का प्रयोग कर सकें। अतः आदिम मंत्रों का अर्थ करने में हमें उन नियमों का प्रयोग सावधानी से करना होगा जिनके प्रयोग के आधार पर वर्तमान काल का ग्रंथकार एक रचना रचता है। जब हम कहते हैं कि 'अग्निमीले' मंत्र का 'अग्नि' शब्द 'अञ्चु गतिपूजनयोः' धातु से निकला है तो यह केवल उपचार की भाषा है। वास्तविक घटना यह है कि ऋषियों ने अपने विचार से यह बात मालूम की कि 'अग्नि' शब्द में जो भावनिहित है उसमें 'पालक में लोहे' के समान 'अञ्चु' का भाव निहित है। यह धातु वैयाकरणों के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार दूसरे ऋषि ने 'अग्नि' में 'अग्रणी' का भाव देखा जिसमें 'नी' धातु की भावना निहित है। वैदिक अनुसन्धानकर्त्ता यदि इस बात को ध्यान में रक्खें तो इससे एक लाभ यह होगा कि वे किसी एक वैयाकरण के पीछे आंखें मींच कर न चलेंगे। पाणिनि महाराज ने तो इसी चेतावनी को देने के लिये 'बहुलं छन्दसि' सूत्र की रचना की। यद्यपि हमारी दृष्टि में पाणिनि महाराज कई सहस्र वर्ष पुराने हैं अर्थात् हमारी आयु से तीस चालीस गुना पुराने। अस्सीवर्ष के बुड्ढे के समक्ष जो दो वर्ष के बालक की अवस्था होती है, वही हमारी पाणिनि मुनि के समक्ष है। परन्तु यदि वेद की भाषा एक अरब ९७ करोड़ वर्ष की मान ली जाय तो पाणनि मुनि इतने ही प्राचीन सिद्ध होते हैं जितना एक वर्ष का बालक ७ लाख वर्ष के बुड्ढे के सामने। अतः यद्यपि हमारे सामने पाणिनि मुनि से प्राचीन कोई ऐसा महान् पुरुष नहीं जो हमारा नेतृत्व कर सके तो भी हमको यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि इनसे पहले भी बहुसंख्यक ऋषि गुजर चुके हैं जिनकी मान्यता पाणिनि के हृदय में थी। ऐसा करने से हम पाणिनि की अवहेलना नहीं करते, अपितु उन तत्त्वों से चौंकते नहीं जो साधारण भाषा में अपाणिनीय समझे जाते हैं। यदि हम इस बात को दृष्टि में रखें तो उन वाग्युद्धों से बचे रहेंगे जो आजकल पण्डितवर्ग में उठ खड़े होते हैं। साधारण जनता में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, वेदसम्मेलनों में यह दृश्य प्रायः नित्य ही हमारे सामने आते हैं जिनमें हर विद्वान् अपने को दूसरे विद्वानों से अधिक सिद्ध करता है। यदि वही प्रश्न किसी छोटी सी विशिष्ट गोष्ठी का विषय होते तो अधिक उपयुक्त होता। उच्चश्रेणी के अनुसन्धान करने वालों को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि वह मार्ग में आनेवाले झाड़ झंकाड़ में अपना दामन न फंसा लें। जब जनता इस लिये इकट्ठी होती है कि वेद के सौन्दर्य की कुछ झांकी मिल सके तो हम समस्त समय ऐसे निरर्थक वाद-विवाद में बरबाद कर देते हैं कि स्वामी दयानन्द निर्भ्रान्त थे या भ्रान्त, अमुक भाष्यकार ने क्या क्या भूल की है, स्वामी दयानन्द की भक्ति किस पंडित के हृदय में अधिक है—यह विषय कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, यह सर्वसाधारण में वेदों के प्रति कुछ प्रेम उत्पन्न नहीं करते। जनता इस लिये इकट्ठी नहीं हुई कि वह पंडितों की परीक्षा लेकर उनको सर्टीफिकेट प्रदान करे। उसमें तो परीक्षा लेने की योग्यता ही नहीं। अतः यदि वह किसी पण्डित को सबसे अधिक विद्वान् होने का प्रमाण पत्र दे भी दे तो किस अर्थ का।

वर्तमानकाल की प्रवृत्ति यह है कि जनता पेड़ की जड़ का सम्मान करने के स्थान में फलों की अधिक इच्छा करती है। आजकल का युग व्यावहारिक युग है। हम यह जानना चाहते हैं कि वेदों में मनुष्य जीवन के सुधार की अच्छी सामग्री है या नहीं। उनको यह परवाह नहीं कि वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय। दो अरब वर्ष पुराने हैं या दो सौ वर्ष पुराने। कालिदास के शब्दों में:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

आजकल लोग उन पुस्तकों को रुचि से पढ़ते हैं जो पौरुषेय हैं और आजकल के लोगों की बनाई हुई हैं। अतः वैदिक साहित्य को सर्व सम्मानित करने के लिये ऐसी भाषा में रखना होगा कि लोगों पर उनका सौन्दर्य विदित हो जाय। आजकल लोग "परप्रत्ययनेयबुद्धिः" भी नहीं हैं। वह हर एक बात को अपनी बुद्धि से जांचना चाहते हैं। इसलिये यदि आप ऐसी पुस्तकें लिखें जिनमें मैक्समूलर, रौथ, श्री अरविन्द घोष आदि की वेद विषयक सम्मतियां दी हों तो वह उनके किसी काम की नहीं। कोई दवाओं का नुसखा केवल इसलिये श्रद्धा उत्पन्न नहीं करता कि किस किस डाक्टर ने उसकी प्रशंसा की है। बीमार आदमी तो नुसखे को दवा के रूप में पीना चाहता है। आर्य्यसमाज

में पिछले अस्सी साल के परिश्रम में केवल एक ही गीत गाया जाता रहा कि वेदभाष्य करने की कौन सी शैली ठीक है और दूसरे लोगों ने क्या लिखा है। इससे वेदों का स्वाध्याय जनता में नहीं बढ़ा। लोग ऋग्वेद के मन्त्रों को इतने चाव से नहीं पढ़ते जितने चाव से "वेदों का डंका आलम में बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने" यह गीत गाया जाता है। सारांश यह है कि विज्ञापन प्यारा है। वह वस्तु प्यारी नहीं जिसका वह विज्ञापन है। मैक्समूलर ने वेद की प्रशंसा की परन्तु वह वैदिकधर्मी नहीं बना। अतः उसकी प्रशंसा को हम शहद लगा कर चाटा करें। श्री अरविन्द ने ऋषि दयानन्द की प्रशंसा की। कब? पचास साल पूर्व। जब की अरविन्द का आरंभिक काल था। अन्त में तो उनको 'महाकाली' पर ही विश्वास था। उनके ग्रंथ पढ़िये। कितनी भोली है आर्य जनता कि कुछ नारों या प्रशंसापत्रों को सुनकर ही मुग्ध हो जाती है। मैं यह नहीं कहता कि शब्द की नित्यता, वेदों की अपौरुषेयता, ऋषि दयानन्द की शैली, यास्क की महत्ता, पाणिनि या पतंजलि की गरिमा पर विचार करना आवश्यक नहीं। मेरा कहना यह है कि यदि हम वेदों के भाष्य को या उनके किसी छोटे से छोटे अंश को ऐसा रूप दे सकें कि लोग उनको कल्याणकारी समझ सकें तो अधिक अच्छा होगा। गूढ़ रहस्य सभी के लिये उपयोगी नहीं होते। वेदों के विषय में तीन प्रकार के काम की आवश्यकता है:—

(१) **मौलिक अनुसन्धान**—यह बहुत थोड़े गिने चुने लोग ही कर सकते हैं। अनुसन्धान के लिये स्वातंत्र्य-प्रेम आवश्यक है। जो पुरुष यह मानता है कि जो कुछ स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में पाया जाता है वह अक्षरशः और मात्राशः ठीक है, उसको अनुसन्धान के पास भी फटकने देना नहीं चाहिये। अनुसन्धान वही करेगा जो यह समझता हो कि खोज की आवश्यकता है। भरे हुये पात्र में पानी नहीं भर सकते। अनुसन्धान की जननी है 'संशयः' जिसको न्याय दर्शन ने अपने १६ पदार्थों में गिना है। यदि संशय करना 'कुफ़्र' है तो अनुसन्धान का ढिंढोरा पीटना जनता को धोखा देना है। जो चीज़ निश्चित है उसकी जाँच कैसी? क्या आप किसी जज से कह सकते हैं कि आप खोज करके न्याय कीजिये लेकिन निर्णय वही दीजिये जो मुझे अभीष्ट है? यदि आपकी प्रवृत्ति अनुसन्धान की नहीं है तो आप 'अनुसन्धान' की दुहाई क्यों देते हैं? मुसल्मानों ने कुरान को अनुसन्धान का विषय नहीं बनाया। यदि आप भी वेदों और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के विषय में ऐसी ही धारणा रखते हैं तो अनुसन्धान का नाम न लीजिये।

(२) **प्रचारार्थ प्रकाशन**—इसमें वेदविषयक ऐसे ग्रन्थ होने चाहियें जो उच्च विद्वानों को आकर्षित कर सकें। इनकी तुलनात्मक विवेचना भी अधम या निकृष्ट श्रेणी की न हो। किसी मत की आलोचना भी हो तो शिष्टता को लिये हुये। अधिकतर तो हमको ऐसे ग्रन्थ रचने चाहियें जो 'तूतू मैंमैं' से मुक्त हों और लोगों की समझ में आ जाय कि वेद कोई अच्छे ग्रन्थ हैं।

(३) तीसरा जन साधारण की समझ में आनेवाला वेद सम्बन्धी साहित्य, छोटे छोटे मंत्र या छोटे छोटे मंत्रों के टुकड़े सीधी सादी व्याख्या सहित—इसमें दो विभाग किये जा सकते हैं, एक तो सस्ता साहित्य ग्रामीण लोगों के लिये, दूसरा आकर्षक बाल-साहित्य जो सुन्दर रूप रेखा तथा चित्रों से विभूषित हो। यह महंगा होगा और धनाढ्य लोग ही खरीद सकेंगे। परन्तु यह ऐसा होना चाहिये कि बच्चे केवल आंख से देखकर ही शिक्षा तथा प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

प्रायः देखा गया है कि लोग मंत्रों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि मंत्र तो दब जाता है और व्याख्या उभर आती है। एक सज्जन ने इसकी उपमा उस शाक से दी जिसमें पाचक कई प्रकार के इतने मसाले डाल देता है कि असली चीज छिप जाती है। चीज़ मजेदार होती है परन्तु पता नहीं चलता कि शाक लौकी का है या गोभी का। इस प्रकार की व्याख्या वेदज्ञता में कुछ भी सहायक नहीं होती। व्याख्याता अपना विज्ञापन देता है न कि वेद का। शुद्ध अमिश्रित स्वर्ण को मुलम्मे की आवश्यकता नहीं, केवल थोड़े से मार्जन से ही काम चल सकता है। स्वर्ण स्वयं चमकने लगेगा। ❀

❀ [माननीय लेखक वयोवृद्ध होते हुये भी आर्यसमाज के विषय में बराबर सोचते रहते हैं, यह बड़े गौरव और प्रसन्नता की बात है। यह लेख वेदाङ्क में नहीं दे सके थे। विद्वानों के विचारार्थ हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं। कुछ बातों में सहमत न होते हुये भी हम समझते हैं कि कई बातें इसमें बहुत उपयोगी और आर्य विद्वानों के विचारने की हैं। शब्दार्थ की नित्यता को न समझ कर जो लिखा गया है वह अयथार्थ है। इस विषय में कोई लेख आयेगा तो हम इसे छापेंगे—सम्पादक]

विद्वानों के विचारार्थ—

क्या आर्यसमाज द्वारा स्वीकृत सृष्टिसंवत् शुद्ध है ?

[ले०—श्री पं० चक्खनलाल जी गर्ग, एम० ए०, आगरा]

क्या आर्यसमाज द्वारा सृष्टिसंवत् शुद्ध है ? 'नहीं' यह मत श्री स्वामी आत्मानन्द तीर्थ का है, जो प्रतिपादन करते हैं कि महर्षि दयानन्द के मतानुसार ठोस आधारों पर गणना करने से शुद्ध सृष्टिसंवत् १९७३८१३०६० होना चाहिये न कि प्रचलित संवत् १९७२९४९०६० । प्रचलित संवत् शुद्ध सृष्टिसंवत् से ८६४००० वर्ष कम है ।

वेद के अनुसार एक सृष्टि काल अथवा ब्राह्म दिन के वर्षों की संख्या ४३२०००००० वर्ष है ।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
अथर्व० ८ । २ । २१ ॥

इस सृष्टिकाल अथवा ब्राह्म दिन को एक सहस्र पर विभाजित करने से ४३२०००० वर्ष आते हैं, यह संख्या एक चतुर्युगी की है ।

इस संख्या को आगे और विभाजन करने से चार युगों के वर्षों की संख्या निकलती है । जो इस प्रकार है ।

सत्युग	१७२८००० वर्ष	अर्थात् कलियुग के वर्षों का		४ गुना
त्रेता	१२९६००० वर्ष	"	"	३ गुना
द्वापर	८६४००० वर्ष	"	"	२ गुना
कलियुग	४३२००० वर्ष			

कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्म दिन में १४ मन्वन्तर होते है और प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगियाँ होती हैं ।

इस गणना से एक ब्राह्म दिन में १४×७१=९९४ केवल चतुर्युगियाँ होती हैं । इस गणना में ६ चतुर्युगियों का अन्तर आता है । ऐसा क्यों ?

महर्षि के मतानुसार वेदकाल का ही विभाजन १४ मन्वन्तरों में किया जा सकता है और क्योंकि वेदों का आविर्भाव मनुष्योत्पत्ति के साथ हुआ, इसलिये मानवकाल और वेदकाल दोनों एक हैं ।

इससे सिद्ध हुआ कि वेदकाल अथवा मानवकाल की गणना १४ मन्वन्तर अर्थात् ९९४ चतुर्युगियों तक ही रहती है, जिनके ४२९४०८०००० वर्ष होते हैं ।

अब यह प्रश्न होता है कि छः चतुर्युगियों की क्या व्यवस्था होगी ।

यजुर्वेद[1] अध्याय १२ मन्त्र ७५ के अनुसार मनुष्योत्पत्ति से पूर्व तीन देवयुग व्यतीत हो चुकते हैं । इस काल में पृथ्वी का बनना, उसका ठंढा होना और उस पर औषधियों तथा अन्न का होना सिद्ध होते हैं ।

जिस प्रकार सृष्टि उत्पन्न होने के तीन देवयुगों के पश्चात् मनुष्योत्पत्ति तथा वेदयुग का प्रारंभ होता है, उसी प्रकार यह कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्म दिन के अन्त होने से तीन देवयुग पूर्व मनुष्यों की प्रलय हो जायगी और मानवों के साथ वेद भी लुप्त हो जावेंगे ।

एक दैव युग कितने वर्षों का होता है ? इस पर विचार करना चाहिये ।

मनुस्मृति में सहस्र दैवयुगों का एक ब्राह्मदिन माना है ।

दैविकानां युगानां तु सहस्रपरिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥
मनु० १ । ७२ ॥

और इस से प्रथम लिख चुके हैं कि एक सहस्र चतुर्युगियों का एक ब्राह्म दिन होता है ।

इससे सिद्ध होता है कि एक दैव युग के वर्षों की संख्या एक चतुर्युगी के वर्षों की संख्या के बराबर होती है । अर्थात् एक दैवयुग ४३२०००० वर्षों का होता है । ४३२०००० को ३ से गुणा करने से १८९६०००० वर्ष आते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि वेदसंवत् अथवा मानवोत्पत्तिसंवत् में १२९६०००० वर्षों का योग करने से शुद्ध सृष्टिसंवत् की गणना हो सकती है ।

अब मानवोत्पत्ति अथवा वेदसंवत् कितना है ? यह देखना चाहिये । जबसे मानव का प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर हुआ है, तब से वह अपनी उत्पत्ति का स्मरण इस संकल्प के द्वारा करता रहा है, जो प्रत्येक शुभ काम के अवसर पर पढ़ा जाता है:—

१. या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥ यजु० १२।७५ ॥

ओं तत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च।

अर्थात् परमेश्वर की कृपा से वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाइसवें कलियुग के अमुक संवत्सर, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र लग्न और मुहूर्त में यह शुभ कर्म किया जाता है।

इस वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर से पूर्व छः और मन्वन्तर हो चुके हैं। अर्थात् १. स्वायम्भव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७ वाँ वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

१ मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगियाँ होती हैं, अर्थात् एक मन्वन्तर की ४३२०००० × ७१ = ३०६७२०००० वर्ष गणना है। ऐसे ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर १८४०३२०००० वर्ष हुए। वर्तमान मन्वन्तर में यह अट्ठाइसवाँ कलियुग है। इसके वर्षों की गणना इस प्रकार है।

सत्ताईस चतुर्युगियों के	११६६४००००
सतुयुग के	१७२८०००
त्रेतायुग के	१२९६०००
द्वापरयुग के	८६४०००
आजतक कलियुग के	५०६०
वैवस्वत मनु से आजतक का योग	१२०५३३०६० वर्ष

इस संख्या को छः मन्वन्तरों की वर्ष संख्या में योग करने से—

छः मन्वन्तरों की वर्षसंख्या	१८४०३२०००० वर्ष
वैवस्वत मनु के गत वर्षों की संख्या	१२०५३३०६० वर्ष
वेदोत्पत्ति अथवा मनुष्यत्पत्तिकाल	१९६०८५३०६० वर्ष

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी संख्या को मनुष्योत्पत्ति संवत् माना है और यही वेदसंवत् है क्योंकि वेद का ज्ञान मनुष्यों को उनकी उत्पत्ति के साथ ही ईश्वर के द्वारा दिया गया।

सृष्टि की उत्पत्ति इस काल से तीन चतुर्युगी पूर्व हुई। अतः इस मनुष्योत्पत्ति संवत् में १२९६०००० वर्ष का योग करने से सृष्टिसंवत् मालूम हो सकता है।

इस प्रकार सृष्टिसंवत् १९७३८१३.६० है। यही शुद्ध सृष्टिसंवत् है।

प्रचलित सृष्टिसंवत से यह संवत् ८६४००० वर्ष न्यून है।

सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम समुल्लास

[ले०—*श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, गाज़ियाबाद*]

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण विक्रमी संवत् १९३१ में लिखा गया और संवत् १९३२ में प्रकाशित हो गया। प्रकाशन का यह काल ईसवी सन् १८७५ में पड़ता है।

वर्त्तमान सत्यार्थप्रकाश में चौदह समुल्लास हैं, परन्तु प्रथम संस्करण में केवल बारह समुल्लास प्रकाशित हुए। यह संस्करण प्रकाशित होने के लगभग सात वर्ष अनन्तर सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण स्वयं ऋषि द्वारा संशोधित किया जाकर मुद्रण के लिये प्रैस में दिया गया। संशोधित प्रति का सर्वप्रथम भाग जो प्रैस में मुद्रणार्थ भेजा गया, उसकी तिथि—भाद्रपद वदी १ मंगलवार संवत् १९३९ [२९ अगस्त १८८२ ईसवी] है। यह समय ऋषि के देहावसान से लगभग एक वर्ष दो मास पूर्व का है। ऋषि के जीवन काल में सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय सस्करण सम्पूर्ण नहीं छप सका, उसका कुछ भाग ऋषि के देहावसान के अनन्तर छपा।

प्रथम संस्करण में केवल बारह समुल्लासों के छपने, और द्वितीय संस्करण ऋषि के जीवन काल में सम्पूर्ण न छपने, इन दो कारणों से विरोधी विचार रखने वाले कतिपय व्यक्तियों ने ऐसे आक्षेप किये—

१—प्रथम संस्करण ऋषि के जीवन काल में छपा, इसलिये दयानन्द की रचना वही है और उतनी ही है।

२—अन्तिम दो समुल्लास दयानन्द के बाद आर्यसमाजियों ने मिला दिये हैं।

३—यह भी संभव है, कि समस्त द्वितीय संस्करण

आर्यसमाजियों ने ही लिखकर छपवा दिया हो।

इन आक्षेपों के विषय में यथाक्रम विचार प्रस्तुत किया जाता है।

१—(क)—सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण मुरादाबाद निवासी राजा श्री जयकृष्णदास जी के द्वारा प्रकाशित कराया गया था। राजा महोदय ने ऋषि के प्रवचनों व उपदेशों से अत्यन्त प्रभावित होकर उनसे निवेदन किया था कि इन प्रवचनों को महाराज लिपिबद्ध करादें, तो इन्हें मुद्रित करा दिया जाय, जिससे आने वाली सन्तान भी इनसे अनुपम लाभ उठा सके।

इसीके परिणाम स्वरूप ऋषि ने लेखक द्वारा अपने विचारों को लिपिबद्ध कराया और वह पाण्डुलिपि राजा जयकृष्ण दास को मुद्रणार्थ दे दी गई। राजा महोदय ने उसकी प्रतिलिपि कराकर एक प्रति प्रैस में मुद्रणार्थ भेज दी और एक अपने पास सुरक्षित रक्खी जो अब भी उनके उत्तराधिकारियों के अधिकार में है। उस प्रति का अविकल फोटो अजमेर की श्रीमती परोपकारिणी सभा के अनुपम प्रयत्न से पिछले दिनों लिया गया, जो अजमेर में सुरक्षित है। इस प्रति में सत्यार्थप्रकाश के सम्पूर्ण चौदह समुल्लास हैं। इसलिये यह आक्षेप सर्वथा निराधार है कि प्रथम संस्करण के लिये केवल बारह समुल्लास ऋषि ने लिखे थे।

(ख)—ऋषिदयानन्द का एक पत्र जो स्टार प्रैस काशी के अध्यक्ष लाला हरिवंश लाल को लिखा गया था, इस प्रकार है—

"संवत् १९३१ मिति माघवदि २ शनिवार (२३ जनवरी सन् १८७५) आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा। सो शोध के आपके पास आया कि नहीं? जो न आया हो तो राजा जयकृष्ण दास जी को खत लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें, और बायबिल का अध्याय सब शोध कर के छाप दो। दो महीने में छापने के वास्ते जो आपने लिखा है, सो दो महीने में सब पुस्तक छाप दो।"

[पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २८]

उन दिनों जब यह पत्र लिखा गया, काशी के स्टार प्रैस में राजा जयकृष्ण दास की अनुमति के अनुसार सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम संस्करण छप रहा था, प्रैस के अध्यक्ष लाला हरिवंश लाल थे। पत्र से स्पष्ट है कि ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में कुरान के खण्डन का अध्याय और बायबिल का अध्याय पूर्ण रूप से लिखा था, उसके मुद्रण के लिये प्रैस से पत्र व्यवहार भी होता रहा।

(ग)—'ऋषि के पत्र और विज्ञापन' के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी ने २६ वें पृष्ठ की टिप्पणी में इस प्रकार लिखा है—

"तेरहवें समुल्लास अर्थात् कुरान मत समीक्षा के सम्बन्ध में श्री स्वामी जी का लिखवाया हुआ निम्नलिखित विवरण है, इसे अत्युपयोगी और ऐतिहासिक दृष्टि से बहु-मूल्य समझ कर आगे देते हैं—

"जितना हमने लिखा इसका यथावत् सज्जन लोग विचार करें पक्षपात छोड के, तो जैसा हमने लिखा वैसा ही उनको निश्चय होगा। यह कुरान के विषय में जो लिखा गया है सो पटना शहर ठिकाना गुडहट्टा में रहने वाले मुन्शी मनोहर लाल जो कि अरबी में भी पण्डित हैं उनके सहाय से और निश्चय करके कुरान के विषय में हमने लिखा है।" इति।"

यह विवरण श्री स्वामी जी का लिखवाया हुआ श्री पं० भगवद्दत्त जी ने कहाँ से लिया है, यह स्पष्ट नहीं किया। ऐसी स्थिति में इसकी प्रामाणिकता के लिये सन्देह किया जा सकता है। पर यह साधारण बात है, यह संभव है—जहाँ से यह विवरण लिया गया है उसका उल्लेख किये जाने का ध्यान न रहा हो। यदि अब भी मालूम हो सके, तो श्री पण्डित जी से हम निवेदन करेंगे कि वे इसे स्पष्ट करने की कृपा करें। इस विवरण के अनुसार इतना स्पष्ट है कि ऋषि ने कुरानमत-समीक्षा का अध्याय लिखा था और उसे संशोधन के लिये भेजा गया था, यही आशय २३ जनवरी सन् १८७५ के पत्र से भी स्पष्ट होता है जिसका उल्लेख यहाँ प्रथम (ख) भाग में किया गया है।

(घ)—ऋषि दयानन्द का स्वयं अपना लेख भी इस अर्थ की पुष्टि करता है। संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के प्रारम्भिक भाग में ऋषि ने लिखा है—

"यह ग्रन्थ चौदह समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है, इसमें दश समुल्लास पूर्वार्द्ध और चार उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसि-द्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

इससे स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण के लिये अन्तिम दो समुल्लास लिखे अवश्य गये थे, पर किन्हीं कारणों से छप न सके।

[सशेष]

सम्पादकीय

कुछ विशिष्ट आर्य पुरुषों का निधन

(१) आर्य दानी सेठ दीपचन्द जी पोद्दार

आर्य जगत् में प्रसिद्ध—धर्मप्रेमी—आर्यसमाज, ऋषि दयानन्द के भक्त—दानवीर, सरलस्वभाव कलकत्ता निवासी सेठ दीपचन्द जी पोद्दार का देहान्त १८ जनवरी १९६१ को कलकत्ते में हुआ। आप का जन्म रामगढ़ (राजस्थान) में सन् १८७५ में हुआ था। आप कलकत्ते की प्रतिष्ठित "दीपचन्द जी पोद्दार" फर्म के मालिक थे। आप केवल मारवाडी समाज में ही प्रतिष्ठित न थे, अपितु कलकत्ता की जनता में आपका बड़ा प्रभाव था। सब के साथ आपका बहुत ही अच्छा व्यवहार रहता था। आप कलकत्ता पिंजरा-पोल—आर्य कन्या महाविद्यालय ट्रस्ट—मथुरा वृन्दावन गोचर भूमि ट्रस्ट—हरियाणा शेखावटी ब्रह्मचर्य आश्रम और गुरुकुल वैद्यनाथ धाम—काली कम्बली वाला पंचायती आखाड़ा ऋषिकेश के ट्रस्टी तथा सदस्य रहे। आप पौराणिक परिवार में उत्पन्न होकर भी कलकत्ता आर्यसमाज के वर्षों तक प्रधान रहे। ३२ वर्ष की आयु में विधुर हो जाने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया और जीवन भर का व्रत पूरा किया। आप स्वाध्यायशील और नित्यकर्म में निष्ठा-वान् रहते थे। अपनी आय का नियत भाग दान के लिये बराबर निकालते थे जिसके लिये आपने पूज्य पिता जी के नाम से जयनारायण पोद्दार ट्रस्ट की स्थापना की। आप बहुत ही उदार और सज्जन पुरुष थे। इनके पुत्र श्री कृष्ण लाल जी पोद्दार भी अपने पूज्य पिता के सच्चे प्रतिनिधि, बड़े उदार-योग्य-दूरदर्शी—सच्चे आर्य पुरुष हैं। हम आशा करते हैं कि इनके उद्योग से श्री दीपचन्द जी का जगाया दीपक इस कुल में सदा प्रज्वलित रहेगा और वैदिक धर्म और आर्य समाज में निष्ठावान् होकर धार्मिक भावना से पूर्ण यह परिवार सदा आर्यसमाज की सेवा में तत्पर रहेगा। गत आत्मा की सद्गति और सन्तप्त परिवार की शान्ति के लिये हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

(२) श्री पं० जयदेव जी विद्यालंकार

आर्यसमाज के प्रसिद्ध योग्य विद्वान्—गुरुकुल कांगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक-चतुर्वेदभाष्यकार-स्वाध्यायशील-उत्साही मिलनसार-कोमल स्वभाव श्री पण्डित जयदेव जी विद्यालंकार का निधन २९ जनवरी १९६१ को अजमेर में हो गया। ऐसी आशा नहीं थी कि वह इतना शीघ्र चल देंगे। आपका चारों वेदों का भाष्य, चाहे सर्वसम्मत न हो, पुनरपि यह आप की लम्बी-सुदृढ़ साधना का परिचायक अवश्य है। आर्य साहित्य मण्डल में आपने वेद-भाष्य तथा अन्य कार्यों द्वारा एक महान् कार्य किया, चाहे वह जीविका के विचार से ही आरम्भ हुआ। पं० जी आर्य-समाज के उच्चकोटि के विद्वानों में थे। आर्यसमाज, वैदिक धर्म में आप की पूरी निष्ठा थी। आप योग्य लेखक—सफल सम्पादक—उत्साही ग्रन्थलेखक थे। आर्य साहित्य मण्डल अजमेर की प्रायः सभी पुस्तकों के लेखक तथा अनुवादक थे। आप कन्या महाविद्यालय वनस्थली (जयपुर) में वर्षों से ऊँची श्रेणियों के प्राध्यापक रहे। ऐसे सुयोग्य विद्वान् आर्यसमाज से कम होते जा रहे हैं। नये आते दिखाई नहीं दे रहे हैं। स्थान लेने वाले तो आयेंगे ही, यह चलता संसार ऐसे ही चलता रहेगा। हम सब इसी यात्रा के यात्री हैं। जब जिसका नम्बर आ जावे।

आर्य बन्धुओं और उनके समस्त परिवार को प्रभु शान्ति प्रदान करें और शक्ति दें कि उनके कार्यों को पूरा करने का प्रयत्न करते रहें।

(३) महाशय मामराज जी आर्य खतौली निवासी

महाशय जी बड़े ही सच्चे ऋषिभक्त—आर्यसमाज के सेवक—ऋषि दयानन्द सम्बन्धी पत्रों के अद्भुत अन्वेषक-विचारशील-सहृदय—आर्यसमाज खतौली (जि० मुजफ्फर नगर) के संस्थापक थे।

गत ४० वर्ष से हमारा इनसे परिचय रहा। डी० ए० वी० कालेज लाइब्रेरी लाहौर से आर्यसमाज के उद्भट विद्वान्-भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च-स्कालर के साथ आपने कार्य करना आरम्भ किया। सैकड़ों स्थानों में जा-जा कर ऋषि सम्बन्धी पत्रादि सामग्री के संग्रह में अपना जीवन लगा दिया। इस विषय में वह एक पागल से रहते थे। हर समय यही धुन लगी रहती

थी। मुझे जब भी पत्र लिखते थे उसमें ऐसी कोई न कोई बात अवश्य रहती थी। रामानन्द ब्रह्मचारी के पत्रों को खोजने का श्रेय आपको ही रहा। न जाने कितनी बार इस बात के लिये इन्हें जाना पड़ता था। जहाँ जाते थे वहीं की सारी रद्दी की छान बीन करके यह उनमें से ऐसी अलभ्य सामग्री निकाल लाते थे कि सब आश्चर्य चकित रह जाते थे! मुझे स्मरण है, कुछ वर्ष हुए आप काशी मेरे पास ठहरे, तो एक दिन मुझे साथ लेकर ऋषि दयानन्द के जीवन लिखने वाले देवेन्द्र बाबू की सामग्री देखने के लिये बंगाली टोला में रात्रि के ८–९ बजे गये और वह घर ढूँढ़ ही लिया जिसमें एक बंगाली महिला जो देवेन्द्र बाबू की रिश्ते में पुत्रवधू है, उनके समय में जिसकी आयु १६–१७ वर्ष की रही होगी, इस समय ७०–७५ होगी, १०२ ज्वर में पड़ी थी। देवेन्द्र बाबू के कागज़ पत्र देखने के लिये वहाँ पहुँचे, तो उस देवी ने कहा कि मैं तो उस समय छोटी थी। उनके कागज़ आदि तो कोई हैं नहीं, इत्यादि। ऐसा कोई अवसर वह हाथ से जाने न देते थे। महाशय मामराज जी मुझे सदा लिखते रहे कि अजमेर में एक बार सब रद्दी देखी जावे जो परोपकारिणीसभा में पड़ी है। यत्न करने पर भी इसकी व्यवस्था न बन पाई। मैंने तो यत्न किया।

आर्यसमाज में भी मरे पीछे श्राद्ध होता है, जीवन में तो कोई किसी को पूछता नहीं। मुझे बड़ा दुःख होता था कि महाशय मामराज जी जैसा ऋषिभक्त आर्यसमाज का सच्चा सेवक पेट पालने के लिये या अपने सम्बन्धियों के कार्य के लिये रायपुर (सी० पी०) में मुख़तारी का काम कर रहा है, "मुक्ताः परित्यज्य विभर्त्ति गुञ्जाः" मोतियों को छोड़ कर सीप चुनने में लगा था तो मन पर ठेस भी लगती थी। महाशय मामराज जी जैसा योग्य व्यक्ति विदेशों में होता तो ऐसे व्यक्ति को तो निश्चित कर इससे केवल खोज का काम लिया जाता, अपितु किसी रिसर्चलाइब्रेरी में एक ऊँचे पद पर नियुक्त किया जाता। बड़े-बड़े डाक्टर पी. ऐच. डी. कहे जाने वाले भी सफल नहीं होते जो मामराज जी करते। लाहौर छोड़ने के कारण हम अभी तक भी एक प्रकार से "स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते" स्थानभ्रष्ट–आश्रमहीन से हो रहे हैं। मामराज जी पाकिस्तान के कारण डाँवाडोल हो गये। कौन किसको आश्रय दे सब को अपनी-अपनी पड़ी रही, अभी तक पड़ रही है! वह चल भी दिये !!!

पण्डित हंसराज जी लाइब्रेरियन डी० ए० वी० कालेज जैसे योग्य विद्वान् मारे-मारे फिर रहे हैं। केवल १००–१५० रुपये मासिक उनके भोजन का प्रबन्ध भी कोई आर्यसभा, आर्यसमाज वा कोई आर्य पुरुष नहीं कर सकता। जो सामग्री इनके पास है वह तो कोई ले लेवे। हल्ला-गुल्ला बहुत है, पीछे शोकप्रस्ताव पास हो जायगा। और क्या होना है।

मुझे गहरा दुःख है कि महाशय मामराज जी से जो काम आर्यसमाज का लिया जा सकता था, वही नहीं लिया जा सका। उन जैसा जानकार-परिश्रमी भक्त कोई दिखाई नहीं दे रहा॥ अस्तु॥

वह भी अपना मोह कुछ छोड़ न सके। कुछ सहारा मिलता तो सम्भव है छोड़ देते।

खतौली आर्यसमाज तथा बा० ओ३म् प्रकाश जी रईस खतौली को चाहिये कि वह उनके सब कागज-पत्र जो बहुत ही मूल्य के हैं अपने यहाँ या श्री० पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च-स्कालर देहली के पास सुरक्षित रख दें, जिन्हें महाशय मामराज जी प्राण से भी प्यारा समझते थे और सब किसी के पास रखते नहीं थे। उनका एक ट्रंक तो मेरे पास वर्षों पड़ा रहा, जिसमें अलभ्य सामग्री थी, पता नहीं वह अब कहाँ है। गति तो कर्मानुसार होती है। हम सद्गति की कामना तो कर सकते हैं। उनके मित्र और सम्बन्धी उनकी भावनाओं का आदर करें तो ठीक है। म० मामराज जी तो गये, वह तो लौट कर आते नहीं। कोई आया भी नहीं !!! दैवेच्छा बलीयसी !!!

विविध-समाचार

आर्य नेताओं की गिरफ्तारी

जालन्धर, ६ फरवरी। अड्डा होशियार आर्यसमाज में आर्य नेता विचार विमर्श कर रहे थे। उनमें से ६ नेताओं को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। गिरफ्तार नेताओं में आचार्य रामदेव जी, श्री जगत्नारायण जी, श्री वीरेन्द्र जी, श्री इन्द्रसेन जी, श्रीमती विमला कोहली तथा श्री डी० डी० ज्योति सम्मिलित हैं। बाद में इन सभी नेताओं को पाँच सौ रुपये की जमानत और मुचलके पर रिहा कर दिया गया। सरकार के इस अविवेकपूर्ण कार्य पर आर्य जनता में क्षोभ उत्पन्न हो गया।

आर्य महासम्मेलन

सार्वदेशिक सभा ने निश्चय किया है कि आगामी १६ से २१ मई तक देहली में आर्य महासम्मेलन बुलाया जाय और इसी अवसर पर सभा की स्वर्णजयन्ती भी मनायी जाय। सार्वदेशिक सभा की स्थापना सन् १९०८ में हुई थी। इस सम्मेलन में उसकी ५२ वर्ष की प्रगति पर दृष्टिपात किया जायेगा। इस अवसर पर कई विविध सम्मेलनों का आयोजन किया जायेगा।

आध्यात्मिक और आदर्शवादी पक्ष पर ध्यान दें

महात्मागान्धी की पुण्यतिथि के अवसर पर आयोजित देहली की एक विशाल सभा में प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि केवल सम्पत्ति और धन के वैभव से देश आगे नहीं बढ़ सकता। सच्चा वैभव तब होगा जब हम भौतिक प्रगति के साथ अपने हृदय, मस्तिष्क तथा आत्मा की भी उन्नति करें।

बिहार के मुख्य मन्त्री का देहावसान

बिहार के मुख्य मन्त्री डा० श्रीकृष्ण सिंह का देहान्त ३१ जनवरी दिन एक बजे उनके निवास स्थान पर हो गया। आपकी अवस्था ७४ वर्ष थी और एक मास से अधिक समय रुग्ण थे।

भारत में जनगणना का कार्य आरम्भ

१० फरवरी से देश में जनगणना प्रारम्भ हो गई है। भारत में पहली जनगणना सन् १८७२ में हुई थी। इस प्रकार यह दसवीं जनगणना हो रही है। यह गणना ५ मार्च को समाप्त होगी। लाखों कर्मचारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचनाओं के आकलन में व्यस्त हैं।

यात्री किराये और मालभाड़े में वृद्धि नहीं

केन्द्रीय रेल मन्त्री श्री जगजीवनराम ने १९६१-६२ का रेल बजट प्रस्तुत करते हुए कहा कि चालू वर्ष में ८-६४ करोड़ रुपये की बचत होने का अनुमान है। रेल के किराये में कोई परिवर्त्तन नहीं होगा और ढुलाई भाड़े में भी सामान्य रूप से कोई परिवर्त्तन नहीं किया जायेगा। छोटे पार्सलों के शुल्क पर १० प्रतिशत की वृद्धि की गई है।

चीन को काश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता अमान्य

भारत और चीन के अधिकारियों की वार्ता के परिणाम स्वरूप जो प्रतिवेदन संसद में प्रस्तुत किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि चीन को कश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता मान्य नहीं है। सिक्किम और भूटान के साथ भारत के विशेष सम्बन्ध को भी चीन स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार दोनों पक्षों में सहमति अत्यल्प ही रही है।

शोक-समाचार

ऋषि-दयानन्द के परम भक्त, अपने जीवन का अधिकांश ऋषि के पत्रों और विज्ञापनों के संग्रह में अर्पण करने वाले, आर्यसमाज रायपुर के स्तम्भ श्री महाशय मामराज सिंह जी का देहावसान रायपुर में १० फरवरी को हो गया। आपकी अवस्था ६५ वर्ष थी। आर्यसमाज रायपुर ने महाशय जी के इच्छानुसार दाहसंस्कार की व्यवस्था की।

उपसमिति की नियुक्ति

आर्यसमाज के गुरुकुलों—विद्यालयों को मिलाकर एक आर्य यूनिवर्सिटी बनाने के लिये आर्य विद्या सभा (आर्य-सार्वदेशिकसभान्तर्गत) द्वारा एक उपसमिति बनाई गई है जो इस विषय में विचार विनिमय कर रही है। शिक्षा प्रेमी सज्जन अपने सुझाव "आर्य विद्यासभा-रायबरेली" के मन्त्री के पास भेज सकते हैं।

ततस्तु तस्मिन् विजने वने तदा महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं संभ्रममभ्युपेयतुर्यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामसंक्षोभो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजाश्रमाभिगमनम्

ते तु तस्मिन् महावृक्ष उषित्वा रजनीं शिवाम् । विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद्देशात्प्रतस्थिरे ॥ १ ॥
यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते । जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥ २ ॥
ते भूमिभागान् विविधान् देशांश्चापि मनोरमान् । अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥
यथा क्षेमेण संपश्यन् पुष्पितान् विविधान्द्रुमान् । निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥
प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम् । अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥
नूनं प्राप्ताः स्म संभेदं गङ्गायमुनयोर्वयम् । तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिघर्षजः ॥ ६ ॥

दोनों भाई न डरे, न किसी प्रकार घबराये, जिस प्रकार पर्वतवासी सिंह नहीं घबराते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम का विलाप' विषयक तिरपनवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

चौवनवां सर्ग

भरद्वाज के आश्रम में जाना

राम, लक्ष्मण तथा जानकी उस सुन्दर रात्रि को महान् वट वृक्ष के नीचे बिताकर तथा विमल भुवन भास्कर के उदय होने पर उस स्थान से चल दिये ॥ १ ॥ जिस स्थान पर भागीरथी गङ्गा में यमुना मिलती है, उस स्थान को लक्ष्य करके सघन बन के बीच में होते हुए वे चल दिये ॥ २ ॥ वे यशस्वी जहां तहां मनोहर रमणीय विविध देशों को, जिनको पहले नहीं देखा था, देखते हुए आगे चले ॥ ३ ॥ कुशल पूर्वक उन फल-फूलों से परिपूर्ण वृक्षों को देखते हुए दिन के समाप्त होने पर रामचन्द्र जी लक्ष्मण से बोले ॥ ४ ॥ हे लक्ष्मण ! प्रयाग के चारों ओर भगवान् अग्निदेव के ध्वजा के समान उठते हुए उत्तम सुगन्धित धुएँ को देखो। मालूम पड़ता है, मुनिलोग अपने आश्रम में ही हैं ॥ ५ ॥ निश्चय ही हम लोग गङ्गा-यमुना के संगम पर पहुँच गये हैं। क्योंकि दोनों नदियों के जल के परस्पर संघर्षण का शब्द सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥ वन में उत्पन्न हुई वस्तुओं के जीवन-निर्वाह करने वाले मनुष्यों के द्वारा काटी गई लकड़ियां तथा आश्रम के

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः। भरद्वाजाश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥७॥
धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे। गङ्गायमुनयोः सन्धौ प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥८॥
रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः। गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥९॥
ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ। सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥१०॥
स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्। संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥११॥
हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागं कृताञ्जलिः। रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥१२॥
न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः। पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ ॥१३॥
भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा। मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥१४॥
पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः। अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥१५॥
पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्। धर्ममेव चरिष्यामः पत्रमूलफलाशनाः ॥१६॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः। उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥१७॥
नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्। तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवान्वकल्पयत् ॥१८॥
मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः। राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥१९॥
प्रतिगृह्य च तामर्चामुपविष्टं स राघवम्। भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥२०॥
चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम्। श्रुतं तव मया चेदं विवासनमकारणम् ॥२१॥

पास विविध प्रकार के वृक्ष दिखाई दे रहे हैं॥ ७॥ वे दोनों धनुर्धारी सूर्य के अस्त होते होते सुख पूर्वक जाते हुए गङ्गा यमुना के संगम पर मुनि के आश्रम में पहुँचे॥ ८॥ पशु-पक्षियों को डराते हुए रामचन्द्र आश्रम में पहुँचे। पश्चात् कुछ समय आगे चलकर भरद्वाज मुनि के समीप पहुँचे॥ ९॥ आश्रम में पहुँच कर मुनि के दर्शन की आकांक्षा वाले सीता सहित वीर राम और लक्ष्मण [मुनि की आज्ञा की प्रतीक्षा के लिये] दूर ही स्थित हो गये॥ १०॥ [आश्रम में] प्रवेश करके अपने शिष्यों से घिरे हुए, प्रशंसित तपश्चर्या वाले, तपस्या के द्वारा जिन्होंने ज्ञानदृष्टि प्राप्त कर ली है, जिन्होंने अग्निहोत्र समाप्त कर लिया है, ऐसे एकाग्र महात्मा ऋषि भरद्वाज को देखकर सीता तथा लक्ष्मण सहित रामचन्द्र ने हाथ जोड़कर ऋषि को प्रणाम किया॥ ११, १२॥ लक्ष्मण के बड़े भाई रामचन्द्र ने मुनि को अपना परिचय दिया। भगवन्! हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र हैं, हमारा नाम राम और लक्ष्मण है॥ १३॥ यह जनक पुत्री कल्याणी सीता मेरी भार्या है। यह अनिन्दिता सीता इस विजन तपोवन में मेरे साथ आयी है॥ १४॥ पिता के द्वारा मुझे वनवास दिये जाने पर दृढ़व्रती मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण भी मेरे साथ आये॥ १५॥ हे भगवन्! पिता की आज्ञा से हम लोग तपोवन में प्रवेश करेंगे और [वहाँ पर] पत्र, मूल, फल आदि खाते हुए धर्म का ही आचरण करेंगे॥ १६॥ बुद्धिमान् राजकुमार रामचन्द्र जी के इस वचन को सुनकर उनके स्वागत करने के लिये धर्मात्मा ऋषि गाय उदक आदि ले आये॥ १७॥ तपस्वी ऋषि भरद्वाज ने उनको नाना प्रकार के अन्नरस तथा वन में उत्पन्न होने वाले फल-फूल दिये, तथा रहने के लिये स्थान आदि का प्रबन्ध किया॥ १८॥ चारों ओर मुनियों तथा मृग-पक्षियों से घिरे हुए मुनि भरद्वाज ने आये हुए रामचन्द्रजी का सत्कार पूर्वक स्वागत किया॥ १९॥ उस आदर-सत्कार को स्वीकार करके बैठे हुए रामचन्द्र जी से उस समय भरद्वाज मुनि धर्मयुक्त यह वचन बोले॥२०॥ हे रामचन्द्र! बहुत दिनों के पश्चात् आप को यहाँ आया हुआ देख रहा हूं। आप के अकारण वनवास के विषय में भी मैंने सुन लिया है॥ २१॥ महा-

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे । पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम् ॥२२॥
एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः । प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥२३॥
भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः । सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येहमिममाश्रमम् ॥२४॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः । अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥२५॥
एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् । रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥२६॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः । राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥२७॥
दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि । महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः शुभदर्शनः ॥२८॥
गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः । चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥२९॥
यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते । कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥३०॥
ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम् । तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥३१॥
प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम् । इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥३२॥
स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् । सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह धर्मवित् ॥३३॥
तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः । प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥३४॥
सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः। भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम् ॥३५॥

नदियों गङ्गा-यमुना के संगम पर यह पुण्य, रमणीय तथा एकान्त खुला स्थान है, आप यहाँ पर सुख पूर्वक वास करें ॥ २२ ॥ भरद्वाज के ऐसा कहने पर सब प्राणियों के हित में लगे हुए श्रीरामचन्द्र यह शुभ वाक्य बोले ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! जनपद तथा पुरवासी लोग यहाँ से बहुत समीप हैं । इसलिये यह आश्रम लोगों के लिये सरलता से आने जाने योग्य है ॥ २४ ॥ देखने वाले लोग मुझको तथा जानकी को देखने के लिये यहाँ सरलता से आ जाया करेंगे । इस कारण यहाँ वास करना मुझे पसन्द नहीं ॥ २५ ॥ भगवन् ! एकान्त में ऐसा कोई उत्तम आश्रम बताइये, जहाँ सुख पाने योग्य जनक पुत्री सीता सुखपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥ महा-मुनि भरद्वाज रामचन्द्र के इस शुभ वाक्य को सुनकर उनसे यह अर्थपूर्ण वचन बोले ॥ २७ ॥ हे पुत्र ! यहाँ से दस कोस पर महर्षियों से सेवित, सब ओर सुन्दर तथा पुण्यवान् पर्वत है, जहाँ पर तुम निवास कर सकोगे ॥ २८ ॥ वानर, लाङ्गूल तथा ऋक्ष आदि जन्तुओं से परिपूर्ण तथा गन्धमादन पर्वत के समान चित्र-कूट नाम का वह पर्वत है ॥ २९ ॥ मनुष्य जहाँ से चित्रकूट पर्वत की शुभ चोटियों को देखते हैं, वहीं से उनका मन एकाग्र होने लगता है, और पाप की ओर उनका मन नहीं जाता ॥ ३० ॥ वहाँ पर बहुत से ऋषि लोग सैकड़ों वर्षों तक शीर्षासन आदि पूर्वक तपश्चर्या करते हुए उत्तम गति को प्राप्त हुए ॥ ३१ ॥ वहाँ पर एकान्त वास आप के लिये सुख कारक होगा, ऐसा मैं मानता हूं । अथवा हे राम ! वनवास काल में आप मेरे साथ यहाँ वास कीजिये ॥ ३२ ॥ भाई लक्ष्मण तथा सीता सहित अपने प्रिय अतिथि रामचन्द्र को मुनि भरद्वाज ने सब प्रकार की कामनाओं से तृप्त किया और धर्मात्मा रामचन्द्र ने स्वीकार किया ॥ ३३ ॥ प्रयाग में उस महर्षि के पास में आये हुए रामचन्द्र के विचित्र-विचित्र कथा-वार्ता कहते हुए रात आ गई ॥ ३४ ॥ सुख में रहने वाले तथा थके हुए सीता, लक्ष्मण तथा तीसरे रामचन्द्र ने भरद्वाज के रमणीक आश्रम में उस रात्रि को सुख पूर्वक वास किया ॥ ३५ ॥ रात्रि की समाप्ति पर प्रातः काल नरकेसरी रामचन्द्र

प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत् । उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥३६॥
शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे । उषिताः स्मेह वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥३७॥
रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् । मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥३८॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल । नानानगगणोपेतः किंनरोरगसेवितः ॥३९॥
मयूरनादाभिरुतो गजराजनिषेवितः । गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥४०॥
पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः । तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चाभितः ॥४१॥
विचरन्ति वनान्तेऽस्मिंस्तानि द्रक्ष्यसि राघव । सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान् ॥४२॥
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥

प्रहृष्टकोयष्टिककोकिलस्वनैर्विनादितं तं वसुधाधरं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः सुरम्यमासाद्य समावसाश्रमम् ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरद्वाजाश्रमाभिगमनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥५४॥

अग्नि के समान तेजस्वी महामुनि भरद्वाज के पास जाकर उनसे बोले ॥ ३६ ॥ हे सदाचारी भगवन् ! आज रात हमने आपके आश्रम में वास किया है। अब आप हमें गन्तव्य के लिये आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥ उस रात के समाप्त होने पर [प्रातःकाल] महर्षि भरद्वाज ने रामचन्द्र से यह कहा मधु, कन्द मूल तथा फलों से युक्त "चित्रकूट" को तुम जाओ ॥ ३८ ॥ हे महाबली राम ! वहाँ पर आप का वास मैं उचित समझता हूं। वह पर्वत, नाना प्रकार के वृक्षों से युक्त, किंन्नर एवं उरग जातीय मनुष्यों से सेवित, मयूरों के शब्दों से निनादित तथा मदमत्त गजों से परिपूर्ण एवं चित्रकूट नाम से विख्यात है, आप वहाँ जायें ॥ ३९, ४० ॥ वह पर्वत पुण्यकारक, रमणीक तथा बहुत प्रकार के मूल-फलों से युक्त है। वहाँ पर चारों ओर हाथियों के झुण्ड तथा अन्य पशुओं के संघ उस वन के मध्य में विचरण करते हैं। हे राघव ! तुम उनको देखोगे ॥ ४१ ॥ बहती हुई नदियों, पर्वत की चोटियों, कन्दराओं तथा बहते हुए झरनों पर विचरण करते हुए तुम्हारा तथा सीता का मन आनन्दित होगा ॥ ४२ ॥ प्रसन्न टिट्टिभ (=टिटहरी) तथा कोयल के शब्दों से परिपूर्ण वन्य पशुओं तथा मदमत्त हाथियों से युक्त एवं सुन्दर पर्वत को प्राप्त करके तुम वहाँ रमणीक आश्रम में वास करो ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का "भरद्वाज के आश्रम को जाना" विषयक यह चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

यमुनातरणम्

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ । महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥
तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह । प्रस्थितांश्चैव तान् प्रेच्य पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥ २ ॥
ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः । भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥
गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ । कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतसमापगाम् । तस्यास्तीर्थं प्रचरितं पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् । ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् । तस्मै सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषः शिवाः ॥ ७ ॥
समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वातिक्रमेत वा । क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥
सल्लकीबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः । स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुबहुशो मया ॥ ९ ॥
रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः । इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत ॥१०॥
अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः । उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामलक्ष्मणमब्रवीत् ॥११॥

पचपनवाँ सर्ग

'यमुना' को पार करना

शत्रुओं का दमन करने वाले राजकुमार राम और लक्ष्मण उस रात्रि में वहाँ निवासकर, प्रातःकाल महर्षि को प्रणाम करके उस चित्रकूट पर्वत की ओर चल दिये ॥ १ ॥ महर्षि भरद्वाज ने उन लोगों के लिये स्वस्त्ययन (=मङ्गलाचरण) किया। उनको प्रस्थित हुआ देखकर महर्षि उनके पीछे २ गये, जिस प्रकार पिता अपने योग्य पुत्रों के पीछे जाता है ॥ २ ॥ महातेजस्वी महामुनि भरद्वाज ने तब सत्य पराक्रमी रामचन्द्र से यह वचन कहना शुरू किया ॥ ३ ॥ हे राम-लक्ष्मण ! आप लोग गङ्गा-यमुना के संगम को प्राप्त होकर कुछ पीछे की ओर धारवाली यमुना के किनारे-किनारे जायें ॥ ४ ॥ हे राम-लक्ष्मण ! बड़े-बड़े स्रोत जिस नदी में आकर मिले हैं, ऐसी तेज धारवाली यमुना नदी को प्राप्त करके और उसके किनारे अच्छे-अच्छे प्राचीन रमणीय घाटों को देखते हुए, ॥ ५ ॥ वहाँ तुम नौका द्वारा यमुना नदी को पार करो। तत्पश्चात् हरे-हरे पत्तों वाले, बहुत से वृक्षों से घिरे हुए, श्यामवर्ण वाले तथा सिद्ध मुनियों से सेवित महान् न्यग्रोध वृक्ष को प्राप्त होकर उसके सामने सीता हाथ जोड़कर शुभ आशीर्वचनों का प्रयोग करें ॥ ६,७ ॥ ऐसे उस वृक्ष को प्राप्त करके आप वहाँ रहें, या आगे चले जावें। वहाँ से एक कोस जाने पर तुम्हें सघन नील वन दिखाई देगा ॥ ८ ॥ जो कि सल्लकी (=कैथ) तथा बेर के वृक्षों से युक्त तथा यमुना के किनारे उत्पन्न होने वाले बांसों से रमणीक प्रतीत होता है। चित्रकूट का वह मार्ग, जिससे मैं कई बार गया हूं, ॥ ९ ॥ रमणीय, कोमल तथा वनाग्नि से रहित है। इस प्रकार मार्ग दिखलाकर महर्षि भारद्वाज लौट पड़े ॥ १० ॥ रामचन्द्र भी "आपके बताये हुए मार्ग से ही जाऊँगा" ऐसा कहकर तथा उनको प्रणाम करके चल पड़े। उस मुनि के लौट जाने पर रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ११ ॥ हे लक्ष्मण ! हमलोग पुण्यवान् हैं, जो कि मुनि भी

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते । इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥१२॥
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् । अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतोवहां नदीम् ॥१३॥
चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः । तौ काष्ठसङ्घाटमतो चक्रतुस्तु महाप्लवम् ॥१४॥
शुष्कैर्वंशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम् । ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान् ॥१५॥
चकार लक्ष्मणश्छित्वा सीतायाः सुखमासनम् । तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥१६॥
ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् । पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च ॥१७॥
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे सहायुधैः । आरोप्य प्रथमं सीतां संघाटं परिगृह्य च ॥१८॥
ततः प्रतेरतुर्युक्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ । [कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥१९॥
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम् । यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥२०॥
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् । कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥२१॥
तीरमेवाभिसंप्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी] । ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥२२॥
तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम् । ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ॥२३॥
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् । [न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥२४॥
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् । कौसल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥२५॥

हम पर अनुकम्पा कर रहे हैं । मनस्वी, नरकेसरी राम-लक्ष्मण इस प्रकार बातचीत करने के पश्चात् ॥ १२ ॥ सीता को आगे करके यमुना नदी के समीप गये । अत्यन्त वेगवाली उस यमुना नदी के किनारे आकर ॥ १३ ॥ नदी के पार जाने की इच्छा रखने वाले राम-लक्ष्मण को अति चिन्ता हुई । उन दोनों ने काष्ठ को इकट्ठा करके एक बड़ी नौका (=बेड़ा) बनाई ॥ १४ ॥ जो कि सूखे बाँसों से बिछाई गई तथा खस से आच्छादित थी । तत्पश्चात् पराक्रमी लक्ष्मण ने बेंत तथा जामुन की शाखाओं को काटकर सीता के लिये सुखदायक आसन बनाया । तब दशरथ-पुत्र रामचन्द्र ने लक्ष्मी के समान अचिन्तनीय शोभावाली, ॥१५,१६॥ तथा कुछ-कुछ लज्जा करती हुई अपनी प्रिया सीता को [सहारा देकर] उस नौका पर चढ़ाया । उसी नाव पर सीता के पास में ही उसके वस्त्र, आभूषण, ॥ १७ ॥ खनित्र तथा पिटारी को अपने हथियारों के साथ रख दिया । पहले सीता को चढ़ाकर तथा सङ्घाट (=बेड़े) को पकड़कर, ॥ १८ ॥ दशरथ-पुत्र राम-लक्ष्मण प्रसन्नतापूर्वक [बेड़े को] तैराने लगे । यमुना के मध्य में आयी हुई सीता ने इस यमुना नदी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥ हे देवि ! [हमारा] कल्याण हो, मैं आपको पार कर रही हूँ । मेरा पति अपने व्रत (=वनवास) को पूर्ण करने में समर्थ हो । इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं से पालित अयोध्यापुरी को कुशलपूर्वक रामचन्द्र के लौट आने पर मैं आपकी एक सहस्र गाय तथा एक सौ घड़े शराब से पूजा करूँगी। इस प्रकार स्त्रियों में श्रेष्ठ सीता हाथ जोड़कर यमुना से प्रार्थना करती हुई [यमुना के दक्षिण किनारे पर पहुँच गई] । इस प्रकार नौका के द्वारा तीव्र वेगवाली, उन्नत तरङ्गों वाली, ॥ २०, २२ ॥ तथा अनेक प्रकार के वृक्षों से परिपूरित तटवाली यमुना नदी को पार किया । पार करने पर उस नौका को छोड़कर यमुना तट के वन से प्रस्थान करके ॥ २३ ॥ शीतल छाया तथा हरे-हरे पत्तों वाले श्याम वटवृक्ष के पास पहुँचे । उस न्यग्रोध के पास पहुँचकर सीता यह बोलीः—॥ २४ ॥ हे महावृक्ष ! तुम्हें नमस्कार हो, मेरे पति अपने व्रत में पारङ्गत हों और यशस्विनी माता कौसल्या तथा सुमित्रा को मैं देखूँ ॥ २५ ॥ इस प्रकार सीता ने हाथ जोड़कर वृक्ष की प्रदक्षिणा की । प्राणप्रिया आज्ञाकारिणी और शुभ गुण वाली सीता को इस प्रकार से प्रार्थना करती हुई देखकर रामचन्द्र लक्ष्मण से बोले; हे लक्ष्मण ! सीता को लेकर तुम आगे-आगे

इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छद्वनस्पतिम् । अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम्] ॥२६॥
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् । सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज ॥२७॥
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर । यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥२८॥
तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः । गच्छतोस्तु तयोर्मध्ये बभूव जनकात्मजा ॥२९॥
मातङ्गयोर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव । एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥३०॥
अदृष्टपूर्वां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला । रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ॥३१॥
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः । विचित्रवालुकां नीलां हंससारसनादिताम् ॥३२॥
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् । क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥३३॥
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते शुभे वने वानरवारणायुते ।
समं नदीवप्रमुपेत्य संमतं निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे यमुनातरणं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

चलो ॥ २६, २७ ॥ हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! सशस्त्र मैं आपके पीछे-पीछे चलूँगा । जनक-पुत्री सीता जिस-जिस फल तथा पुष्प को माँगे ॥ २८ ॥ उस-उस को सीता को लेकर देते रहो, जिससे इसका मन लगा रहे । उन दोनों राम-लक्ष्मण के बीच में जाती हुई सीता उसी प्रकार सुशोभित हुई, ॥ २९ ॥ जिस प्रकार दो हाथियों में हथिनी । एक-एक वृक्ष तथा वृक्षसमूह एवं पुष्पों से युक्त ऐसी लता को, ॥ ३१ ॥ जिसको कि पहले उसने कभी नहीं देखा, देखती हुई अबला सीता राम से पूछती थी । बहुत से रमणीय पौधों तथा पुष्पों को ॥ ३१ ॥ सीता के कथनानुसार शीघ्रतापूर्वक लक्ष्मण ले आते थे । विचित्र बालु तथा नीलवर्ण वाली एवं हंस तथा सारस पक्षियों के शब्दों से परिपूरित, ॥ ३२ ॥ उस यमुना नदी को देखकर जनकपुत्री सीता अत्यन्त आनन्दित हुई । तदनन्तर भाई राम-लक्ष्मण एक कोस जाकर बहुत से पवित्र मृगों को मारकर यमुना नदी के वन में विचरण करने लगे ॥ ३३ ॥ शुभ दर्शन वाले वे राम, लक्ष्मण और सीता मयूरों के शब्दों से परिपूरित तथा वानर और हाथियों से युक्त उस शुभ वन में भ्रमण करके समविभाग वाले नदी तट पर पहुँचे । पश्चात् अपने निवासस्थान पर चले आये ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'यमुना को पार करना'
विषयक पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

चित्रकूटनिवासः

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम् । प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥
सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम् । संप्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥ २ ॥
स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः । जहौ निद्रां च तन्द्रीं च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥ ३ ॥
तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम् । पन्थानमृषिणादिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥
ततः संप्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह । सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् । स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये॥६ ॥
पश्य भल्लातकान् बिल्वान् वानरैरुपसेवितान् । फलपुष्पैरवनतान्नूनं शक्ष्याम जीवितुम् ॥ ७ ॥
पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण । मधूनि मधुकारीभिः संभृतानि नगे नगे ॥ ८ ॥
एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति । रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे ॥ ९ ॥
मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसङ्घानुनादितम् । चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ॥१०॥
समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते । पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥११॥

छप्पनवाँ सर्ग

चित्रकूट–निवास

रात्रि के बीत जाने पर कुछ-कुछ सोये हुए लक्ष्मण को रघुकुल श्रेष्ठ रामचन्द्र ने धीरे से जगाया ॥ १ ॥ हे लक्ष्मण ! वन में रहने वाले बोलते हुए जन्तुओं के मनोहर शब्दों को सुनो। हे परंतप ! हमलोग चलें, क्योंकि अब चलने का समय है ॥ २ ॥ सोये हुए लक्ष्मण ने अपने भाई रामचन्द्र के द्वारा समय पर जगाये जाने पर निद्रा, आलस्य तथा मार्ग में हुई-हुई थकावट को त्याग दिया ॥ ३ ॥ वे सब उठकर तथा नदी के शुभ जल में स्नान करके ऋषि के बताये हुए मार्ग से चित्रकूट को चल दिये ॥ ४ ॥ तत्पश्चात् प्रातःकाल लक्ष्मण के साथ प्रस्थान किये हुए रामचन्द्र कमलनयनी सीता से यह वचन बोलेः–॥ ५ ॥ हे वैदेहि ! वसन्त-काल में अपने पुष्पों से विकसित एवं [अपने पुष्पों की] माला धारण करने वाले प्रदीप्त अग्नि के समान सब ओर से रक्त वर्णवाले इन पलाश वृक्षों को देखो ॥ ६ ॥ बानरों से उपसेवित, तथा फलों एवं पुष्पों के कारण झुके हुए इन भल्लातक (= भिलावा) और बिल्व के वृक्षों को देखो । [इन वृक्षों के होते हुए] निश्चय ही हमलोग जीवनयापन कर सकेंगे ॥ ७ ॥ हे लक्ष्मण ! वृक्ष-वृक्ष पर लटकते हुए मधुमक्खियों के द्वारा बनाये गये द्रोण प्रमाण (= ३४ सेर) वाले मधु के इन छत्तों को देखो ॥ ८ ॥ देखो पुष्पों के बिछौनों से युक्त स्थान वाले रमणीक वन में यह पपीहा बोल रहा है, और उसके उत्तर में मोर कूज रहा है ॥ ९ ॥ हाथियों के झुण्डों से युक्त, पक्षियों के शब्दों से शब्दायमान ऊँचे-ऊँचे शिखरवाले इस चित्रकूट पर्वत को देखो ॥ १० ॥ हे भ्रातः । बहुत प्रकार के वृक्षों से घिरे हुए, समान भूमिवाले इस पुण्य रमणीक चित्रकूट वन में आनन्दपूर्वक हमलोग रहेंगे ॥ ११ ॥ तत्पश्चात् जानकी के साथ में पैदल चलते हुए वे दोनों भाई रमणीक तथा सुन्दर चित्रकूट पर्वत क प्राप्त हुए ॥ १२ ॥ नाना प्रकार के पक्षि-समूहों से युक्त, बहुत मूल-

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया । रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥१२॥
तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् । बहुमूलफलं रम्यं संपन्नं सरसोदकम् ॥१३॥
मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः । बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे ॥१४॥
मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिन्शिलोच्चये । अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥१५॥
इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः । अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥१६॥
तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् । आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च ॥१७॥
ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः । संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः ॥१८॥
लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च । कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥१९॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान् । आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः ॥२०॥
[तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् । शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥२१॥
ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् । कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥२२॥
मृगं हत्वानय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण । कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥२३॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा । चकार स यथोक्तं च तं रामः पुनरब्रवीत् ॥२४॥
ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् । त्वर सौम्य मुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसोऽप्ययम् ॥२५॥
स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् । अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥२६॥
तं तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् । लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥२७॥

फलों से परिपूरित तथा सरस मधुर उदक वाले तालाबों से व्याप्त उस रमणीक पर्वत पर पहुँचकर [रामचन्द्र जी ने कहा]॥ १३ ॥ हे सौम्य ! यह पर्वत नाना वृक्ष और लताओं से युक्त बहुत फल-मूल वाला, सुन्दर और रमणीक है। हमलोगों के आहार आदि के लिये यह बहुत उपयुक्त होगा ॥ १४ ॥ इस उन्नत पर्वत पर मुनि और महात्मा लोग बसते हैं। यह वास करने योग्य है, इसलिये हे सौम्य ! हमलोग यहीं पर आनन्द-पूर्वक रहेंगे ॥ १५ ॥ इस प्रकार सीता, लक्ष्मण और रामचन्द्र जी हाथ जोड़े हुए आश्रम में गये और सबने वाल्मीकि ऋषि को प्रणाम किया ॥ १६ ॥ धर्म के जानने वाले महर्षि ने प्रसन्न होकर उनका स्वागत किया। और 'स्वागत हो आप लोगों का' ऐसा कहकर उनको बैठने के लिये कहा ॥ १७ ॥ रामचन्द्र जी ने महर्षि को अपना यथोचित परिचय दिया। तदनन्तर महाबाहु राम लक्ष्मण से बोलेः—॥ १८ ॥ हे लक्ष्मण ! तुम उत्तम तथा दृढ़ काष्ठों को ले आओ और हे सौम्य ! उससे यहाँ [वास के लिये] पर्णकुटी बनाओ, क्योंकि मेरा मन यहाँ बहुत रम रहा है ॥ १९ ॥ रामचन्द्र के इन बचनों को सुनकर शत्रुसूदन लक्ष्मण जी विविध प्रकार के काष्ठों को ले आये, और पर्णशाला बनाई ॥ २० ॥ नाना प्रकार के काष्ठों से बनी हुई उस सुन्दर पर्ण-शाला को देखकर रामचन्द्र सेवा करने की इच्छा वाले एकाग्रचित्त लक्ष्मण से यह वचन बोलेः—॥ २१ ॥ मृग का मांस लाकर हमलोग पर्णशाला में यज्ञ करेंगे। क्योंकि हे सौमित्रे ! चिरजीवियों को घर की शान्ति के लिये ऐसा यज्ञ अवश्य करना चाहिये ॥ २२ ॥ हे शुभ नेत्रों वाले लक्ष्मण ! मृग मारकर तुम जल्दी ले आओ। धर्म का स्मरण करो। शास्त्रोक्त विधि करनी ही चाहिये ॥ २३ ॥ शत्रुहन्ता लक्ष्मण ने भाई की आज्ञानुसार सब कार्य कर दिया। पुनः रामचन्द्र लक्ष्मण से बोलेः—॥ २४ ॥ [हे लक्ष्मण !] इस मृग के मांस को तुम पकाओ। पर्णकुटी की शान्ति के लिये हमलोग यज्ञ करेंगे। हे सौम्य ! शीघ्रता करो, यह मुहूर्त शुभ है तथा यह दिन भी ध्रुव है ॥ २५ ॥ पराक्रमी लक्ष्मण ने पवित्र कृष्ण मृग को मारकर जलती हुई अग्नि में डाल दिया ॥ २६ ॥ उसको पका हुआ गरम-गरम तथा जिसका रक्त सूख गया है ऐसा जानकर लक्ष्मण नरकेसरी रामचन्द्र से बोलेः—॥ २७ ॥ इस कृष्ण मृग के सारे अंगों को मैंने पका दिया है, इस-

अयं कृष्णः समाप्ताङ्गः श्रृतः कृष्णमृगो मया । देवतां देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥२८॥
रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जप्यकोविदः । संग्रहेणाकरोत्सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान् ॥२९॥
इष्ट्वा देवगणान् सर्वान् विवेश सदनं शुचिः । बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥३०॥
वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च । वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥३१॥
जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि । पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥३२॥
वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च । आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥३३॥
वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पक्वैर्मांसैर्यथाविधि । अद्भिर्जपैश्च वेदोक्तैर्दर्भैश्च ससमित्कुशैः ॥३४॥
तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया । तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ] ॥३५॥

तां वृक्षपर्णाच्छदनां मनोज्ञां यथाप्रदेशं सुकृतां विवाताम् ।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥३६॥
अनेकनानामृगपक्षिसंकुले विचित्रपत्रस्तबकैर्द्रुमैर्युते ।
वनोत्तमे व्यालमृगानुनादिते तदा विजह्रुः सुसुखं जितेन्द्रियाः ॥३७॥
सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम् ।
ननन्द रामो मृगपक्षिजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे चित्रकूटनिवासो नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

लिये हे देवतुल्य ! आप देवता के लिये भजन कीजिये, क्योंकि आप इसमें कुशल हैं ॥ २८ ॥ गुणवान् तथा जप करने में निपुण रामचन्द्र ने सावधानपूर्वक स्नान करके संक्षेप से यज्ञ समाप्त करने वाले उन सारे मन्त्रों का जप किया ॥ २९ ॥ सब देवगणों का यजन करके पवित्र रामचन्द्र ने उस पर्णकुटी में प्रवेश किया [उस समय] अमित तेज वाले रामचन्द्र के मन में बहुत प्रसन्नता हुई ॥ ३० ॥ बलिवैश्वदेव तथा रुद्र एवं विष्णु देवता के लिये बलिकृत्य को समाप्त करके घर की शान्ति के लिये मांगलिक कार्यों को उन्होंने आरम्भ किया ॥ ३१ ॥ नियमानुकूल नदी में स्नान करके रामचन्द्र ने उचित रूप से जप किया और पाप का शमन करने वाली उत्तम बलि को प्रदान किया ॥ ३२ ॥ रामचन्द्र ने नियमानुकूल वेदि-स्थलों, चैत्यों तथा पूजास्थानों को आश्रम के अनुरूप स्थापित किया ॥ ३३ ॥ सीता सहित शुभ लक्षण वाले राम और लक्ष्मण ने वन में उत्पन्न होने वाले फल, मूल, और मालाओं, पके हुए मांसों, जलों, वेदोक्त जपों, तथा लम्बे-लम्बे कुशाओं एवं समिधाओं से भूतों का तर्पण करके सुन्दर शाला में प्रवेश किया ॥ ३४, ३५ ॥ आन्धी आदि का प्रवेश जिसमें नहीं हो सकता ऐसी, वनवास के लिये अनुकूल स्थान पर निर्मित तथा वृक्षों के पत्तों से ढकी हुई उस सुन्दर पर्णशाला में सीता, लक्ष्मण और राम ने मिलकर वास के लिये प्रवेश किया, जिस प्रकार देव लोग सुधर्मा सभा में प्रवेश करते हैं ॥ ३६ ॥ अनेक प्रकार के मृगों तथा पक्षियों से व्याप्त, तरह-तरह के पत्तों एवं गुल्मों वाले वृक्षों से परिपूरित तथा सर्पों और जंगली जन्तुओं के शब्दों से भरे हुए उस उत्तम वन में जितेन्द्रिय राम, लक्ष्मण और सीता ने सुखपूर्वक विहार किया ॥ ३७ ॥ रमणीक चित्रकूट पर्वत तथा मृगों एवं पक्षियों से सेवित, सुन्दर घाटों वाली मन्दाकिनी नदी को प्राप्त करके रामचन्द्र बहुत आनन्दित हुए और अयोध्या के प्रवास के दुःख को भूल गये ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'चित्रकूट निवास' विषयक छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्रोपावर्तनम्

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह । रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥
भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम् । आगिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥
अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् । अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥
स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च । पश्यन्नतिययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥
ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः । अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥
स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः । सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥
कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा । रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥
इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रपातिभि । नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः । क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥
तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् । अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥१०॥
ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा जनाः । अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशुः ॥११॥

सत्तावनवाँ सर्ग

सुमन्त्र का लौटना

राम के [गङ्गा पार करके] दक्षिण किनारे पर चले जाने पर दुःखित निषादराज बहुत देर तक सुमन्त्र के साथ बात चीत करके अपने घर को चले गये ॥ १ ॥ [निषादराज ने रामचन्द्र जी का] प्रयाग में जाना, भरद्वाज मुनि के आश्रम का आदर-सत्कार तथा उनका चित्रकूट पर्वत तक जाना वहाँ रहने वाले अपने दूतों द्वारा जान लिया ॥ २ ॥ तदनन्तर सुमन्त्र भी [निषादराज द्वारा रामचन्द्रजी से सब समाचारों को] जानकर अत्यन्त दुःखित मनवाला होकर रथ में घोड़ों को जोड़कर अयोध्या नगरी को गये ॥ ३ ॥ वे सुमन्त्र सुगन्धित वनों, नदियों, तालाबों तथा नगर और ग्रामों को देखते हुए शीघ्र ही चले गये ॥ ४ ॥ तदनन्तर सारथि सुमन्त्र ने दूसरे दिन सायंकाल आनंदरहित अयोध्या नगरी को देखा ॥ ५ ॥ शून्य हुई शब्द रहित नगरी को देखकर अत्यन्त दुःखी तथा शोकाक्रान्त सुमन्त्र चिन्ता करने लगे ॥ ६ ॥ हाथियों, अश्वों, मनुष्यों तथा राजाओं से युक्त यह अयोध्या नगरी राम के वियोग दुःखरूपी अग्नि से कहीं जल तो नहीं गई ॥ ७ ॥ इस प्रकार चिन्तापरायण सारथि सुमन्त्र ने तीव्रगति वाले घोड़ों के नगर द्वार पर पहुँच कर शीघ्र ही नगरी में प्रवेश किया ॥ ८ ॥ सुमन्त्र के प्रवेश करने पर हजारों नागरिक 'रामचन्द्र कहाँ हैं" ऐसा पूछते हुए सुमन्त्र के आगे पीछे दौड़ने लगे ॥ ९ ॥ सुमन्त्र ने उनसे बताया कि गङ्गा तट पर श्री राम से पूछ कर तथा धार्मिक महात्मा रामचन्द्र से अनुमति लेकर मैं लौट आया हूं ॥ १० ॥ 'वे गंगा नदी को पार कर गये' यह जान कर अश्रुपूर्ण मुख अयोध्यावासी 'अरे धिक्कार' ऐसा कहते हुए लम्बी साँस लेकर, 'हाय राम !' कहते हुए विलाप करने लगे ॥ ११ ॥ समूहों में [बँट कर] खड़े हुए उन लोगों के वचनों को सुमन्त्र ने सुना । [वे कह रहे थे कि] हम जो रामचन्द्र को यहाँ नहीं देख रहे हैं, निष्प्राण हो गये हैं । दान, यज्ञ,

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् । हताः स्म खलु येनेह पश्याम इति राघवम् ॥१२॥
दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च । न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥१३॥
किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् । इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥१४॥
वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् । रामशोकाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम् ॥१५॥
स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः । यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥१६॥
सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च । कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥१७॥
हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् । हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिता ॥१८॥
आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः । अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥१९॥
ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः । रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥२०॥
सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः । सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥२१॥
यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् । आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥२२॥
सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् । प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥२३॥
स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् । पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत्पाण्डरे गृहे ॥२४॥
अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च । सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥२५॥
स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः । मूर्च्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥२६॥

विवाह एवं बड़े-बड़े उत्सवों में अब हम अपने बीच में रामचन्द्र जी को नहीं देख सकेंगे ॥ १२, १३ ॥ राज्य की जनता के लिये क्या कल्याण कारी है, क्या प्रिय है तथा क्या सुखप्रद है—इन बातों का ध्यान रखते हुए श्री राम पिता के समान नागरिकों का पालन करते थे ॥ १४ ॥ बाजार में मकानों की खिड़कियों पर बैठी हुई राम के वनगमन से दुःखित स्त्रियों के विलाप को सुमन्त्र ने सुना ॥ १५ ॥ मुँह ढके हुए सुमन्त्र राजमार्ग से उस भवन को गये जहाँ राजा रहते थे ॥ १६ ॥ वे रथ से शीघ्र उतर कर और राजभवन में प्रवेश करके लोगों की भीड़ से पूर्ण सात ड्योढ़ियों को पार करते हुए चले गये ॥ १७ ॥ धनिकों के भवनों, सप्त खण्डों वाले महलों तथा राजभवनों में स्थित स्त्रियाँ लौटे हुए सुमन्त्र को देखकर राम के वियोग में हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥ शोक सन्तप्त महिलायें विशाल, विमल तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से एक दूसरे की ओर अस्पष्टतया देखने लगीं ॥ १९ ॥ इसके पश्चात् उस महल से राम वनगमन के शोक से सन्तप्त दशरथ की स्त्रियों की बात-चीत को सुमन्त्र ने मन्द मन्द सुना ॥ २० ॥ [वे कह रही थीं कि] राम के सहित यहाँ से गये और उनके बिना लौट आने वाले सुमन्त्र विलाप करती हुई कौसल्या को क्या उत्तर देंगे ॥ २१ ॥ ऐसा कोई सरल उपाय हम नहीं जानतीं जिससे राज्य को त्याग कर रामचन्द्र के वन चले जाने पर कौसल्या जीवित रह सकें, भले ही वह दुःख पूर्ण जीवन हो ॥ २२ ॥ राजस्त्रियों के उन यथार्थ वाक्यों को सुनते हुए सुमन्त्र शोक से दग्ध हुए से महल में सहसा प्रविष्ट हो गये ॥ २३ ॥ आठवीं ड्योढ़ी में प्रवेश करके उन्होंने पुत्र शोक से खिन्न, दीन तथा दुःखी महाराज को श्वेत भवन में बैठे हुए देखा ॥ २४ ॥ महाराज के पास जाकर तथा उन को प्रणाम कर के सुमन्त्र ने रामचन्द्र के वचनों को निवेदन किया ॥ २५ ॥ महाराज ने शान्त हो कर उन वचनों को सुना । तदनन्तर अतिव्याकुल मन वाले वे राम वनगमन के शोक से सन्तप्त मूर्छित हो कर भूमि पर गिर पड़े ॥ २६ ॥ जब महाराज मूर्छित हो गये तो राजपरिवार के व्यक्ति बड़े दुःखी हुए और राजा के

ततोऽन्तः पुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ । उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥२७॥
सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् । उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥२८॥
इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः । वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥२९॥
अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव । उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥३०॥
देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् । नेह तिष्ठति कैकेयी विस्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥३१॥
सा तथोक्त्वा महाराजं कौशल्या शोकलालसा । धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥३२॥
विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि । पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद्रुरुदुः स्त्रियः ॥३३॥

ततस्तमन्तः पुरनादमुत्थितं समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः पुरं तदासीत्पुनरेव संकुलम् ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सुमन्त्रोपावर्तनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

रामसंदेशाख्यानम्

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात्प्रत्यागतस्मृतिः । अथाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

भूमि पर गिर जाने पर वे हाथ उठा कर रोने लगे ॥ २७ ॥ सुमित्रा की सहायता से कौसल्या ने भूमि पर पड़े हुए महाराज को उठाया और वे यह वचन बोलीं ॥ २८ ॥ भगवन् ! दुष्कर कर्मों को करने वाले रामचन्द्र के इस दूत से, जो वन से लौटे हैं, आप क्यों नहीं बोलते ॥ २९ ॥ [राम के वनवास रूपी] अन्याय को करके अब आप लज्जित होते हैं ! आप उठें, आप का कल्याण हो । आप के शोक-सन्तप्त होने पर तो आप के परिजन नष्ट हो जायेंगे ॥ ३० ॥ हे राजन् ! जिसके भय से आप रामविषयक वार्ता सुमन्त्र से नहीं कर रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ नहीं है । अतः सन्देह रहित होकर आप वार्ता करें ॥ ३१ ॥ महाराज से ऐसा कह कर शोकाकुल कौसल्या, जो रुन्धे स्वर से बोल रही थीं, तुरन्त भूमि पर गिर गईं ॥ ३२ ॥ विलाप करती हुई भूमि पर पड़ी कौसल्या को और महाराज की अवस्था को देखकर वे सब स्त्रियाँ भी रोने लगीं ॥ ३३ ॥ तदनन्तर अन्तःपुर से उठने वाले रोदन-नाद को सुन कर नगर के वृद्ध और युवा सभी पुरुष तथा नारियाँ रोदन करने लगे और नगर पुनः रोदन से व्याप्त हो गया । (राम वनगमन के समय भी ऐसी ही अवस्था हुई थी) ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'सुमन्त्र का लौटना' विषयक सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवां सर्ग

राम के सन्देश का कथन

मूर्छा से होश में आने पर स्थिरचित्त महाराज ने राम का वृत्तान्त पूछने के लिये सुमन्त्र को बुलाया ॥ १ ॥ सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए महाराज के समक्ष उपस्थित हुए। महाराज उस समय रामचन्द्र के विषय में

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः । राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥
वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम् । विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् । अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥
क्व नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः । सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥
दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः । भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥
यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः । स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥
व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् । कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥
सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया । राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥
सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ । वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥१०॥
किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः । सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥११॥
आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय । जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥१२॥
इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया । उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिरब्धया ॥१३॥
अब्रवीन्मां महाराज धर्ममेवानुपालयन् । अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥१४॥
सूत मद्वचनात्तस्य तातस्य विदितात्मनः । शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ पुनः पुनः ॥१५॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात्त्वया । आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥१६॥

ही सोच रहे थे, अतः वे दुःख एवं शोक से विह्वल थे ॥ २ ॥ वृद्ध महाराज नये पकड़े हुए हाथी के समान अति सन्तप्त थे तथा रामचन्द्र के ध्यान में डूबे हुए रुग्ण हाथी के समान लम्बे सांस ले रहे थे ॥ ३ ॥ महाराज अपने सामने उपस्थित, धूल-धूसरित, आंसुओं से पूर्ण मुख वाले, दीन एवं दुःखी सारथि सुमन्त्र से बोले ॥ ४ ॥ हे सूत ! वे अत्यन्त सुख में पले हुए रामचन्द्र जिनका आश्रय अब वृक्ष मूल हैं, कहाँ रहते होंगे और क्या खाते होंगे ? ॥ ५ ॥ हे सुमन्त्र ! दुःख के अयोग्य व्यक्ति [राम] को दुःख प्राप्त हो गया है। जिन रामचन्द्र को शय्या पर सोना चाहिये, वे राजपुत्र अनाथ के समान भूमि पर कैसे सोते होंगे ॥ ६ ॥ जिन के गमन समय में पैदल, रथ और हाथी अनुगमन करते थे, वे रामचन्द्र अब निर्जन वन में कैसे रहते होंगे ॥ ७ ॥ सांपों तथा भयङ्कर पशुओं से आकीर्ण वन में दोनों राजकुमार सीता के साथ कैसे रहते होंगे ? ॥ ८ ॥ सुमन्त्र ! सुकुमारी तपस्विनी सीता के साथ दोनों राजकुमार रथ से उतर कर पैदल कैसे गये होंगे ॥ ९ ॥ हे सुमन्त्र ! मन्दराचल में प्रवेश करते हुए अश्वियों के समान, वन में प्रवेश करते हुए मेरे पुत्रों को देख कर तुम तो कृतकृत्य हो गये ! ॥ १० ॥ सुमन्त्र ! वन में पहुँच कर रामचन्द्र, लक्ष्मण तथा सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥ हे सुमन्त्र ! रामचन्द्र के अवास, शयन एवं भोजन के विषय में बताओ। मैं इस से ही [शोक रहित होकर] जीवित रह सकूँगा, जिस प्रकार महाराज ययाति साधुओं में रहने से शोक रहित होकर जीवित रहे थे ॥ १२ ॥ महाराज के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सुमन्त्र गला रुंधने के कारण स्खलित वाणी से (=रुक रुक कर) बोले ॥ १३ ॥ महाराज ! धर्म का पालन करते हुए हाथ जोड़ कर तथा सिर से प्रणाम करके श्रीराम ने मुझसे कहा ॥ १४ ॥ हे सुमन्त्र ! लोक प्रसिद्ध, सिर से वन्द्य पिता जी के चरणों की, मेरी ओर से, वन्दना करना ॥ १५ ॥ सूत ! मेरे कथनानुसार तुम अन्तःपुर के सब व्यक्तियों से मेरा कुशल मंगल कहना तथा यथायोग्य अभिवादन करना ॥ १६ ॥ मेरी माता कौसल्या से मेरा कुशल

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् । अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥१७॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव । देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय ॥१८॥
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु । अनु राजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय ॥१९॥
कुमारे भरते वृत्तिर्वर्त्तितव्या च राजवत् । अप्यज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥२०॥
भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च । सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥२१॥
वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः । पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥२२॥
अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः । कुमारराज्ये जीव त्वं तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥२३॥
अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् । मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥२४॥
इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः । रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥२५॥
लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत् । केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥२६॥
राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु त्वाश्रित्य शासनम् । कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥२७॥
यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् । वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥२८॥
इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् । रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥२९॥
असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् । जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥३०॥

समाचार तथा नमस्कार अवश्य कहना । उन से यह बात भी कहना कि ॥ १७ ॥ हे देवी ! आप धर्मपरायण रहें एवं प्रतिदिन हवन करती रहें । महाराज की चरण सेवा देवों (=विद्वानों) के समान करती रहें ॥ १८ ॥ माता जी ! आप अहंकार और प्रतिष्ठा को छोड़कर अन्य माताओं के साथ समता का बर्त्ताव करें तथा महाराज और रानी कैकेयी के साथ भी समान व्यवहार करें ॥ १९ ॥ राजकुमार भरत के साथ राजा के समान व्यवहार करें क्योंकि [यह आवश्यक नहीं कि राजा बड़े ही हों,] अल्प आयु वाले भी राजा हो सकते हैं । [अतः राजा बड़ा हो या छोटा, सब के सत्कार रूपी] राजधर्म को आप सदा याद रखें ॥ २० ॥ भरत से मेरा कुशल-क्षेम कहना और मेरी ओर से यह भी कहना कि वे सब माताओं के साथ न्यायानुकूल बर्त्ताव करें ॥ २१ ॥ महाबाहु इक्ष्वाकुलनन्दन भरत से कहना कि युवराज होने पर वे, राज्य के प्रधान अधिष्ठाता पिता जी की सेवा करते रहें ॥ २२ ॥ वे महाराज की इच्छा का व्याघात न करें, अपितु उन्हीं की आज्ञा से युवराजपद पर [कार्य करते] रहें ॥ २३ ॥ उन्होंने बहुत आँसू बहाते हुए यह भी कहा कि वे (=भरत) मुझसे प्रेम करने वाली मेरी माता जी को अपनी माता के समान ही समझें ॥ २४ ॥ हे महाराज ! मुझसे इस प्रकार कहते हुए महायशस्वी रामचन्द्र के नेत्र लाल हो गये और वे बहुत आँसू बहाते रहे ॥ २५ ॥ अत्यन्त क्रुद्ध लक्ष्मण ने निःश्वास लेते हुए कहा— किस अपराध से इस राजकुमार को वनवास भेजा गया है ? ॥ २६ ॥ कैकेयी के क्षुद्र आदेश को मानकर राजा ने अनुचित कार्य ही किया है, जिससे हमको दुःख सहन करना पड़ रहा है ॥ २७ ॥ राजा ने राम को जो वनवास दिया, चाहे वह लोभ के कारण दिया हो अथवा वरदान के कारण, वह सर्वथा अनुचित कार्य किया है ॥ २८ ॥ राजा ने यह कार्य राजा होने के नाते [सुलभ अधिकार का दुरुपयोग करके] स्वच्छन्दता से किया है, क्योंकि राम के परित्याग में कारण कोई भी नहीं दीखता ॥ २९ ॥ बुद्धि की अल्पता से बिना सम्यक् विचार किये रामचन्द्र को वनवास देने रूपी विरुद्ध कार्य से [महाराज की] निन्दा होगी ॥ ३० ॥ अब मैं महाराज को पिता नहीं मानता । अब

१ देखो टिप्पणी अयो०

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये। भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥३१॥
सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम्। सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥३२॥
सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्। सर्वलोकं विरुध्येमं कथं राजा भविष्यति ॥३३॥
जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी। भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता ॥३४॥
अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी। तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥३५॥
उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता। मुमोच सहसा बाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥३६॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः स्थितोऽभवल्लक्ष्मणबाहुपालितः।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामसंदेशाख्यानं नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

दशरथविलापः

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि। उष्णमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे संप्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम्। प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

तो भाई, स्वामी, बान्धव (=सगे सम्बन्धी) और पिता, सब कुछ, रामचन्द्र ही हैं ॥ ३१ ॥ सबके हित में संलग्न तथा सबके प्रिय रामचन्द्र का त्याग करके [महाराज अपने] इस कार्य से सारी जनता को कैसे अनुरञ्जित (=अपने प्रति अनुरागयुक्त) कर सकते हैं ? ॥ ३२ ॥ सारी जनता की इच्छा का विरोध करके वे (=महाराज) अब राजा कैसे रह सकेंगे ? ॥ ३३ ॥ महाराज ! निःश्वास लेती हुई तपस्विनी सीता क्लेशों से मन में दुःखी, चेष्टारहित एवं विस्मित हुई बैठी रहीं ॥ ३४ ॥ पहले कभी दुःख न देखने वाली, यशस्विनी तथा उस दुःख से रोती हुई राजपुत्री, सीता ने मुझसे कुछ नहीं कहा ॥ ३५ ॥ सूखे मुँह से पति की ओर देखती हुई सीता मुझे लौटते हुए देखकर आँसू बहाने लगी ॥ ३६ ॥ इस प्रकार अश्रुपूर्ण नेत्र, करबद्ध तथा लक्ष्मण के हाथों के सहारे रामचन्द्र खड़े रहे। सीता भी रोदन करती हुई इसी प्रकार खड़ी रहीं। वे मुझे तथा राजरथ को इसी अवस्था में देखते रहे ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम के सन्देश का कथन'
विषयक अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

उनसठवां सर्ग

दशरथ का विलाप

राम के वन में प्रस्थान कर जाने पर लौटते समय मेरे घोड़े गरम आँसू बहाने लगे, एवं मार्ग में पूर्व की भांति न चले ॥ १ ॥ दोनों राजपुत्रों को करबद्ध [नमस्कार] करके, दुःख को हृदय में धारण करता हुआ मैं रथ पर आरूढ़ हो कर चल पड़ा ॥ २ ॥ गुह के साथ वहीं बहुत दिन तक इस आशा से रहा कि

महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती कृत

समस्त पुस्तकों के अधिकृत संस्करण प्राप्त करना है

तो अवश्य देखलें कि वह

महर्षि की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी महर्षि द्वारा स्थापित

परोपकारिणी सभा द्वारा सञ्चालित

वैदिक यन्त्रालय अजमेर की छपी व प्रकाशित है

वेद, वेदांग, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश आदि

समस्त ग्रन्थों के लिये लिखें

सूचिपत्र मुफ्त :

वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर

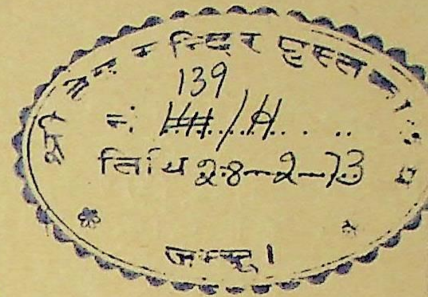
महर्षि कृत वेदभाष्य

यजुर्वेद भाषाभाष्य दो भाग तैयार है

ऋग्वेद भाषाभाष्य प्रथम खण्ड तैयार है

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३] [अङ्क ८



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१८ वि०, जून १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् ... ४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज्मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य–भारत में ५)
वी० पी० से ५।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है।।**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें,** अन्यथा भूल हो सकती है

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६**

ऋग्वेद यजुर्वेद
ओ३म्
वेदवाणी
सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, ज्येष्ठ सं० २०१८ वि०, जून १९६१ ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से

व्याख्याता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

सर्वपाप रहित करो

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस एनसोऽवयजनमसि । यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ यजु० ८।१३ ।

आर्याभिविनय–व्याख्या

देवकृतस्य एनसः अवयजनं असि ।

हे सर्वपाप प्रणाशक ! इन्द्रिय विद्वान् और दिव्य[1] गुणयुक्त जन के लिये, पापों के नाशक एक आप ही हो । अन्य कोई नहीं ।

मनुष्यकृतस्य एनसः अवयजनं असि, पितृकृतस्य एनसः अवयजनं असि आत्मकृतस्य एनसः अवयजनं असि, एनसः एनसः अवयजनं असि ।

एवं मनुष्य[2] (मध्यस्थ जन) कृत पितृ–(परमविद्यायुक्तजन) कृत और [स्वयं आचरित] जीव के पापों तथा पापों से भी बड़े पापों से आप ही [अपहर्त्ता] हो । अर्थात् (आप] सर्व पापरहित हो, और हम सब मनुष्यों के भी पाप दूर करनेवाले एक आप ही दयामय पिता हो ।

अर्थबोधक टिप्पणी

१ दिव्य = शुद्ध, उत्कृष्ट ।

२ मनुष्य = अपनी बुद्धि के ही सहारे रहनेवाले नरनारी ।

अहं विद्वान् च यत् एनः चकार, अविद्वान् च यत् एनः [चकार] तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनं असि।

हे महानन्तविद्यः ! विद्वान् वा अविद्वान् होके, मैंने जो-जो पाप किया हो, उन सब पापों का छुड़ाने वाला, आप विना, कोई भी हमारा शरण[3] इस संसार में नहीं है। इससे हमारे अविद्यादि[4] सब पाप छुड़ाके शीघ्र हमको शुद्ध करो।

दण्डान्वय-टीका

हे ईश्वर	=हे ईश्वर
देव[5]कृतस्य	=दानशील, ईश्वर प्रकाशित मन-इन्द्रियादियुक्त वेदवित् वेदव्याख्याता, अनृत से पृथक् रहने में सदा सचेष्ट, सब सुखदाता, सत्योपदेष्टा ब्रह्ममय, ईश्वरकार्यरत, सदामोक्षमुखी, ऋतपथानुगामी, सबको प्रसन्नता देने वाले, देवसंज्ञकों के
एनसः[6]	=दुःख का कारण, अनृतपथानुसरण को

३ शरण=सहारा।

४ अविद्या=अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योग० २।५ सदा न रहनेवाले को टिकाऊ, नीचे स्तर की वस्तु को ऊँचे स्तर का, दुःख को सुख, आत्मेतर वस्तु को आत्मवत् प्यारा समझना अविद्या है।

५ दानशीलकृतस्य। दया० (स्वभाष्ये)

दिव्यगुणयुक्तस्य। दया० (यजु० ४।३५)

देवैः=द्योतनात्मकैर्मन आदीन्द्रियैः। दया०। (यजु० ३।४८)

गातुविदो हि देवाः। श० ४।४।४।१३

द्वया वै देवाः। अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणा शुश्रुवांसोऽनूचानरते मनुष्यदेवाः श० २।२।२।६० ॥ ४।३।४।४

चक्षुर्देवः। गो० पू० २।११

देवाः विप्राः। श० ६।३।१।१६

सत्यसंहता वै देवाः। ऐ० ब्रा० १।६

जाग्रति देवाः। श० २।१।४।७

अथ है ते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः। षड्विंश० १।१

देवः प्रकाशस्वरूपः। दया० (यजु० १।१६)

सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः। दया० (यजु० १।१)

यो देवानां पथैति स ऋतस्य पथैति। श० ४।३।४।१६

एक ७ ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव। श० ३।४।२।८

देवा यज्ञियाः। श० १।५।२।३

देवा वै स्वः। श० १।९।३।१४

देवा वै नृचक्षसः। श० ८।४।२।५

देवा महिमानः। श० १०।२।२।२

अमृता देवाः। श० २।१।३।४

सत्यमेव देवाः। श० १।१।१।४

आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः। श० १०।३।५।१३

यज्ञ उ देवानामात्मा। श० ८।६।१।१०

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। निरु० ७।१५

व्यु० दिवु=क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु दिवा० ॥ दिवु=मर्दने (to crush)। चुरा० ॥ दिवि=प्रीणनार्थाः। भ्वा०।

६ ईयते प्राप्यते दुःखमनेन तद् एनः। पापं वा। उ० ४।१९८ ॥

अवयँजनम्[८]	=अच्छी तरह दूर करने वाले	च	=और
असि	=हो	अहम्	=मैंने
मनुष्य[९]कृतस्य	=सत्यविरोधी, असत्यसेवी तथा असत्य जीवियों में प्रियता अनुभव करने वालों के	विद्वान्	=जानते हुए
		यत्	=जो
		एनः	=अधर्माचरण
एनसः	=दुष्टाचरण को	चकार[११]	=किया है, करता हूँ, और करूँगा
अवयजनम्	=(त्रिकाल में) अच्छी तरह दूर करने वाले	च	=और
असि	=हो	अविद्वान्	=बिना जाने
पितृ[१०]कृतस्य	=अन्नसुशिक्षा, विद्यादानादि से रक्षा करने वालों के	यत्	=जो
		एनः	=अधर्माचरण
एनसः	=अधर्माचरण को	[चकार]	=किया है, करता हूँ और करूँगा
अवयजनम्	=(त्रिकाल में) सम्यक् दूर करनेवाले	तस्य	=उस
असि	=हो	सर्वस्य	=सब के सब
आत्मकृतस्य	=मेरे किये हुए	एनसः	=अधर्माचरण, विरोधाचरण, दुष्टा-चरण को
एनसः एनसः	=बड़े-बड़े पाप अपराध एवं भूलों को		
अवयजनम्	=(त्रिकाल में) दूर करने वाले	अवयजनम्	=सम्यक् दूर करने वाले
असि	=हो	असि	=हो

७ exprsses determination, purification,

८ व्यु० यज्=दाने । भ्वा० । यहाँ अव यज् का अर्थ दूर करना, पृथक् करना है ।

९ मनुष्यः=मननशीलः । दया० (यजु० ९।३१)
मनुष्य कृतस्य=साधारणजनेन आचरितस्य । दया० (स्वभाष्ये) सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । श० १।१।१।४॥ १ । १ । २ । १७ ॥ ३ । ३ । २ । २ ॥ ३ । ९ । ४ । १
अनृतसंहता वै मनुष्या इति । ऐ० १ । ६
नैव देवाः (प्रजापते राज्ञां) अतिक्रामन्ति । न पितरो न पशवो । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, अशुभे मेद्यति विहूर्च्छति (becmes crooked) हि न ह्यनाय चन भवत्यनृत ँ हि कृत्वा मेद्यति तस्मादु सायम्प्रातराश्येव (only venomous) स्यात् । स यो हैवं विद्वान् सायम्प्रातराशी भवति सर्व ँ हैवायुरेति (ruins) । श० २ । ४ । २ । ६

१० पितरः=घ्नान्ति अन्नसुशिक्षाविद्यादानेन । दया० (यजु० ३।५५)
पितरः=रक्षकाः सत्यासत्योपदेशकाः । दया० (यजु० ७।४६)
पितृषु=ज्ञानिषु । दया० (यजु० ५।२६)
पितृणाम्=पालकानां ऋतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा । दया० (यजु० ३।५३) पाति रक्षतीति पिता । जनको वा । उ० २ । ९५
ऋतवो वै पितरः । श० २ । ५ । २ । ३२
व्यु० पा=पाने । भ्वा० ॥ पा=रक्षणे । अदा० ॥ to govern : to adhere. to fulfil: to nourish to keep : to preserve—आप्टे०

११ कृतवान् करोमि करिष्यामि वा । अत्र छन्दसि लुङ् लङ् लिटः । अष्टा. ३ । ४ । ६

हिंसा और अहिंसा का वैदिक स्वरूप

[ले० श्री० पं० रामगोपाल जी शास्त्री, दिल्ली]

इस समय आर्य-जाति में हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत संशय उत्पन्न हो रहा है। यदि वेदादि शास्त्रों में कही हुई अहिंसा पर आचरण करते हैं तो, जीवन में कई बार दुर्गति, अपमान और कष्ट उठाना पड़ता है। कई बार तो अपनी सम्पत्ति, सन्तान और जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

अहिंसा को छोड़कर यदि हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं तो, धर्म के विरुद्ध होने से मन में दुःख उत्पन्न होता है और जीवन पापमय और अधर्मयुक्त हो जाता है। ऐसे गूढ़ विषय पर बड़े-बड़े लोगों को भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि अहिंसा और हिंसा इन दोनों में से वे कौन-सा मार्ग अपनायें, जिससे जीवन भी दुःखमय न हो और अधर्म भी न हो।

इस लेख में इसी बात की विवेचना की गई है कि वैदिक धर्म इन दोनों का सच्चा स्वरूप क्या बताता है और कौन-सा मार्ग अपनाने का आदेश करता है।

अहिंसा

अहिंसा का योगदर्शन के भाष्य में व्यास मुनि ने लक्षण लिखा है कि किसी प्राणी से भी अभिद्रोह—वैर न करना अहिंसा है। जब किसी से वैर करना ही बुरा माना है तो, मन, वाणी और शरीर से किसी का अनिष्टचिन्तन करना, किसी को सताना, दुःखी करना अथवा हत्यादि करना तो बहुत ही बुरा है। दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ यह है कि, वैर को छोड़कर सबसे प्रेम करना और सबका कल्याण करना। अब इसके सम्बन्ध में वेदादि शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र १ में दैनिक प्रार्थना है कि, हे परमात्मन्! मेरा मन शिव—कल्याण (भलाई) के संकल्पों वाला हो। **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** यजुर्वेद अध्याय ३६ मन्त्र ८ में प्रार्थना की गई है कि, सब मनुष्यों और पशुओं का (शम्) कल्याण हो। **शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।** यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र ४ में प्रार्थना है कि, हे परमात्मन्! यह सारा जगत् नीरोग और शुभ मन वाला हो। **सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्।** यजुर्वेद अध्याय ३६ मन्त्र १८ में यह भाव आता है कि, मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। **मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।** वेद-मन्त्रों में वैर त्यागकर सब प्राणियों के साथ प्रेम करने और उनके प्रति कल्याण का भाव रखने का जो विचार है यही अहिंसा है और इसी में संसार और मानव-समाज का कल्याण है। मनुःस्मृति अध्याय २ श्लोक १५९ तथा १६० में लिखा है। कि, अहिंसा अर्थात् वैर-बुद्धि छोड़कर सब मनुष्यों को कल्याण का मार्ग बतावे और सदा मीठी और कोमल वाणी बोले ॥ १५९ ॥ दुःखी होने पर भी किसी के मन को चुभने वाली बात न कहे और ऐसा कर्म कभी न करे जिससे दूसरे को हानि हो ॥ १६० ॥[1]

इसी प्रकार महाभारत में भी अहिंसा को परम धर्म परम दान और परम-तप माना गया[2] है। योगदर्शन में उपासना आरम्भ करने वाले के लिए पाँच यमों का सेवन करना आवश्यक लिखा है। उन पाँच यमों में अहिंसा पहला यम है। यदि अहिंसा जीवन में न होगी तो उपासना सफल नहीं हो सकती।[3] ये थोड़े से प्रमाण हमने पाठकों के सामने रखे हैं। वैसे तो सब शास्त्र मनुष्य-कल्याण के लिए अहिंसा को बड़ा भारी महत्त्व देते हैं। इसी पर मनुष्य समाज की रक्षा, कल्याण और सुख आश्रित हैं। यदि इस भावना को निकाल दिया जाय तो मनुष्यमात्र घोर सङ्कट और दुःखसागर में डूब जायगा।

१—अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् १५९ नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोह कर्म्म धीः १६० ॥

२—अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परमो दमः। अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ महाभारत अनु० पर्व, अध्याय ११६, श्लोक २८।

३—तत्राऽहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योगदर्शन, साधनपादे, सूत्र ३०।

वैदिक विचार

विग्रीवासो मूरदेवा, ऋदन्तु० ऋग्वेद, ७-१०४-२४

वेद में जहाँ सबको मित्र की दृष्टि से देखने का विधान है वहाँ जगत् को हानि पहुँचाने वाले प्राणियों को यथा-योग्य दण्ड देने और कई अवस्थाओं में उसे वध करने का भी वर्णन आता है। यदि वेद में इस प्रकार शासक के लिए व्यवस्था न हो तो चोर, डाकू, लुटेरे और हत्यारे अपनी दुष्टता के कारण प्रजा का नाश और हानि से संसार को दुःख का सागर बना देंगे।

यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र ७ में आता है कि **'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः'** राक्षस स्वभाव वाले और लुटेरे मनुष्यों को जला दो। यजुर्वेद ८।४४[१] में आया है कि हे वीर ! हमारे शत्रुओं का नाश कर, जो हमारे ऊपर आक्र-मण करते हैं उनको नीचा दिखा, जो हमारा क्षय अर्थात् विनाश करना चाहते हैं उन्हें घोरतम अंधकार में फेंक दे। यजुर्वेद ३५।१ में लिखा है कि दुःख[२] पहुँचाने वाले, तथा विद्वानों की हिंसा करने वाले असुर मनुष्यों को यहाँ से दूर भगा दो। अथर्ववेद ६।८।३[३] में लिखा है कि देवों (धर्मात्माओं) को अपने बल से बढ़ाओ, दुष्टों के बल को क्षीण करना चाहिये। ऋग्वेद ७।१०४।२२ में आया है कि[४] उल्लू, कुत्ता, बाज़ और गिद्ध की प्रकृति वाले मनुष्य जो संसार में दूसरों को पीड़ा पहुँचाते, लूट-खसोट मचाते और असहायों को दबोचते हैं, उनका भी नाश करना चाहिए। इसी सूक्त के मन्त्र २४[५] में आता है कि जो डाकू, लुटेरे दूसरों की हिंसा करते हैं, ऐसे मूरदेव (डाकुओं) को चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष फाँसी देनी चाहिए। **मूरदेवा** पद जो वेद में आया है इसका अर्थ यह है कि मारकाट और लूट ही जिनका (देवता) लक्ष्य है ऐसे डाकुओं के लिए इसी मन्त्र में **विग्रीवासः** पद लिखा है; जिसका अर्थ यह कि इस प्रकार के डाकुओं की ग्रीवा अर्थात् गर्दन तलवार से अलग कर दे। यही देश के शासक का धर्म है। ऋग्वेद ७।१०४।७ में आताहै कि हे इन्द्र ! और हे सोम ! द्रोह करने वाले और सदा ही तोड़-फोड़ का काम करने वाले राक्षस पुरुषों को मारिये।[६] इसी सूक्त मन्त्र १३ में लिखा है कि वह सोम अर्थात् शान्ति का पुञ्ज परमात्मा भी पापी को नहीं छोड़ता।[७]

अहिंसा की प्रशंसा में हमने मनुस्मृति का प्रमाण ऊपर दिया है जिसमें लिखा है कि अहिंसा से ही सब भूतों का कल्याण होता है। इस बात को मानते हुए भी आदि धर्म-शास्त्रकार मनु महाराज ने भी मनुष्यों की प्रकृतियों का अनुभव करते हुए अनेक प्रकार के दण्डों (Punishments सजाओं) का विधान किया है। मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १४३ में लिखा है कि जिस राजा के राज्य में चोर और डाकुओं से डरी हुई प्रजा चिल्लाती रहती है, वह राजा जीता हुआ ही मरा हुआ है।[८] मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १८ में लिखा है कि दण्ड ही सब प्रजा के ऊपर शासन करता है; दण्ड ही सबकी रक्षा करता है और दण्ड सोए हुओं में जागता है। इसीलिए बुद्धिमान लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं। मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक २५ में आया है कि बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्या-दाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। जिस देश में पाप को नाश करने वाला काली और लाल आँखों वाला दण्ड विचरता

१—वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽस्माँऽअभिदासत्यधरं गमया तमः। यजु० ८।४४।

२—अपेतो यन्तु पणयो असुम्ना देवपीयवः। यजु० ३५।१।

३—येन देवा असुराणमोजांस्यवृणीध्वम्। अथर्व ६।८।३।

४—उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम सुपुर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र। ऋ० ७।१०४।२२।

५—इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानम्। विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्य-मुच्चरन्तम्॥ ऋ० ७।१०४। २४।

६—हतं द्रुहो रक्षसो भंगुरावतः। ७।

७—न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति। १३।

८—विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः। सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ मनु अध्याय ७। श्लोक १४३॥

है वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होकर आनन्दित होती है[1]। मनु महाराज ने आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं लिखा, इसके लिए देखो मनु० ८।३५१॥ **नाततायीवधे दोषः॥** यदि आततायी आक्रमण करने आए तो उसको बिना विचारे मार डाले। इसके लिए देखो मनुस्मृति ८।३५१।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्

मनु ने आग लगाने वाले, विष देकर मारने वाले, हाथ में शस्त्र लेकर वार करने वाले, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा वाले तथा स्त्रियों को उठाकर ले जाने वाले इन छः प्रकार के पुरुषों को आततायी कहा है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
मनु० ८।३५०।

इस प्रकार दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देने में मनु महाराज हिंसा नहीं मानते। यदि दोषी को दण्ड न दिया जाय तो वह अहिंसा हानिकर होगी और संसार में दुःख का कारण बनेगी।

श्रीराम और श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाएँ

आर्य-जाति में श्रीराम और श्रीकृष्ण महाराज को आदर्श पुरुष माना जाता है। ये दोनों भी अहिंसा को आदर्श मानते थे। परन्तु, मानव समाज की रक्षा के लिए दुष्टों के दलन करने के लिए कई अवसरों पर इन्होंने भी हिंसा का आश्रय लिया।

श्री रामचन्द्रजी

वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १, श्लोक १४[2] में वाल्मीकि मुनि ने श्री रामचन्द्र जी के अनेक गुणों का वर्णन किया है। उसमें उन्होंने यह भी लिखा है कि वे दयालु, क्रोधरहित, विद्वानों के पुजारी, दीनों पर दया करने वाले, धर्म के मर्म जानने वाले, संयमी और पवित्र चरित्र थे। एक स्थान पर वाल्मीकि मुनि ने लिखा है कि वे सदा शान्तचित्त रहते थे और पृथिवी के तुल्य क्षमावान् थे। इस प्रकार के दयावान्, क्षमावान् पुरुष को भी ताटका, बाली, विराध और रावण की हिंसा करनी पड़ी। एक बार वन में राम और लक्ष्मण को असहाय जानकर विराध सीता को बलपूर्वक उठाकर ले भागा था। उस नीच राक्षस की इस निन्दनीय वृत्ति को ठीक करने के लिए श्री रामचन्द्र ने तीव्र बाणों से विराध की हत्या की और सीता को उस दुष्ट के पंजे से छुड़ा लिया। वाल्मीकीय रामायण अरण्य कांड, सर्ग ३, श्लोक १०[3] देखो।

ताटका नाम की राक्षसी जंगल में ऋषियों को बहुत कष्ट देती रहती थी। जंगल में विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण जा रहे थे तो उन पर भी ताटका ने आक्रमण किया, परन्तु राम ने स्त्री होने के कारण उसे मारने से संकोच किया तब विश्वामित्र ने कहा कि इसे स्त्री के कारण मत छोड़ो।

'न हि ते स्त्रीवधे घृणा कार्या नरोत्तम॥

दुष्टा, लुटेरन स्त्री के मारने में भी दोष नहीं। तब राम ने कहा कि हे ऋषे! गौ, ब्राह्मण और देश के हित के लिए मारता हूँ।

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
शरेणोरसि विव्याध पपात च ममार च॥
वा० रा०, सर्ग २५

ऐसे ही क्षमावान् राम ने युद्ध में रावण को देखकर अग्नि की नाईं क्रुद्ध होकर[4] बाणों से मार डाला। देखो वाल्मीकीय रामायण, युद्ध कांड—राम रावण युद्ध का प्रकरण।

श्रीकृष्ण

महाभारत काल के सबसे महान् नेता अध्यात्म विद्या के स्रोत श्रीमद्भगवतगीता के उपदेष्टा योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने गीता अध्याय १६, श्लोक २ में अहिंसा और

१. दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दंडः सुप्तेषु जागर्ति दंडं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु ७।१८
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतव... मनु ७।२४
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दंडश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ मनु ७।२५
२. सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः। दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवांछुचिः॥
३. सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिश्चितान् शरान्। सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजधान ह॥
४. दिष्ट्यासि मम मन्दात्मन् चक्षुर्विषयमागतः। अद्य त्वां सायकैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम्॥

दया को दैवी सम्पदा में माना है और समय आने पर स्वयमेव ही श्रीकृष्ण महाराज ने (१) शिशुपाल, (२) मुर, (३) पंचजन, (४) निशुम्भ, (५) हयग्रीव, (६) भौमासुर, (७) शल्य और (८) कंस आदि दुष्टों को मारी और जरासंध, कर्ण और दुर्योधन को मरवाया। वे अहिंसा के भक्त होते हुए भी सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के नाश के लिए सदा हिंसा और अहिंसा का समय-समय पर प्रयोग करते रहे। गीता अध्याय ४, श्लोक ८[1] में उन्होंने कहा कि मैं साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ। महाभारत के कौरव-पांडव युद्ध में जब कर्ण और अर्जुन का युद्ध हो रहा था, तब कर्ण का रथ भूमि में धंस गया। उस समय कर्ण ने सफेद झंडा खड़ा करके अर्जुन को कहा कि यह धर्म नहीं है कि इस समय तुम मुझे निहत्थे पर बाण चलाओ।

अर्जुन बाण चलाने से रुक गया। उस समय श्रीकृष्ण को बड़ा क्रोध आया और कर्ण को कहा कि हे कर्ण! जिस समय तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि ने एक वस्त्र धारण किये हुए द्रौपदी को सभा में बुलवाया था और जब तुमने द्रौपदी से सभा में कहा था कि, **हे द्रौपदी! पांडव नष्ट हो गये हैं। अब तुम किसी दूसरे पति को वर लो।** उस समय यह तेरा धर्म कहाँ गया था जो अब तू हमें धर्म की दुहाई दे रहा है। यह कहकर अर्जुन को कहा कि मारो। दुष्ट को मारने का यही अवसर है। अर्जुन के बाणों से कर्ण की मृत्यु हो गई। इसके लिए देखो महाभारत कर्ण पर्व, अध्याय ९१।

इसी प्रकार अपने सब साथियों के मारे जाने पर रक्त से लतपथ हुआ-हुआ दुर्योधन रण से भाग कर एक तालाब में जा छिपा। उसके पीछे पांडव भागे और तालाब से ही दुर्योधन ने युधिष्ठिर को कहा कि अब मैं अकेला हूं। इसलिए कोई एक मुझसे गदायुद्ध करे। युधिष्ठिर मान गया। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को फटकारा कि यह नई प्रतिज्ञा कैसे कर बैठे हो। जीता हुआ राज्य भी हारने के लिए उद्यत हो गये हो। अन्त में भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध आरम्भ हो गया। गदायुद्ध में दुर्योधन को बड़ा अभ्यास था। भीम को पराजित होता हुआ देख श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! इस प्रकार धर्मपूर्वक युद्ध करता हुआ भीम नहीं जीत सकता। दुर्योधन छली है और उसको छल से ही जीतना होगा। **मायाविनं तु राजानं माययैव-निकृतन्तु** महाभारत, शल्यपर्व, अध्याय ५८, श्लोक ८। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि भीम को संकेत करो कि दुर्योधन की जंघा पर गदा मारे तो जीत सकेगा अन्यथा नहीं। इस इशारे को पाकर भीम ने जंघा पर गदा मारी और दुर्योधन गिर गया और मर गया। अध्यात्म विद्या के पंण्डित श्रीकृष्ण महाराज ने भी दुष्टों के दलन के लिए हिंसा के मार्ग को भी अपनाया। इन दोनों महापुरुषों की जीवनियों से सिद्ध है कि जहाँ वे किसी से वैर-विरोध नहीं करते थे; वहाँ समय आने पर हिंसा को हाथ में लेकर दुष्टों का दमन करके धर्म की स्थापना की।

केवल अहिंसा अपनाने का परिणाम

भारतवर्ष में दो महापुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होंने केवल अहिंसा ही परम धर्म माना है। उन्होंने अहिंसा, वैराग्य और चरित्र द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति मानी है। इन दो में से एक महापुरुष गौतम बुद्ध हुए हैं जो ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व कपिलवस्तु में रघुवंश में राजा शुद्धोदन के घर में उत्पन्न हुये थे। वे २८ वर्ष की आयु में ही परिवार छोड़कर निर्वाण के लिए निकल पड़े। इन्होंने हर अवस्था में अहिंसा को ही अपना लक्ष्य बनाये रखना चाहिए, ऐसा उपदेश किया और साथ ही संसार दुःख और क्लेशों का घर है, इससे विरक्त होने का भी उपदेश किया।

दूसरे महापुरुष वर्धमान महावीर, वैशाली जाति के सूर्यवंशी महाराज चेतक के भान्जे थे। इनका जन्म भी राज-घराने में क्षत्रियकुण्डपुर नामक स्थान में, जो पटना से कुछ मील दूर है ईसा से ४५५ वर्ष पूर्व हुआ था। यह भी ३० वर्ष की आयु में गुरु पार्श्वनाथ के उपदेश से राज-महल और स्त्री छोड़कर विरक्त हो गये थे। चरित्र-निर्माण के साथ इन्होंने भी केवल अहिंसा पर अधिक बल दिया। इन्होंने कहा कि जो मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है वह संसार में अपने लिए वैर को बढ़ाता है। इन्होंने अपने उपदेशों में युद्ध का भी विरोध

---

१. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

किया। यह कहा करते थे कि **अपनी ही अंतरात्मा के साथ युद्ध करो, बाहर के युद्धों से क्या लाभ।** ये दोनों महापुरुष गृहस्थ छोड़कर, विरक्त होकर अपने धर्म का उपदेश करते रहे।

ऊँची अवस्था में पहुँचा हुआ साधु, यदि अहिंसा को अपनाये तो जगत् की कोई हानि नहीं होती। मनु महाराज ने भी संन्यासी के धर्म में लिखा है कि यदि कोई उसे गाली दे तो, तेरा भला हो ऐसा संन्यासी उत्तर दे—**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्।** संत ईसा मसीह भी एक ऊँचे संत थे। इसलिए उन्होंने भी यही उपदेश दिया कि यदि कोई तुम्हारी एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरी गाल उसके आगे कर दो। इसी प्रकार के सैकड़ों साधु-महात्मा संसार में हुए हैं जिन्होंने अपमानित होकर भी दूसरों का कल्याण किया है। बुद्ध और महावीर भी यदि अपने-आप तक अहिंसा को सीमित रखते तो कोई हानि नहीं थी, परन्तु उन्होंने सामूहिक रूप से हरएक को, हर अवस्था में अहिंसा की भावना उत्पन्न कर दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के बड़े-बड़े योद्धा इनका उपदेश सुनकर घर-बार छोड़, भिक्षु बन गये। ये दोनों चरित्रवान् थे और राजघराने को छोड़कर आये हुए थे। इसलिए स्वाभाविक था कि जनता पर इनका प्रभाव पड़ता। बुद्ध के प्रचार से जिन-जिन राजघरानों ने भिक्षावृत्ति स्वीकार की, उनके कुछ नाम हम यहाँ देते हैं। (महाप्रजापति गौतमी के साथ ५०० घरानों की स्त्रियाँ भिक्षुणी बनीं, (२) लिच्छवी जाति के जनरल की बहन की पुत्री सिघा भिक्षुणी बनी, जैती परिवार की सब स्त्रियाँ भिक्षुणी बनीं, (४) अंजन वनियगण के राजा का पुत्र भिक्षु बना (५) मिथिला का राजा मखदेव भिक्षु बना (६) कान्धार का राजा-बोधिसत्त्व भिक्षु बना (७) मल्ल जाति के क्षत्रिय जो पावपुरी (बिहार) में रहते थे उनमें बहुत से भिक्षु बने। (८) अलकप्पा बुलि क्षत्रिय (९) रामगाम के कोलियस। (१०) पिप्फलिवान् के मौर्य (११) सेशुमार पर्वत के भग (१२) केशपुत्त कालसस क्षत्रिय जातियों के बहुत-से क्षत्रिय लोग बुद्धोपदेश से भिक्षु बने। ये नाम हम ने, इतिहास में जो आये हैं उनके दिये हैं। वैसे तो बुद्ध के ५० वर्ष के प्रचार में लाखों नर-नारियाँ नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हो गये थे। बुद्ध के पीछे अहिंसा और संसार से विरक्ति के प्रचार द्वारा करोड़ों आर्य हिन्दू बौद्ध धर्म में जा मिले। अभी बुद्ध धर्म फैल ही रहा था कि जैनमत प्रवर्त्तक महावीर ने भी अपने विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनके उपदेश से (१) वीरांग, (२) वीरयश, (३) संजय, (४) एणेयक्त, (५) सेय, (६) शिव, (७) उदयन और (८) शंख ये आठ राजे राज-पाट छोड़कर श्रमण (साधु) बन गये। उनके शिष्यों ने पदयात्रा में घूम-घूमकर श्रमणसंघ स्थापित किये। केवल महावीर के संघ में एक लाख भिक्षु और ३६००० भिक्षुणियाँ थीं। एक एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकायें थीं। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि भारत की ये वीर क्षत्रिय जातियाँ केवल अहिंसा धर्म का आश्रय लेकर भिक्षु बनकर डरपोक और कायर नपुंसक बन गईं।

६३० सन् में जब चीन का प्रसिद्ध यात्री ह्यूनसांग भारत में आया तो उसने लिखा कि कप्पिस (काफिरस्थान) सब बौद्ध हो गया था। सम्पादक और नगर (जलालावाद) में कुछ हिन्दू थे शेष सारा-का-सारा काबुल बौद्ध हो गया था सारे भारतवर्ष में प्रायः आधी संख्या बौद्धों की दिखाई देती थी। ८०० ईसवी से १००० ईसवी तक बंगाल का राज्य, पालवंश के हाथ में आया। बंगाल और बिहार बौद्धों का गढ़ बना हुआ था। जैन और बौद्ध धर्म का हिंसा के विरुद्ध इतना प्रचार था कि कोई भी बंगाल-बिहार का रहने वाला सेना में भरती नहीं होता था। देश की रक्षा के लिए सेना में खासा, हून, लाट और कर्नाट आदि देशों से क्षत्रिय लाये जाते थे जो बौद्ध और जैन नहीं होते थे।

बुद्ध और महावीर इन दोनों ने वैदिक धर्म के अहिंसा के एक अंग को पकड़ लिया, दूसरा अंग हिंसा, जो कि संसार के भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोगों को वश में रखने के लिए आवश्यक था, उसकी उपेक्षा की जिसका यह परिणाम निकलना स्वाभाविक था कि शत्रु के दमन, देश, जाति तथा धर्म की रक्षा के लिए वीरता की भावना लुप्त हो गई। जाति और देश का राजनैतिक और धार्मिक रूप से पतन हो गया। शत्रुओं के आक्रमण होने पर भी देश और जाति की रक्षा का भाव लुप्त हो गया।

इस्लामी आक्रमण आरम्भ हो गये। काबुल जो सारे का-सारा बौद्ध हो गया था, क्षत्रिय-भाव के लुप्त होने से अहिंसा का भक्त बन चुका था वे शत्रुओं के आगे न ठहर सका। शनैः-शनैः मार खाते गये और मोहम्मदी धर्म में

प्रविष्ट होते गये। जिस अफगानिस्तान के उद्भांडपुर (उंड) में महर्षि पाणिनि उत्पन्न हुए थे और जहाँ कुआ (दरया काबुल) तथा क्रमु (दरयाए कुर्रम) ये वैदिक नदियाँ बहती थीं; वह देश झूठी अहिंसा के कारण आर्यस्थान के स्थान पर इस्लामिस्तान बन गया। विभाजन से पूर्व का पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल जहाँ मुसलमान अधिक थे, वे भी जैन और बौद्ध धर्म के मानने वाले थे जो डर के मारे अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बने।

मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से सिंध के बौद्ध और जैनी भी मुसलमान बन गये। यही कारण है कि सिंध (जो इस समय पाकिस्तान में है) प्रायः मुसलमान हो गया। शिवी (पाकिस्तान में जिसको सिबी कहते हैं) पर जब मुहम्मद बिन कासिम ने आक्रमण किया, तब वहाँ का राजा वत्सराज, जो बौद्ध नहीं था क्षत्रियों को साथ लेकर मुकाबले के लिए किले पर खड़ा हो गया। नगर की प्रजा जो कि अधिकतर बौद्ध और जैन धर्म को मानने वाली थी, उन्होंने राजा को कहा कि लड़ना और मारना हमारे धर्म के विरुद्ध है। इसलिए आप लड़ें नहीं शत्रु से सन्धि कर लें। जब राजा ने इनकी भीरुता-भरी सलाह नहीं मानी तो इन्होंने शत्रु को अपना सन्देश भेजा कि, यदि तुम बौद्धों को न मारो तो हम तुम्हें नगर का पिछला द्वार खोल देंगे। कासिम ने इसे स्वीकार कर लिया। इन्होंने पिछला द्वार खोल दिया और अरब सैनिक अन्दर घुस आये। थोड़े-से भिक्षुओं को छोड़कर सबको मार दिया गया और शिवी नगर का पतन हुआ।

बिहार में विक्रमशिला और नालंदा बौद्धों के दो बड़े भारी विश्वविद्यालय थे। सन् ११९७ में वख्तयार खिलजी के मुट्ठी-भर सैनिकों ने वहाँ के पढ़ने-पढ़ाने वाले हजारों बौद्धों का वध किया और वहाँ की लाखों पुस्तकें जला दीं। अहिंसा परमो धर्मः का जाप करते-करते सब बौद्ध मारे गए और किसी ने हाथ नहीं उठाया।

नदिया जो इस समय पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में है वहाँ सन् १२०४ में वखतियार खिलजी का पुत्र इखतिया-रुद्दीन केवल १८ सैनिकों को लेकर राजधानी नदिया में पहुँच गया, द्वारपाल मार दिए लक्ष्मणसेन राजा महल से भाग गया और नगर उसके हाथ आ गया।

केवल अहिंसा के अपनाने से जो दुष्परिणाम देश के लिए निकले, उनका संक्षेप रूप हमने दिखलाया है अधिक दृष्टान्त आप इतिहास में पढ़ें।

इन दोनों धर्मों का हिन्दुओं पर भी प्रभाव पड़ा। अभी तक भी लाखों हिंदू ऐसे हैं जो नागपंचमी के दिन सांपों की पूजा करते हैं और उन्हें दूध पिलाते हैं। हिन्दुओं में भी दुष्टों के दलन की भावना लुप्त हो गई। इसीलिए संख्या, बुद्धि और धन की शक्ति होते हुए भी, संघर्ष के समय अपमानित होते हैं और अपना अधिकार खो बैठते हैं।

अन्य प्राणियों से व्यवहार

मनुष्य के सम्बन्ध में हमने ऊपर विस्तार से वैदिक विचार रखा है। मनुष्य के अतिरिक्त और प्राणियों से कैसे व्यवहार करना चाहिए उसके लिये भी वैदिक विचार नीचे पढ़ें। वेद की सदा यही आज्ञा है कि सब प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए। वेद में लिखा है कि हे प्रभु! सब मनुष्यों और चतुष्पदों का कल्याण हो। परन्तु जगत् में शेर, चीता, मगरमच्छ, सांप आदि हिंसक जीवों को मार देने में वेद दोष नहीं मानता। इसी प्रकार घातक कृमि जो कि प्लेग, हैजा आदि रोगों को फैलाने वाले हैं, दिखाई देने वाले तथा न दिखाई देने वाले जीवाणु (germs) जो अनेक प्रकार के तपेदिक आदि रोग फैलाने वाले हैं वेद उनको भी मारने की आज्ञा देता है। इसके लिए देखो अथर्ववेद कांड ५, सूक्त २३, मन्त्र १३। सर्वेषां च कृमीणां ···दहाम्यग्निना मुखम्, तथा अथर्ववेद ११।१६।४ यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषं। तं त्वा सीसेन विध्यामः, तथा देखो अथर्ववेद १।१६ सू० ४।४ सू०, ४।३७, ५।२९ ८।६ तथा १९।३९ सू० ऋग्वेद १०।१६२।२, यजुर्वेद १६।३२ आदिआदि मंत्र भरे पड़े हैं; जहाँ पर इन हानिकर कृमियों के मारने की आज्ञा है। जिन औषधों से ये मरते हैं उनके नाम भी वेद में दिए हुए हैं। वेद के विचार इस विषय में स्पष्ट हैं कि; जो जीव जगत् को हानि पहुँचाते हैं उनके नाश करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। हमारी फसलों, वृक्षों तथा अन्य अन्नों को हानि पहुँचाने वाले कृमि तथा टिड्डी दल—इनका नाश करना चाहिए। यदि इनका नाश न किया जाय तो अन्नादि के नष्ट हो जाने से लाखों मनुष्य और दूसरे जीव भूख से तड़प-तड़प कर मर जायेंगे। घातक जीवों की अहिंसा से मनुष्यादि अन्य प्राणियों के लिए हिंसा हो जावेगी।

हम प्रतिदिन अपने अनुभव में देखते हैं कि सिर में जूएँ और लीखें पड़ जाने से उनको निकाल देते हैं और अपनी रक्षा कर लेते हैं। बच्चों के पेट में जब मलहप,

चुरवे और चमूने आदि कृमि पड़ जाते हैं तो, औषध से एक बच्चे की रक्षा के लिए हजारों कीड़ों को मारकर बाहर निकाल देते हैं। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य, गौ, घोड़ा, बकरी आदि के शरीर के व्रण (जख्म) में कीड़े पड़ जाते हैं तो औषध से उन घातक कीड़ों को मारकर इन प्राणियों की रक्षा करते हैं।

वैदिक धर्म का सार यह है कि जो भी मनुष्य अथवा दूसरे प्राणी संसार को हानि पहुँचाते हैं, उनका नाश करना चाहिए और जो संसार को लाभ पहुँचाते हैं, अथवा किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते उनकी रक्षा करनी चाहिए।

हिंसक के प्रति अहिंसा और उसका परिणाम

महाभारत में कथा आती है कि जब पाण्डव द्रौपदी के साथ सिंध के वनों में घूम रहे थे तब जयद्रथ को पता लगा कि द्रौपदी सहित पाण्डव मेरे राज्य में घूम रहे हैं और आजकल धौम्य ऋषि के आश्रम में ठहरे हुए हैं। कुछ साथियों को साथ लेकर आखेट के बहाने वह उस आश्रम में पहुँच गया। अर्जुन, भीम आदि आश्रम से कुछ दूर गए हुए थे। द्रौपदी के सौंदर्य पर वह पहले ही मुग्ध था। उसे अकेली देखकर बलपूर्वक उठाकर ले भागा। द्रौपदी की चीख-पुकार एक ओर बैठे धौम्य ने सुनी और जब देखा कि उसे कोई उठाकर ले जा रहा है तब जोर-जोर से पाण्डवों को पुकारने लगा। भीम और अर्जुन वहाँ आ पहुँचे और जयद्रथ का पीछा किया। कुछ दूर जाकर उसे पकड़कर आश्रम में ले आए। भीम और अर्जुन ने उसका वध करने का निश्चय किया। जयद्रथ ने हाथ जोड़कर क्षमा माँगनी आरम्भ की, तो युधिष्ठिर ने दुःशला और गांधारी के सम्बन्ध का विचार करके भाइयों के क्रुद्ध होने पर भी उसे क्षमा दे दी। न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि च सैंधवः। अपनी जान छुड़ाकर दुष्ट जयद्रथ भाग गया; परन्तु हृदय में प्रतीकार लेने की गाँठ बाँध ली। महाभारत के युद्ध में जयद्रथ अपनी सारी सेना को लेकर दुर्योधन के साथ जा मिला और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को और महारथियों के साथ मिलकर मार दिया। तब भीम और अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा कि हे भ्राता! यह तुम्हारी क्षमा का फल है। यदि इसे पहले ही मार दिया होता तो आज यह दिन देखना न पड़ता।

दूसरा दृष्टान्त पृथिवीराज चौहान का है जिसने कई बार मुहम्मद गौरी को आक्रमण करते-करते पकड़ा और छोड़ दिया। एक बार पृथिवीराज, गौरी के हाथ आ गया। तब पृथिवीराज ने कहा कि मैंने तुम्हे इतनी बार छोड़ा है तुम मुझे क्यों नहीं छोड़ते। इस पर मुहम्मद गौरी ने उत्तर दिया कि तुमने मूर्खता की थी अब मैं हाथ आए हुए शत्रु को छोड़कर मूर्खता नहीं कर सकता। वह उसे कैद करके गज़नी में ले गया और वहाँ जाकर उसकी दोनों आँखें निकलवा दीं। इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि आततायी को छोड़ना अहिंसा नहीं प्रत्युत हिंसा को बढ़ावा देना है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हिंसा और अहिंसा के विषय में वेदादि शास्त्रों के आधार से सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १२ में जो विचार दिए हैं वह इस सारे लेख का सार है—

"सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है क्यों कि तुम्हारे (जैन) मतानुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर-डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे, तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाय? इसलिए दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया और इससे विपरीत करने में दया-क्षमा रूप धर्म का नाश है।"

वेदों का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

विश्व-विज्ञान का आदि-स्रोत वेद

[ले०—प्रो० किशोरीलाल गुप्त एम० ए०, साहित्य वाचस्पति, काव्यतीर्थ]

[३]

ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

पिछले दो व्याख्यानों में यह बताया जा चुका है, कि वेद-माता यह सङ्केत करती है, कि ज्ञान का परमोत्कृष्ट प्राथमिक साधन, (first-hand knowledge) प्रकृति (Nature) है। किन्तु प्रकृति-पुस्तक का पढ़ना प्रत्येक ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे का काम नहीं। यह काम, तब, किसका? वही वेद-माता पुनः सङ्केत करती है—वाचस्पतियों का, मनीषी, क्रान्तदर्शी अध्यापकों का, प्रोफैसरों का, उपदेशकों का।

पर—आधुनिकतम शिक्षा विशारदों का मत है कि छात्रों को खुले मैदान में ले जाया जाय और उन्हें स्वयमेव प्रकृति के रहस्यों को देखने, विचारने, मनन करने और उन पर टिप्पणी लिखने का अवसर दिया जाय। नदियों, पहाड़ों, झीलों, ज्वाला मुखियों की लम्बी लिस्टें रटाना अरुचिकर है, और इसीलिये कष्ट-साध्य होता है। जो उन्हें एक बार देख लेता है, अपने हृदय पर पत्थर की लकीर बना लेता है। शिक्षा-शास्त्रियों को जब से इसका महत्त्व ज्ञात हुआ है, वे सहस्रों रुपये व्यय करके छात्रों को विश्व की सैर करने, भौगोलिक, ऐतिहासिक, आदि-आदि अनेकानेक महत्त्वपूर्ण स्थलों को स्वयमेव देखने, अनुभव करने ले जाते हैं। इस प्रकार उन्हें first-hand knowledge ताजा स्वयमेव ज्ञानार्जन करने का साधन उपस्थित करते हैं।

वैदिक ऋषियों ने आदि-काल में ही 'त्रि-सप्तों' का वर्ष के, सम्वत्सर के, विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन, मनन, वर्गीकरण, एवं उनसे नाना-फल—संगत्यर्थ जीवनघुला दिये। अकेली ज्योतिष विद्या के रहस्योद्घाटन में ही, न जाने कितने मूल्यवान् जीवन समाप्त हुए। आइये, 'शत-पथ' के ऋषि से पुनः सम्पर्क प्राप्त करें। नमस्ते! महाराज नमस्ते! शुभं वो भूयात्—आप लोगों का कल्याण हो! कहिये, कैसे कष्ट किया? भगवन्! परियमण-शील, विश्वा-रूपाणि-बिभ्रतः त्रि-सप्ताः, की कुछ और व्याख्या कीजिये। बहुत अच्छा। सुनिये—पिछली बार आपको यह बताया गया था कि ये 'तीन-सप्त' = ३×७ = २१ क्या पदार्थ हैं? कहिये याद है? जी हाँ, कुछ-कुछ। क्या? वर्ष के बारह महीनों में, अर्थात् पूरे सम्वत्सर में सूर्य की बारह भिन्न-भिन्न गतियाँ, अर्थात् जाड़ा, गर्मी, बहार, वर्षा और पाँचवीं छूट गयी—वह पतझड़, ये पाँच ऋतुएँ। इस प्रकार १२ + ५ = १७ तीन लोक—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये हुए—१७ + ३ = २० और इक्कीसवाँ यह सतत-तपस्वी सूर्य्य। बस यही? जी हाँ यही! कुछ छूटा तो नहीं? स्वामिन्! और तो कुछ याद नहीं आता। थोड़ा भाग छूट गया है। वह क्या महाराज? सैषा गतिः, एषा प्रतिष्ठा। यह गति, यह प्रतिष्ठा। और यही है मुख्य रहस्य! तो महाराज! इस रहस्य पर तो अवश्य प्रकाश डालिये।

पश्चिम के महा-अहं-मन्य विद्वान् समझते हैं कि भारत के प्राचीन आर्य्यों को विश्व की एक-मात्र, अद्वितीय-महान् शक्ति परमेश्वर का ज्ञान न था। वे प्रकृति के फूल-पत्ते, जड़ी-बूँटी, लता-वृक्ष, नदी, पर्वत, समुद्र, आकाश के चन्द्र और तारे, उषा और सूर्य्य को देख, भौंचक्के से रह जाते थे, और समझते थे कि ये ही उनके दुख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण और उनके जीवन के भाग्य-विधाता हैं। इसीलिये, वे इनको देवी-देवता समझ उनकी नाना-विध पूजा करते थे। ठीक ही तो समझते थे। आखिर भारत एक हजार वर्ष के लम्बे अर्से से गुलाम ही तो था। उनमें ख़यालों की इतनी बुलन्द ऊँची उड़ान कहाँ से आती? कहीं गुलाम भी विज्ञान-वेत्ता हो सकते हैं? यह थी उनकी धारणा।

लेकिन यह सब उनकी ख़ाम-ख़याली है, क्षुद्र-मनस्कता है। मंत्र का शब्द-भाग सरल है, साफ़ है। लेकिन है सखुन-वरों के लिये सखुन-भरा, मंत्र-वेत्ताओं के लिये मंत्र-मय, सङ्केत भरा। वह इशारा करता है कि प्रकृति की विभिन्न, विचित्र, अद्भुत गति-विधि का गहन निरीक्षण, परीक्षण एवं कार्य्य-परिणयन कीजिये, और चिर मनोवाञ्छित प्रतिष्ठा

लाभ कीजिये। अणु-बम्बादि अलौकिक आधुनिक आविष्कारों की जननी यही निरीक्षण-परीक्षण-नियमन-कार्य्य परिणयन परिपाटी ही तो है। वही वेद-विहित-सार्वभौम-विधि भी है। उसी में विश्व-कल्याण, विश्व-प्रतिष्ठा, एवं विश्व-सुख-शान्ति का साधन है। **अद्य दधातु मे**—आज, अभी, इसी क्षण वह गति वह प्रतिष्ठा मुझमें धारण कीजिये। मैं भी तद्वत् बन जाऊँ। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की नक़ल करने लगूँ और बन जाऊँ, विश्व-कल्याण-साधक यह कहाँ से निकल पड़ा? इसी वेद-मंत्र से। वह कैसे? पढ़ो मंत्र को। **"तेषां तन्वो दधातु मे"**। उनका 'तनु' मेरे लिये धारण कर दीजिये। 'तनु' का अर्थ तो शरीर है। भला सम्वत्सर, ऋतुओं, लोकों, और सूर्य्य के शरीर छात्रों में कैसे प्रविष्ट हो सकेंगे? अरे भोले भाइयों! वेद का प्रत्येक शब्द मंत्र-गुप्त है, रहस्य भरा है। 'तनू' विस्तारे। अर्थात् उनकी गति विधि, विस्तृत कार्य्य पद्धति, महान कर्तव्य परायणता, समयानुकूल परिस्थिति बदलना, सतत सन्तत, अथक, निरालस्य स्वामि-सेवा-रत रहना। प्रतिष्ठा बनाए रखने का यही रहस्य है। धन्य महाराज नमस्ते!

(४)

आदर्श अध्ययनाध्यापन परिपाटी

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसो-ष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ (अथ.१-२)

अब से ठीक ७० (सत्तर) वर्ष पूर्व की घटना है। कल-की-सी याद है। मेरा एक कुटुम्बी साथी था। लगभग एक-डेढ़ वर्ष बड़ा होगा। ग्राम छोटा था। पाठशाला कोई थी नहीं। मैं मुश्किल से पाँच वर्ष का रहा हूँगा। सुना है मेरे जन्म होने पर हमारे भव्य, सौम्य-मूर्ति, कुल-गुरु महाराज ने भविष्य वाणी की थी कि बालक यावनी भाषा का बड़ा पण्डित होगा। उर्दू, फारसी और अँगरेजी यावनी भाषाऐं ख़याल की जाती थीं। इन्हीं का उस समय ज़ोर भी था। पिता जी मुझे, इसी कारण पढ़ाने के लिये बड़े लालायित थे। मैं दुबला-पतला, छोटे क़द का था। सत-मासा वैसे उत्पन्न हुआ बताते हैं। फिर भी, पिता जी मुझे, मेरे उस (अब स्वर्गीय) साथी के साथ समीपवर्ती ग्रामीण पाठशालायें पढ़ाने के लिये भर्त्ती करने ले गये। रूमाल में दोपहर के भोजन के लिये पराठे बाँधे गये। चार आने के बताशे, जिनका मूल्य आज कमसे कम सवा-रुपया अवश्य होगा, पाठ-शाला के छात्रों को, श्री-गणेशानन्तर, प्रसाद बाँटने के लिये ख़रीदे गये। पन्द्रह-बीस मिनिट पहुँचने में लगे होंगे। अध्यापक महोदय पिता जी को देख प्रसन्न हुए, और साथ में मुझको भी। मेरी पट्टी पर 'श्री गणेशाय नमः' लिखा गया। मैंने ज्यों का त्यों लिख दिया। लोग हैरान हुए, और सबके सब मेरी प्रशंसा करने लगे।

किन्तु, इसी बीच, एक भयङ्कर घटना घट गई, जिसने मुझे आदर्श-बाल-अध्यापक बनने की महती प्रेरणा प्रदान की। ग्राम के जाटव-बन्धुओं के यहाँ किसी कन्या का विवाह था। स्वाँग हो रहा था। कुछ मन-चले लड़के लुक छिप कर तमाशा देखने चले गये थे। पकड़ बुलाये गये; और उनकी ख़बर-लेने के लिये, डूँगर-वृक्ष की, लफ़-लफ़ाती, लम्बी-लम्बी क़मचियाँ, मँगाई गईं। मेरे बाल-मन-मंदिर में, उन्हें लखकर महान् भयान्धकार छागया, और ज्योंही पिता जी ने समीपवर्ती एक मित्र के घर से, पण्डित जी को दक्षिणा देने के लिये रुपया उधार लेने को पीठ फेरी, और में रोकर उनके पीछे भागा। लोगों ने कहा बालक अभी कम उम्र का है, कुछ बड़ा हो लेने दीजिये। पराँठे ज्यों के त्यों बँधे चले आये।

इसी लिये मंत्र में वाचस्पतियों को 'निरमय' का आदेश दिया गया है। पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, एवं बाल-मन्दिरों का वातावरण रम्य, शान्त, शिव, सुन्दर एवं आकर्षण-शील होना चाहिये। भय तो विद्या-मन्दिरों के पास तक नहीं फटकने देना चाहिये। बच्चे हँसते-हँसाते, उछलते-कूदते, गाते-गुनगुनाते विद्यालयों में प्रवेश करें, यह पहली शर्त है। उन्हें हव्वा खाना हरगिज न ख़याल करें। वे क्रीड़ा-स्थल समझे जांय। मानों खेल-कूद द्वारा ही बाल-गोपालों को सत्य, अहिंसा, प्रेम, सौहार्द, न्याय, साम्य-भाव आदि के पाठ पढ़ाये जाने के लिये ही जगन्नियन्ता ने विश्व के वाचस्पतियों को संसार में भेजा है। सान्दीपन ऋषि की पाठशाला इसी प्रकार की तो थी, जिस में कृष्ण सुदामा—जैसे आदर्श-मित्रों का निर्माण हुआ था। "पानि परात को हाथ छुओ नहिं, नैनन के जल सों पग धोये" की पावन स्मृति आज भी सहृदय जनों के नेत्रों को स-जल बना देती है।

मंत्र में अध्यापक को वाचस्पति, एवं वसोष्पति के रहस्य-पूर्ण नामों से याद किया गया है। 'वाक्-वाक्' का ध्यान सन्ध्या करते समय सर्व प्रथम इसीलिये किया जाता है कि उसे परम-पावनी बनाया जाय। इस पर पूर्ण संयम

एवं नियमन रखा जाय। यह अमृत-मय अमर फल भी है, और साथ ही विषभरी छुरी भी। रोतों को हँसाना, और हँसतों को रुलाना, इस के बाँए-हाथ का काम है। शब्द वाचस्पति का अभिप्राय यह है कि विविध विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता, मास्टर होने के साथ अध्यापकों को उसके संयमन, नियमन एवं विविध विनियोगों का भी पूर्ण अभ्यास होना चाहिये। बाणी का उतार चढ़ाव भी बड़े मानी रखता है। किसी-किसी अध्यापक की क्लास में तो छात्र सोते तक पाये गये हैं। किसी में गप्पें उड़ती हैं, किसी कक्षा में से यके-बाद-दीगरे खिसका खिसकी भी देखी जाती है। जो चन्द कक्षा में विराजमान दृष्टिगत होते हैं, उनका लैक्चरों को सुनने का मूड (रुचि) ही नहीं।

दूसरी कक्षा भी है। इतनी सन्नाटा कि सुई गिरने तक की आवज सुनाई दे जाय। क्या मजाल कि कोई छात्र इधर उधर झाँक सके, या लुक-छिप कर खिसकने की सोच सके ? तो क्या भय के कारण ? नहीं नहीं पाठन-शैली के कारण, पाठ विषय पर पूर्ण अधिकार होने के कारण, कक्षा के अन्दर रम्य-वातावरण के कारण अध्यापक को 'वाचस्पति' होने के साथ-साथ वसुपति भी होना वेद की दृष्टि में अनिवार्य है। तब. यह वसु क्या वस्तु है ? अच्छा, लो चलें प्राचीन ऋषि मुनि और विद्वानों की शरण में। **भगवन् कतमे वसव: ? अग्निश्च, पृथिवी च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च वायुश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च। एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तस्माद्वसव:।** महाराज, ये तो आपने बहुत सारे गिना दिये ! फिर इनका स्वामी बनना कैसा ? स्वामी तो इनका एक मात्र परमेश्वर ही हो सकता है। क्षुद्र-शक्ति मनुष्य भला कैसे वसु-पति बन सकता है। प्रिय बन्धो ! क्षुद्र शक्ति भी महान् शक्ति में परिवर्धित हो जाती है। नैपोलियन बचपन में बहुत दुबला-पतला था, बाद में प्रसिद्ध विजयी, नैपोलियन महान् बना। बाहर क्यों जाओ ? अपने गाँधी जी को ही ले लीजिये। बचपन में कैसे भोंदू कि परीक्षा के समय अध्यापक की साधारण सी बात न समझ सके। कितने डरपोक, कि रात को भूतों के भय से चार पाई पर उछल-उछल पड़ें। कोई भी बात तो ऐसी नहीं, जो भावी महानता की सूचक हो। फिर अभ्यास बड़ी चीज है। वेद माता कहती है—कुशल अध्यापक बनने के महत्त्वाकाँक्षी नव युवको ! अग्निवत्, तेजस्वी बनने का अभ्यास करो, पृथिवीवत् क्षमाशील बनो, वायु से प्रगतिशील बनना सीखो। अन्तरिक्षवत् विशाल हृदयी बनो, आदित्यवत् प्रकाशवान् बनो विद्वान् बनो, द्यौ की भाँति व्यापक प्रभाव वाले बनो; चन्द्रमावत् शान्ति और शीतलता धारण करो, एवं नक्षत्रों से सितारये हिन्द के स्थान में सितारये दो-जहान बनने की स्पर्धा करो। यहाँ भी चमको और वहाँ भी। अफ़सरों की इजत अवश्य करो, किन्तु किसी के सन्मुख गिड़-गिड़ाओ हरगिज नहीं, पर इस में तुम्हारा क्या दोष ? सरकार ने तुम्हें बना हीं ऐसा रखा है। दिल्ली का साधारण भड़-भूजा, खोम्चेवाला, स्टेशन का कुली तुमसे कहीं अधिक कमा लेता है। फिर कहते हैं 'सच्चे राष्ट्र-निर्माता तुम ही हो' वेदमन्त्र भी संकेत करता है—**'देवेन मनसा सह पुनरेहि'** दिव्य मन से प्रसन्न-प्रफुल-वदन—पुनः पुनः कक्षा में पधारिये। 'निरमय'—नियत और निश्चित पाठ-विषय को घर से तैयार करके लाइये, और ऐसे रोचक ढङ्ग से पढ़ाइये कि छात्र अनुभव करें—**मय्येवास्तु 'मयिश्रुतम्'**—मेरा सुना मेरे हृदय में समा गया—पत्थर की लकीरवत् अमिट हो गया। कैसे ? बच्चों को एकादशी व्रत कराकर ? राजेन्द्र-राष्ट्रपति तक 'छात्र-पतियों की ओर से बे खबर बने हुए हैं।

परम देशभक्त ऋषि दयानन्द

"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है" (स० प्र०)

जागरूक अग्नि

[ले०—श्री अभयदेव जी शर्मा एम० ए० टोंक]

अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥
(य० ४–१४)

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वं) तू (सु जागृहि) भली प्रकार जागता रह; (वयं) हम (सु मन्दिषीमहि) भली भांति सोवें। (अप्रयुच्छन्) अप्रमादी होता हुआ [तू] (नः) हमारी (रक्षा) रक्षा कर; [तू] (नः) हमें (पुनः) दुबारा (प्रबुधे कृधि) प्रबोध प्राप्त करा।

[१]

यज्ञ के लिए दीक्षित पुरुष इस मन्त्र का उच्चारण करके रात्रि में अग्नि में समिदाधान करके सो जाता है। इस मन्त्र के अनुसार, अग्नि, जागृत रहकर सावधानी के साथ सुप्तावस्था में हमारी रक्षा करता है और प्रातः हमें पुनः जागृति में ले आता है।

स्वप्न और जागृति–प्राणीमात्र की ये ही दो अवस्थाएँ हैं। जागृति प्राणी का कर्म काल है; स्वप्न विश्रान्ति काल है। श्रम के पश्चात् विश्राम वैसे ही है, जैसे भूख लगने पर भोजन करना। कर्म करने से प्राणी की प्राणशक्ति व्यय होती है। अतः पुनः कर्मरत होने के लिए प्राणशक्ति की पूंजी को प्राप्त करना आवश्यक है। आहार, निद्रा, विश्रामादि इसके उपाय हैं जिनके अभाव में प्राणी की सत्ता असम्भव है। भर्तृहरि के अनुसार, आहार और निद्रा, मनुष्य की ये बातें पशुओं में भी हैं। श्रम विश्राम-चक्र में मनुष्यादि प्राणी मात्र परिभ्रमण कर रहे हैं।

स्वप्न का रात्रि और जागृति का दिन से सम्बन्ध है। प्राणी दिन में कर्मरत रहता है और रात्रि में विश्राम करता है। परन्तु जो दिन में सोते और रात्रि में कर्मरत रहते हैं उनके लिए दिन रात्रि है और रात्रि दिन है। ऐसी अवस्था ज्योतिद्वेषी और अन्धकार प्रिय व्यक्तियों की होती है। मनुष्येतर अनेक प्राणी इसी कोटि में आते हैं। यह आसुरी स्वभाव है; ऐसे प्राणी निशाचर राक्षस कहे गये हैं। अन्यथा, साधारणतया दिन होते ही पशु, पक्षी, मनुष्य सभी के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं और रात्रि के आगमन के साथ उनमें निद्रा रमने लगती है। कैसा अद्भुत विधान है। इसमें किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता। सायंकाल होते ही, पशु, पक्षी, अपने आवासों, घोसलों की ओर लौटने लगते हैं। अन्धकार के घने होते-होते चराचर प्रकृति सोती हुई जान पड़ती है। प्रातः प्रकाश का झुटपुटा होगा और सब पुनः ताजे होकर रंभाते, चहचहाते हुए उठ खड़े होंगे। इस प्रकार, निद्रा अथवा रात्रि का अर्थ है सूर्याभाव और जागृति अथवा दिन का अर्थ हुआ सूर्यसाम्मुख्य। दिन और रात्रि पृथिवी की जागृति और सुप्ति हैं। परन्तु सूर्याग्नि की दृष्टि में इस भेद का अभाव है। सूर्य के लिए रात्रि का सर्वथा अभाव है क्योंकि वह सदा प्रकाशमान, स्वयं प्रकाश है। पृथिवी के सूर्य की ओर पींठ कर लेने पर पृथिवी की रात्रि, और पृथिवी के सूर्याभिमुख होने पर पृथिवी का दिन हो जाता है। जो स्वयं प्रकाश नहीं होते, जिनका अस्तित्व दूसरों के आसरे होता है, उनके ही जीवन में दिन और रात्रि, जागृति और निद्रा, उत्थान और पतन आया करते हैं।

जागृति और स्वप्न का यह द्वन्द्व चराचर समस्त जगत् में व्यापक है। वर्ष के दो भाग, उत्तरायण और दक्षिणायन वर्ष के क्रमशः जागृति युक्त दिन और निद्रा काल रात्रि है। छः ऋतुओं में तीन, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, देव ऋतुएँ हैं। शेष तीन ऋतुएँ, शरद्, हेमन्त, शिशिर, पितर ऋतुएँ हैं। पितर ऋतुओं की अपेक्षा देव ऋतुओं में पृथिवी सूर्य के समीपतर होती है। ज्योति नैकट्य ही देवत्व है; ज्योति पराङ्मुख अदेवत्व—असुरत्व है। मास के शुक्ल और कृष्ण पक्ष क्रमशः दिन और रात्रि हैं। इनमें चन्द्रमा सूर्य के क्रमशः अभिमुख एवं पराङ्मुख होता है। सूर्य की पृथिवी परिक्रमा की अवधि के बारह भाग पार्थिव वर्ष के बारह मास हैं। सूर्य की परिक्रमा पृथिवी का एक वर्ष है। स्ववृत्त पर सूर्य का साम्मुख्य एवं पराङ्मुखत्व क्रमशः पृथिवी के दिन और रात्रि हैं। इस प्रकार, काल के अस्तित्व का कारण सूर्य सिद्ध होता है।

जैसे-जैसे पृथिवी सूर्य के सम्मुख होती जाती है, वैसे-वैसे प्रकाश और दिन होता जाता है। जैसे-जैसे

वह सूर्य से परे होती जाती है, वैसे-वैसे अन्धकार और रात्रि होती जाती है। दिन और रात्रि ही वैदिक परिभाषा में अदिति और दिति हैं। दिन के बारह बजे प्रकाश की चरमावस्था होती है, जिसके तुरन्त बाद से ही वह पृथिवी भाग सूर्य के साम्मुख्य से शनैः-शनैः हटता हुआ क्रमशः रात्रि बनने लगता है और कुछ घण्टों में रात्रि प्रत्यक्ष हो जाती है। रात्रि के बारह बजे अन्धकार की चरम सीमा होती है और तदनन्तर ही रात्रि के दिन बनने का कार्य आरम्भ हो जाता है जो प्रातः सूर्य दर्शन वेला में प्रत्यक्ष फल प्रदान कर देता है, तथा दिन के बारह बजे प्रकाश की चरम सीमा आ जाती है। इस प्रकार, पूर्वाह्ण दिन और अपराह्ण रात्रि है। पूर्व निशा रात्रि और अपर निशा दिन है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक का समय देव है, शेष समय पितर है। यदि और सूक्ष्मता से विचार करें, तो एक-एक क्षण दिन भी है और रात्रि भी। पूर्व क्षण दिन है तो अपर क्षण रात्रि है कालरूपी वस्त्र दिन-रात्रि, प्रकाश-तम, जाग्रति–सुप्ति के श्वेत कृष्ण ताने-बाने से बुना हुआ है।

इसी प्रकार, अध्यात्म में, मनुष्य का प्रत्येक क्षण आगामी क्षण की अपेक्षा से दिन है, और आगामी क्षण रात्रि है। चेतन प्राणी ही क्या, जड़ जगत् में भी यही जाग्रति-सुषुप्ति का क्रम प्रकान्त है। जाग्रति के प्रथम क्षण से हम कार्यरत होते हैं और शनैः-शनैः क्रम का भार शरीर अनुभव करने लगता है। जब शरीर के लिए यह भार असह्य हो जाता है तो हम निद्रा लेते हैं अथवा विश्राम करते हैं। इस अवस्था में कर्मरति का स्थान मान्द्य, शरीर की मन्दता ले लेती है। निद्रा इस मन्दता की चरमावस्था है, जब कर्मरति का स्थूल रूप सर्वथा अदृश्य हो जाता है। इसी तथ्य को सूचित करने के लिए मन्त्र में 'हम सोवें' यह अभिप्राय 'मन्द' धातु के द्वारा व्यक्त हुआ है। निद्रा की परिभाषा मन्दता है। जैसे-जैसे विश्राम के क्षण बीतते जाते हैं, श्रम क्षीण होता जाता है; प्राणशक्ति पुनः उपार्जित होती है। विश्रान्ति की चरम सीमा आते ही निद्रा समाप्त हो जाती है और प्राणी जाग्रतभाव, कर्मावस्था में आ जाता है। हमारा कर्मकाल हमें शनैः–शनैः निद्रा की ओर ले जा रहा है और सुषुप्ति हमें जाग्रति की ओर ले जा रही है। इस प्रकार, प्राणी का प्रत्येक क्षण जाग्रति-निद्रा, श्रम-विश्राम के चक्र में से गुजर रहा है।

[२]

जाग्रति और स्वप्न—ये दो अवस्थाएँ शरीर की हैं, आत्मा की नहीं। शरीर श्रान्त होता है मन्द पड़ता है, सोता है और पुनः प्राणान्वित होकर कर्मक्षम बनता है। शरीर जड़ है, उसका स्वभाव है 'स्थिति'। आत्मा का स्वभाव है 'गति' कर्म। शरीर अकर्म है तो आत्मा कर्म है। शरीर का धर्म मृत्यु नाश है तो आत्मा का धर्म अमृत है। शरीर भावाभाव, सदसत् से प्रभावित है; आत्मा इन सबसे परे है। आत्मा वाग्व्यवहार से परे है। उसे शरीर की अपेक्षा से भाव, सत्, अमृत कह सकते हैं। पर उस एक (**एकमेवाद्वितीयम्**) सत्ता, 'एकं सत्' के लिए कोई भी संज्ञा अथवा विशेषण पूर्णतः वाचक नहीं हो सकता। उसे चाहे जिस नाम से पुकारें, उसकी महिमा की कृत्स्न पकड़ नहीं हो सकती। शरीर अचर है, असंज्ञ है, दुःखस्वभावी है, जड़ है। परन्तु एक सत्ता है जो इसे चर, संज्ञ, आनन्द, चेतन बना देती है। उसने इसे धारण किया हुआ है। शरीर के श्रान्त होने पर वह सत्ता उसे पुनः बल प्रदान करती है। श्रीमद्भगवतगीता के शब्दों में कोई संयमी नियन्ता शक्ति है जो भूतमात्र की जड़ता रूपी निशा में जागती रहती है और भूत जिन भौतिक विषयों में जागरूक रहते हैं उनका उस संयमी के लिए मानों कोई महत्त्व नहीं है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(२–६९)

यह संयमी ईश्वर है जो सब भूतों के हृद्देश में, केन्द्र-उक्थ में स्थित है। वह 'अन्तर्यामी' शक्ति परोक्ष, अदृश्य, अनिरुक्त रहती हुई गुहानिहित है। बाहर भौतिक शरीर जो नाटक अहर्निश रच रहा है वह उस अपरिमित शक्ति-धर '**सूत्रधार**' का ही चमत्कार है। वह अन्तःस्थ चेतन शक्ति सुख-दुःख के **भौतिक** प्रभावों से कभी आक्रान्त नहीं होती। न वह कभी श्रान्त होती है, न जीर्ण-शीर्ण होती है। जरा मरण से वह परे है। भूत-भौतिक जगत् को वह शक्ति यन्त्रवत् घुमा रही है। वही सत्य है, उसकी अपेक्षा से शेष सब मिथ्या हैः—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८-६१)

वेद की मान्यता है कि **'यदन्तरं तद् बाह्यं, यद् बाह्यं तदन्तरम्'** (अथर्व० २-३०-४) इसे यों भी कहा जा सकता है—**'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** पिण्ड और ब्रह्माण्ड—दोनों प्रजापति के निरुक्त रूप हैं। इस विस्तार की मौलिक शक्ति अनिरुक्त है जिसे मनीषी बुद्धि के नेत्र से देखते हैं। वह शक्ति सदा से बुद्धि की जिज्ञासा का विषय रही है। अतः वेद ने उसे बड़ा गूढ़ व्यञ्जनात्मक नाम दिया है : 'संप्रश्न'। इस संप्रश्न क्यों हल करने के प्रयास में बुद्धिरूपी अग्नि (कुदाली) से जितना कुछ मनुष्य अज्ञात के गिरि में से खोद पाया है, वही हमारी संचित ज्ञानतति है।

उपर्युद्धृत मन्त्र में इस शक्ति को 'अग्नि' कहा गया है। प्राणी जागृतावस्था में इस शक्ति से कृतार्थ होते हैं और इसके व्यय हो जाने पर पूँजी को पुनः एकत्रित करने के लिए निद्रा, विश्रामादि द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। अग्नि ही हमारा जीवनाधार है। शरीर में यह वैश्वानर अग्नि शारीरिक ताप एवं जठराग्नि के रूप में प्रत्यक्षतः अनुभव किया जा सकता है। प्रत्येक भौतिक तनु को अग्नि की नियत मात्रा प्राप्त है। मनुष्य को जीवन के लिए ९८० ताप-गरमी 'घर्म' चाहिये। इसी प्रकार जड़-चेतन सबकी घर्ममात्रा नियत है। इस ताप में न्यूनाधिक्य मृत्यु का स्मरण करा देता है और मनुष्य रोगी हो जाता है। जीवन तभी तक है जब तक अग्नि की यह मात्रा नियतरूपेण हमें प्राप्त है। अग्नि के अजस्र भण्डार में से अपनी-अपनी पूँजी लेकर प्रत्येक अपने-अपने व्यवसाय में व्यस्त है। चराचर जगत् अग्नि का उपासक है। अग्नि के ही भिन्न-भिन्न रूपों के हम उपासक हैं। हमारे भूमण्डल के लिए दैवी अग्नि का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि यह सूर्य है। ब्रह्माण्ड में इस हमारे सूर्य से कहीं बड़े एवं अधिक तेजस्वी अनेक सूर्य हैं : 'सप्त दिशो नाना सूर्याः'। अग्नि के इस महत्त्व के कारण ही ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के प्रथम शब्द से ही 'अग्नि' की सूचना दे दी गयी है। चराचर प्रत्येक व्यष्टि 'अग्निमीडे' का पालन कर रहा है।

प्राणी की इन्द्रियाँ इस अग्नि के स्फुलिंग हैं। यदि कोई स्फुलिंग बुझ जाता है, तो वह इन्द्रिय अथवा अंग-हीन पड़ जाता है। शरीर का अग्नि निकल जाता है, तो कहते हैं, यह तो ठंडा पड़ गया'। ठंडे शव की गति श्मशान है। अतः इस अग्नि का पर्यायवाची शब्द है 'आयु'। **'आयुर्वा अग्निः'** (शतपथ० ६।५।३।७), तथा **'अग्निर्वा आयुः'** (श० ७।१।३।१५) अग्नि का अर्थ है आयु; आयु का अर्थ है अग्नि। इस लोक में अग्नि ही एकमात्र रस है, ओषधि है, पय है, सोम है : **अग्निर्वा 'अस्मिंल्लोके रसोऽग्निरुपजीवनम्'**। (श० ६।५।३।३)।

मानव-संस्कृति यज्ञ-संस्कृति है। अग्नि और सोम रूपी भोक्ता और भोग्य से ही यह सृष्टि बनी है। ये ही वृषा और योषा रूप पुरुष एवं स्त्री हैं, जिनके परस्पर संयोग एवं मात्रा-तारतम्य से विश्व की रचना हुई है। इन्हें ही वैदिक साहित्य में ऊष्मा-शैत्य, तथा शुष्क-आर्द्र के रूप में भी व्यक्त किया गया है। अग्नीषोमात्मक यह प्रजनन 'यज्ञ' सर्वत्र, सदा प्रक्रान्त रहता है। इस यज्ञ से चराचर की सत्ता है; स्थिति है। अतः इस यज्ञ के कर्णधार अग्नि-की प्राणी कामना करता है। सोम अग्नि की सख्यता पाकर कृतार्थ होता है।

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽ-
ग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ १॥

(ऋ० ५।४४।१५)

ऋक् और साम इस यजुरग्नि की सदा कामना करते हैं। दोनों की कामनाएँ इस यजुरग्नि से सर्वाधिक तृप्त होती हैं—**'यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान् कामान् दुदुहे'**। **(श० ४।५।९।१४)** ऋक् अर्थात् पदार्थ का व्यास एवं साम अर्थात् पदार्थ की परिधि दोनों यजुरग्नि रूप केन्द्र पर प्रतिष्ठित हैं। यह केन्द्रस्थ अग्नि यदि बुझ जाये तो सृष्टि नष्ट हो जाये। जिसका यह अग्नि सुजागृत नहीं रहता, सोम उसका शत्रु सिद्ध होता है। मन्दाग्नि कुछ पचा नहीं सकता। अन्न से रस, वीर्य, प्राण, मन बनने की प्रक्रिया बिना अग्नि-जागरण के असम्भव है। इस अग्नि के भोक्ता बनने पर ही अन्नाद्यरूप भोग्य सोम का उपयोग है। सूखे ठूँठ को, जो अग्निहीन है, जल देने का कोई लाभ नहीं। अग्नि के ही निकलने से भूत-भौतिक मूर्तिपूजा का प्रयोजन है। उसके निकल जाने पर मूर्ति के पूजन से अभीष्ट सिद्ध

नहीं होता। अग्नि ही ईडेण्य, वरेण्य, परिचरणीय है। अतः मनुष्य को आहिताग्नि होना चाहिये।

इन्द्र, मित्र, वरुणादि देवता अग्नि के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। अग्नि में सर्वदेवों का वास है। अग्नि का सर्व-प्रथम जन्म होता है। तदनन्तर अन्य देव जन्म लेते हैं। विभिन्न देव अग्नि के ही भिन्न-भिन्न नाम, रूप और कर्म हैं। द्युलोकस्थ अग्नि आदित्य है, अन्तरिक्षस्थ अग्नि वायु है; पृथिवीस्थ अग्नि यह वैश्वानर अग्नि है। पृथिवीस्थ आठ वसु देवता अग्नि के ही विभिन्न रूप हैं। इन आठ रत्नों का अग्नि ने धारण किया हुआ है (रत्नधातमः)। ग्यारह रुद्र देवता अन्तरिक्षस्थ अग्नि के और बारह आदित्य द्युलोकस्थ अग्नि के रूप हैं। इस प्रकार 'अग्निः सर्वा देवताः'। (श० १।५।१।८)

लेखारम्भ में उद्धृत मन्त्र में अग्नि की अप्रमादी, रक्षोहा, रक्षण शक्ति का विज्ञान संकेतित हुआ है। देवों में प्रथम, जीवन का मूल शक्तिस्रोत होने के कारण यहाँ अग्नि का ही आवाहन किया गया है। क्यों? अग्नि प्रथम जो है। 'प्रथमः प्र-तमो भवति' (निरुक्त० २।२२) प्रथम होने से अग्नि सर्वशक्तिशाली, प्रकृष्टतम है। वह 'अग्निः' है; अग्रणी है। प्रजापति जब प्रजाप्रजननोपरान्त श्रान्त होकर गिर पड़ा, तो अग्नि ने ही पुनः उसमें प्राणसंचार किया था। यह महत्त्वपूर्ण, सृष्टिविज्ञान के तत्त्वों से युक्त कथा शतपथ ब्राह्मण के उखासम्भरण काण्ड में आई है। अग्नि की धौंकनी सर्वत्र प्राण का सम्धमन कर रही है। प्राण अपान उस धौंकनी की समस्वर, छन्दित गति है। यह अग्निरूप प्राणशक्ति सप्त प्रकारों में विभक्त होकर शरीर में प्रतिष्ठित है।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्तरक्षन्ति सदम-प्रमादम्। (य० ३४. ५५)

वैदिक परिभाषानुसार ऋषयः का अर्थ प्राण है। सप्तधाविभक्त प्राण शरीर के रोम-रोम में प्रति निहित है जो शरीर रूपी सदन की प्रमाद हीन होकर रक्षा कर रहा है। ये शरीर भवन के प्रतिहारी हैं। 'अप्रमादं रक्षन्ति' का ही भाषान्तर है 'रक्षाणो अप्रयुच्छन्'।

यह अग्निरूप प्राण ही जाग्रत ज्योति है; इसे ज्योति का जाग्रत, तरल रूप समझना चाहिये। सूर्य रूपी घन ज्योति का प्राण तरल रूप है जो शरीर की नस-नस में, रोम-रोम में स्रावित होकर, अन्न से रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज, मन का निर्माण, तथा शरीर, मस्तिष्क, हृदयादि का विधारण कर रहा है। 'ज्योतिर्वै जागरितम्। (कौषीतकि ब्रा० १७, ९) 'जागरित' ज्योति ही है। 'उर्ध्वः सुप्तेषु जागार, (अथर्व ११.४.२५) प्राण की एक महत्त्वपूर्ण संज्ञा 'सूद-दोहाः' है। यही जीवन के उपयोगी समस्त शोभन उदकों का प्राणियों के लिए दोहन करता है। 'प्राणा वै देवा धिष्ण्याः।' (श० ७.१.१.२४) कहकर तो वेद ने समस्त संशयों का निवारण कर दिया है। प्राण ही धिष्ण्य अग्नियाँ हैं जो समस्त धी = कर्मों को प्राप्त कराती हैं। मनुष्यों के शरीरों में स्थित यह प्राणाग्नि 'नृषत्' नाम से अभिहित किया गया है जो, 'अयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निः' (श० ६.५.३.११), मनुष्यों में 'प्राण' कहाता है। यह प्राणाग्नि सर्वभूतों में अन्तर्यामी रूप से व्यापक है। एवं स्थित यह प्राण 'असन्न' है; स्वभाव से गतिशील है। अतः जहाँ इसका अनुप्रवेश होता है वहाँ गति, ज्योति, प्रकाश, वीर्य के दर्शन होते हैं। इस अग्नि रूप प्राण को नमस्कार है,

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अ० ११.४.१)

वेद और श्रीशंकराचार्य का वेदान्त

[ले०—श्री पं० चूड़ामणि जी शास्त्री]

श्री शंकराचार्य्य जी भारत के उच्चकोटि के विद्वानों में एक माननीय विद्वान् हैं। इनकी दार्शनिक दृष्टि बहुत ऊँची है, साधारण विद्वान् की तो वहाँ तक पहुँच भी नहीं। आपने वेदों के विषय में कितनी ऊँची सम्मति दी है? इसे पढ़ते ही बनता है—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य—अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य—प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः—सर्वज्ञकल्पस्य, योनिः कारणं ब्रह्म, नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य—सर्वगुणान्वितस्य, सर्वज्ञाद् अन्यतः सम्भवोऽस्ति।' वेदा० १।१।३।

अर्थात् 'अनेक विद्या के स्थानों से बढ़े-चढ़े, दीपक की तरह सभी पदार्थों पर प्रकाश डालने वाले सर्वज्ञ रूप ऋग्वेदादिशास्त्र का मूल कारण परब्रह्म परमेश्वर ही है, ऐसे सर्वगुणयुक्त ऋग्वेदादिशास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ प्रभु को छोड़कर और किसी से सम्भव नहीं है'।

श्री शंकर ने वेदों की उत्पत्ति सर्वज्ञ प्रभु से मानी है पर वे, वेद ऋग्वेदादि के रूप में ही लिये जा सकते हैं, अधिक नहीं। वेदों की इसी महत्ता पर ही अपने-अपने स्थिर किये हुए विचारों का नाम 'वेदान्त' रखा है, इसमें वेदों का अन्त है—वेदों का सिद्धान्त वर्णित है। परन्तु श्री शंकर ने अपने मत की पुष्टि में मूल वेदों का प्रमाण न देकर या कम से कम देकर अधिक प्रमाण उपनिषदों के ही दिये हैं जो कि वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इनमें चौथा दर्जा रखती हैं। इन उपनिषदों को वेद मानकर इन सिद्धान्तों को 'वेदान्त' कहना निष्पक्ष विद्वानों को स्वीकृत न होगा। वेदसंज्ञा तो इन्हीं चार वेदों की चलती आ रही है, उपनिषदों की वेदसंज्ञा नहीं।

श्री शंकराचार्य्य की अमौलिक कल्पना

श्रीशंकराचार्य्य ने माना है कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' अहं ब्रह्मास्मि 'सब कुछ ब्रह्म है जिसमें मैं भी ब्रह्म हूँ'। साथ ही यह भी मान लिया है कि जगत् मिथ्या है, अतस्मिन् तद्बुद्धि है—जगत् है तो कुछ नहीं परन्तु हमें मिथ्या भ्रम हो रहा है। उदाहरण दिया है रज्जु में सर्प का, हम उनसे पूछते हैं कि रज्जु में सर्प समझने वाले को दोनों का ज्ञान तो पहले होना है परन्तु ब्रह्म और जगत् में हम ब्रह्म को तो जानते ही नहीं, फिर जगत् का मिथ्यात्व कैसे मान लिया गया?

दूसरी बात—वेदान्ती विद्वान् एक ही ब्रह्म को तीन रूपवाला मानते हैं—एक शुद्ध ब्रह्म, दूसरा मायाविशिष्ट ब्रह्म (ईश्वर) और तीसरा अविद्या विशिष्ट ब्रह्म (जीव)। हम पूछते हैं कि जब है ही एक ब्रह्म, तो वह माया कहाँ से आ गयी? और ब्रह्म को जीव बनानेवाली अविद्या कहाँ से आ गयी? जबकि जगत् मिथ्या मान लिया गया है। तीसरी बात—यह है कि माया या अविद्या ने स्वशक्ति से ब्रह्म को घेर रखा है या ब्रह्म ही प्रमाद में आकर उससे घिर गया है? ब्रह्म से ऐसी भूल तो होनी न चाहिये। वह ब्रह्म क्या हुआ जो माया से पराजित हो गया? ऐसी स्थिति से तो ब्रह्म और मायारूप द्वैतवाद सिद्ध हो जाएगा। चौथी बात—ब्रह्म अपने स्वरूप को भूल कैसे गया, जबकि वह ज्ञान रूप माना गया है अथवा 'ज्ञानमेवात्मा—ज्ञानमेव ब्रह्म' माना गया है? उसे अध्यास कैसे हुआ—मिथ्याज्ञान कैसे हुआ—जबकि वह है ही ज्ञानस्वरूप? यदि वह अविद्या से ग्रस्त हुआ तो जब हमें निश्चय हो गया कि जगत् मिथ्या है तो अविद्या या माया ससुरी आयी कहाँ से? 'ज्ञानरूप ब्रह्म को अध्यास हो' यह हमारी समझ में नहीं आता उक्त विचार मूलवेद के भी विरुद्ध जाता है—

मूलवेद में लिखा है कि—

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' यजुः ऋक्षबुद्धि वाले सर्वतिरस्कारक स्वयं प्रकाशमान प्रभु ने मनीषी बनकर अपने मानसिक संकल्प से जितने पदार्थ बनाये हैं सब ठीक-ठीक बनाये हैं और अनन्त काल तक चलने वाले बनाये हैं। आज का विज्ञान भी वैदिक सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। यदि जगत् मिथ्या है तो यह सिद्धान्त पूरा वेद के विरुद्ध जाता है।

यदि एक ही ब्रह्म है तो **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** ब्रह्म की जिज्ञासा किसको हुई? क्या वह ब्रह्म अपने

स्वरूप को भी न जान सका कि उसे जिज्ञासा हुई ? अतः एक ब्रह्म ज्ञाता और दूसरा ब्रह्मज्ञेय सिद्ध होता है। यही भेद है, दूसरा—जब एकही ब्रह्म है तो सृष्टिस्थिति प्रलय सब उसी से हुआ है, और वेदादि शास्त्र भी (**शास्त्रयोनित्वात्**) उसी से हुआ है, तब सारे शास्त्र अविद्याग्रस्त कैसे हुए और जगत् मिथ्या कैसे हो गया ? क्या ब्रह्म ने यह सब मिथ्या रचना की ? कुछ समझ में नहीं आता। मुझे तो यह सिद्धान्त अभितिचित्र-सा दिखायी देता है जो केवल कल्पनामय है।

इस सिद्धान्त को मूल वेदानुसारी मानना भारी भूल है

वेद में आया है 'योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽसौ अहम्' जो अदिति के कार्य्य–प्रकृति के कार्य्य जगत् में पुरुष काम कर रहा है वह मैं हूं, अर्थात् वह चेतन पुरुष मैं हूं जो जगत् में पुरुष काम कर रहा है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि—सूर्य्यलोक में जो पुरुष परमेश्वर है मैं वह हूँ अर्थात् उसीका अंश हूं। गीता में भी कहा है 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, यह सनातन जीव मेरा ही अंश है। हम सचमुच उसी के अंश हैं—परीक्षा देने के लिये आये हुए हैं। पास होने पर हम उसमें लीन होकर सुखी जीवन तो प्राप्त कर सकते हैं किन्तु हम उसमें एक रूप नहीं हो सकते—जो काम प्रभु कर रहा है उसमें हमारा प्रवेश नहीं हो सकता। तभी तो वेदान्त दर्शन में लिखा है—**'जगद्व्यापारवर्जम्०**—४-४-१७ वेदा० इसकी व्याख्या में श्रीशंकराचार्य ने स्वयं स्पष्ट लिखा है कि जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वा अन्यद् अणिमाद्यैश्वर्य्यमुक्तानां भवितुमर्हति, जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्यैवेति। अर्थात् "जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय को छोड़कर अन्य अणिमा महिमा आदि आठ प्रकार का ऐश्वर्य मुक्तात्माओं को मिलता है, किन्तु जगत् संचालनरूप कार्य तो नित्य शुद्ध या नित्यसिद्ध ईश्वर का ही क्षेत्र है।" इस गद्य में ब्रह्म और जीव का कार्यक्षेत्र ही जब भिन्न भिन्न कहा गया है तो जीव ब्रह्म को एक मानना नितराम् अस्वाभाविक है।

एक बात और—यदि जीव और ब्रह्म एक तत्त्व हैं तो जीव मुक्ति की कामना क्यों करता है ? क्या बन्धन में है ? यदि अविद्या द्वारा वह अपने को बँधा हुआ समझता है तो ब्रह्म होकर भी अविद्या से भारी भ्रम में कैसे आ गया ? इसका सन्तोषजनक उत्तर हमें अभी तक नहीं मिला। ब्रह्म और अविद्या ये दो परस्पर विरुद्ध तत्त्व हम नहीं मान सकते। वेद में दो मन्त्र और भी आये हैं—"जो पुरुष सभी पदार्थों में परमात्मा को और परमात्मा में सभी पदार्थों को देख रहा होता है वह फिर शंका रहित हो जाता है—उसे निश्चय हो जाता है कि सबमें प्रभु की ज्योति है ॥

जीवात्मा का संसृति अवस्था में भ्रमण

[*ले०—श्री मास्टर मातुराम जी आर्य, रोहतक*]

चैत्र २०१८ वि० के वेदवाणी पृ० १५-१६ पर 'एक समस्या' श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी के नाम पर हमारे सामने है। महर्षि स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाषाभाष्य अ० ३९ वें मन्त्र ६ (सविता प्रथमेऽहन्न...वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे) पर आपत्ति उठाई गई है। महाराज का दृष्टिकोण स्वीकार्य नहीं जाना गया। जीवात्मा को देहान्तर प्राप्ति के लिये कुछ काल परिभ्रमण करना पड़ता है। कितना समय ? महर्षि के मत में बारह दिन परन्तु उक्त स्वामी जी का मन इसको मानता नहीं। सो पाठकों के मनोरञ्जन के लिये एक-एक आपत्ति पर विचार किया जाता है:—

(१) पौराणिकों की विचार धारा का पोषण करता है—उनकी प्रत्येक बात को अशुद्ध मानना ठीक नहीं। वेदों के अनुकूल और अविरुद्ध बातें सत्य और माननीय ही हैं। जब उक्त मन्त्र (अ० ३९।६) में स्पष्ट बारह दिनों का वर्णन है जिसे पौराणिक भाई स्वीकार करें तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है ?

(२) मन्त्र में मृतक शब्द नहीं है—यह आवश्यक नहीं है। प्रतिवादी महर्षि के "किञ्चित् कालं भ्रमणं कृत्वा" को स्वीकार तो करते हैं। संसृति अवस्था में भ्रमण तो मानते हैं, केवल बारह दिन का समय अखरता है।

(शेष पृ० ३ पर)

विविध समाचार

विदेश में

—युद्ध रोकने के लिये विश्व सरकार आवश्यक (लार्ड एटली का मत)।

—भारत की उत्तरी सीमा कैलाश मानसरोवर से भी आगे (लोहिया का वक्तव्य)।

—३-४ जून के केनेडी-क्रुश्चेव वार्त्ता, रूसी अमेरिकी समस्याओं पर भी विचार, वार्त्ता के बारे में रूस अमेरिका द्वारा अधिकारिक घोषणा।

—अमेरिकन उपराष्ट्रपति श्री जानसन ने आगरा के निकट विचपुरी गाँव में कूएँ से पानी खींचा, और बैलगाड़ी पर चढ़े। देहली में सड़क के किनारे भाषण देना आरम्भ कर दिया।

—जानसन-नेहरू वार्त्ता की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति-तटस्थ लाओस के समर्थन से पहिले जानसन ने कैनेड़ी का पत्र नेहरू को दिया (अपने भाषण में कहा श्री कैनेड़ी और नेहरू जी के आदर्श एक हैं, भारत तथा अमेरिका की मैत्री हमेशा बनी रहेगी)।

—लाओस समस्या के हल का मूलाधार सन् ५४ का समझौता है। आयोग के सङ्घटन में कोई भी परिवर्त्तन अमान्य।

देश में

—स्वतन्त्र पार्टी चुनाव समिति गठित करेगी। बर्मा उपद्रवी नागाओं के विरुद्ध कारवाई करेगा।

—आसाम के कच्छार जिले में बंगला को सरकारी भाषा बनाने के लिये आन्दोलन।

—जनसंघ विधान सभाओं के लिये १२०० और लोकसभा के लिये २५० उम्मीदवार खड़ा करेगा।

—भाषा विषयक 'मौलिक समस्या अनिर्णीत'। आसाम पर्वतीय के प्रतिनिधि मण्डल की १॥ घण्टा प्रधान मन्त्री से वार्त्ता हुई।

—पंजाबी सूबा के लिये अकाली दल द्वारा पुनः आन्दोलन आगामी चुनाव की इस प्रश्न पर लड़ने की योजना। तारासिंह का वक्तव्य-जयप्रकाश से वार्त्ता। सन्त फतहसिंह पुनः अनशन करेंगे ?

—मोहनलाल सक्सेना का कांग्रेस से इस्तीफा—संसद सदस्य श्री मोहनलाल सक्सेना ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया है।

इस्तीफा देने के कारणों पर प्रकाश डालते हुये आपने बताया कि कांग्रेस में अव्यवस्था बढ़ती जा रही है। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के जाली सदस्यों की संख्या कई लाख तक पहुँच गई है, जो अधिकारिक सदस्यों की संख्या से अधिक है। किन्तु इस खतरनाक रवैये के प्रति किसी का ध्यान नहीं जा रहा है।

कांग्रेस में गुटबन्दी और व्यक्तिगत द्वेष की भावना बढ़ती जा रही है, इसके अलावा जनसेवा का शक्तिशाली माध्यम बने रहने के स्थान पर कांग्रेस में पदलोलुपता बढ़ती जा रही है। तथा वह किसी भी प्रकार सत्ता कायम रखना चाहती है।

आर्य जगत्

—१६ मई प्रातःकाल श्री आनन्द स्वामी जी महाराज के 'ओम्' ध्वज लहराने के पश्चात् केन्द्रीय मन्त्री श्री जगजीवन राम ने आर्य प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय कहा 'दुनिया को फिर महर्षि दयानन्द जैसे महापुरुष की आवश्यकता है। ताकि मानव और जगत् को बचाया जा सके।

—आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने अपने वार्षिक अधिवेशन कानपुर में सर्वसम्मति से ५ लाख की लागत से आर्य भवन (जो गत बाढ़ में बहुत सा नष्ट हो गया था) बनाने का निश्चय किया है।

—१९ मई को सायंकाल ५ बजे से १० बजे रात्रि तक आर्य समाज के नेता आर्य सम्मेलन के मनोनीत प्रधान श्री स्वामी ध्रुवानन्द जी महाराज की शोभा यात्रा (जलूस) बहुत ही सफल और आकर्षक रहा। नई सड़क पहुँचने पर भी जलूस को गुजरने में १॥ लगा जब कि वह अन्तिम स्थान था। आर्य समाज का यह बाह्य प्रदर्शन सदा ही सफष रहा।

—श्री स्वामी ध्रुवानन्द जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में आर्य समाज का महत्त्व प्रदर्शन करते हुए आन्तरिक झगड़ों पर दुःख प्रकट किया कि कुछ दिनों से पदों के लिये लोलुपता तथा अधिकार प्राप्ति की गन्दी मनोवृत्ति दिखाई देने लगी है, जो शीघ्र से शीघ्र दूर होनी चाहिये। स्वामी जी ने यह भी कहा कि पंजाब में हिन्दी विरोधियों की चालें असफल रहेंगी।

रथान् मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् । उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥२९॥
बलेन गुप्तो भरतो महात्मा सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रुर्गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरतप्रस्थानं नाम सप्ततितमः सर्गः ॥७०॥

एकसप्ततितमः सर्गः

अयोध्यागमनम्

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय राघवः । ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम् । शतद्रूमतरच्छ्रीमान्नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥
एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् । शिलामाकुर्वतीं तीर्त्वा ह्याग्नेयं शल्यकर्तनम् ॥ ३ ॥
सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान् प्रेक्षमाणः शिलावहाम् । अत्ययात्स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रत्यपद्यत । उत्तरान् वीर मत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

रथों में ऊँट, घोड़े तथा खच्चरों को जोतकर भृत्य वर्ग जाते हुए भरत के पीछे-पीछे चला ॥ २९ ॥ सैनिकों से रक्षित भरत अपने नाना अश्वपति के समान मन्त्रियों से घिरे हुए, भाई शत्रुघ्न को लेकर उस राजमहल से इस प्रकार निकल पड़े जैसे सिद्ध लोग इन्द्रलोक से निकलते हैं ॥ ३० ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरत का प्रस्थान' विषयक सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७० ॥

इकहत्तरवां सर्ग

अयोध्या में आगमन

राजगृह नामक नगर से निकल कर पराक्रमी भरत पूर्व की ओर चले। पश्चात् सुदामा नदी की शोभा को देखते हुए उस को पार किया ॥ १ ॥ तरङ्गों से परिपूर्ण पश्चिम दिशा को बहने वाली विशाल नदी ह्लादिनी को पार करने के पश्चात् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीमान् भरत ने शतद्रूनामक नदी को पार किया ॥ २ ॥ एलाधान ग्राम के पास वाली नदी को पार करके अपर पर्वत नामक स्थान पर आये। पश्चात् शिला नामक नदी को पार करके आग्नेय तथा शल्यकर्त्तन ग्राम में आये ॥ ३ ॥ सत्यव्रतधारी भरत स्नानादि से निवृत्त होकर शिलावह नामक नदी को देखते हुए विशाल पर्वतों को पार कर चैत्ररथ नामक वन के समीप आये ॥ ४ ॥ सरस्वती और गंगा के संगम पर आकर वीरमत्स्य नामक जनपद से उत्तर की ओर जाकर भरत ने भारुण्ड नामक वन में प्रवेश किया ॥ ५ ॥ अत्यन्त वेग वाली तथा स्नानार्थियों को आनन्द देने वाली,

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् । यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥
शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ ७ ॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् । भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्ययात् ॥ ८ ॥
भागीरथीं दुष्प्रतरामंशुधाने महानदीम् । उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥
स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् । सबलस्तां स तीर्त्वाथ समायाद्धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥
तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् । वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥
तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ । उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः ॥ १२ ॥
सालांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः । अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥
वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां नदीम् । अन्या नदीश्च विविधाः पार्वतीयैस्तुरंगमैः ॥ १४ ॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यवर्तत । ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये सिकतावतीम् ॥ १५ ॥
एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम् । कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥
भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः । वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां संददर्श ह ।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि । अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी । अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ॥ १९ ॥

पर्वतों से घिरी हुई कुलिङ्गा यमुना नदी को पार किया और अपनी सेना को विश्राम कराया ॥ ६ ॥ थके हुए घोड़ों को स्नानादि के द्वारा शीतल करके तथा स्वयं स्नान कर और जल पीकर पश्चात् जल को ले कर वहाँ से आगे प्रस्थान किया ॥ ७ ॥ राजकुमार भरत ने रमणीय रथ के द्वारा उस जनहीन महारण्य को इस प्रकार पार किया जिस प्रकार वायु आकाश को पार करता है ॥ ८ ॥ अंशुधान के पास महानदी गंगा पार करने योग्य नहीं है, ऐसा जान कर राजकुमार भरत ने प्राग्वट नामक प्रसिद्ध नगर में प्रवेश किया ॥ ९ ॥ प्राग्वट के पास गंगा को पार करके भरत कुटिकोष्ठिका नदी के तट पर आये। पश्चात् सेना के समेत उस नदी को पार कर के धर्मवर्धन नगर में प्रविष्ट हुए ॥ १० ॥ राजकुमार भरत तोरणग्राम के दक्षिण भाग से होते हुए जम्बूप्रस्थ नगर में प्रविष्ट हुए। पश्चात् वहां से वरूथ नामक रमणीय ग्राम में आये ॥ ११ ॥ उस रमणीय स्थान में निवास करके भरत ने पूर्व की ओर प्रस्थान किया। पश्चात् उज्जिहाना नगरी की रमणीय कदम्ब-वाटिका में प्रवेश किया ॥ १२ ॥ उन कदम्ब वृक्षों के पास आकर अपनी सेना तथा अन्य अनुयायियों को पीछे २ आने की आज्ञा देकर शीघ्रगामी घोड़े पर सवार होकर वे वहां से चल दिये ॥ १३ ॥ सर्वतीर्थ नामक स्थान पर निवास करके उत्तरवाहिनी नदी तथा कई अन्य नदियों को भरत ने पर्वतीय घोड़ों के द्वारा पार किया ॥ १४ ॥ उस नरकेसरी भरत ने हाथी के द्वारा कुटिका नदी को पार किया पश्चात् लौहित्य नगर के समीप सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥ एकसाल स्थान के पास स्थाणुमती तथा विनत ग्राम के पास गोमती नदी को पार करके भरत ने कलिङ्गनगर के समीप सालवन में प्रवेश किया ॥ १६ ॥ घोड़ों के थक जाने पर भी भरत ने बहुत शीघ्र ही रात्रि में सालवन को पार कर सूर्योदय के समय महाराज मनु से निर्मित प्रसिद्ध अयोध्या नगरी को देखा ॥ १७ ॥ नरकेसरी भरत ने मार्ग में सात रात निवास करने के पश्चात् उस पुरी को देखा। अयोध्या को दूर से ही सामने देखकर राजकुमार भरत सारथि से यह वचन बोले— ॥ १८ ॥ यह पवित्र वाटिका वाली, यशस्विनी अयोध्या मुझे रमणीय नहीं लग रही है। हे सारथि ! पीली मिट्टी से लिपी हुई पीतवर्णा अयोध्या दूर से ही दिखाई दे रही है ॥ १९ ॥ जिसमें यज्ञ

यज्वभिर्गुणसंपन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः । भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता ॥२०॥
अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् । समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ॥२१॥
उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः । समन्ताद्विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा ॥२२॥
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः । अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति मे ॥२३॥
न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः । निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम् ॥२४॥
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च । जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तं गुणवन्ति च ॥२५॥
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः । स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥२६॥
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् । संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥२७॥
चन्दनागरुसंपृक्तो धूपसंमूर्च्छितोऽतुलः । प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथापुरम् ॥२८॥
भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः । किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥२९॥
अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च । निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥३०॥
सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु । तथा ह्यसति संमोहे हृदयं सीदतीव मे ॥३१॥
विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः । भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥३२॥
द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः । द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्टस्तैः सहितो ययौ ॥३३॥

करने वाले वेदपारग लोग निवास करते हैं। राजर्षियों से पालित तथा धनी लोगों से परिपूर्ण है ॥ २० ॥ इस अयोध्या में पहले तुमुल शब्द सुनाई देता था। वह नरनारियों का घोष आज नहीं सुनाई दे रहा है ॥ २१ ॥ सायंकाल के समय क्रीडादि से उपरत लौटते हुए स्त्री पुरुष अपनी गमनादि क्रियाओं द्वारा जिन वाटिकाओं को अलंकृत करते थे ॥ २२ ॥ आज उनके त्याग से वे रोती हुई सी प्रतीत हो रही हैं। हे सारथि ! यह नगरी आज अरण्य के समान उजाड़ दीख रही है ॥ २३ ॥ रथ, हाथी, घोड़ों के द्वारा जैसे पहले लोग आते जाते थे, वैसे आज नहीं दिखाई देते ॥ २४ ॥ जो वाटिकायें पहले विलासी लोगों के विलास की स्थली मानी जाती थीं तथा अनेक गुणों वाली थीं ॥ २५ ॥ आज वही वाटिकायें आनन्द रहित दिखाई दे रही हैं। मार्ग में वृक्षों के पत्तों के गिरने से मालूम पड़ता है कि ये वृक्ष रो रहे हैं ॥ २६ ॥ मदावलिप्त पशु-पक्षियों के मनोहारी मधुर शब्द आज नहीं सुनाई दे रहे हैं ॥ २७ ॥ चन्दन, अगर, धूप आदि से सुगन्धित जो निर्मल वायु पहले बहती थी वह आज क्यों नहीं दिखाई दे रही है ॥ २८ ॥ कोण (मृदङ्ग बजाने का दण्ड) से बजाये गये मृदङ्ग, भेरी, वीणा आदि के जो शब्द दूर तक सुनाई देते थे, वे शब्द आज क्यों रुक गये हैं ॥२९॥ अनिष्ट के सूचक अनेक प्रकार अङ्गस्फुरण, अपशकुनादि, भयङ्कर निमित्तों को मैं देख रहा हूं जिस से मेरा मन अत्यन्त दुःखित हो रहा है ॥ ३० ॥ हे सूत ! इन भयङ्कर अपशकुन आदि लक्षणों से यह प्रतीत हो रहा है कि हमारे बन्धु बान्धवों में अब कुशल अत्यन्त दुर्लभ है। कोई घटना अवश्य है जिससे मेरा हृदय बैठा जा रहा है ॥ ३१ ॥ इन्द्रियां जिसकी चंचल हो रही हैं, भयातुर हृदय वाले, दुःखी भरत ने शीघ्र ही इक्ष्वाकु पालित अयोध्या नगरी में प्रवेश किया ॥ ३२ ॥ अयोध्या नगरी के वैजयन्त नामक द्वार से थके हुए वाहनों के द्वारा उस नगर में प्रवेश किया। द्वारपालकों ने उठकर विजय-घोष किया। पश्चात् द्वारपालों के साथ भरत आगे बढ़े ॥ ३३ ॥ अत्यन्त घबराये हुए भरत ने द्वारपालकों

स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम्। सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ॥३४॥
किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनानघ। अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥३५॥
श्रुता नो यादृशः पूर्वं नृपतीनां विनाशने। आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥३६॥
संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये। असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥३७॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसंमोदनेन च। अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥३८॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम्। अपेतमाल्यशोभान्यप्यसंमृष्टाजिराणि च ॥३९॥
देवागाराणि शून्यानि न चाभान्ति यथापुरम्। देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठ्यस्तथाविधाः ॥४०॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वै तथा। दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥४१॥
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः। देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगणास्तथा ॥४२॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम्। सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥४३॥
इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः। तान्यरिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥४४॥

तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां रजोऽरुणद्वारकपाटयन्त्राम्।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरप्रकाशां दुःखेन संपूर्णतरो बभूव ॥४५॥

को सत्कार पूर्वक लौटा दिया। पश्चात् थके हुए अश्वपति के सूत से भरत बोले ॥ ३४ ॥ हे निष्पाप ! मैं बिना कारण ही क्यों अयोध्या में बुला लिया गया। मेरे हृदय में नाना प्रकार की आशङ्का हो रही हैं, मेरा धैर्य टूट सा रहा है ॥ ३५ ॥ हे सारथि ! राजाओं के विनाश के समय जो लक्षण या आकार प्रकार मैंने सुन रखे थे, आज उन सभी लक्षणों को मैं यहां देख रहा हूं ॥ ३६ ॥ सारा नगर सम्मार्जन के बिना आज धूलिधूसरित दिखाई दे रहा है। मकानों के दरवाजे खुले हैं, कान्ति सर्वथा नष्ट हो गई है ॥ ३७ ॥ बलि-वैश्वदेव यज्ञ और धूप आदि सुगन्धियों से रहित तथा क्षुतिपपासायुक्त, कान्तिहीन मनुष्यों से परिपूर्ण ॥ ३८ ॥ शोभाहीन नगरवासियों के भवनों को मैं देख रहा हूं। असम्मार्जित प्राङ्गण, माला आदि शोभाओं से रहित दिखाई दे रहे हैं ॥ ३९ ॥ अतिथिशालाएं सब शून्य दिखाई दे रही है। जो रमणीयता उन स्थानों पर पहले थी, वह अब नहीं है। अतिथियज्ञ और देवयज्ञ दोनों अवरुद्ध से दिखाई दे रहे हैं ॥ ४० ॥ माला आदि की दुकानों पर आज कोई बिकने वाली वस्तु नहीं दिखाई दे रही है। जैसे प्रसन्न वदन वणिक् लोग पहले दिखाई देते थे वैसे आज नहीं दिखाई दे रहे हैं ॥ ४१ ॥ चिन्ता से इन वैश्यवर्गों का हृदय उद्वेल्लित हो रहा है। व्यापार के नष्ट होने से इनकी सारी गति अवरुद्ध हो गई है। अतिथिशाला तथा यज्ञ-शालाओं में रहने वाले पक्षिगण दीन दिखाई पड़ रहे हैं ॥ ४२ ॥ मलिन आंखों में आंसू भरे हुए दीन, चिन्ताग्रस्त, दुर्बल तथा घबराये हुए स्त्री पुरुषों को मैं यहां देख रहा हूं ॥ ४३ ॥ दुःखी चित्त वाले भरत ने दुःखी सूत से ऐसा कहकर अयोध्या के अनेक अनिष्ट दृश्यों को देखते हुए राजमहल में प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ चौक, गलियां, मकान, सड़कें शून्य हो रही हैं, धूलि के द्वारा किवाड़ खिड़कियां आदि धूसरित हो रही हैं, ऐसी अमरावती के समान प्रकाशित होने वाली नगरी की अवस्था को देखकर भरत दुःख से परिपूर्ण होगये

बहूनि पश्यन् मनसोऽप्रियाणि यान्यन्यदा नात्र पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना नहृष्टः पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे अयोध्यागमनं नाम एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरतसन्तापः

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये । जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥
अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् । उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥
स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् । भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥
सा तं मूर्धन्युपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् । अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥
अद्य ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः । अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥
आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव । प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

॥ ४५ ॥ जो अमनोज्ञ बातें इस अयोध्या नगरी में पहले कभी नहीं हुई थीं, उन अनेक अप्रिय बातों को देख कर भरत सिर झुकाये हुए दुःखी होकर अपने पिता के महल में प्रविष्ट हुए ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरत का अयोध्या में आगमन' विषयक इकहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७१ ॥

बहत्तरवां सर्ग

भरत का सन्ताप

पिता के भवन में भरत पिता जी को न देखकर माता को देखने के लिये माता के भवन में गये ॥ १ ॥ प्रवासी भरत आया हुआ है, ऐसे भरत को देखकर प्रसन्नता पूर्वक स्वर्णासन से कैकेयी उछल पड़ी ॥ २ ॥ भरत ने कान्ति रहित अपनी माता के मकान में प्रवेश कर माता के शुभ चरणों को छूकर प्रणाम किया ॥ ३ ॥ यशस्वी भरत का आलिङ्गन कर तथा उनके सिर को सूंघ कर गोद में बैठाते हुए भरत से पूछने लगी ॥ ४ ॥ पूज्य पिताजी के मकान को छोड़े हुए आज तुम्हें कितनी रात्रियाँ बीतीं । रथ द्वारा शीघ्रतापूर्वक आने में मार्ग जनित थकावट तो नहीं अनुभव हो रही है ॥ ५ ॥ तुम्हारे नाना तथा युधाजित् तुम्हारे मामा कुशलपूर्वक तो हैं । हे पुत्र ! प्रवास से तुम्हें सुख आदि का क्या अनुभव हुआ, यह सब मुझसे कहो ॥६॥ माता के इन प्रिय प्रश्नों के पूछने पर कमलनेत्र राजपुत्र भरत ने माता से सब कुशल समाचार बताया

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः। आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥७॥
अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः। अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥८॥
यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः। परिश्रान्तं पथ्यभवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥९॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः। यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥१०॥
शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः। न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥११॥
राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने। तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥१२॥
पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः। आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥१३॥
तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद्घोरमप्रियम्। अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥१४॥
या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः। राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्शुचिः। पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥१६॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्। निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥१७॥
ततः शोकेन संविग्नः पितुर्मरणदुःखितः। विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥१८॥
एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा। शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥१९॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता। व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इव सागरः ॥२०॥
बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वार्तः परमपीडितः। प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतां वरः ॥२१॥

॥ ७ ॥ नानाजी का मकान छोड़े हुए आज मुझे यह सातवीं रात है। पूज्य आपके पिता मेरे नाना तथा युधाजित् मामा कुशल पूर्वक हैं ॥ ८ ॥ शत्रुतापी राजा नाना जी ने जो धन रत्नादि मुझे दिया था, वाहनों के थक जाने से उसे मार्ग में ही छोड़ कर मैं पहले चला आया ॥ ९ ॥ राजाज्ञाकारी दूतों के कहने से मैं शीघ्र यहाँ आ गया। अब मैं जो पूछना चाहता हूँ, माता जी ! उसे बताइये ॥ १० ॥ स्वर्ण भूषित यह आप का पलङ्ग सूना दिखाई दे रहा है। राजकीय भृत्यवर्ग प्रसन्न नहीं दिखाई दे रहे हैं ॥ ११ ॥ प्रायः पूज्य पिता जी इस माता के ही भवन में रहते हैं, यही समझ कर मैं उन्हें देखने के लिये यहाँ आया था, किन्तु आज उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ ॥ १२ ॥ मैं पिता जी के चरणों को छू कर प्रणाम करूँगा, मुझे पिता जी को बताइये। अथवा क्या पिता जी ज्येष्ठ माता कौसल्या के भवन में तो नहीं हैं ॥ १३ ॥ राज्यलोभ से मोहित होती हुई सब कुछ जानते हुए भी अनजान की तरह कैकेयी ने न जानने वाले भरत को अप्रिय समाचार को प्रिय रूप में बताया ॥ १४ ॥ जो गति सारे प्राणियों की होती है, तुम्हारे पूज्य पिता भी उसी गति को प्राप्त हुए। नाना प्रकार के यज्ञ करने वाले तेजस्वी राजा ने सज्जनों की गति पाई ॥ १५ ॥ कुलीन तथा धर्मात्मा भरत इस अप्रिय बात को सुन कर पितृशोक से अत्यन्त दुःखी होते हुए सहसा पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥ अहो ! मैं मारा गया, यह दीन शब्द उच्चारण करते हुए बलवान् भरत भुजाओं को फैला कर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १७ ॥ पिता के मरण से दुःखित तथा शोकातुर महातेजस्वी भरत उद्भ्रान्त चित्त होकर विलाप करने लगे ॥ १८ ॥ यह शोभनीय पिता जी का पलंग पहले इस प्रकार सुशोभित था जैसे वर्षा के पश्चात् रात्रि में चन्द्रमायुक्त आकाश शोभायुक्त होता है ॥ १९ ॥ जैसे चन्द्रमा के विना आकाश तथा सूखा हुआ सागर शोभा को नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार बुद्धिमान् पिता जी के विना यह पलंग भी आज सुशोभित नहीं हो रहा है ॥ २० ॥ विजेताओं में श्रेष्ठ भरत मूल्यवान् वस्त्र से अपने मुख को ढाँप कर अत्यन्त दुःखी होते हुए आंसुओं को छोड़ते हुए रुँधे कण्ठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥ वन में कुठार

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि । निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥२२॥
माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं भुवः । उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥२३॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः । त्वद्विधा न हि शोचन्ति सन्तः सदसि संमताः ॥२४॥
दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतिवचोऽनुगा । बुद्धिस्ते बुद्धिसंपन्न प्रभेवार्कस्य मन्दरे ॥२५॥
स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च । जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥२६॥
अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते । इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥२७॥
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम । पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥२८॥
अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते । धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२९॥
न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् । उपजिघ्रेद्धि मां मूर्ध्नि तातः संनम्य सत्वरम् ॥३०॥
क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः । येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥३१॥
यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः । तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥३२॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः । तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥३३॥
धर्मविद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः । आर्यः किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥३४॥
पश्चिमं साधु संदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः । इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥३५॥
रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च । स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥३६॥

से कटे हुए विशाल साल की डाल की तरह देवतुल्य दुःखी भरत को पृथ्वी पर गिरे देख कर ॥ २२ ॥ माता कैकेयी विशालकाय हाथी की तरह शोभा में सूर्य-चन्द्रमा के सदृश शोकार्त अपने पुत्र भरत को उठा कर यह वचन बोली—॥ २३ ॥ हे महायशस्वी राजकुमार ! उठो-उठो, क्या सो रहे हो । सर्वजन पूजित तुम्हारे समान व्यक्ति इस प्रकार शोक नहीं करते ॥ २४ ॥ हे बुद्धिमान् ! जिस प्रकार सूर्य-मण्डल में प्रभा रहती है, उसी प्रकार दान यज्ञाधिकार से तथा चरित्र-वेदाध्ययन-तप आदि शुभ कर्मों से तुम्हारी बुद्धि सम्पन्न है ॥ २५ ॥ रोते हुए चिरकाल पृथ्वी पर लोट कर अत्यन्त शोकाक्रान्त भरत अपनी माता से बोले ॥ २६ ॥ पिता जी रामचन्द्र का अभिषेक करेंगे अथवा वे स्वयं यज्ञ करेंगे, ऐसा संकल्प करते हुए प्रसन्न मैंने यह यात्रा की ॥ २७ ॥ किन्तु यहाँ तो मैं उलटा ही देख रहा हूँ । इस घटना से मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है जो कि आज प्रिय हितैषी पूज्य पिता जी को नहीं देख रहा हूँ ॥ २८ ॥ हे माता ! मेरे आने के पूर्व ही महाराज किस व्याधि से परलोक वासी हुए । राम आदि बन्धु सभी धन्य हैं जिन्होंने पिता जी का अन्त्येष्टि संस्कार किया ॥ २९ ॥ निश्चय ही कीर्तिमान् पूज्य पिता जी मुझे यहाँ आया हुआ नहीं जानते । अन्यथा मेरे मस्तक को झुका कर वे अवश्य सूँघते ॥ ३० ॥ सरल स्वभाव वाले पूज्य पिता जी का वह सुख स्पर्श हाथ आज कहाँ है, जो धूलि धूसरित मुझको अपने हाथों से झाड़ा करते थे ॥ ३१ ॥ जो मेरे भ्राता-पिता बन्धु हैं, जिनका मैं स्वतः दास हूँ, उन सरल स्वभाव वाले राम के विषय में कहो वे कहाँ हैं ॥ ३२ ॥ धर्मानुरागी पुरुषों के लिये ज्येष्ठ भ्राता ही पिता के समान होता है । उनके चरणों की वन्दना मैं करूँगा, इस समय वे ही मेरे अवलम्बन हैं ॥ ३३ ॥ हे माता ! धर्मज्ञ, धर्मात्मा, दृढ़व्रती, सत्यव्रतधारी पूज्य पिता जी ने अन्तिम समय क्या कहा ॥ ३४ ॥ अपने विषय में पिता का अन्तिम सन्देश मैं सुनना चाहता हूँ । भरत के इस प्रकार पूछने पर कैकेयी ने यथार्थ उत्तर दिया ॥ ३५ ॥ हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते ! इस प्रकार विलाप करते हुए बुद्धिमानों में श्रेष्ठ महात्मा तुम्हारे पिता परलोक वासी हुए ॥ ३६ ॥ बन्धन

इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव । कालधर्मपरिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥३७॥
सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह । लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥३८॥
तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् । विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥३९॥
क चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः । लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः ॥४०॥
तथा पृष्टा यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे । मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥४१॥
स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् । दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥४२॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया । स्वस्य वंशस्यमाहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥४३॥
कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् । कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥४४॥
कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते । कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥४५॥
अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् । तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥४६॥
एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना । उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी ॥४७॥
न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण धीमता । कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥४८॥
न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥

मया तु पुत्र श्रुत्वैवं रामस्यैवाभिषेचनम् । याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥४९॥
स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत्तथाकरोत् । रामश्च सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥५०॥

बन्धे हुए गजराज की तरह काल धर्म से विवश तुम्हारे पूज्य पिता ने अन्तिम समय ये बातें कहीं ॥ ३७ ॥ सीता के समेत पुनः आये हुए राम तथा विशाल भुजा वाले लक्ष्मण को जो लोग देखेंगे, वे ही सफल मनोरथ माने जायेंगे ॥ ३८ ॥ कैकेयी की इस दूसरी अप्रिय बात को सुन कर भरत को अत्यन्त खेद हुआ। दुःखी भरत ने पुनः अपनी माता से पूछा ॥ ३९ ॥ कौसल्यानन्दवर्धन राम अपने भाई लक्ष्मण तथा सीता के साथ इस समय कहाँ हैं ॥ ४० ॥ इस प्रकार भरत के यथावत् पूछने पर अप्रिय किन्तु उसको प्रिय समझती हुई भरत की माता कैकेयी ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ४१ ॥ हे पुत्र ! वल्कल चीरधारी वे रामचन्द्र, लक्ष्मण तथा सीता के साथ महा दण्डक वन में चले गये ॥ ४२ ॥ इस बात को सुनकर यशस्वी अपने भाई रामचन्द्र के चरित्र की आशङ्का से भरत डर गये। अपने वंश के माहात्म्य तथा कीर्ति को लक्ष्य में रख कर भरत पूछने लगे ॥ ४३ ॥ ब्राह्मण या अन्य किसी के धन का तो राम ने अपहरण नहीं किया ? निष्पाप किसी धनी या गरीब को तो रामचन्द्र ने नहीं मारा ? ॥ ४४ ॥ अथवा किसी परवधू का संसर्ग तो रामचन्द्र ने नहीं किया। मेरे भ्राता रामचन्द्र किस अपराध से दण्डक वन में निर्वासित किये गये ॥ ४५ ॥ चंचल स्वभाव वाली भरत की माता ने स्त्री-स्वभाव के नाते आद्योपान्त अपने कर्मों का वर्णन करना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥ महात्मा भरत के इस प्रकार पूछने पर अपने आपको व्यर्थ ही पण्डित मानने वाली कैकेयी प्रसन्न हो कर यह वचन बोली ॥ ४७ ॥ राम ने ब्राह्मण या किसी अन्य का धन अपहरण नहीं किया और न ही किसी धनी या दरिद्र का वध किया। राम ने किसी पराई स्त्री को कभी आँख उठा कर देखा भी नहीं ॥ ४८ ॥ रामचन्द्र के अभिषेक का समाचार जब मैंने सुना तो तुम्हारे पूज्य पिता से तुम्हारे लिये राज्य और राम के लिये वनवास की याचना की ॥ ४९ ॥ प्रतिबद्ध तुम्हारे पिता ने मेरी याचना को स्वीकार कर लिया तथा लक्ष्मण और सीता के साथ राम को वनवास दे दिया ॥ ५० ॥ महा यशस्वी पृथ्वी पति तुम्हारे पिता प्रिय पुत्र राम के वियोग को न सहन कर पुत्रशोक से अतिक्षीण परलोकवासी

तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः । पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥५१॥
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् । त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥५२॥
मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक । त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम् ॥५३॥
तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञैर्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्वमात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरतसन्तापो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

कैकेयीविगर्हणम्

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ । भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः । विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥
दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवादधाः । राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥
कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता । अङ्गारमुपगूह्य त्वां पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

हो गये ॥ ५१ ॥ हे धर्मात्मा भरत ! इस समय तुम राजपद को स्वीकार करो क्योंकि यह सब कुछ मैंने तुम्हारे लिये ही किया ॥ ५२ ॥ हे पुत्र ! तुम शोक सन्ताप को छोड़ कर धैर्य्य का आश्रय लो क्योंकि यह सम्पूर्ण नगरी तथा नेतृत्वहीन राज्य अब तुम्हारे अधीन है ॥ ५३ ॥ इसलिये हे पुत्र ! विधि विधान के जानने वाले वसिष्ठ आदि प्रमुख जो द्विज हैं उनके सहित अपने पिता का अन्तिम संस्कार कराओ तथा पृथ्वीपति पद पर अपना अभिषेचन कराओ ॥ ५४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरत का सन्ताप' विषयक बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

कैकेयी की निन्दा

पिता के सम्पूर्ण वृत्तान्त तथा भाईयों के विवासन की बात को सुन कर दुःख से संतप्त भरत यह वचन बोले ॥ १ ॥ पिता और पितृकल्प भाई रामचन्द्र से वियुक्त होकर जीवन हीन होते हुए मुझे इस राज्य से क्या प्रयोजन ? ॥ २ ॥ पूज्य पिता राजा की हत्या करके और तपस्वी रूप में राम को वनवासी बनाकर तुमने मुझको भयङ्कर दुःख दिया जैसे कोई कटे हुए व्रण पर नमक छिड़क दे ॥ ३ ॥ इस कुल का नाश करने के लिये ही कालरात्रि के समान तुम यहाँ आई हो । अनजान में मेरे पिता ने स्त्री रूप में साक्षात् अग्नि का वरण कर लिया ॥ ४ ॥ निकृष्ट विचार वाली तू ने मेरे पिता की मृत्यु कर दी तथा हे कुल नाशिनी !

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि । सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥ ५॥
त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः । तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६॥
विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः । कस्मात्प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७॥
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते । दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८॥
ननु त्वार्योऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम् । वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९॥
तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी । त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥१०॥
तस्याः पुत्रं कृतात्मानं चीरवल्कलवाससम् । प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥११॥
अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् । प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥१२॥
लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति । तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वया नीतो महानयम् ॥१३॥
अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ । केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥१४॥
तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महाबलः । अपाश्रितोऽभूद्धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥१५॥
सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्धृतम् । दम्यो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चौजसा ॥१६॥
अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा । सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम् ॥१७॥
न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् । यदि रामस्य नापेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा ॥१८॥

तुमने अज्ञान से इस कुल का सम्पूर्ण सुख वैभव नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥ तुम्हारे कारण ही सत्यव्रतधारी महायशस्वी मेरे पूज्य पिता राजा ने तीव्र दुःख से संतप्त होकर प्राण त्यागा है ॥ ६ ॥ धर्मात्मा पूज्य पिता जी महाराज को तुमने किस कारण मारा, भाई राम को तुमने क्यों वनवासी बनाया तथा वे किस निमित्त को ले कर वन में गये ॥ ७ ॥ पुत्र शोक से शोकातुर माता कौसल्या तथा सुमित्रा तुम्हारे सम्पर्क में रह कर यदि जीवें, तो उनके लिये यह अत्यन्त दुष्कर बात होगी ॥ ८ ॥ श्रेष्ठ भाई रामचन्द्र तुम्हारे प्रति सदा उत्तम ही व्यवहार करते रहे। बड़ों के पदचिह्नों पर चलने वाले उन्होंने तुम्हारे प्रति वही व्यवहार किया जैसे जन्मादायिनी माता के साथ किया जाता है ॥ ९ ॥ किसी कार्य के परिणाम को देखने वाली दूरदर्शिनी मेरी ज्येष्ठ माता कौसल्या धर्मानुकूल तुम्हारे प्रति सदा भगिनी का सा व्यवहार करती हैं ॥ १० ॥ उस सरल हृदया तपस्विनी कौसल्या माता के धर्मात्मा पुत्र रामचन्द्र को जटा वल्कलधारी अवस्था में वनवास में भेज कर हे पापिनि ! तुम्हें दुःख क्यों नहीं हो रहा है ॥ ११ ॥ अपने आश्रितों के अपराध पर न ध्यान देने वाले, उदार, यशस्वी तथा वीरबन्धु रामचन्द्र को वल्कल वसन अवस्था में प्रवास देकर तुमने अपना क्या लाभ समझा ॥ १२ ॥ भाई रामचन्द्र के प्रति मेरी उत्कट भक्ति को न समझ कर ही लोभाक्रष्ट तुम ने राज्य के लोभ में यह महान् अनर्थ कर डाला ॥ १३ ॥ नरकेशरी भाई राम और लक्ष्मण को विना देखे मैं किस के शक्ति प्रभाव से राज्य की रक्षा कर सकता हूँ ॥ १४ ॥ महान् ओज वाले बलवान् भाई रामचन्द्र का सहारा धर्मात्मा महाराज भी सदा इस प्रकार लिया करते थे जैसे मेरु पर्वत अपने झरनों से सहायता लेता है ॥ १५ ॥ महान् बलवान् के द्वारा उठाया हुआ राज्य रूपी यह भार अल्प शक्ति वाले बछड़े की तरह मैं किस ओज तथा पराक्रम से उठा सकूँगा ॥ १६ ॥ अथवा योग तथा बुद्धि बल से मुझ में राज्यशासन की शक्ति हो, तो भी अपने ही पुत्र के प्रति स्नेह करने वाली तुम्हारे मनोरथ को मैं पूर्ण न करूँगा ॥ १७ ॥ पापपूर्ण निश्चय करने वाली तुम्हारा मैं अवश्य त्याग कर देता, यदि भाई रामचन्द्र की भक्ति तुम्हारे प्रति माता के समान न होती। रामचन्द्र की मातृभक्ति के कारण ही मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर रहा हूँ ॥ १८ ॥ हमारे पूर्वजों ने जिस पथ की निन्दा की कि बड़ों के होते हुए छोटे को

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी । साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥१९॥
अस्मिन् कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते। अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥२०॥
न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे । गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥२१॥
सततं राजवृत्ते हि ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते । राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥२२॥
तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् । अत्र चारित्रशौण्डीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥
तवापि सुमहाभागा जनेन्द्राः कुलपूर्वगाः । बुद्धेर्मोहः कथमयं संभूतस्त्वयि गर्हितः ॥२४॥
न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये । यथा व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥२५॥
एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् । निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥२६॥
निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः । दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥२७॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकातुरश्चापि ननाद भूयः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे कैकेयीविगर्हणं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

राज्य भार नहीं देना चाहिये, ऐसी अवस्था में हे धर्मपथ से विचलित होने वाली माता ! पापपूर्ण यह बुद्धि तुम्हें कहाँ से उत्पन्न हुई ॥ १९ ॥ इस रघुवंश कुल में सबसे बड़ा भाई ही राज्य का अधिकारी होता है, शेष भाई उस बड़े भाई के आधीन ही सब काम करते हैं ॥ २० ॥ हे निर्दये ! तुम ने राजनीति धर्म का भी अवलोकन नहीं किया तथा शाश्वती शासन करने वाली राजाओं की धर्मगति को भी तुम नहीं जानती हो, ऐसा मैं समझ रहा हूँ ॥ २१ ॥ निरन्तर राजपुत्रों में ज्येष्ठ ही राज्य का अधिकारी होता है, यह राजाओं की सामान्य नीति है। किन्तु इक्ष्वाकुवंशी राजाओं में तो यह विशेष नियम है ॥ २२ ॥ जिन्होंने सदा कुल की धार्मिक मर्यादा की रक्षा की है तथा केवल धर्म की रक्षा में ही सदा तत्परता दिखलाई है, आज उन महापुरुषों के धवल चरित्र पर तुम्हारे इन घृणित कर्मों से महान् धक्का लगा है ॥ २३ ॥ धर्मात्मा राजर्षि अश्वपति कुल में उत्पन्न होने वाली तुम्हारे अन्दर यह गर्हित बुद्धिव्यामोह कैसे उत्पन्न हुआ ॥ २४ ॥ तुमने जिस प्रकार मेरे प्राणों को लेने वाली पापपूर्ण विपत्ति का आरम्भ किया है, हे पापनिश्चये ! मैं तुम्हारे इस मनोरथ को कभी पूर्ण न होने दूँगा ॥ २५ ॥ इस समय मैं तुम्हारे लिये यह अप्रिय कार्य रूप सर्व स्वजनप्रिय भाई रामचन्द्र को वन से लौटाऊँगा ॥ २६ ॥ भाई रामचन्द्र को लौटा कर उस महान् तेजस्वी का प्रसन्नता पूर्वक मैं दास बनूँगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार महात्मा भरत अप्रिय वाक्यों से अपनी माता को दुःखित करते हुए शोकार्दित अवस्था में इस प्रकार चिल्लाने लगे जैसे मन्दर गिरि कन्दराओं में सिंह गरजता है ॥ २८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कैकेयी की निन्दा' विषयक तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

कैकेय्याक्रोशः

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा । रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥
राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणी । परित्यक्ता च धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥
किं नु तेऽदूषयद्राजा रामो वा भृशधार्मिकः । ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥
भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् । कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥
यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा । सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥
त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः । अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥
मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके । न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः । दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥
न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः । राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥
यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः । वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

कैकेयी की भर्त्सना

इस प्रकार अपनी माता कैकेयी की निन्दा करके रोषाविष्ट भरत पुनः बोले ॥ १ ॥ हे निर्दयिनि! अमर्यादित व्यवहार करने वाली कैकेयी तुम राज्य से भ्रष्ट हो। तुमने धर्म को त्याग दिया है, इसलिये मृत पति के लिये तुम्हें रोने का अधिकार नहीं है ॥ २ ॥ राम ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था तथा धार्मिक महाराज ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था। एक को तुमने मृत्यु के हवाले किया, दूसरे को तुमने देश निकाला दिया ॥ ३ ॥ इस वंश के नाश करने से तुम्हें भ्रूणहत्या का पातक लगा है। हे कैकेयि! तुम नरक में जाओ। पति लोक की प्राप्ति तुम्हें न हो ॥ ४ ॥ इस घोर राक्षसी कर्म के द्वारा तुमने वह पाप किया है, जो सर्वजनप्रिय राम को वनवासी बनाया है। इन कर्मों से तुमने मेरे लिये भी भय तथा संकट को उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥ तुम्हारे द्वारा पूज्य पिता जी मृत्यु को प्राप्त हुए तथा भ्राता रामचन्द्र वनवासी हुए। इस प्राणि समुदाय में तुमने मेरे लिये अपयश का ही बीज बोया है ॥ ६ ॥ माता के रूप में शत्रु रूपा, दयारहिता, राज्य की इच्छा करने वाली तथा अमर्यादित काम करने वाली कैकेयि! अब मैं तुमसे बोलना नहीं चाहता ॥ ७ ॥ माता कौसल्या, सुमित्रा तथा अन्य भी जो मातृकल्पा राजपरिवार की देवियाँ हैं, उन सभी को, हे कुल के नाश करने वाली कैकेयि! तुमने महान् कष्ट दिया है ॥ ८ ॥ बुद्धिमान् धर्मात्मा अश्वपति की तुम कन्या नहीं हो। तुम उस कुल में कुल के नाश करने वाली राक्षसी पैदा हुई हो, क्योंकि तुमने सत्यव्रती वीरवन्धु राम को वनवासी बनाया और तुम्हारे कारण ही पूज्य पिता जी स्वर्गवासी हुए ॥ ९, १० ॥ जिस पापमय बीज को तुमने बोया है उसका फल मुझे तीन रूप में यह मिल रहा

यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विनाकृते । भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥११॥
कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये । कृत्वा कं प्राप्स्यसे त्वद्य लोकं निरयगामिनी ॥१२॥
किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम् । ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यातनुसंभवम् ॥१३॥
अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि जायते । तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥१४॥
अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसंमता । वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥१५॥
तावर्धदिवसे श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले । रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥१६॥
अधस्ताद्व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः । बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥१७॥
इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् । सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तां सुरेश्वरः ॥१८॥
निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् । आकाशे विष्ठितां दीनां रुदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥१९॥
तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् । इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥२०॥
भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् । कुतोऽनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥२१॥
एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता । प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥२२॥
शान्तं पापं न वः किंचित्कुतश्चिदमराधिप । अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥२३॥
एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ । अर्द्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण सुराधिप ॥२४॥
मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ । यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥२५॥

है कि मैं आज विना पिता का हो गया हूँ, भाईयों से वियुक्त हो गया हूँ और सम्पूर्ण लोक में आज अपयश का भाजन हो रहा हूँ ॥ ११ ॥ धर्मचारिणी माता कौसल्या को पति और पुत्र से वियुक्त करके हे नरकगामिनि कैकेयि ! तुम किस लोक में जाओगी ? ॥ १२ ॥ हे क्रूरकर्मा कैकेयि ! बन्धुओं के आश्रयदाता पिता के समान कौसल्यानन्दवर्धन जो मेरे ज्येष्ठ बन्धु रामचन्द्र हैं, उनको तुम नहीं जान सकी हो ॥ १३ ॥ पुत्र का अङ्ग-प्रत्यङ्ग माता के हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिये वह माता का अधिक स्नेहभाजन होता है। शेष बान्धव तो केवल प्रिय होते हैं ॥ १४ ॥ किसी समय धर्म के जानने वाली देवताओं से पूजित कामधेनु ने हल में जोते जाने वाले अपने दो दुःखी पुत्रों को देखा ॥ १५ ॥ मध्याह्न के समय हल में जोतने के कारण श्रान्त-क्लान्त अपने दो पुत्रों को देख कर पुत्रशोक से आँखों में आँसू भरे हुए वह रोने लगी ॥ १६ ॥ जिस समय सुरभि रो रही थी, उसी समय देवराज इन्द्र उस सुरभि के नीचे से प्रस्थान कर रहे थे। उस समय रोती हुई सुरभि के आँखों से कुछ सुगन्धित अश्रुविन्दु उनके शरीर पर गिर पड़े ॥१७॥ अपने शरीर पर दो बूंद सुगन्धित अश्रुबिन्दुओं के पड़ने से देवराज इन्द्र ने उसे श्रेष्ठ गन्ध वाली सुरभि समझा ॥ १८ ॥ इन्द्र ने जब आँख उठा कर देखा, अत्यन्त दुःख से दीन रोती हुई सुरभि उन्हें आकाश में दिखाई दी ॥१९॥ शोक सन्तप्त तथा यशस्विनी उस सुरभि को देख कर वज्रपाणि सुरराज इन्द्र उद्विग्न होते हुए हाथ जोड़ कर बोले ॥ २० ॥ हम लोगों पर कहीं से महान् संकट या भय तो नहीं आने वाला है। हे सर्वहितैषिणी ! बोलो, तुम्हारे शोक का क्या कारण है ॥ २१ ॥ बुद्धिमान् देवराज के ऐसा पूछने पर बोलने में चतुर धीर वृत्त वाली वह सुरभि गौ उनसे बोली ॥ २२ ॥ हे इन्द्र ! आप लोगों पर कहीं कोई भी संकट नहीं है। मैं तो महान् विपत्ति में पड़े अपने दो पुत्रों के प्रति शोक कर रही हूँ ॥ २३ ॥ इन दोनों बैलों को जो अत्यन्त दुर्बल, प्रखर सूर्य की किरणों से संतप्त, दुरात्मा कृषक द्वारा मारे जाते हुए [दीन पुत्रों को देख कर मैं रो रही हूँ] ॥ २४ ॥ ये दोनों मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हैं, भार से पीडित अत्यन्त दुःखी ही इनको देख मैं रो रही हूँ क्योंकि संसार में पुत्र से प्रिय और कोई नहीं होता ॥ २५ ॥ पृथ्वी पर जिसके हज़ारों पुत्र भरे पड़े हैं, वह सुरभि भी अपने पुत्र के लिये रो रही है, उसको देख कर

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् । तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान्मन्यते परम् ॥२६॥
सदाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया । श्रीमत्या गुणनित्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥२७॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् । किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥२८॥
एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता । तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥२९॥
अहं ह्यपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् । वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥३०॥
आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम् । स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥३१॥
न ह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् । शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥३२॥
सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान् विश । रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥३३॥
अहमप्यवनिं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे । कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥३४॥
इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशचोदितः । पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥३५॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा विधूतसर्वाभरणः परंतपः ।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे कैकेय्याक्रोशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इन्द्र ने यह समझा कि पुत्र से बढ़ कर संसार में अन्य कोई नहीं हैं ॥ २६ ॥ सबके प्रति उत्तम समान व्यवहार करने वाली, सबके मनोरथ को पूर्ण करने वाली, अपने गुणों में अद्वितीया वह सुरभि भी अपने स्वभाव के वशवर्ती है अर्थात् उसे भी सुख-मोह आदि के आधीन रहना पड़ता है ॥ २७ ॥ जिसके सहस्रों पुत्र विद्यमान हैं, वह सुरभि भी अपने दो पुत्रों के लिए शोक कर रही है । पुनः एक पुत्र वाली माता कौसल्या राम के विना कैसे जीवन धारण कर सकेंगी ॥ २८ ॥ सती साध्वी एक पुत्र वाली कौसल्या को जो तुमने पुत्र से रहित किया है, इसलिये हे कैकेयि ! इस लोक और परलोक दोनों में तुम दुःख पाओगी ॥ २९ ॥ अब मैं अपने भाई रामचन्द्र की पूजा तथा सेवा करूँगा और पिता के यश तथा कीर्ति को बढ़ाऊँगा, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ३० ॥ विशाल भुजा वाले महाबली कौसलेन्द्र रामचन्द्र को यहाँ अयोध्या में लाकर उपस्थित करूँगा और स्वयं मुनियों से सेवित वन में प्रवेश करूँगा ॥ ३१ ॥ हे पापमय संकल्प करने वाली पापिनी कैकेयि ! जो तुमने महान् घोर यह पाप किया है जिससे कि सम्पूर्ण नगरवासी आँखों में आँसू भरे हुए करुणा-दृष्टि से देख रहे हैं, इसकी मैं उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥ इसलिये अब तुम चाहे अग्नि में प्रवेश करो, चाहे दण्डक वन में प्रवेश करो अथवा गले में रस्सी बान्ध कर प्राणहत्या कर लो क्योंकि इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥ ३३ ॥ सत्य पराक्रमी भ्राता रामचन्द्र के राज्य प्राप्त कर लेने पर मैं सफल मनोरथ हो जाऊँगा तथा राम के निर्वासन के पाप का मार्जन कर सकूँगा ॥ ३४ ॥ इस प्रकार अंकुश तथा तोमर के प्रहार से पीडित वनवासी हाथी की तरह, सर्प के समान लम्बी-लम्बी साँस लेते हुए क्रोधाविष्ट भरत पछाड़ खा कर पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ३५ ॥ नेत्र जिसके लाल हो रहे हैं, सारे वस्त्र शिथिल हो गये हैं, सम्पूर्ण आभरण जिसके इधर-उधर गिर चुके हैं, शत्रुतापी राजकुमार भरत इस प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़े, जिस प्रकार महोत्सव के अन्त में महेन्द्र की ध्वजा गिर जाती है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कैकेयी की भर्त्सना' विषयक चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

भरतशपथः

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान्। नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्। राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः। विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ ३ ॥
वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः। विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत् ॥ ४ ॥
तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः। कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः। तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥
एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा। प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥
स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा। प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥
ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ। पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥
रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्या मनस्विनी। भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥१०॥
इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्। संप्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥११॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

भरत की शपथ

दीर्घ काल के पश्चात् बलवान् भरत होश में आकर उठे। आँखों में आँसू भरे हुए उस दुःखी माता-को जिसकी राज्यप्राप्ति की कामना नष्ट हो चुकी है उन्होंने देखा ॥ १ ॥ भरत ने मन्त्रिमण्डल के बीच में अपनी माता की निन्दा की। मैं राज्य की कामना नहीं करता और न इसके विषय में माता से कोई चर्चा ही की है ॥ २ ॥ पिता जी के द्वारा जो राज्याभिषेक की तैयारी की गई थी उसको भी मैं नहीं जानता क्योंकि उस समय मैं भाई शत्रुघ्न के साथ यहाँ से बहुत दूर था ॥ ३ ॥ यहाँ आने के पहले भाई राम के वनवास को भी मैं ने नहीं जाना और लक्ष्मण तथा सीता का भी जिस प्रकार निर्वासन हुआ उसे भी नहीं जानता ॥ ४ ॥ इस प्रकार से बोलते हुए महात्मा भरत के शब्दों को सुन कर महारानी कौसल्या सुमित्रा से बोलीं ॥ ५ ॥ क्रूरकर्मा कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है, उस दीर्घदर्शी भरत को मैं देखना चाहती हूँ ॥ ६ ॥ मुख की कान्ति जिसकी नष्ट हो गई है, दुर्बल शरीर वाली कौसल्या ने सुमित्रा से इस प्रकार कह, चेतना रहित काँपती हुई जहाँ पर भरत थे वहाँ के लिये प्रस्थान किया ॥ ७ ॥ उधर राजकुमार भरत ने भी उसी रास्ते से अपने भाई शत्रुघ्न के साथ कौसल्या के राजमहल को प्रस्थान किया ॥ ८ ॥ पश्चात् मार्ग में जाते हुए भरत और शत्रुघ्न कौसल्या माता को देख कर बहुत दुःखी हुए तथा दुःखार्त्ता, नष्ट चेतना वाली, पृथ्वी पर गिरी हुई कौसल्या माता का दोनों भाईयों ने आलिंगन किया ॥ ९ ॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाईयों को रोते हुए देख कर मनस्विनी तथा अत्यन्त दुःख वाली कौसल्या रोती हुई भरत से यह बोली ॥ १० ॥ राज्य की अभिलाषा करने वाले तुम्हें यह अकण्टक राज्य प्राप्त हो गया। दुःख है कि कैकेयी ने अत्यन्त क्रूर कर्मों के द्वारा इस राज्य को प्राप्त किया है ॥ ११ ॥ वल्कल वसन पहना कर मेरे पुत्र को

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् । कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥१२॥
क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति । हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥१३॥
अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् । अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥१४॥
कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि । यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥१५॥
इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् । हस्त्यश्वरथसंपूर्णं राज्यं निर्यातितं तया ॥१६॥
इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः संभर्त्सितोऽनघः । विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना ॥१७॥
पपात चरणौ तस्यास्तदा संभ्रान्तचेतनः । विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततः स्थितः ॥१८॥
एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा । कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥१९॥
आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम् । विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥२०॥
कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन । सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२१॥
प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु । हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२२॥
कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् । अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः॥२३॥
परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत् । ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२४॥
बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षतः प्रजाः । अधर्मो यस्तु सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२५॥

वनवासी बनाते हुए क्रूर कर्म करने वाली कैकेयी ने कौन-सा फल पाया ॥ १२ ॥ शीघ्र ही मुझे भी कैकेयी वहाँ भेज दे जहाँ ज्ञान-विज्ञानपूर्ण महायशस्वी मेरा पुत्र निवास कर रहा है ॥ १३ ॥ अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को साथ लेकर तथा अग्निहोत्र के सारे सामान ले कर सुख पूर्वक प्रस्थान करूँगी जहाँ राम निवास कर रहे हैं ॥ १४ ॥ अथवा तुम स्वयं चल कर मुझे वहाँ पहुँचा आओ जहाँ पर नरकेसरी मेरा पुत्र तप कर रहा है ॥ १५ ॥ हाथी, घोड़ा, रथ तथा धन धान्य से परिपूर्ण विशाल यह राज्य कैकेयी ने राजा से लेकर तुमको दिया है ॥ १६ ॥ इत्यादि अनेकों कठोर वाक्यों द्वारा कौसल्या ने भरत को फटकारा जिससे भरत व्रण में सूई भोंकने के समान दुःखी हुए ॥ १७ ॥ कौसल्या के इन कठोर वाक्यों को सुनकर उद्भ्रान्त चित्त भरत उनके चरणों पर गिर पड़े। बहुत प्रकार के विलाप करके वह मूर्छित हो गए। पश्चात् उनको होश आया ॥ १८ ॥ होश आने पर भरत हाथ जोड़ कर शोकाक्रान्त तथा नाना प्रकार से विलाप करती हुई कौसल्या से यह वचन बोले ॥ १९ ॥ हे आर्ये ! आप अनजान अवस्था में अपराध हीन मेरा क्यों इस प्रकार तिरस्कार कर रहीं हैं। रामचन्द्र में मेरा अगाध प्रेम है इस बात को आप जानती हैं ॥ २० ॥ सत्य व्रतधारी सत्पुरुषों में श्रेठ आर्य रामचन्द्र के वनगमन में जिसने परामर्श दिया है उस अभागे की बुद्धि कभी भी शास्त्रानुगामिनी न हो ॥ २१ ॥ पापी मनुष्य के दास होने का सूर्याभिमुख पेशाब करने का, सोई हुई गौ को पादप्रहार करने का जो पातक लगता है वह पातक उस भाग्यहीन व्यक्ति को लगे जिसक अनुमति से रामचन्द्र वन गए हैं ॥ २२ ॥ भृत्य से महान् काम करा कर उसको वृत्ति (मजदूरी) न देने वाले व्यक्ति को जो पाप लगता है वह पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी अनुमति से रामचन्द्र वन गए हैं ॥ २३ ॥ पुत्रवत् पालन करने वाले राजा के प्रति जो पापी विद्रोह करता है, उस विद्रोही को जो पाप लगता है वही पाप उस व्यक्ति को लगे जिसकी अनुमति से आर्य रामचन्द्र वन गए हैं ॥ २४ ॥ जो सम्राट् प्रजा से छठा भाग कर लेकर भी प्रजा की रक्षा न करे उस अन्यायी राजा को जो पाप लगता है वह पाप उसको लगे जिसके परामर्श से आर्य रामचन्द्र वन गए हैं ॥ २५ ॥ यज्ञ में तपस्वियों को दक्षिणा देने की

[पृ० १९ का शेष]

(३) सविता आदि में दिनमानों की कल्पना करना भी अवैज्ञानिक है—हम नित्य सन्ध्या करते समय अघमर्षण मन्त्रों में "अहो रात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतो वशी" (ऋ० १०।१९०।३) रात और दिन का बनाया जाना मानते हैं। "अदधु ज्योतिरहन्" (ऋ० १०।६८।११) में दिन के समय को प्रकाश को विशेष लक्षण से स्थिर करते हैं। "सविता ज्योतिरुदयां अजस्रम्" (ऋ० १०।१३९।१) में सविता = सूर्य निरन्तर तेज को ऊपर उठाता है। इसे अवैज्ञानिक कहें उनकी अपनी इच्छा।

(४) बारह दिन तक भ्रमण की कल्पना का निराकरण मिलता है—महर्षि दयानन्द जी की विचार-धारा वैदिक होते हुए भी प्रतिवादी जन नहीं मानते। "जीवलोके जीवभूतः सनातनः मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति-स्थानि कर्षति (गीता अ० १५।७) इस देह में यह जीवात्मा प्रकृति (माया) में स्थित मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है। फिर "उत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वा एतानि" (गीता १५।८) ईश्वर = देहाभिमानी जीवात्मा शरीर तजकर इन इन्द्रियों को लेकर निकलता है। क्योंकि यह जीवात्मा, श्रोत्रम् = कान, चक्षुः = नेत्र, स्पर्शनम् = त्वचा, रसनम् = रसना, घ्राणम् = नासिका और मनः = मन का अधिष्ठाता आश्रय लेकर विषयान् = विषयों को उपसेवते = भोगता है। (गीता १५।९)। यदि उक्त स्वामी जी टुक भी देखते तो सुश्रुत शरीर स्थान अ० २१।७ में—**ब्रह्म अहंकारस्येश्वरः मनसश् चन्द्रमाः दिशः श्रोत्रस्य त्वचो वायुः सूर्यश्चक्षुषोः रसनस्यापः पृथिवी घ्राणस्य वचसोऽग्निः हस्तयोरिन्द्रः पादयोर्विष्णुः पायोर्मित्रं प्रजापतिरुपस्थस्येति**—इन्द्रियों के विषय तथा देवताओं का वर्णन पढ़ते तो उनके निर्माण सामग्रियों को जान लेते। अहंकार का देव सविता, मन का चन्द्रमा, दिशः आकाश कान का, वायु त्वचा का, चक्षु का सूर्य, रसनेन्द्र का जल। प्राण, नासिका का पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु गुदा का मित्र, उपस्थ का प्रजापति अधिष्ठाता सम्बंधित है। कृतकर्मों के आधार पर लिंग शरीर (सूक्ष्म) का निर्माण संसृति समय में होना आवश्यक है। कर्म भेद से भिन्न-भिन्न व्यक्ति का लिंग शरीर असमान व भिन्न-भिन्न विध का होता है। कर्मों का भेद-भाव ही भोगों की भिन्नता का कारण है। यदि यह बात न होती तो सब कर्मियों के भोग एक से ही होते। वस्तुतः भोगायतन तो लिंग शरीर ही है। स्थूल देह तो भोगों के लिये आश्रय आधार मात्र ही है। सुश्रुत शरीर स्थान (अ० १।७) वाले पाठ का मूल मन्त्र—"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति-र्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता"—(यजुः अ० १४ मं० २०) है।

साधारणतः मानव की आयु सौ वर्ष वेद में है यथा—"शतं जीवन्तु शरदः" (ऋ० १०।१८।४) = जीव गण १०० वर्ष जीवें। इस जीवनकाल की अपेक्षा बारह दिनों तक जीवगण का संसृति अवस्था में भ्रमण वेदान्त ३।१।२३ "नातिचिरेण विशेषात्" के शब्दों में संकेत किया गया है।

(५) दूसरे शरीर में तुरन्त प्रविष्ट हो जाने का प्रतिपादन है—स इतः प्रयन्नेव पुनर्नीयते (ऐ० उ० ४।४) का अर्थ तो केवल यही है वह जीवात्मा चलते-चलते = भ्रमण करते-करते फिर ही ले जाया जाता है। इसमें "तुरन्त" का लेश भी नहीं। उक्त स्वामी जी अपने मन को प्रसन्न करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं। संसृति अवस्था में लिंग शरीर के पुनः निर्माण के लिये जहाँ-जहाँ जिस जीवात्मा का कर्मों के आधार पर हित-अहित होना होता है वहाँ-वहाँ पर जाता है। इसका प्रमाण ऋ० १०।१६।३ (सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः) में बताया गया है कि हे जीव! आँख सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करे। आत्मा प्राण। देह वायु को प्राप्त करे। धर्म = निज शक्ति कर्त्तव्य के आधार आकाश, पृथिवी या जल को प्राप्त कर यदि उनमें तेरा हित है तो तू शरीरों द्वारा ओषधियों = अन्नों पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर।

(६) ऋषि दयानन्द ने यजुः ३९।६ को अन्त्येष्टि में नहीं पढ़ा—ना सही। महर्षि ने यह उचित नहीं समझा। ऐसा न करने से मन्त्र के शब्द अर्थों में कोई फर्क नहीं आ जाता।

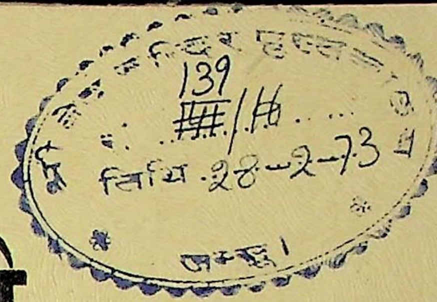
(७) गर्भ में पहुँच कर इन सविता आदि से १२ दिन की संगति का क्रम जानना उचित है—स्वामी ब्रह्ममुनि जी की यह प्रतिज्ञामात्र है। यदि कोई पाठ का उदाहरण देते तो विचार किया जाता।

(८) आयुर्वेदिक चरक शरीर स्थान ५।६ इनमें देवों से संगति होना गर्भ में कहा है—ऐसा पाठ कहीं नहीं मिलता। पाठ उद्धृत करते तो कुछ उसके सम्बंध में कहा जाता। हमने इसे चरक में देखा वहाँ ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती।

(९) सुश्रुत शरीरस्थान गर्भ प्रकरण में १२ मासों का वर्णन तो है कि कौन-कौन से मास में कौन-कौन सा अंग प्रत्यंग बनता है यथा—तत्र प्रथमे मासि कललं जायते ॥१७॥ द्वितीय शीतोष्णनिलैरभिप्रपच्य-मानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते यदि पिंडः पुमान् स्त्रीचेत्पेशी नपुंसकं चेदर्बुदमिति ॥ १८ ॥ तृतीये हस्तपादशिरसां पंचपिंडका निर्वर्तन्ते अंग-प्रत्यंग विभागश्च सूक्ष्मोभवति ॥ १९ ॥ चतुर्थे सर्वांग प्रत्यंग विभागः...... दौहृदिनीमाचक्षते ॥ २० ॥ पंचमे मनः...षष्ठेबुद्धिः। सप्तमे-सर्वांग प्रत्यंग विभागः प्रव्यक्ततरः ॥ ३३ ॥ अष्टमेऽस्थिरी भवत्योजः......दापयेत् ॥ ३४ ॥ नवमदशमैकादशद्वादशा-नामन्यतमस्मिन् जायते...विकारो भवति ॥ ३५ ॥ सुश्रुत शरीर स्थान अध्याय ३॥ यहाँ भ्रमण का कोई प्रकरण नहीं है। स्वामी ब्रह्ममुनि जी विचार करें॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३] [अङ्क ११



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

भाद्रपद २०१८ वि०, सितम्बर १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।=)
” ” विदेश में ६)
इस अङ्क का ॥)

वेद्वाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

[पृष्ठ २० का शेष]

पंजाबी सूबे की मांग के विरुद्ध स्वामी रामेश्वरानन्द जी ने देहली में अनशन प्रारम्भ कर दिया है। अमृतसर में योगिराज सूर्य देव ने भी पंजाब के और विभाजन के विरुद्ध अनशन कर रखा है। इन दोनों सज्जनों का कथन है कि वे तब तक अनशन समाप्त न करेंगे, जब तक प्रधान मन्त्री यह आश्वासन न दे दें कि पंजाब का और विभाजन न होगा।

रूसी अन्तरिक्ष यात्री ने पृथ्वी की १७ परिक्रमा कीं

रूसी अन्तरिक्ष यात्री मेजर गर्मन तितोव ने ६ अगस्त को अन्तरिक्ष यात्रा की। उन्हों ने २५ घण्टे १८ मिनट में १७ बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा की। इनकी उड़ान की ऊंचाई ११० से १६० मील तक रही तथा यान वोस्तोक द्वितीय, का वज़न ४॥ टन था। उन्हों ने प्रायः ४ लाख ३५ हजार मील की यात्रा की। रूस की सफलता पर विदेशों से उसे बधाइयां मिल रही हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना आर्थिक स्वावलम्बन की ओर प्रथम चरण

१ खरब १६ अरब रुपये के व्यय से पूर्ण होने वाली तृतीय पंचवर्षीय योजना का अन्तिम प्रतिवेदन संसद में ७ अगस्त को प्रस्तुत हुआ। तृतीय आयोजन आर्थिक स्वावलम्बन की ओर प्रथम चरण है। इसमें राष्ट्रीय आय में ३० प्रतिशत तथा प्रति व्यक्ति आय में १७ प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया है। योजना का उद्देश्य न केवल खाद्य की दृष्टि से देश को आत्मनिर्भर बनाना है, अपितु उसे निर्यात की स्थिति में ला देना है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक अस्वस्थ

वेदके प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक लगभग एक मास से उदर रोग 'ऐपैण्डिसाइटिस' से आक्रान्त हैं। इस समय वे गम्भीर रूप से पीड़ित हैं। अतः ग्रा[illegible] क्रियार्थ बम्बई चले गये हैं। बम्बई में वे बा० देवेन्द्र कुमार कपूर (द्वारा श्री गिरधारी लाल जी, पेपर मर्चेन्ट ६८।७१ सुतार चौल—बम्बई-२) के यहां निवास कर रहे हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि उन्हें शीघ्र स्वास्थ्य प्रदान करें

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, भाद्रपद सं० २०१८ वि०, सितम्बर १९६१ ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से

व्याख्याता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

चारों ओर शान्ति हो

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

यजु० ३६।१७॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

द्यौः शान्तिः [अस्तु]—हे सर्वदुःख को शान्त करनेवाले! सब लोकों के ऊपर जो आकाश [है] सो सर्वदा हम लोगों के लिये निरुपद्रव[1] [और] सुखकारक ही रहे।

अन्तरिक्ष ँ शान्तिः [अस्तु] पृथिवी शान्तिः [अस्तु], आपः शान्तिः [सन्तु] ओषधयः शान्तिः [सन्तु]—मध्यस्थ[2] लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ, जल, जलस्थ पदार्थ,[3] ओषधि, तत्रस्थ[4] गुण [आपकी कृपा से निरुपद्रव, सुखकारक, सदानुकूल [और] सुखकारक हों]।

अर्थबोधक टिप्पणी

१. निरुपद्रव = किसी प्रकार के कष्ट, विपत्ति, आपत्ति से रहित।
२. मध्यस्थ = सूर्य और पृथिवी के बीच का।
३. पदार्थ = गुण।
४. तत्रस्थ = उसमें रहने वाला।

वनस्पतयः शान्तिः [सन्तु] विश्वेदेवाः शान्तिः [सन्तु], ब्रह्म शान्तिः [अस्तु]—वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ, जगत् के सब विद्वान्, तथा विश्वद्योतक[5] वेदमन्त्र, इन्द्रिय सूर्य्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थ गुण, परमात्मा तथा वेदशास्त्र [आपकी कृपा से निरुपद्रव, सदानुकूल [और] सुखदायक हों]।

सर्वं ँ शान्तिः [अस्तु] शान्तिः एव शान्तिः [अस्तु]—हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत्–ये सब पदार्थ–आप की कृपा से हमारे लिये निरुपद्रव, सदानुकूल [और] सुखदायक हों।

सा मा शान्तिः एधि—मुझको वह शान्ति प्राप्त हो, जिससे आपकी कृपा से मैं भी शान्त--दुष्ट-क्रोधादि उपद्रव रहित होऊँ तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्ट-क्रोधादि उपद्रव रहित ही हों।

दण्डान्वय–टीका

द्यौः[6]	=सूर्य, सूर्य का प्रकाश, और वायु
शान्तिः[7] [अस्तु]	=दुःख दूर करे, तथा सुख देवे
अन्तरिक्षम्[8]	=विश्व का खुला स्थान
शान्तिः [अस्तु]	=दुःख दूर करने, सुख देनेमें सहायक हो
पृथिवी	=यह भूमि, तथा इस भूमि के भीतर ऊपर के सब पदार्थ
शान्तिः [अस्तु]	=कष्ट दूर करे, तथा सुख देवे
आपः	=जल
शान्तिः [सन्तु]	=दुःख दूर करे, सुख देने वाला हो
ओषधयः[9]	=यवादि अन्न, पके हुए फल, फूल तथा शाकादि
शान्तिः [सन्तु]	=दुःखनिवारक, सुखदाता हों
वनस्पतयः[10]	=वृक्षों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग,
शान्तिः [सन्तु]	=दुःख दूर करें, तथा सुख देवें
विश्वेदेवाः[11]	=छः ऋतुएं तथा अन्य देव नामधारी पदार्थ
शान्तिः [सन्तु]	=दुःख दूर करने वाले एवं सुख देने वाले हों
ब्रह्म[12]	=चन्द्रमा और अग्नि
शान्तिः [अस्तु]	=दुःख, कष्ट दूर करे तथा सुख देवे
सर्वम्[13]	=इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ
शान्तिः	=(समय २ पर) दुःख दूर करने तथा सुखप्राप्ति में सहायक हो
शान्तिः एव शान्तिः [अस्तु]	=दुःख, रोग, भय, कष्ट का नितान्त अभाव और सुख की सतत उपस्थिति ही बनी रहे
सा	=ऐसी उपर्युक्त विवृत
शान्तिः	='शान्ति'
मा(=माम्)	=मुझे, हम लोगों को
एधि	=प्राप्त हो

५. विश्वद्योतक=सब सत्य विद्या का ज्ञान देने वाला।

६. द्योतन्ते लोका अस्यां यया द्योतते वा सा द्यौः। अन्तरिक्षं वा। उ० २।६७।
Heaven: paradise: sky—आप्टे०।
द्यौरसि वायौ श्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। तै० ३।११।१।१०।
वायुरस्यन्तरिक्षे श्रितः। दिवः प्रतिष्ठा। तै० ३।११।१।९।
द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता। ऐ० ३।६॥ गो० उ० ३।२॥ प्रकाशयुक्तः पदार्थः। दया० (वेदभाष्ये)।

७. शान्तिरापः। श० १।२।२।११॥ शान्त्यै=सुखाय। दया० (यजु० ३।४३)॥ Pacification : Cessation of hostility : absence of passion : auspiciousness : Consolation —आप्टे०।

८. अन्तरेव वा इदमिति तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्। तां २०।१५॥ अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा। निरु० २।१०।

९. ओषः पाको धीयते अत्र इति ओषधिः। ओषद् धयन्तीति वौषत्येनाधयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा। निरु० ९।२७। ओषधयः यवादयः। दया० (यजु० १।२१)॥ व्यु० उष्=दाहे। भ्वा०। ओषधयः फलपाकान्ताः बहुपुष्पफलोपगाः। मनु० १।४६।

१०. वनस्पतिः वृक्षावयवः। दया० (यजु० ४।१०)।

११. ऋतवो वै विश्वेदेवाः। श० ७।१।१।४३॥ अनन्ताः विश्वेदेवाः। श० १४।६।१।११।

१२. चन्द्रमा वै ब्रह्म। ऐ० २।४१॥ ब्रह्म ह्यग्निः। श० १।५।१।११।

तत्त्वज्ञान के साधन

[ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

[३]

षट् सम्पत्ति

तीसरा साधन तत्त्वज्ञानी बनने का जो बतलाया गया है वही 'शम दमादि षट् सम्पत्ति' है।

ये छ साधन इस प्रकार के हैं, जिनका सम्पादन अनिवार्य है। प्रभु के दरबार में उपस्थित होने के लिये कुछ सम्पत्ति भी पल्ले चाहिये। कंगले, खाली हाथ, दरिद्रों का वहां प्रवेश नहीं हो सकता। क्या भगवान् के दरबार में भी पूँजीपतियों को ही जाने का अधिकार है? हां, वहाँ बिना सम्पत्ति के जाना वर्जित है। परन्तु वह सम्पत्ति सोने, चाँदी की ठीकरियों की नहीं, दूसरे प्रकार के धन दौलत, जमीन तथा राज्य वैभव की भी नहीं, अपितु इन को तो वहाँ कोई पूछता ही नहीं, इनका तो वहाँ कौड़ी भी मूल्य नहीं। हां, एक सम्पत्ति वहाँ अवश्य देखी जाती है और वह है—षट्-सम्पत्ति (१) शम (२) दम (३) उपरति (४) तितिक्षा (५) श्रद्धा और (६) समाधान का धन वहां काम आता है।

शम क्या है ?

मन का निग्रह=अपने अन्तःकरण को पाप की ओर न जाने देना। जाने लगे तो तत्काल रोकना, हर समय सावधान रहकर, मन को मन ही के द्वारा अधर्म से हटा कर धर्म में लगा देना। इस मनो-निग्रह के सम्बन्ध में पहले भी लिखा जा चुका है, अतएव यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह कहना अनिवार्य है कि संसार का सारा खेल इसी मन से है और संसार के सारे खेल की समाप्ति भी इसी मन से है। मन वश में हुआ तो सारा संसार वश में हुआ जानो। शंकर भगवान् का यह आदेश हृदय पटल पर लिख रखो :—"जितं जगत् केन ? मनो हि येन।" जगत् को किस ने जीता ? जिसने मन को जीत लिया। बस शम यही है।

दम क्या है ?

हमारी जो पाँच कर्मेन्द्रियां हैं, ये जब बाहर के विषयों की ओर जाती हैं, तो पता नहीं क्या क्या उपद्रव करने पर तय्यार कर देती हैं। इन नेत्र, श्रोत्र, नासिका इत्यादि इन्द्रियों की प्रेरणा से मेरी जिह्वा, मेरे हाथ, मेरे पांव इत्यादि जब बुरे कर्मों की ओर जाने लगें, तो उन्हें तत्काल रोक देना दम कहलाता है। भगवान् ने यह हाथ शुभ कर्म के लिये दिये हैं—किसी दुखिया की सेवा, किसी गिरे हुए को उठाना, किसी को भोजन, किसी को जल, किसी को दान देना, किसी को सन्मार्ग दिखलाना। इसी प्रकार पावों को कुसंगत, गंदे तमाशों में, चोरी, डाका में जाने से रोक कर सत्संग, सेवा, सहायता में ले जाना। मेरी आँख किसी की ओर कुदृष्टि से न देखे, मेरी जिह्वा कड़वा न बोले, असत्य न बोले, निन्दा की बात न करे, किसी बुरे व्यसन में मेरी कोई इन्द्रिय न फंसे।

इन्द्रियों का दमन करके जीवन को मधुमय बनाने के लिये वेद की यह मीठी बात सुनो :—

मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

(अथर्व० १।३४।३)

मेरा चालचलन मीठा हो, मेरा दूर होना मीठा हो, मैं वाणी से मीठा बोलता हूं—जिस से मैं मधुरता की मूर्ति बनूंगा। मेरी बाह्य तथा अन्दर की सारी इन्द्रियां माधुर्यमय बन जायें तभी 'दम' का भाव पूर्ण हो पायेगा।

उपरति क्या है ?

श्री शंकराचार्य जी ने इसके सम्बन्ध में यह कहा है कि अपने कर्तव्य का पालन करना उपरति है। स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है—'दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना उपरति है।'

मुक्ति चाहने वाला अपने कर्तव्य आत्म-दर्शन का पालन तभी कर सकता है, जब वह बुरे लोगों की संगत से दूर रहे। अतः इन दोनों तत्त्वदर्शियों के कथन में कोई भेद नज़र नहीं आता। यदि दुराचारियों, पाप कर्म करने वालों से बचा नहीं जायेगा, तो आत्मतत्त्व की ओर जाना कठिन हो जायेगा। ऐसी कुसंगति छोड़नी ही पड़ेगी। यह नहीं अपितु इन्द्रियों द्वारा बाह्य विचारों को भी अपने अन्दर स्थान नहीं देना होगा। केवल स्थूल रूप से ही नहीं, सूक्ष्म रूप से भी बाहर के विषयों से अपने आप को सर्वथा पृथक कर लेना होगा। अँग्रेजी में इस अवस्था को Self-alienation कहते हैं।

तितिक्षा क्या है ?

द्वन्द्व सहन करना, गर्मी, सर्दी इन दोनों को सहन करना तो शरीर की तितिक्षा है। और निन्दा, अपमान इत्यादि सहना मानसिक तितिक्षा है। कई बार ऐसा देखा गया है कि किसी व्यक्ति में सत्त्वगुण उभरा और उसने सब कुछ त्याग कर आत्म-दर्शन का मार्ग अपनाया, तो कितने ही लोग यह कहते सुने गये, पागल हो गया है यह। कोई कहने लगा—कायर है, रणक्षेत्र से भाग गया है। किसी ने यह आवाजा कसा कि 'पार्टियां लेने, जलूस निकलवाने और पूजा करवाने का शौक चढ़ा है'। जितने मुंह उतनी बातें सुनाई देने लगती हैं। परन्तु सच्चा साधक न निन्दा की, न स्तुति की, न मान-अपमान की, न हानि-लाभ की, किसी की भी परवाह नहीं करता। यही नहीं, अपितु दोषारोपण करने वालों के लिये वह मन में धन्यवाद देता है और उनका उपकार मानता है। और यदि अपने अन्दर कोई त्रुटि है, तो उसे दूर करता है। यदि त्रुटि नहीं, आरोप झूठा है तो उसे पूरी प्रसन्नता से सहन करता हुआ सब को सुबुद्धि प्राप्त हो, यही याचना करता है। यह तितिक्षा एक ऐसा अनमोल गुण है कि कितने ही साधक केवल तितिक्षा ही के बल से भगवान् के आशीर्वाद के पात्र बन गये। हाँ यह आवश्यक है कि साधक निन्दा से प्रसन्न चित्त रहे और स्तुति से फूले नहीं। अपितु मन को मर्यादा में रखे और निन्दा करने वालों या दोषारोपण करने वालों के लिये यही कहे :—

निन्दा हमारी जो करे, मित्र हमारा सोय।
साबुन लेवे गाँठ का, मैल हमारा धोय॥

अपने आत्मदर्शन के मार्ग पर चलता ही चला जाये। स्वामी रामतीर्थ एम. ए. को संसार से उपराम हुआ देख कर किसी ने कह दिया—पागल हो गया। राम कहने लगे—

इन्हीं बिगड़े दिमागों में, भरे अमृत के लच्छे हैं।
हमें पागल ही रहने दो, कि हम पागल ही अच्छे हैं॥

स्वामी दयानन्द जी ने तो मनुष्य उसे ही बतलाया है जो ऐसे द्वन्द्व सहन कर सके। 'चाहे दारुण दुःख भी प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जायें, तो भी अपने मनुष्यपन रूप धर्म से कभी पृथक् न हो।' स्वामी जी ने श्री भर्तृहरि जी का यह श्लोक लिख कर तितिक्षा धर्म की और भी पुष्टि कर दी:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थ—नीतिनिपुण पुरुष चाहे निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी आये और चाहे भले ही चली जाये, आज ही मरना हो, या युगान्तर में हो, पर धीर पुरुष न्याय्य मार्ग से एक पद नहीं हिलते।

जिसमें तितिक्षा नहीं, वह तो पग पग पर ठोकर खा जायेगा। यदि शरीर कच्चा है, भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, सहन नहीं कर सकता, तो वह न चाहता हुआ भी ऐसे लोगों की दासता में फंसा रहेगा, जो उसके शरीर के आराम के लिये हर प्रकार प्रबन्ध कर सकें। तब वह पाप पुण्य का भी ध्यान नहीं रख सकेगा और पतित हो जायेगा। इस मार्ग पर चलने वाले के लिये तितिक्षु होना अत्यन्त आवश्यक है।

श्रद्धा क्या है ?

श्रद्धा कहते हैं उस अटल विश्वास को, जो पूरे अनुसन्धान के पश्चात् किसी सत्य तत्त्व पर किया

जाता है। ऋषि दयानन्द ने इसकी यह व्याख्या की है:—"जो वेदादि सत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना है, वह श्रद्धा कहाती है।"

श्रद्धा की नय्या के बिना इस मार्ग की नदियाँ पार नहीं की जा सकतीं। वेद भगवान् तथा तदनुकूल सत्शास्त्र और वेद के विद्वान् गुरुओं के वचनों पर पूरी श्रद्धा होना अनिवार्य है। जब एक बार श्रद्धा करके चल पड़े, तो फिर तर्क वितर्क का कोई स्थान शेष नहीं रहता। तब तो श्रद्धा ही के बल पर आगे बढ़ना होता है। श्रद्धा के नाम पर अनाचार भी बहुत हुए हैं। कहा यह जाने लगा कि "श्रद्धा और भावना से सब कुछ प्राप्त हो जाता है।" इन शब्दों में तो निस्सन्देह कोई आपत्ति नहीं, परन्तु देखना यह चाहिये कि श्रद्धा और भावना कहां करनी है? श्रद्धा शब्द का तो भाव ही है— सत्य पर विश्वास। और भावना का भाव यह है कि जिस वस्तु में जो गुण हैं, उसमें उसी गुण के अनुसार भावना करना। यदि जड़ में चेतन की भावना कर ली जायेगी, तो वह जड़ प्रलय काल तक भी चेतन न हो सकेगा। यदि काग में हंस की भावना करके सामने दूध रख दिया जाये, तो दूध में काग की चोंच पड़ने से दूध तथा जल पृथक्-पृथक् नहीं हो सकेगा। इस प्रकार असत्य पर सत्य का विश्वास कर लेने से श्रद्धा नहीं होगी। कोरा वितण्डावाद भी किसी को श्रद्धा का माधुर्य चखने नहीं देगा। श्रद्धा करने से पूर्व भली प्रकार जाँच करलो कि किस पर, क्यों श्रद्धा की जा रही है? तत्पश्चात् उस श्रद्धा से हृदय, मन और मस्तिष्क भरपूर कर लो। अब श्रद्धा ही से वेड़ा पार होगा। ऋग्वेद में एक सूक्त ही श्रद्धा की महिमा का है, उसका अन्तिम मन्त्र यह है:—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

हम प्रातःकाल श्रद्धा का आवाहन करते हैं। मध्यदिन और सूर्य के अस्त समय में भी (श्रद्धा का आवाहन करते हैं)। हे श्रद्धे! हम सब को श्रद्धा से युक्त करो। इस सूक्त के पहले दो मन्त्र ये हैं:—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥१॥

श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्रद्धा से (हवि) हवन किया जाता है। ऐश्वर्य के शिखर (ऐश्वर्य का कारण) पर श्रद्धा को प्रशंसा के साथ मानते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥२॥

श्रद्धे! दान देनेवाले का प्रिय कर। श्रद्धे! देने की इच्छा करने वालों का प्रिय कर। (श्रद्धा के साथ) भोग और यज्ञ (त्याग) करने वाले का प्रिय कर। यह मेरा कार्य (उदित) कर, पूरा कर।

वेद का आदेश यह है कि श्रद्धा से किया हुआ हर काम सफल होता है। इसी सूक्त का चौथा मन्त्र आत्म-दर्शन के मार्ग पर चलने वालों को विशेष ध्यान देने योग्य है:—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥४॥

दिव्य यजमान श्रद्धा को प्राप्त होते हैं। प्राणायाम करने वाले (योगी) श्रद्धा से—उपासना करते हैं। हृदय के उच्च भाव से श्रद्धा प्राप्त होती है। श्रद्धा से वसु (दिव्य धन) प्राप्त होता है।

वेद ने श्रद्धा की इतनी महिमा गायन की है।

समाधान क्या है?

जब तक कोई भी शंका बनी है, जब तक सारे संशय निवृत्त नहीं हो जाते तब तक चित्त चिन्तन में लगा रहता है और यह विचित्र चित्रकार अन्दर बैठा ही नाना चित्र खैंच खैंच कर मन को उन्हीं चित्रों में लगाये रखता है। जब संशय मिट जाते हैं (छिद्यन्ते सर्वसंशयाः) और कोई शंका शेष नहीं रहती, तब चित्त का समाधान हो जाता है। इसकी तड़प समाप्त हो जाती है। भगवान् शंकराचार्य जी ने भी और भगवान् दयानन्द ने भी समाधान का प्रयोजन यह बतलाया है:—

'चित्तैकाग्रता'—चित्त को एकाग्रता—और चित्त तभी एकाग्र होगा, जब सारी शंकाओं का समाधान

हो जायेगा और सारे संशय निवृत्त हो जायेंगे। बार-बार संशय उठाते रहना और शंकाओं ही के सागर में गोते खाते रहना, चित्त को एकाग्र नहीं होने देता। यह संशय तथा शंकायें नाना प्रकार की कामनाओं ही से सामने आती हैं। इस प्रसंग में गीता के तीसरे अध्याय के अन्तिम आठ श्लोक बड़े महत्त्व के हैं। श्री कृष्ण भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुन को बतला रहे थे कि कौन लोग इन्द्रियों के पीछे नहीं भागते और कर्मों में आसक्त नहीं होते। तब कर्मवीर अर्जुन ने यह प्रश्न किया।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३।३६॥

फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए के सदृश, न चाहता हुआ भी किस से प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है?

बड़े महत्त्व का यह प्रश्न है और आजकल भी प्रायः यह प्रश्न कितने ही साधकों के सामने आ जाता है। इसका जो उत्तर कृष्ण भगवान् ने दिया है, वह सारे संशय मिटाकर चित्त का समाधान करने वाला है। सात श्लोकों में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि:—

"हे अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह ही महा अशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से न तृप्त होने वाला और बड़ा पापी है। इस विषय में इसको ही तू वैरी जान।

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है, तथा जैसे जेरे से गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है।

इस अग्नि सदृश न पूर्ण होने वाले कामरूपी, ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढका हुआ है।

तथा इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके वास स्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और जीवात्मा को मोहित करता है।

इसलिये हे अर्जुन! तू पहिले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी काम को निश्चय पूर्वक मार।

यदि तू समझे कि इन्द्रियों को रोक कर कामरूपी वैरी को मारने की मेरी शक्ति नहीं है, तो तेरी यह भूल है। क्योंकि इस शरीर से तो इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान्, सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियों से परे मन है, तथा मन से परे बुद्धि और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।

इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो! अपनी शक्ति को समझ कर इस दुर्जय कामरूपी शत्रु को मार।"

सारी प्रक्रिया "शत्रु काम" को मारने की कृष्ण भगवान् ने इन सात श्लोकों में समझा दी है और साथ ही यह भी आदेश दे दिया है कि तुम तो आत्मा हो। जो अत्यन्त सूक्ष्म तथा बलवान् है, तब तुम्हें बलात् किसी कुकर्म में कौन लगा सकता है। हाँ, 'काम' ही—यह नाना कामनायें ही, मनुष्य को कुमार्ग पर लगा देती हैं। इन कामनाओं का नाश कर दो। कामना रहित हो जाओ, तो चित्त एकाग्र ही है। समाधान हुआ ही पड़ा है।

जब शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये खजाने (कोष) साधक के पास एकत्र हो जाते हैं, तो वह षट्सम्पत्ति का स्वामी बन कर भगवान् के दरबार में जाने का अधिकारी बन जाता है।

वेदों का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

सनातनमेनमाहुः । (अथ०र्व १०।८।२३)

[ले०—श्री पं० चक्खनलाल जी एम० ए०—आगरा]

सनातन धर्म का अर्थ सनातन अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है। वेद में परमात्मा का नाम सनातन भी है। जैसा की निम्नलिखित मन्त्रों से प्रकट होता है।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णव।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

अथर्व० १०।८।२३॥

शब्दार्थ—इस परमात्मा को विद्वान् पुरुष सनातन कहते हैं और वह नित्य नया हो जाता है। (जिस प्रकार) दिन और रात्रि एक दूसरे के दो रूपों में से उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रकृति परिवर्तन शील होने के कारण दिन प्रति दिन नवीन दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार परमात्मा को भी मुमुक्षु जन, जितना अधिक ज्ञान सम्पादन करते जाते हैं, उतना ही अधिक नये नये स्वरूप में देखते हैं।

इस सनातन ब्रह्म की उपासना से क्या लाभ होता है, इसकी एक झाँकी इस मन्त्र में मिलती है—

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥

अथर्व० १०।८।२२॥

शब्दार्थ—(यः) जो पुरुष (उत्तरावन्तम्) अत्युत्तम गुण वाले (सनातनम्) सदा एक रस (देवम्) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की (उपासातै) उपासना करता है वह (भोग्यः) भोग्यशील (भवत्) होता है। (अथ) और (अन्नम् अदत्) जीवन के साधन अन्नादि पदार्थों को उपयोग में (बहु) बहुत प्राप्त करता है।

भावार्थ—जो महानुभाव, उस परम प्यारे सर्वगुणालंकृत सनातन परमात्मा की प्रेम से भक्ति करता है, वही भगवान् है, उसी को परमात्मा अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त कराता है। भोग्य पदार्थों के द्वारा ही ऐसा मनुष्य अपवर्ग को ओर अग्रसर होता है। वेद में परमात्मा जिन जिन गुणों के द्वारा पुकारा गया है, उन उन गुणों की मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। यही कारण है कि वेदेतर ग्रन्थों में ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का अधूरा, अस्पष्ट और विकृत रूप ही मिलता है। इसी लिये वैदिक धर्म सनातन धर्म है।

वर्तमान में जिस धर्म को सनातन धर्म कहा जाता है, वह सनातन धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें सनातन प्रभु की उपासना, प्रार्थना और स्तुति नहीं है।

वर्तमान सनातन धर्म मनुष्यकृत ईश्वरोपासना ही सिखलाता है। उसमें मनुष्यकृत ईश्वर पूजा है। मनुष्य से उत्पन्न अवतारों की मान्यता है, मिट्टी इत्यादि से बनी मूर्तियों को ईश्वर की संज्ञा दी गई है।

मानव द्वारा कल्पित ईश्वर वास्तविक ईश्वर नहीं हो सकता और इसीलिये ऐसे ईश्वर से उपासक को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

सनातन धर्म के अतिरिक्त अन्य मत भी मानव के मस्तिष्क की कल्पना मात्र हैं। किसी ने ईश्वर की स्थापना सातवें आसमान पर रक्खी है और किसी ने उसको चौथे आकाश पर स्थापित कर दिया है और कुछ मतावलम्बी यह दावा करते हैं कि मनुष्य ही उन्नति करते करते सर्वज्ञ ईश्वर हो जाता है। यदि मनुष्य ही उन्नति करते करते ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता हो, तो मनुष्य और ईश्वर में भेद नहीं रह जाता। सृष्टि में नियम और व्यवस्था को देख कर भी ऐसे लोगों को ज्ञान नहीं होता कि नियम बिना चेतन नियामक के स्थिर नहीं रह सकता। सारे विश्व का कर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता ईश्वर ही है।

वेद में ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन हुआ है, वह मानव की बुद्धि और कल्पना में कभी आ ही नहीं सकता।

वेद में परमात्मा के जिन जिन स्वरूपों का वर्णन किया गया है, उनका कुछ थोड़ा सा आभास ही दिया जा सकता है।

परमात्मा **'शास इत्था महानसि'**

अथर्व० १।२०।४॥

अर्थात् हे परमात्मन्! आप बड़े शासक हैं। परमात्मा पूर्ण है—

पूर्णात् पूर्णमुदचति। अथर्व० १०।८।२९ ॥

अर्थात् सर्वत्र पूर्ण परमात्मा से यह पूर्ण जगत् उदय होता है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० १३।४ ॥

परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है और उसी ने प्रकाश करने वाले सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हुये हैं।

'य आत्मदा बलदा' यजु० २५।१३ ॥

परमात्मा ही आत्मज्ञान का दाता और शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा है।

इस प्रकार मन्त्र मन्त्र में प्रभु के स्वरूप का कथन किया गया है।

प्रभु का यह स्वरूप मनुष्य की विस्तृत से विस्तृत कल्पना में नहीं आ सकता। इसीलिए वेद मानवकृति नहीं है। वह अपौरुषेय है। वही मनुष्य को ठीक ठीक परमात्मा, जीव और प्रकृति का ज्ञान देता है।

जैसा वेद ने कहा है—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व० १०।८।३३ ॥

शब्दार्थ—(अपूर्वेण) जिससे पूर्व कोई नहीं है, सबका मूल कारण जो परमात्मा है उससे (इषिताः) प्रेरित (वाचः) वेदवाणी हैं (ताः यथायथम् वदन्ति) वे यथार्थ बात को कहती हैं (वदन्ती) निरूपण करने वाली वेदवाणियाँ (यत्र गच्छन्ति) जो जो निरूपण करती हैं (तत् महत्) उस बड़े (ब्राह्मणम्) ब्रह्म का निरूपण करती है।

अर्थात् वेद परमात्मा की ओर से ऋषियों पर प्रगट हुए, ऋषि स्वयं वेदकर्त्ता नहीं। वेद ही मनुष्य को ठीक ठीक ज्ञान दे सकते हैं और उनमें मुख्यतः परमात्मा को प्राप्त करने के साधन बतलाये गये हैं।

मनुष्यों को इसलिए वेद उपदेश देते हैं कि मानवी वाणी को त्याग करके परमात्मा की वाणी के आधार पर अपना सारा व्यवहार चलाएं।

अप क्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥

अथर्व० ७।१०५।१ ॥

शब्दार्थः—हे विद्वान् पुरुष ! (पौरुषेयात्) पुरुष संबंधी वाणी से (अपक्रामन्) अलग हुआ (दैव्यम् वचः वृणानः) और परमेश्वर की वाणी को स्वीकार करता हुआ तू (विश्वेभिः सखिभिः सह) सब साथियों के साथ (प्रणीतीः) उत्तम नीतियों का (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से बर्ताव कर।

इस प्रकार वैदिक धर्म ही सनातन धर्म है। इससे भिन्न धर्म नहीं बल्कि सम्प्रदाय हैं, क्योंकि उनमें मनुष्यकृत ईश्वर की उपासना है। ऐसे ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना से मानव का कल्याण नहीं हो सकता। वेदोक्त धर्म द्वारा ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।

ऋ० १।१।३ ॥

अर्थात् परमात्मा की स्तुति से प्रतिदिन—उत्तरोत्तर—निरन्तर पुष्टिकारक ऐश्वर्य—भोग और मोक्ष—दोनों को स्तुति कर्त्ता जन प्राप्त करता है।

परम देशभक्त ऋषि दयानन्द

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। (स० प्र०)

वैदिक युग—धार्मिक जीवन

[ले०—श्री पं० जनमेजय जी विद्यालंकार, कानपुर]

[यह भाषण लखनऊ रेडियो से लेखक द्वारा प्रसारित हुआ, जिसके प्रकाशन की अनुमति अधिकारियों ने दी। ऐसे अच्छे विचार प्रसारित करने पर हम लेखक तथा रेडियो अधिकारियों को धन्यवाद देते हैं। पाठक इसे पढ़कर प्रसन्न होंगे।

— सम्पादक]

वैदिक युग बहुत ही प्राचीन युग है, इसलिए उस युग का हाल-चाल जानने के लिए सबसे अच्छा साधन हमारे पास स्वयं वेद ही है, इतनी पुरानी पुस्तक संसार में और कोई नहीं, जितनी वेद।

सीधा वेदों के स्वाध्याय से हमें पता लगता है कि उस युग में लोगों का जीवन बहुत ही सरल था। वह लोग धर्मात्मा थे और ईश्वर विश्वासी थे। उस समय के लोग केवल एक ईश्वर को मानते थे तथा उसे सर्वशक्तिमान् निराकार मानते थे। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का आठवाँ मन्त्र इस विषय में विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

ओ३म् स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम-
स्नाविर ँ् शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इसका अर्थ यह है कि "वह ईश्वर एक है, सर्वव्यापक है, कल्याणकारी है, उसके कोई शरीर नहीं है, जब उसके शरीर ही नहीं है तब कोई रोग फोड़ा, फुन्सी आदि उसे कैसे हो सकते हैं। उस ईश्वर में नस नाड़ी मांस हड्डी आदि भी नहीं हैं। वह बिलकुल शुद्ध है, पापरहित, क्रान्तदर्शी, विद्वान्, कवि, विचारशील, स्वयंभू, सर्वव्यापक है। उसके कोई माता-पिता आदि नहीं हैं। वह अनादि-काल से सृष्टि की उत्पत्ति पालन और विनाश यथावत् करता आया है।"

इसी विषय में अन्य भी दो वेदमन्त्र विशेष तौर पर ध्यान देने के योग्य हैं।

ओ३म् तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
ओ३म् इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
स दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद के इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यह है कि "वह एक ईश्वर ही अग्नि सूर्य वायु चन्द्रमा शुक्र ब्रह्म जल प्रजापति आदि नामों से पुकारा जाता है। उसी एक निराकार सर्वशक्तिमान् ईश्वर को विद्वान् लोग इन्द्र मित्र वरुण आदि अनेक नामों से स्मरण करते हैं।" इन मन्त्रों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक युग में लोग एकेश्वरवाद के विश्वासी थे। वह लोग ब्रह्मा विष्णु, महेश आदि किन्हीं भी देवताओं को उस एक निराकार ईश्वर से पृथक् कुछ नहीं मानते थे। वह लोग केवल एक उसी निराकार ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना किया करते थे और उसी ईश्वर को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते थे।

दूसरी धार्मिक बात, जो उस युग की एक विशेष बात थी, यह थी कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ, सब समान रूप से वेदों को पढ़ते थे। जन्म के कारण किसी प्रकार का कोई भेदभाव उनमें नहीं माना जाता था। वेद पर सबका समान अधिकार था। केवल अधिकार ही नहीं, वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब पुरुषों का और स्त्रियों का आवश्यक कर्तव्य था। इस विषय में यजुर्वेद का एक मन्त्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ओ३म् यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ्शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

इस वेदमन्त्र का अर्थ यह है कि "मैं परमेश्वर इस कल्याणकारी पुस्तक वेद को जिस प्रकार ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों के लिए प्रकट कर रहा हूँ उसी प्रकार शूद्रों के लिए भी तथा स्त्रियों के लिए भी तथा अतिशूद्र भृत्य आदि के लिए भी प्रकट कर रहा हूँ।" सो यही कारण है कि वेदों के मन्त्रों का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करने वाले जिन महात्माओं को उन-उन मन्त्रों का ऋषि कहा गया है और जिनके नाम वैदिक ऋषि के तौर पर अब भी वेदमन्त्र

से पहिले छपे हुए मिलते हैं। उनमें कई स्त्रियाँ भी हैं तथा कई वह लोग भी हैं जिनका जन्म नीच कहे जाने वाले कुलों में हुआ था। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि वैदिक काल में जन्म के कारण कोई उच्च या नीच नहीं समझा जाता था, सबको वेद पढ़ने तथा उन्नति करने की पूरी-पूरी सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त थीं।

तीसरी विशेषता उस युग के लोगों की यह थी कि वह लोग गोहत्या नहीं करते थे, गोमांस नहीं खाते थे, यज्ञों में पशुहिंसा नहीं होती थी, वह लोग शाकाहारी थे। वेदों में गाय के लिए "अघ्न्या" शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है, इसका अर्थ है "न मारने योग्य"। इसी प्रकार "अदिति" शब्द भी गाय के लिए बार बार लिखा गया है। इस शब्द का अर्थ "न काटने योग्य" है। यह दोनों शब्द ही मानो पुकार पुकार कह रहे हैं कि उस जमाने में गाय "न मारने योग्य" और "न काटने योग्य" समझी जाती थी। इसी प्रकार यज्ञ के लिए वेदों में "अध्वर" शब्द बार बार प्रयुक्त हुआ है, इस शब्द का अर्थ है "जहाँ हिंसा न की जाय"। यह कितने दुःख और आश्चर्य की बात है कि संस्कृत के इन प्रसिद्ध और मोटे मोटे शब्दों के अर्थों पर भी ध्यान न देकर कुछ लोगों ने वेदों में गोहत्या तथा गोमांस भक्षण का विधान सिद्ध करने का दुस्साहस कैसे किया और कैसे यह लिख दिया कि वैदिक काल में यज्ञों में पशुहत्या होती थी। इस विषय में ऋग्वेद का एक मन्त्र विशेष तौर पर उल्लेखनीय है।

ओ३म् माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा
गामनगामदितिं वधिष्ट॥

इसका अर्थ संक्षेप में यह है कि "गौ अत्यन्त उपयोगी और पवित्र पशु है, अमृत की प्राप्ति दूध के रूप में इसी पशु से होती है, गाय निर्दोष प्राणी है, इसे मत मारो।"

इसी प्रकार अथर्व वेद का एक मन्त्र है कि—

ओ३म् मुग्धा देवा उत शुना यजन्त
उत गौरङ्गैः पुरुधा यजन्त।

इसका अर्थ यह है कि "उस याज्ञिक को महामूर्ख समझना चाहिये जो कुत्ते से अथवा गौ से यज्ञ करता है।"

चतुर्थ विशेषता उस युग की यह थी, जैसा हम ऊपर लिख आये हैं कि वह लोग बहुत सरल स्वभाव के थे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे लोग राजनीति आदि कुटिल विषयों को समझते नहीं थे। बात यह है कि यदि सब जनता ही सरल हो जाये तो राजनीति में भी कुटिलता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वैदिक काल में राष्ट्ररक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों पर बहुत जोर दिया जाता था और वह उच्च सिद्धान्त ही उनकी राजनीति के आधार स्तम्भ थे। वेद का एक मन्त्र है कि—

ओ३म् सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

इसका अर्थ यह है कि "सत्य से, ज्ञान से, सत्य के लिए दृढ़ता से, मन्त्र से, प्रयत्न से, संगठन से, राष्ट्रों की रक्षा होती है।" केवल किसी एक राष्ट्र विशेष की ही नहीं, प्रत्युत पृथ्वी भर के राष्ट्रों की रक्षा इन्हीं वस्तुओं से हो सकती है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि भौतिक उन्नतियों की उपेक्षा यद्यपि वेद में कहीं भी नहीं की गई है, तथापि उस युग में मुख्य आवश्यकता सदाचार और आत्मिक उन्नति की ही समझी जाती थी। सत्य, सदाचार, आध्यात्मिकता आदि को ही सब उन्नतियों का, राजनैतिक उन्नति का भी, आधार माना जाता था।

प्राचीन आर्य धर्म, जो बाद में बहुत ही पेचीदा और आडम्बर पूर्ण बना दिया गया था और जिसके विरोध में महात्मा बुद्ध और महात्मा महावीर जैसे महापुरुषों को भी धार्मिक क्रान्ति करनी पड़ी थी, वस्तुतः वैदिक काल में बहुत ही शुद्ध और सरल था। आडम्बर रहित, सदाचार पूर्ण, सत्यपरायण, तथा सब प्राणीमात्र की भलाई के लिए था। जातपात की प्रथा उस युग में जरा भी नहीं थी। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा वेदाध्ययन आदि में सबका समान अधिकार था। ऊँच नीच की भावना वैदिक युग के लोगों में नहीं थी। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता थी, वे पुरुषों के समान ही समझी जाती थीं। जीवन के किसी भी क्षेत्र में वह पुरुषों की समानता कर सकती थीं। विवाह के मामले में भी उन्हें किसी प्रकार की परतन्त्रता न थी। वर तथा कन्या की सहमति हो जाने पर माता पिता भी सहर्ष उन्हें परस्पर विवाह करने की अनुमति दे देते थे। विवाह युवावस्था में ही हो सकता

था। बाल विवाह की प्रथा उस समय नहीं थी। जातपात का पचड़ा न होने के कारण वैदिक युग में युवक युवतियों को अपना जीवन संगी चुनने में बड़ी सुगमता थी और बहुत विशाल क्षेत्र में से वह अपना अभीष्ट चुनाव कर सकते थे। ससुराल जाने पर स्त्री को "सम्राज्ञी" अर्थात् महारानी कहा जाता था, और वहाँ उसका बहुत आदर सत्कार होता था।

वैदिक युग का धार्मिक जीवन ठीक ठीक समझने के लिए हमें उस समय की प्रार्थनाओं पर भी ध्यान देना चाहिए, अर्थात् वह लोग ईश्वर से क्या मांगते थे, यह भी देखना चाहिए। उन प्रार्थनाओं से ज्ञात हो सकता है कि उन लोगों की इच्छाएँ क्या थीं, उनके भाव कैसे थे, उनके अरमान क्या थे, उनके आदर्श क्या थे। गायत्री मन्त्र जो वेदों का एक प्रमुख मन्त्र माना जाता है वह भी एक प्रार्थना मन्त्र ही है।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इसका अर्थ यह है कि "हम लोग उस एक ईश्वर का ध्यान करते हैं जो प्राण स्वरूप, दुःख नाशक, सुख स्वरूप, सब संसारों को रचने वाला, सबसे अधिक प्रिय, सब उत्तम गुणों से परिपूर्ण है। ऐसा वह ईश्वर हम सब की बुद्धियों को प्रेरणा करे और हमारा मार्ग प्रदर्शन करे।" वैदिक युग की अन्य प्रार्थनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। इन प्रार्थनाओं के आधार पर निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक युग के लोग बहुत सुखी थे, बहुत प्रसन्न थे। वह एक ही ईश्वर के उपासक, उच्च विचार वाले, सदाचारी, उदार हृदय, सच्चे, सरल, निःस्वार्थ, और बहुत ही ऊँचे चरित्र के लोग थे।

[सधन्यवाद–अखिल भारतीय आकाशवाणी के सौजन्य से]

वैदिक धर्म में जीवन का लक्ष्य

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी, वेदवाचस्पति—आचार्य, गुरुकुल काङ्गड़ी]

आर्यसमाज जिस धर्म का प्रचार करता है उसमें मनुष्य का परम लक्ष्य (Sumum Bonum) "मोक्ष" माना गया है—वह लक्ष्य जिसे प्राप्त कर चुकने पर मनुष्य के लिये और कुछ करने-धरने को नहीं रहता, वह कृत-कृत्य और पूर्णकाम हो जाता है, उसके प्रकृति और तत्कारण शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ संसर्ग में आने का अन्तिम प्रयोजन चरितार्थ हो जाता है, और वह कल्पना में आ सकने वाले सभी कष्ट-क्लेशों से अलग हो कर विशुद्ध, दिव्य, निर्विकार आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। इस दिव्य स्थिति के अपवर्ग, ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मप्राप्ति आदि और भी अनेक नाम हैं। इस ऊँची स्थिति में पहुँचना ही वस्तुतः इस क्षणभंगुर जीवन का परम पुरुषार्थ है। यह बात वेद के—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
ऋ० १। १६४। ३९॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय
मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्व० १०। ८। ४४॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो
धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥
यजुः० ३८। ९॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य
तन्तुं विततं दृशे कम्।

यत्र देवा अमृमानशानाः
समाने योनावध्यैरयन्त ॥
अथर्व० २ । १ । ५ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ० १० । १२१ । २ ॥

युंजते मन उत युंजते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही
देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥
ऋ० ५ । ८१ । ५ ॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं
माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥
ऋ० ८ । ९८ । ११ ॥

नाम नाम्ना जोहवीति
पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्य-
मियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥
अथर्व० १० । ७ । ३१ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजुः० ३१ । १८ ॥

वायुरनिलमृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतं स्मर³ ॥
यजुः० ४० । १५ ॥

इन और इन जैसे अन्य अनेक मन्त्रों में सर्वथा असंदिग्ध रीति से बताई गई है । इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसका निचोड़ यह है कि "वह ब्रह्म हो अमृत की एक खान है, उसी को प्राप्त कर के हम अमृत को पा सकते हैं, उसी में हमें अपने मन और बुद्धियां लगानी चाहियें, उसका हमें प्रायः सब से पहले भजन करना चाहिये, मृत्यु-पर्यन्त उस ओंकार का स्मरण हमें करते रहना चाहिये, वही हमारी माता और वही हमारा पिता है, जिसने उसे नहीं जाना उसने वेद पढ़ के भी क्या लाभ लिया ? उसे पा कर ही हम मौत को तर सकते हैं और उसके भय से ऊपर उठ सकते हैं क्योंकि वह प्रकाशपुंज है, अकाम है, धीर है, स्वयंभू है, रस से पूर्ण है, सब कमियों से रहित है । उसी को प्राप्त करने में हमारी सारी शक्तियां लगनी चाहियें ।"

आत्मा पर प्रकृति का बन्धन

परन्तु मनुष्य तो प्रकृति से घिरा हुआ—उसमें बन्धा हुआ—पैदा होता है । इस भारी विश्व में जहां तक उसकी दृष्टि जा सकती है उसे प्रकृति ही प्रकृति का पसारा नजर आता है । दृष्टि ही क्यों, जहां तक उसकी बुद्धि पहुँच सकती है वहां तक, और विज्ञान बताता है कि उससे भी परे तक, प्रकृति का साम्राज्य है । मनुष्य को अपने जीवन-भर जिन चीजों से काम लेना है—जिन चीजों से उसका थोड़ा भी वास्ता पड़ता है—वे अधिकांश प्रकृति की बनी हैं । और तो और, स्वयं उसका अपना शरीर और इन्द्रियां भी—जिन्हें वह प्रायः "मैं" ही समझता है—प्रकृति की देन हैं, उसीका परिणाम हैं । इतनी बुरी तरह प्रकृति के दुर्ग में, जिसके बाहर दूर-दूर तक प्रकृति की सेनाओं का ही डेरा डला हुआ है, बन्द पड़ा पुरुष स्वतन्त्र कैसे हो सकता है—प्रकृति से ऊपर उठ कर ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मनिमग्नता की अवस्था में कैसे पहुँच सकता है ? उसे तो प्रकृति के बने इन शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इतना अधिक प्रपंच करना पड़ता है, जिस का कोई हिसाब नहीं । अपने शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे विवाहित हो कर घर बसाने पड़ते हैं, जमीनें साफ करके खेतियां करनी पड़ती हैं, भांति-भांति की चीजों का आविष्कार करके व्यापार चलाने पड़ते हैं, संगठित हो कर ग्राम और नगरों की नींव डालनी पड़ती है, सुव्यवस्थित राज्यों की रचना करनी पड़ती है, न्यायालय और पुलिस-विभाग स्थापित करने पड़ते हैं, स्थल, जल और वायु में संचार करने वाली सेनायें तैयार करनी पड़ती हैं । और सारे प्रपंच के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप और जो असंख्यात संस्थायें और वस्तुयें आविष्कृत करनी पड़ती हैं उनकी नामावली देने के लिये एक पूरे विश्वकोश की आवश्यकता पड़ेगी ? यह सारा प्रपंच बिलकुल व्यर्थ ही हो यह भी प्रतीत नहीं होता । इसके अभाव में मनुष्य शायद एक क्षण के लिये भी अपनी सत्ता को स्थिर न रख

सके। यदि वह किसी तरह अपनी सत्तामात्र स्थिर रख सकने में समर्थ भी हो जाये तो भी वह ऊँचे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। और ऊँचे ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार बिना वह आत्मा, परमात्मा प्रकृति और इन के भेद तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि दार्शनिक (Metaphysical) विषयों को समझने की भी शक्ति नहीं रख सकता, प्रकृति से ऊपर उठकर ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुँचना तो दूर की बात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रपंच से बच सकना मनुष्य के लिये असंभव है। परन्तु प्रकृति के बन्धन से बचे बिना ब्रह्मप्राप्ति की ऊंची स्थिति तक पहुँच सकना भी संभव प्रतीत नहीं होता।

प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय

हमारा वैदिक धर्म इस विरोध का सुन्दर समन्वय कर देता है। ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग पर चलने वाले पुरुष को प्रकृति के प्रपंच से जरा भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। तुम उत्तम-से-उत्तम घर बनाओ, बढ़िया-से-बढ़िया ढंग से कृषि करो, विभिन्न प्रकार के शिल्प और कलाओं का आविष्कार कर के भांति-भांति के व्यापार करो, सुन्दर-ग्राम और नगर बसाओ, उत्तम-से-उत्तम सुव्यवस्थित राज्यों की स्थापना करो। इन बातों से तुम्हारे ब्रह्म-प्राप्ति के रास्ते में रुकावट नहीं पड़ेगी, अगर तुमने सिर्फ एक बात का ध्यान रखा और वह एक बात है संसार का कोई भी काम करते हुए प्रभु की सत्ता को अपनी मानसिक दृष्टि से ओझल न होने देना। मेरा प्रभु न्यायशील है, परोपकारी है, दयालु है, पक्षपात रहित है, ऋतम्भर है, सत्यशील है, किसी को अपने लिये कष्ट नहीं देता (अहिंसक) है, परम बली है, तपोमय है, ज्ञान का भंडार है, महान् है, सब प्रकार के विकारों से रहित है, उसमें क्रोध नहीं, काम नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, भय नहीं, शोक नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं। वह प्रभु इन गुणों वाला होकर ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड को चला रहा है। मैं भी अपने प्रभु के इन गुणों वाला बन कर ही अपने संसार के कामों को सम्पन्न करूंगा। इस दृष्टि को लेकर मनुष्य प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाली ऊंची से ऊंची उन्नतियां कर सकता है। उन से उसके परम लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में बाधा नहीं आती। प्रत्युत इस दृष्टि वाले व्यक्ति के लिये ये प्राकृतिक उन्नतियां—

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

यजु० ३३।३१॥

वेद के इन अपने ही शब्दों में प्रभु की शक्ति के चमत्कारों का रहस्य खोलने वाली बन कर, ब्रह्मसाक्षात्कार में परम्परया सहायक होती हैं। ऐसी दृष्टि वाला पुरुष संसार में पग-पग पर उस प्रभु की ओर इशारा करने वाली आश्चर्यमय रचनाओं का दर्शन करता है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य
आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

यजु० १३।४६॥

अर्थात् वरुण आदि प्राकृतिक शक्तियां उस परम देव को दर्शाती हैं जो सर्वत्र व्याप्त है। और इस दृष्टि से संसार में चलने का अन्तिम परिणाम यह होता है कि शनैः शनैः हमारे अन्दर से वे सारी तुच्छ भावनायें, जिनके कारण हमारे आत्म-दर्पण पर प्रभु के प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ने पाता था और हम खाली प्रकृति के ही भार से दबे रहते थे, दूर हो जाती हैं। प्रभु का प्रकाश हमें अधिकाधिक प्राप्त होने लगता है। हमारे आत्मा की उज्ज्वलता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। और हमें यह भान होने लगता है कि यह प्रकृति जिसे हम इतना अधिक महत्त्व दे रहे थे, हमारे आत्मा और उससे भी बढ़ कर परमात्मा की तुलना में कुछ भी उज्ज्वलता, कुछ भी रमणीयता और कुछ भी आकर्षण नहीं रखती, और इसमें जो कुछ रमणीयता है भी वह इसके साथ आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध रहने से ही है। इस भान का परिणाम यह होता है कि मनुष्य समझने लगता है कि प्राकृतिक संसार मेरा साध्य नहीं केवल साधन है—अन्तिम ठिकाना नहीं केवल बीच का पड़ाव है। वह वेद के शब्दों में समझने लगता है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

यजु० ३५।१४॥

अर्थात् मेरा ध्येय तो इन पहाड़ों में से होते हुए सब के अभिसरणीय उत्तम ज्योति उस प्रभु के पास पहुँचना है।

अन्त में एक दिन वह भी आ जाता है जब उसे प्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुता प्राप्त हो जाती है और वह उसके बन्धन को जब चाहे तोड़ सकता है। इस अवस्था में पहुँच कर उसके लिए अपने प्रभु से एक क्षण के लिये भी अलग रहना असह्य हो जाता है। इस लिये वह प्रकृति के आवरण को परे फेंक कर दिव्य आनन्द के उस महा-समुद्र में डुबकी लगाने के लिये कूद पड़ता है।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ लिखा गया है उसकी सत्यता में जिसने वेद का साधारण सा भी स्वाध्याय किया है उसे सन्देह नहीं रह सकता।

विद्वानों के विचारार्थ—

वेदों में प्रहेलिकाएं

[ले०—श्री डा० शंकरदयाल जी चौऋषि, एम. ए., पी. एच. डी., नरसिंहपुर म. प्र.]

विगत कतिपय वर्षों से देश-विदेश में, लोक-साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर व्यापक अनुसंधान एवं अनुशीलन कार्य हो रहा है। इसी शोध कार्य के संदर्भ में, मेरा ध्यान भी प्रहेलिकाओं (बुझौवल, पहेलियों) की ओर आकर्षित हुआ है। वस्तुतः प्रहेलिकाएँ लोक-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, जिस पर अध्यापक होने के कारण, मेरा ध्यान स्वभावतः गया और लोक-जीवन की शिक्षा के साधन के रूप में मुझे अज्ञात प्राचीनतम काल से व्यवहृत प्रहेलिकाओं की महत्ता ज्ञात हुई।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रहेलिकाएँ विपुल मात्रा में उपलब्ध होती हैं। किसी भी संस्कृत के सुभाषित रत्न संग्रह में विशिष्ट प्रतिनिधि साहित्य के रूप में प्रहेलिकाओं को भी संग्रहीत देख सकते हैं। दूसरी ओर हमें यह आश्चर्य भी अवश्य होता है कि संस्कृत के कई बड़े-बड़े दिग्गज आचार्यों एवं काव्यशास्त्रियों ने प्रहेलिओं को सत् साहित्य की कोटि में प्रतिष्ठित नहीं किया है, परञ्च शाब्दिक चमत्कार या उक्तिवैचित्र्य हेतु एवं रस-विरोधी मानकर उसकी उपेक्षा की है। यथा—

रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥
[साहित्यदर्पण]

इसी प्रकार 'काव्यादर्श' के रचयिता आचार्य दण्डी का मत भी यहाँ द्रष्टव्य है—

क्रीडागोष्ठिविनोदेषु तज्जैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥

अतएव यह एक ओर स्पष्टतः प्रतिपादित है कि प्रहेलिका रस-पुष्ट श्रेष्ठ काव्य न होकर क्रीडा-विनोद के लिए प्रस्तुत हेय काव्य है और दूसरी ओर प्राचीन लौकिक संस्कृत साहित्य में ही नहीं, विश्व के प्राचीनतम अपौरुषेय साहित्य वेदों में असंख्य प्रहेलिकाएँ उपलब्ध होती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'ग्रामसाहित्य' भाग—३ में, ऋग्वेद को "पहेलियों का वेद" कहा है तथा पं० रामनाथ वेदालंकार गुरुकुल कांगड़ी, भी शब्दान्तर से स्वीकार करते हैं कि "वेद का प्रत्येक मंत्र ही पहेली है, पर स्पष्ट पहेली प्रतीत होनेवाले मंत्र भी वेदों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। अश्विन्, वायु, मरुत् आदि देवों के वर्णन प लियाँ ही हैं, जिन्हें कई प्रकार से बूझा जा सकता है। इसी कारण से मंत्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक अर्थ करने की परिपाटी प्राचीनकाल से प्रचलित है।"

लोकसाहित्य जिसे कि दुर्भाग्य से शिष्ट साहित्य के विपरीत माना जाता है, अपना मूल स्रोत वेदों से रखता है और प्रेरणा ग्रहण करता है। अतः लोक-साहित्य के प्रति सामान्यतः, एवं पहेलियों की ओर विशेषतः संस्कृत के महान् काव्यकारों की यह मान्यता असंगत ही नहीं विचित्र भी लगती है। साथ ही साधारण से क्रीड़ा-विनोद के इस साहित्य को वेदों में जो गरिमा प्राप्त हुई है उसका क्या कारण है। यह प्रश्न स्वयं एक पहेली बन गया है। सम्पूर्ण जीवन को उसके प्रत्येक दृष्टिकोण से परखने वाले इस वैदिक साहित्य में प्रहेलिकाओं (पहेलियों) की इस विपुलता के साथ उपलब्धि क्यों की गई है ? क्या सामान्य, बोधगम्य भाषा और शैली वेदों के उद्देश्य, महत्ता एवं

गरिमा के अनुकूल नहीं थे ? क्योंकर वेदों के असंख्य मंत्र प्रहेलिकात्मक प्रस्तुत किये गये हैं ? वेदों के मन्तव्य तथा उद्देश्यों के साथ इन प्रहेलिकाओं की संगति कैसे उचित है ? वैदिक प्रहेलिकाओं को ब्रह्मोद्य भी कहा गया है, जिनका कि सम्बन्ध मुख्यतः यज्ञादि अनुष्ठानों से है। इन्हें भी इस प्रकार से रहस्यात्मक भाषा शैली में क्यों प्रस्तुत किया गया है ? वस्तुतः वैदिक प्रहेलिकाओं के इस प्रकार कौन-कौन से विशिष्ट प्रयोजन तथा रूप उपलब्ध हुए हैं और सन्त परम्परा से उनका कहाँ तक सम्बन्ध माना जा सकता है ?

मध्यकालीन नाथ तथा सिद्धों की परम्परा में उल्टी वाणी, उलटवासियाँ, संधाभाषा इत्यादि में जो प्रहेलिकात्मकता उपलब्ध होती है, वह वैदिक प्रहेलिकाओं—ब्रह्मोद्य आदि से भिन्न होते हुए भी, क्या उनसे प्रभावित मानी जा सकती है ? इस प्रकार के कई प्रश्न वैदिक प्रहेलिकाओं का अध्ययन करते समय स्वभावतः उपस्थित होते हैं। मैं वेद के आधिकारिक विद्वानों के सप्रमाण विचारों को इन प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए सादर आमंत्रित करता हूँ।

वैदिक विज्ञान के अनुसन्धान की आवश्यकता

[*ले०—श्री पं० वीरसेन जी वेदश्रमी—इन्दौर*]

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"—यदि यह सत्य है तो इस बात की भी नितान्त आवश्यकता है कि वेद में से उन सब सत्य विद्याओं को या उनमें से कतिपय सत्य विद्याओं को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया जावे, उन विद्याओं से संसार को लाभान्वित किया जावे और उन विद्याओं को व्यवहारोपयोगी बना कर विश्व के जीवन के इतने निकट स्थापित कर दिया जावे कि मानव मात्र वेद को अपना सके और अपने ज्ञान एवं प्रेरणा के स्रोत के लिये उसे अंगीकार कर ले।

"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका आदिमूल परमेश्वर है"—यदि यह सत्य है तो हम वेद की विद्या और उसको व्यवहारोपयोगी बनाकर मानव-मात्र को आदिमूल परमेश्वर के निकट लाने का प्रयत्न करेंगे। वह निःसन्देह चतुर्विध फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने वाला होगा। अतः यह सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न हमें अवश्य करना चाहिये।

क्या वर्त्तमान वैज्ञानिक युग में वेद की विद्या और विज्ञान उपयोगी हो सकेंगे ? क्या उनके द्वारा कोई ऐसे भी कार्य किये जा सकते हैं जिससे उनका प्रभाव आज के मानव के हृदय पटल पर पड़ सके ? क्या वेद के विज्ञान के उपयोग से ऐसे भी कार्य हो सकते हैं जिनको वर्त्तमान विज्ञान अभी तक नहीं कर सका है ? यदि इसका उत्तर हाँ में दिया जा सकता है तो उसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिये और उसके लिए सर्व-प्रकार का सहयोग देना चाहिये।

वेद के विज्ञान के अनुसन्धान कार्य के लिए हमें अपने जीवन को अर्पण करना होगा और अपने बल एवं धन को भी इसी वेद के लिए अर्पण करना होगा। वेद ब्रह्म है, वेद ब्रह्म का परम पवित्र ज्ञान है, वेद परमात्मा की परम पवित्र वाणी है। वेद ज्योति है, परम ज्योति है। वेद का पठन पाठन, श्रवण एवं श्रावण, उसमें ज्ञान एवं कर्म की समाधि परम धर्म है। उस परम धर्म की साधना से हमें अनेक विद्या एवं विज्ञानों की प्राप्ति हो सकेगी और उससे विश्व को लाभान्वित किया जा सकता है।

वेद के स्वाध्याय के आधार पर तथा अब तक के अपने प्रयत्नों के आधार पर अनेक कार्यों को हम अपने अनुसन्धान का क्षेत्र बनाकर विश्व को आशातीत सफलता के क्षेत्र में प्रवेश करा सकते हैं और इस वैदिक विज्ञान के द्वारा विश्व को हम वेद के अति निकट भी स्थापित कर सकेंगे। यदि वैदिक विज्ञान की सफलता से हम विश्व को लाभान्वित कर सकेंगे तो वेद शिक्षा के क्षेत्र में और विज्ञान के क्षेत्र में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान विश्व में ग्रहण कर सकेगा।

वेद विद्या एवं विज्ञान से पूर्ण हैं और उस विद्या एवं विज्ञान की सबसे उत्कृष्ट प्रयोगशाला—यज्ञवेदि—यह मानव देह ही है। जब इस देहरूपी प्रयोगशाला से विश्व में

[शेष टा० पृ० ३]

वा० सं० वि० के उपकुलपति डा० मङ्गलदेव शास्त्री का काशी के विशिष्ट विद्वानों और विशिष्ट नागरिकों द्वारा अभिनन्दन समारोह

२० अगस्त १९६१ रविवार सायङ्काल ५ बजे गीता मन्दिर में श्री एच. एन. भगवती, उपकुलपति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, की अध्यक्षता में डा० मङ्गलदेव शास्त्री एम. ए. डी. फिल् (ऑक्सन) उपकुलपति वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, का अभिनन्दन समारोह बड़े उत्साहपूर्वक मनाया गया; जिसमें काशीस्थ संस्कृत महाविद्यालयों, संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं व्यापारिक संस्थानों तथा विभिन्न संस्थाओं के गण्य-मान्य विद्वानों, छात्रों एवं प्रतिष्ठित नागरिकों की काफी संख्या में उपस्थिति थी; जिनमें श्री महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० सभापति उपाध्याय, पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, पं० ओंकार नाथ ठाकुर, आहिताग्नि पं० रटाटे जी, डा० प्रेमलता शर्मा, पं० सीताराम झा ज्योतिषाचार्य, पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं० राजनारायण शास्त्री, राजा प्रियानन्द प्रसाद सिंह, श्री चन्द्रभाल, डा० दीवान गोकुलचन्द कपूर, श्री विश्वनाथ शर्मा, पं० कुबेरनाथ शुक्ल (प्रस्तोता), पं० धारादत्त शास्त्री, पं० शुकदेव झा, पं० पूर्णचन्द्र ज्योतिषाचार्य, पं० ताराशङ्कर वैद्य, पं० निरीक्षण पति मिश्र, श्री कृष्णमोहन ठाकुर, पं० कुबेरनाथ सुकुल, पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, पं० पूर्णचन्द्राचार्य, पं० उग्रानन्द झा, महन्तजी श्री विश्वनाथ मन्दिर, श्री देवीराम एडवोकेट, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, पं० वेणीराम वेदाचार्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि तोरण तथा माला आदि से सुसज्जित गीता मन्दिर के विशाल भवन में आयोजन था, तथापि उपस्थिति अधिक होने के कारण स्थान की न्यूनता का अनुभव सब को हो रहा था। डा० शास्त्री के सभामण्डप में पधारने के समय उपस्थित छात्र मण्डल ने "विजयताम् विजयताम् सुरभारती" के आघोष से स्वागत किया, जिससे सभामण्डप गूँज उठा।

प्रारम्भ में श्री पं० अनन्तशास्त्री फड़के तथा पं० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री ने माल्यप्रदान किया। तदनन्तर काशी के वेदों के विशिष्ट विद्वान् श्री रटाटे शास्त्री ने वैदिक मङ्गलोचारण एवं श्री सर्वेश्वर शास्त्री ने श्लोकात्मक मङ्गलोचारण किया।

तत्पश्चात् काशीस्थ ६० से भी अधिक संस्थाओं की ओर से माल्यार्पण किया गया। जिनमें से—विरला संस्कृत महाविद्यालय, गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, संस्कृत महाविद्यालय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), संन्यासी सं० महाविद्यालय, रणवीर सं० महावि०, मारवाड़ी सं० वि०, नित्यानन्द वेदविद्यालय, श्यामा सं० महावि०, हरदेवदास गोयनका सं० महावि०, चिदानन्द वि०, स्याद्वाद सं० महावि०, टीकमणि सं० महा० अखिल भारतवर्षीय भारतधर्म महामण्डल, श्री प्रभुदत्त वेदविद्यालय, गुर्जर छात्र सहायक समिति, गुर्जर हाई स्कूल, स्वामी नारायण मन्दिर, वाराणसेय सं० विश्वविद्यालय, शास्त्रार्थ महावि०, आर्यसमाज काशी, आर्यवीर दल, वाराणसेय संस्कृत छात्र सङ्घ, सरस्वती भवन, साहित्य परिषद्, काशी नागरिक मण्डल, गीता प्रचार मन्दिर, अर्जुन आयुर्वेद वि०, गुरु नानक सं० विद्यालय आदि उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं एवं अध्यापकों द्वारा माल्यापर्ण किया गया।

पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री का भाषण।

हिन्दू विश्वविद्यालय के सुयोग्य संस्कृत अध्यापक मीमांसा के विद्वान् श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ने डा० शास्त्री का अभिनन्दन करते हुए कहा कि ये सौजन्य और आर्जव के प्रतीक हैं। इस प्रकार का सौजन्य और आर्जव अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। आपने आज से १३ वर्ष पूर्व भूतपूर्व राजकीय सं० कालेज के प्रिंसिपल रहते हुए जो कार्य किया वह महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र, म० म० चिन्न स्वामी, श्री गोस्वामी दामोदर लाल जी, म० म० प्रमथनाथ भट्टाचार्य, विद्यावयोवृद्ध पं० सभापति शर्मोपाध्याय आदि महाविद्वानों की सम्मति एवं सहयोग से किया। आज भी ये विशिष्ट विद्वानों के सहयोग एवं सम्मति से ही कार्य करते हुये प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करना चाहते हैं।

ये ज्ञान का प्रसार, नवीन विषयों का प्रचार एवं प्राचीन अर्वाचीन दोनों शैलियों का विशिष्ट सम्मिश्रण अच्छे प्रकार से कर सकते हैं क्योंकि ये उभयविध ज्ञाता हैं।

आपने आगे कहा कि अपने जीवन में इन्होंने वेदों के ऊपर गहरा अनुसन्धान किया है। अत एव वेदों के ऊपर वैदेशिकों के प्रहारों का खंडन एवं भारतीय संस्कृति के प्रचार का कार्य निरन्तर करते चले आ रहे हैं। यदि इनके द्वारा पूर्ण सहयोग संस्कृत विश्वविद्यालय को प्राप्त होता रहा तो यह विश्वविद्यालय संसार के सामने आदर्श होगा। डाक्टर शास्त्री ने इस अवस्था में भी अदम्य दक्षता, निरालस्यता विद्यमान है। इनमें संस्कृत के प्रति विशेषकर वेदों के प्रति अनुराग एवं योग्यता है। ये भारतीय दृष्टि का अवलम्बन कर वैदिक अनुसन्धान करवा सकते हैं। अतः ये इस संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पद के पूर्णतः अधिकारी हैं। अन्त में—भगवान् से प्रार्थना करते हुये आपने कहा कि भगवान् इन्हें चिरस्वस्थ कर उपकुलपति पद पर स्थायित्व प्रदान करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

इस वैदिक ऋचा का मार्मिक भाष्य प्रकट करते हुये बताया कि अग्रणी = डा० शास्त्री विश्वविद्यालय के मुख्याधिकारी होने के नाते अग्रणी, सुपथा = नवीन एवं प्राचीन मार्गों के समन्वयात्मक मध्य मार्ग का अनुसरण करते हुये जो इस विश्वविद्यालय की उन्नति के प्रतिबन्धक हों उन्हें दूर करें।

पं० सत्यनारायण शास्त्री का सन्देश

इसके पश्चात् पद्मभूषण कविराज पं० सत्यनारायण शास्त्री के सुपुत्र श्री डा० कालिका चरण पांडेय, अध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, ने अपने पूज्य पितृचरण की अस्वस्थता के कारण उनका सन्देश पढ़ा जिसमें कविराज जी ने नवनिर्मित श्लोकात्मक आशीर्वाद प्रदान करते हुते डाक्टर शास्त्री की अतीत सेवाओं की प्रशंसा की।

नागरिकों द्वारा अभिनन्दन

नागरिकों की ओर से डा० शास्त्री का स्वागत करते हुये काशी के सुप्रतिष्ठित प्रमुख नागरिक श्री डा० दीवान गोकुल चन्द ने दोनों उपकुलपतियों के समक्ष मार्मिक निवेदन प्रस्तुत करते हुये कहा—

जर्मनी आदि में वेदों के विषय का कार्य हो रहा है। प्रथम महायुद्ध में बड़े-बड़े जर्मनी के अनुसन्धानात्मक कार्यों का श्रेय वेदों एवं रामायणादि ग्रन्थों को है। महर्षि भारद्वाज ने 'यंत्रसर्वस्व' में एवं नागार्जुन ने पारद पर अपने विश्लेषण लिखे हैं। उनको कहते हुये आपने बुभुक्षित पारद के सम्बन्ध में बतलाया।

आगे आपने कहा कि इस सं० विश्वविद्यालय से हम आशा करते हैं कि यह विज्ञान पर वेदों के द्वारा अन्वेषण करावेगा। वायुयान का वर्णन यजुर्वेद में बहुत प्रकार से मिलता है, पर अभी केवल दो ही को जान सके हैं, उनका भी चोटी के विद्वानों एवं वैज्ञानिकों को लेकर नवीन विज्ञान में शोध कार्य प्रस्तुत करेगा।

उपसंहार में आपने विविध व्यापारिक संस्थानों के प्रधान की हैसियत से, भगवान् से डा० शास्त्री के स्वास्थ्य एवं चिरायु की कामना करते हुए, आशा व्यक्त की कि डॉ० शास्त्री द्वारा विश्वविद्यालय की उन्नति होगी और इसके द्वारा देश को लाभ पहुँचेगा।

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का भाषण

इसके बाद व्याख्यानवाचस्पति, काशी के प्रमुख विद्वान्, विद्यावयोवृद्ध महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने आशीर्वादात्मक भाषण में कहा कि डॉ० शास्त्री को उपकुलपति पद प्राप्त होना हम सब विद्वानों के परम सौभाग्य का विषय है। आजकल वर्तमान युग में प्राचीनता की रक्षा के साथ साथ नवीनता का भी अनुसरण करना चाहिये।

आपने विद्वानों से निवेदन किया कि आजकल भारतीय संस्कृति, दर्शन एवं विज्ञान पर खंडनात्मक सैकड़ों ग्रन्थ बन रहे हैं पर उनका प्रत्युत्तर नहीं दिया जाता। इस प्रकार के प्रौढ़िवाद को लेकर घर में ही बैठे रहना उपयुक्त नहीं। विरोधियों के प्रश्न का समुचित उत्तर देने की नितान्त आवश्यकता है। आपने कहा कि मेरे विचार में पाश्चात्य विज्ञानों के साथ पौरस्त्य विज्ञानों का भी समावेश होना चाहिये।

आपने भूतपूर्व वाइस चांसलरों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि प्रथम उपकुलपति आदित्यनाथ

झा महोदय केवल विश्वविद्यालय के बाह्य निर्माण में तत्पर रहे। संस्था के आन्तरिक शैक्षणिक संगठन का कार्य न कर पाये।' दूसरे उपकुलपति महोदय प्रो० सुब्रह्मण्य अय्यर भी अपने अल्प समय एवं अस्वस्थता के कारण अपने उदात्त विचारों को कार्य रूप में परिवर्त्तित न कर सके। परन्तु तृतीय उपकुलपति डॉ० शास्त्री काशी एवं संस्कृत जगत् की सब प्रकार की परिस्थियों से पूर्ण परिचित हैं। अतः ये इन सबको वर्तमान ढांचों में ढालने के लिए उपयुक्त हैं। पूर्वानुभव एवं पूर्ण विद्वत्ता के कारण संचालन में सफल होंगे। इन्हें नये अनुभव की आवश्यकता नहीं। प्राचीनता की रक्षा करते हुए नवीनता का समावेश कर सकने के कारण इस पद पर इनका अभिषिक्त होना सौभाग्य की बात है यह सरकार की दूरदर्शिता का परिचायक है। एकदेशिता की कड़ी आलोचना करते हुये आपने कहा कि हमारी एकदेशिता ने प्राचीन ग्रन्थों का लोप कर दिया। कविता युग एवं अवच्छेदक युग आया। उस समय केवल इनका ही प्राधान्य रहा। वह धीरे धीरे समाप्त हो गया। परिष्कार युग भी समाप्त है। इस वर्तमान युग में इस एकदेशिता का अवलम्बन करने से संस्कृत एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार नहीं हो सकता। अतएव खुले वातावरण में उदार मस्तिष्क से परिष्कारों का अन्वेषण, प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार, संस्कृति की रक्षा, नवीन विषयों का समावेश इस विश्वविद्यालय को अवश्य करना चाहिये।

आपने बताया कि मुझसे डा० शास्त्री ने कहा कि मैं तो साहित्यक्षेत्र से विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र में घसीट लिया गया हूं। पर संस्कृत के उद्धार की दृष्टि से उन्हें यह उपकुलपतित्व का कार्य करना ही चाहिये।

यह भारत वैज्ञानिक सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित था, यह संसार को आज बतला देना है।

अंत में आपने भगवान् से उपकुलपति के स्वास्थ्य, चिरायुष्य एवं स्थिर वाइस चांसलर बने रहने की कामना की।

अभिनन्दन पत्र भेंट

तदनन्तर श्री पं० गौरीनाथ पाठक साहित्याचार्य ने डा० मंगलदेव शास्त्री के अब तक के जीवन पर प्रकाश डालते हुये मानपत्र समर्पित किया।

पं० सभापति उपाध्याय का भाषण

काशीस्थ विरला सं० महा० के प्रधानाचार्य विद्यावयोवृद्ध पं० श्री सभापति शर्मोपाध्याय ने भूतपूर्व मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द की लगन व परिश्रम का उल्लेख व प्रशंसा करते हुये सं० विश्वविद्यालय के द्वारा सुरभारती और भारतीय संस्कृति के उन्नयन की आशा व्यक्त की। आपने कहा कि डा० मंगलदेव शास्त्री संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र की सभी समस्याओं से सुपरिचित हैं और अपने दीर्घ अनुभव से सफलता पूर्वक उनका समाधान कर सकेंगे। हमारे विचार में वर्तमान सरकार द्वारा उनकी नियुकि सर्वथा उपयुक्त हुई।

डा० मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा आभार प्रकाशन

अभिनन्दन का उत्तर देते हुये डा० मंगलदेव शास्त्री ने कहा कि मैं आज अपने जीवन का सबसे अधिक सौभाग्यशाली दिन मानता हूँ। संस्कृत भाषा का सबसे पूज्य स्थान काशी है। यहाँ के विद्वानों के मुख से आशीर्वादों को सुनकर मैं अपने को सौभाग्यान्वित मानता हूँ।

काशी से मेरा प्राचीन सम्बन्ध रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि काशी से मेरा जन्म जन्मान्तर से सम्बन्ध रहा है। कारण जीवन में काशी से बाहर जाने के कई अवसर आये फिर भी घूम-फिर कर यहीं चला आया। मैं सबसे पहले १९०९ में विद्याध्ययनार्थ यहाँ आया। उन दिनों मैं नंगे पाँव गलियों में घूमता हुआ गुरुओं से विद्याध्ययन करता रहा।

प्रारम्भ से ही मैं समझता था कि मेरा जीवन यज्ञमय है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—**पुरुषो वाव यज्ञः।** मनुष्य स्वयं यज्ञस्वरूप है। यथा यज्ञ में तीन सवन होते हैं–प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन एवं सायंसवन। इसी प्रकार मनुष्य जीवन में भी तीन सवन हैं। प्रातः सवन चौबीस वर्ष का, मध्यन्दिन सवन ४४ वर्ष का, सायं सवन ४८ वर्ष का। जिसे जीवन में उन्नति की अभिलाषा हो उसे अपने को यज्ञस्वरूप जानना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण ने कहा है—जो यज्ञ को करता है वह व्रती होता है, इसी प्रकार प्रातः सवन में मनुष्य को बाह्य एवं आभ्यन्तर बुराईयों को दूर करना चाहिये, मध्यन्दिन सवन के ४४ वर्ष में उसी व्रत को कार्य रूप में परिणत करते हुए सतत प्रयत्न से पूरा करना चाहिये, सायं सवन में मनुष्य यह समझने लगता है कि मेरी नाव किनारे पर लग रही है, इसमें बड़ी सावधानी से चलना चाहिये।

ऐतरेय ब्राह्मण के निर्माता महिदास ऐतरेय की आयु

११६ वर्ष की हुई, उन्होंने भी अपने जीवन को इन्हीं तीन सवनों में विभाजित कर परम पद प्राप्त किया।

मेरे इधर के जीवन में शास्त्रीय चिन्तन करते हुए जो भावात्मक विचार आते रहे, वे रश्मिमाला एवं अमृतमन्थन में स्वविरचित पद्य रूप में संग्रहीत हैं।

आपने कहा कि मुझे १९५० के लगभग एक बार भारतीय संविधान के अनुवाद के प्रसंग में पूना के पास वाई श्रेवा में रहते हुए एक दिन प्रातः काल जो विचार आये, पद्यात्मक भाषा में वे ये हैं—

इदं श्रेयो न वा श्रेय इत्यान्दोलनदोलितः।
नियन्तुर्जगतां पत्युरालम्बनमहं श्रये॥
अद्य यावज्जगत्यस्मिन् स्वेच्छया जीवनं गतं।
भविष्येऽभिलषामीशो भूयान्मे मार्गदर्शकः॥
तस्या देव्या महाशक्तेर्हस्त आत्मानमादधे।
ब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्तं यया संचाल्यते जगत्॥

यह मार्ग अच्छा है या नहीं इन विचारों में आन्दोलित होता हुआ मैं जगत् के पालक एवं नियामक भगवान् का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

आज तक मैंने इस जीवन में स्वेच्छा से जीवन यात्रा की परन्तु अब मैं भविष्य में यह चाहता हूँ कि मेरा पथ प्रदर्शक ईश्वर हो।

अब मैं अपने जीवन को उस महा शक्तिशाली देवी के हाथों में सौंपता हूँ, जो कि ब्रह्माण्ड से लेकर तृण पर्यन्त सभी चराचर जगत् का नियमन करती है।

मेरे गत १३ वर्ष के जीवन का कार्यक्रम बड़ा अच्छा था। इस शान्तिमय जीवन से अकस्मात् मुझे प्रशासकीय कार्य को हाथ में लेना पड़ा। मुझे स्वप्न में इस बात की कल्पना न थी। मैं शिलाङ्ग में था जब मुझे वाइस चांसलर बनने की महामान्य राज्यपाल द्वारा खबर मिली। फिर भी १२ वर्ष के छोड़े हुए कार्य को आप सब महानुभावों के सहयोग एवं सहायता से पूर्ण निर्वाह कर सकूंगा, ऐसी मुझे आशा है।

यह संस्कृत भाषा अति प्राचीन है। हमारे विद्वान् अपना परम कर्तव्य समझते हुए अद्भुत अलौकिक तपस्या एवं त्याग के आधार पर इसकी आज तक रक्षा करते चले आ रहे हैं। सारे विश्व में ऐसा उदाहरण और कहीं उपलब्ध नहीं है।

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

आपने संप्रति संस्कृत विद्वानों के देश में समुचित स्थान प्राप्त न होने का उल्लेख किया साथ ही आशा व्यक्त की कि—कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी इस वचन के अनुरूप समय आयेगा जब इनको विश्व में समुचित स्थान प्राप्त होगा।

आपने सं० विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में कहा कि यद्यपि हमारा विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों के सामने बालक है। पर बालक का जीवन आशामय होता है। उसी प्रकार इससे भी आशायें हैं। इसे प्राचीनतम भाषा संस्कृत की धरोहर प्राप्त है, इस धरोहर के आधार पर यह विश्वविद्यालय समस्त भारत के जीवन को प्रेरणा देने वाला तथा अन्य विश्वविद्यालयों के समक्ष संकृत एवं भारतीय संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत कर सकेगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च इत्यादि।

हमारी जीवन यात्रा महान् उत्कृष्ट आदर्श की ओर चले, पर साथ ही ऋत, तप, दम, सत्य, अन्त में मानवता की भावना से ओत-प्रोत हो।

मेरे जीवन का तृतीय सवन चल रहा है। मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि आप सब लोगों के आशीर्वादों से मैं इस गुरुतर कार्य भार को वहन कर सकूँ।

इसके पश्चात् सभासंचालक श्री पं० बालकृष्ण शास्त्री पंचोली ने अपने वक्तव्य में कहा कि भूतपूर्व मुख्य मन्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने इसी गीता प्रचार मन्दिर में अपने स्वागतसमारोह में प्रतिज्ञा की थी कि मेरे मुख्यमन्त्रित्व काल में यदि सं० विश्वविद्यालय न बन सका तो मेरा मुख्यमंत्रित्व व्यर्थ होगा। भगवान् की कृपा से उनका शुभ संकल्प पूर्ण हो गया।

श्री एच० एन० भगवती का भाषण

तदनन्तर उपस्थित जनों के समक्ष संस्कृत भाषा में सभा के अध्यक्ष, का० हिं० वि० के उपकुलपति श्री एच० एन० भगवती ने अपने भाषण में कहा कि यद्यपि डा० शास्त्री से मेरा परिचय कुछ समय का ही है, पर डा० मंगलदेव शास्त्री इस सं० विश्वविद्यालय का संचालन सुचारु रूप से कर सकेंगे, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इनके द्वारा संचा-

लित विश्वविद्यालय मानवता की सेवा एवं श्रेष्ठ मानव के निर्माण में अन्य विश्वविद्यालयों को पथ प्रदर्शन करेगा ऐसी मुझे आशा है। परमात्मा से प्रार्थना करते हुये आपने डा० शास्त्री के स्वास्थ्य एवं कुशलता वृद्धि की कामना की, साथही आपने आशा व्यक्त की कि यद्यपि संप्रति आपकी नियुक्ति माननीय राज्यपाल ने अस्थायी रूप से की है तथापि वह स्थायी हो जावेगी तथा आप बहुत दिनों तक संस्कृत वाङ्मय एवं भारतीय संस्कृति की उन्नति में योगदान करते रहेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु न कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

पं० ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा धन्यवाद

अन्त में संस्कृत के विद्वान् अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त संगीतमार्तण्ड पद्मभूषण श्री ओंकारनाथ ठाकुर ने—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

इस मंत्र को संगीत में प्रस्तुत करते हुए, संगीतमय गद्य में उपस्थित विद्वानों एवं नागरिकों आदि सभी का धन्यवाद किया। उनकी यह गद्य संगीतमय धन्यवाद की प्रणाली अद्भुत प्रभावपूर्ण एवं चित्ताकर्षक थी।

विविध समाचार

देश विदेश में उल्लास पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस समारोह

१५ अगस्त को भारत तथा विदेशों में १४ वां भारतीय स्वातन्त्र्य समारोह बड़े उल्लास एवं उत्साह के साथ मनाया गया। इस अवसर पर राष्ट्रध्वज-अभिवादन, जलूस, सभाओं तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन स्थान २ पर किये गये। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने लालकिले पर झण्डा फहराया। किले के सामने मैदान में एकत्र विशाल जन-समूह के समक्ष भाषण करते हुए श्री नेहरू ने अटूट राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की अपील की। आपने जातीयता, प्रान्तीयता तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि इस सबके रहते भारत उन्नति नहीं कर सकता।

इस अवसर पर राज्यपालों तथा मुख्य मन्त्रियों ने जनता के नाम सन्देश दिये हैं कि भारत की रक्षा और उसे समृद्ध तथा शक्तिशाली बनाने के लिये राष्ट्र में भावात्मक एकता लायें और फूट की भावना समाप्त करें। विदेशों में भी भारतीय दूतावासों की ओर से स्वातन्त्र्य समारोह धूम-धाम से मनाया गया।

इस पुण्य पर्व के उपलक्ष्य में राष्ट्रपति ने ५ विद्वानों को, जिनमें ४ संस्कृत के तथा १ फारसी के हैं, सम्मान के प्रमाणपत्र प्रदान करने की घोषणा की है।

दादरा-नगर हवेली भारत में सम्मिलित

१४ अगस्त को भारतीय लोकसभा ने सर्वसम्मति से विधेयक पारित किया जिसके फलस्वरूप दो विमुक्त पुर्तगाली बस्तियों—दादरा, नगर हवेली को भारतीय संघ में सम्मिलित कर लिया गया। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने आशा व्यक्त की कि पुर्तगाली बस्तियां—गोवा, दामन, ड्यू—भी शीघ्र भारत में विलीन हो जायेंगी।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में राष्ट्र विरोधी शक्तियों की सक्रियता

शिक्षा मन्त्री डा० श्रीमाली ने लोकसभा में कहा कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय के मामले की जांच के लिये नियुक्त समिति ने विश्वविद्यालय-अधिकारियों के विरुद्ध दुर्व्यवस्था, अयोग्यता और सार्वजनिक धन के दुरुपयोग के गम्भीर आरोप लगाये हैं। ऐसी अवस्था में सरकार उदासीन नहीं रह सकती।

अनशन और प्रति-अनशन

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार मास्टर तारासिंह ने पंजाबी सूबे के निर्माणार्थ १५ अगस्त से अमृतसर में अनशन प्रारम्भ कर दिया। प्रधान मन्त्री आदि वरिष्ठ जनों की अपीलों का कोई प्रभाव मास्टर जी पर नहीं हुआ। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू से सन्त फतेह सिंह आदि अकाली नेताओं की वार्ता भी विफल हो गई है। (शेष आवरण पृ० २)

ताः स्म गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् । निवृत्ताः काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥१८॥
सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः । तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजा इव पर्वताः ॥१९॥
नावश्चारुरुहुश्चान्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे । अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥२०॥
सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम् । मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥२१॥

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्यमृत्विग्वृतः सन् भरतः प्रतस्थे ॥२२॥
स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य महात्मनो देवपुरोहितस्य ।
ददर्श रम्योटजवृक्षषण्डं महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे गङ्गातरणं नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥८९॥

नवतितमः सर्गः

भरद्वाजाश्रमनिवासः

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नरर्षभः । बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः । वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम् ॥ २ ॥

वे नावें उस पार जाकर लोगों को उतार कर लौट पड़ीं । दाशों ने लौटते समय नावों के खेने का कला प्रदर्शन किया ॥ १८ ॥ ध्वजा से युक्त वह हाथियों के समूह गजारोहियों के द्वारा पानी में तैराते हुए इस प्रकार मालूम पड़ते थे जैसे पक्षयुक्त पर्वत तैर रहे हों ॥ १९ ॥ बहुत से लोग बड़ी-बड़ी नावों के द्वारा, कुछ लोग छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा, अन्य लोग घट निर्मित नावों (घनई) के द्वारा तथा शेष कुछ लोग बाहुओं के द्वारा तैर कर पार गये ॥ २० ॥ मल्लाहों ने उस पुण्य ध्वजा पताका वाली विशाल सेना को गंगा के उस पार उतार दिया । तथा मैत्र नामक मुहूर्त्त में (मध्याह्नोत्तर) उन लोगों ने प्रयाग के लिये प्रस्थान किया ॥ २१ ॥ प्रयाग में पहुँच कर सम्पूर्ण सेना तथा नागरिकों को निवास कराकर और यथा योग्य उनके ठहरने आदि का प्रबन्ध करके ऋत्विग् आदि अन्य सदस्यों के साथ राजकुमार भरत ऋषियों में श्रेष्ठ महर्षि भरद्वाज के दर्शन के लिये चल दिये ॥ २२ ॥ विद्वन्मण्डल के पुरोहित ब्राह्मण श्रेष्ठ महात्मा भरद्वाज के आश्रम में जाकर भरत ने उस रमणीय महावन में श्रेष्ठ ऋषियों की पर्णकुटियों तथा वन के सुन्दर वृक्षों को देखा ॥ २३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'गंगा को पार करना' विषयक नवासीवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८९ ॥

नव्वेवां सर्ग

भरद्वाज के आश्रम में निवास

भरद्वाज के आश्रम वाले बन में जाकर एक कोस के पूर्व ही सम्पूर्ण जनता को छोड़कर कुछ मन्त्रियों के साथ नरश्रेष्ठ भरत आगे बड़े ॥ १ ॥ धर्मात्मा भरत अस्त्रों तथा राजकीय वस्त्रों को वहीं उतार कर केवल रेशमी दो वस्त्रों को धारण करके पुरोहित के साथ पैदल ही आगे चल पड़े ॥ २ ॥ आश्रम के समीप पहुँचने

ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः । मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥
वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः । संचचालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः । अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥
ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च । आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥
अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु । जानन् दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥
वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् । शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥
तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः । भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥
किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः । एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते मनः ॥ १० ॥
सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्यानन्दवर्धनम् । भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥ ११ ॥
नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः । वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि । अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥
एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह । पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया ॥ १४ ॥
हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते । मत्तो न दोषमाशङ्के नैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥
न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे । नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥ १६ ॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः । प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

पर दूर से ही जब महर्षि भरद्वाज का दर्शन हुआ, तो मन्त्रियों को भी वहीं छोड़कर केवल पुरोहित के साथ आगे बढ़े ॥ ३ ॥ महातपस्वी भरद्वाज गुरु वसिष्ठ को देखते ही तत्काल शीघ्रतापूर्वक आसन से उठ पड़े। 'अर्घ्य ले आओ' इस प्रकार शिष्यों से कहा ॥ ४ ॥ वसिष्ठ के साथ मिलने से तथा भरत के द्वारा प्रणाम करने पर महातेजस्वी भरद्वाज ने 'यह दशरथ का राजकुमार है' ऐसा समझा ॥ ५ ॥ उन दोनों गुरु शिष्य को अर्घ्य, पाद्य एवं फल क्रम से देकर धर्मज्ञ मुनि भरद्वाज ने उनके कुलके विषय में कुशल समाचार पूछे ॥ ६ ॥ उन्होंने अयोध्या, सेना, कोश, मित्र तथा मन्त्रियों के विषय में कुशलता पूछी। महाराज दशरथ के स्वर्गवास के सम्बन्ध में अभिज्ञ होने के कारण उन्होंने तद्विषयक चर्चा न की ॥ ७ ॥ वसिष्ठ और भरत ने भी मुनि भरद्वाज से उनके शरीर, यज्ञाग्नि, शिष्य तथा आश्रम के वृक्ष-पशु-पक्षियों के विषय में कुशल संवाद पूछा ॥ ८ ॥ उनके प्रश्नों का उत्तर देकर महातपस्वी भरद्वाज ने, रामचन्द्र के साथ स्नेह होने के कारण, भरत से यह पूछा ॥ ९ ॥ राज्य का शासन करने वाले आपके यहां आगमन का क्या प्रयोजन है, यह सब मुझे बताओ। क्योंकि मेरा मन आशङ्कित हो रहा है॥ १० ॥ शत्रुओं का नाश करने वाले एवं सबके आनन्द को बढ़ाने वाले; जो अपनी पत्नी तथा भाई के साथ चिरकाल तक के लिये वन में निर्वासित कर दिये गये हैं ॥ ११ ॥ स्त्री द्वारा प्रेरित पिता ने जिस महायशस्वी को 'चौदह वर्ष वनवास करो' ऐसी आज्ञा दी ॥ १२ ॥ उनके तथा अपने अनुज के राज्य को निर्बाध भोगने की कामना से कहीं उन निष्पाप के प्रति कोई पाप करने की इच्छा तो नहीं है ॥ १३ ॥ ऐसा कहे जाने पर दुःख के कारण आंखों में आंसू भरकर तथा लड़खड़ाती हुई वाणी से भरत मुनि भरद्वाज से बोले ॥ १४ ॥ यदि आप भी मुझे ऐसा मानते हैं तो जन्म ही निष्फल है। मैं अपनी ओर से उनमें किसी दोष की आशङ्का भी नहीं करता, अतः मुझ से आप ऐसी बात न कहें ॥ १५ ॥ मेरी अनुपस्थिति में मेरी माताजी ने जो कुछ कहा, वह मुझे न तो अभीष्ट ही था और न ही उससे मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने उनके वचन को भी स्वीकार नहीं किया ॥ १६ ॥ मैं तो उन नरश्रेष्ठ रामचन्द्रजी को प्रसन्न करने के लिये, अयोध्या लौटा ले जाने के लिये तथा उनके चरणों की वन्दना करने के लिये जा रहा

तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि । शंस मे भगवन् रामः क्व संप्रति महीपतिः ॥१८॥
वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः । उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥१९॥
त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे । गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥२०॥
जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति । अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥२१॥
जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् । असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥२२॥
श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः । एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद ॥२३॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद्वचः ।
चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरद्वाजाश्रमनिवासो नाम नवतितमः सर्गः ॥९०॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाजातिथ्यम्

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तथा । भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥
अब्रवीद्भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् । पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

हूँ ॥ १७ ॥ मुझे ऐसा समझकर आप मुझसे प्रसन्न हों और मुझे बतायें कि राजा रामचन्द्र इस समय कहां हैं ॥ १८ ॥ तदनन्तर वसिष्ठ आदि पुरोहितों के याचना करने पर भगवान् भरद्वाज भरत से यह वचन बोले ॥ १९ ॥ हे पुरुषव्याघ्र भरत ! रघुकुलोत्पन्न तुम्हारे अन्दर वृद्धों की सेवा, दुष्टों का दमन तथा सत्पुरुषों के अनुयायी होने का भाव उचित ही है ॥ २० ॥ तुम्हारे मनःस्थित इस तथ्य को मैं जानता हूँ, उसी को दृढ़ करने के लिये तथा तुम्हारी कीर्त्ति को अत्यधिक बढ़ाते हुए मैंने पूछा था ॥ २१ ॥ मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे भ्राता धर्मज्ञ रामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ चित्रकूट नामक महापर्वत पर निवास करते हैं ॥ २२ ॥ उस स्थान पर तुम कल जाना, आज मन्त्रियों सहित यहां ठहरो। हे कामना के अभिप्राय को समझने वाले बुद्धिमान् भरत ! मेरी इस कामना को पूर्ण करो ॥ २३ ॥ इसके पश्चात् विशाल दृष्टि वाले महायशस्वी भरत ने मुनि की आज्ञा स्वीकार कर ली और राजकुमार ने उस आश्रम में रात्रि निवासार्थ निश्चय किया ॥ २४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भारद्वाज के आश्रम में निवास' विषयक नव्वेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥९०॥

इक्यानवेवां सर्ग

भरद्वाज का आतिथ्य

वहीं पर निवास के लिये संकल्प करने वाले कैकेयी के पुत्र भरत को मुनि ने भोजन आदि द्वारा आतिथ्य का निमन्त्रण दिया ॥ १॥ भरत ने उनसे कहा—वन में उपलब्ध होनेवाले पाद्य, अर्घ्य तथा फलादि से आतिथ्य तो आपने कर ही दिया है ॥ २॥ हंसते हुए भरद्वाज भरत से बोले—प्रीतियुक्त तुम्हें मैं

जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित् ॥ ३ ॥
अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव । सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजाधिप ॥ ४ ॥
किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः । कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥
भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् । ससैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात् ॥ ६ ॥
राज्ञा च भगवन्नित्यं राजपुत्रेण वा सदा । यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनाम् ॥ ७ ॥
वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः । प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥
ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा । न हिंस्युरिति तेनाहमेक एव समागतः ॥ ९ ॥
आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा । ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥
[अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च । आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥
आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च । आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥
आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवाञ्शक्रमुखांस्तथा । आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥
प्राक्स्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्स्रोतस एव च । पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥
अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् । अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥
आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून् । तथैवाप्सरसो देवीर्गन्धर्वीश्चापि सर्वशः ॥ १६ ॥
घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुसाम् । नागदन्तां च हेमां च हेमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥
शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः । सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

जानता हूँ कि तुम जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट हो जाते हो ॥ ३ ॥ तुम्हारी इस सेना को मैं भोजन कराना चाहता हूँ । हे राजकुमार ! इस प्रकार मुझे प्रसन्न करने में तुम समर्थ हो ॥ ४ ॥ सेना को दूर पर छोड़कर क्यों आये हो ? हे नरश्रेष्ठ ! सेना सहित यहां क्यों नहीं आये ॥ ५ ॥ हाथ जोड़कर भरत ने तपस्वी भरद्वाज से कहा कि हे भगवन् ! आपके भय से सेना को साथ नहीं लाया ॥ ६ ॥ हे भगवन् । राजा तथा राजकुमार को सदा तपस्वियों के स्थानों से यत्नपूर्वक दूर रहना चाहिये ॥ ७ ॥ हे मुनिवर ! श्रेष्ठ घोड़े, मनुष्य तथा मस्त हाथी विस्तृत भूभाग को आच्छादन करके मेरे साथ चलते हैं ॥ ८ ॥ वे वृक्षों, जल, भूमि तथा पर्णकुटियों को नष्ट भ्रष्ट न कर दें, इसलिये मैं अकेला ही यहां आया हूँ ॥ ९ ॥ मुनि ने आदेश दिया कि सेना को यहां ले आओ । महर्षि द्वारा इस प्रकार आदिष्ट भरत ने सेना को वहां बुला लिया ॥ १० ॥

तदनन्तर अग्निशाला में प्रवेश करके, आचमन तथा परिमार्जन कर के मुनि ने भरत का आतिथ्य करने के लिये विश्वकर्मा का आह्वान किया ॥ ११ ॥ मैं त्वष्टा विश्वकर्मा का आह्वान करता हूँ । मैं अथिति सत्कार करना चाहता हूँ, उसमें वे मेरी सहायता करें ॥ १२ ॥ मैं तीनों लोकपालों तथा इन्द्र आदि देवों का आह्वान करता हूँ । मैं आतिथ्य करना चाहता हूँ, उसमें ये मेरे सहायक बनें ॥ १३ ॥ पृथ्वी पर तथा अन्तरिक्ष में पूर्व तथा पश्चिम की ओर बहने वाली जो नदियां हैं; वे सब आज यहां आयें ॥ १४ ॥ किन्हीं में मैरेय (मद्यविशेष) की धारा बहे, किन्हीं में सुनिष्पादित सुरा का स्रोत बहे तथा अन्यों में शीतल और ईख के रस के समान मधुर जल धारा बहे ॥ १५ ॥ मैं देवों के गन्धर्वों, विश्ववसु, हाहा, हूहू आदि तथा अप्सराओं, देवियों और गन्धर्वियों का भी आह्वान करता हूं ॥ १६ ॥ घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुसा, नागदन्ता, हेमा तथा पर्वत पर निवास करने वाली हेमा, इन्द्र के पास उपस्थित होने वाली, ब्रह्मा के पास उपस्थित होने वाली सब स्त्रियों को तुम्बुरु तथा सर्व सामग्री सहित आह्वान करता हूं ॥ १७,१८ ॥

वनं कुरुषु यद्दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् । दिव्यनारीफलं शश्वत्तत्कौबेरमिहैतु च ॥१९॥
इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् । भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥२०॥
विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च । सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥२१॥
एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च । शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ॥२२॥
मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः । आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक् पृथक् ॥२३॥
मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः । उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः ॥२४॥
ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः । दिव्यदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥२५॥
प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः । प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥२६॥
स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च । विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥२७॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् । ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥२८॥
बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजनम् । शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैडूर्यसंनिभैः ॥२९॥
तस्मिन् बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः । आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषणाः ॥३०॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् । आजगाम नदी दिव्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥३१॥
चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् । हर्म्यप्रासादसंबाधास्तोरणानि शुभानि च ॥३२॥
सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् । दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥३३॥

कुरु जनपद में स्थित कुबेर का चित्ररथ नामक वन, जहां के वृक्षों के पत्ते वस्त्र और अलंकार हैं तथा फल दिव्य स्त्रियां हैं, यहां आवें ॥ १९ ॥ भगवान् चन्द्रमा विविध, प्रभूत एवं उत्तम भक्ष्य, भोज्य, चोष्य तथा लेह्य खाद्य पदार्थों का मेरे यहां विधान करें (अर्थात् मुझे प्रदान करें) ॥ २० ॥ वृक्षों से स्वयं गिरे हुए विचित्र पुष्प, विविध प्रकर के सुरा आदि पेय तथा मांस भगवान् सोम मुझे प्रदान करें ॥ २१ ॥ इस प्रकार समाधि तथा अप्रतिम तेज से युक्त व्रतधारी मुनि भरद्वाज ने शिक्षा एवं स्वर से युक्त (अर्थात् शिष्ट) वचन कहे ॥ २२ ॥ पूर्वाभिमुख करबद्ध उन मुनि के मन से ध्यान करने पर वे सब देवता पृथक् पृथक् वहां आ गये ॥ २३ ॥ मलय तथा दर्दुर नामक चन्दन के शिखरों को युक्ति पूर्वक स्पर्श करके (अर्थात् सुगन्धित), पसीने को दूर करने वाली, मन को प्रसन्न करने वाली कल्याणकारी वायु बहने लगी ॥ २४ ॥ तदनन्तर दिव्य मेघ पुष्प वर्षा करने लगे और सब दिशाओं में दिव्य नगाड़ों के घोष सुनाई पड़ने लगे ॥ २५ ॥ उत्तम पवन बहने लगा, अप्सराएं नृत्य करने लगीं, देव-गन्धर्व गान करने लगे तथा वीणाएं स्वर लहरियां छोड़ने लगीं ॥ २६ ॥ वह ऊंचा नीचा, मधुर, सम तथा लययुक्त स्वर आकाश, भूमि और प्राणियों के कानों में प्रवेश करने लगा ॥ २७ ॥ प्राणियों के कानों को प्रिय लगने वाले उस दिव्य शब्द के रुक जाने पर भरत की सेना ने विश्वकर्मा के विधान को देखा ॥ २८ ॥ चारों ओर पांच योजन तक भूमि समतल हो गई तथा नीलम और वैदूर्य मणियों के सदृश सुन्दर हरियावल से ढक गई ॥ २९ ॥ उस भूखण्ड में बेल, कैथ, कटहल, नीबू, आंवला तथा आम उत्पन्न हो गये जो फल से लदे हुए थे ॥ ३० ॥ उत्तर कुरु प्रदेश से देवों के उपभोग के योग्य वन तथा बहुत से तटोत्पन्न वृक्षों से युक्त रमणीय नदियां आ गईं ॥ ३१ ॥ सुन्दर चतुःशाल, हाथी और घोड़ों की शालाएं, धनिकों एवं राजाओं के महल और सुन्दर बन्धनमालाएं उत्पन्न हो गईं ॥ ३२ ॥ श्वेत मेघ के सदृश, सुन्दर तोरणों से सजा हुआ, दिव्य पुष्पों से सुसज और दिव्य गन्ध से उपसिक्त राजप्रासाद प्रकट हो गया ॥ ३३ ॥ चौकोर, बाधा रहित, शयन-आसन स्थानों से युक्त,

चतुरस्रमसंबाधं शयनासनयानवत् । दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥३४॥
उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम् । क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥३५॥
प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा । वेश्म तद्रत्नसंपूर्णं भरतः कैकेयीसुतः ॥३६॥
अनुजग्मुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः । बभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम् ॥३७॥
तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च । भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥३८॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च । वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥३९॥
आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः । ततः सेनापतिः पश्चात्प्रशास्ता च निषेदतुः ॥४०॥
ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः । उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥४१॥
तासामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः । रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥४२॥
तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः । आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥४३॥
सुवर्णमणिमुक्ताभिः प्रवालेन च शोभिताः । आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥४४॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते । आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥४५॥
नारदस्तुम्बुरुर्गोपः प्रभया सूर्यवर्चसः । एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥४६॥
अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना । उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥४७॥
यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने । प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥४८॥
बिल्वा मार्दङ्गिका आसन्कांस्यग्राहा विभीतकाः । अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भरद्वाजस्य शासनात् ॥४९॥
ततः सरलतालाश्च तिलका नक्तमालकाः । प्रहृष्टास्तत्र संपेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥५०॥

सब दिव्य रसों, भोजनों तथा वस्त्रों से युक्त, सब अन्नों से परिपूर्ण, शुद्ध निर्मल पात्रों वाला, सबके आसनों तथा सुसज्ज शय्याओं से युक्त महल उत्पन्न हो गया ॥ ३४,३५ ॥ कैकेयी के पुत्र महाबाहु भरत महर्षि की आज्ञा पाकर रत्नों से परिपूर्ण उस राजप्रासाद में प्रविष्ट हुए ॥ ३६ ॥ पुरोहित सहित सब मन्त्री भी उनके पीछे २ गये और उस राजप्रासाद को देख कर सब प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥ वहां भरत ने मन्त्रियों के साथ दिव्य सिंहासन चंवर और छत्र की राजा के समान प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥ रामचन्द्र को प्रणाम करके उन्हों ने आसन की पूजा की और चंवर ले कर सचिव के आसन पर बैठ गये ॥ ३९ ॥ इसके पश्चात् क्रम से सब मन्त्री तथा पुरोहित बैठ गये । तदनन्तर सेनापति और गृह-रक्षक बैठे ॥ ४० ॥ पुनः भरद्वाज मुनि के आदेश से मुहूर्त्त भर में खीर के कीचड़ से पूर्ण नदियां भरत के समीप उपस्थित हो गईं ॥ ४१ ॥ मुनि भरद्वाज की महिमा से उन नदियों के दोनों किनारों पर पीली मिट्टी से पुते हुए रमणीय दिव्य आवास स्थित हो गये ॥ ४२ ॥ उसी समय ब्रह्मा द्वारा प्रेषित दिव्य आभूषणों से अलंकृत बीस हज़ार स्त्रियां आईं ॥ ४३ ॥ सोना, मणि, मोती तथा मूंगा से सुभूषित, कुबेर द्वारा प्रेषित बीस हजार स्त्रियां आईं ॥ ४४ ॥ जिन्हें प्राप्त करके मनुष्य उन्मत्त सा दीखने लगता है, ऐसी बीस हजार स्त्रियां इन्द्र के नन्दनवन से आ गईं ॥ ४५ ॥ प्रभा से सूर्य के समान तेजस्वी गन्धर्वराज नारद, तुम्बुरु और गोप भरत के सामने गाने लगे ॥ ४६ ॥ भरद्वाज मुनि के आदेश से अलम्बुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका तथा वामना भरत के समक्ष नृत्य करने लगीं ॥ ४७ ॥ जो मालाएं देवों तथा चैत्ररथ वन में होती हैं, वे भरद्वाज मुनि के तेज से प्रयाग में ही दिखाई देने लगीं ॥ ४८ ॥ भरद्वाज की महिमा से बेल के वृक्ष मृदङ्गवादक, बहेड़े के वृक्ष कांस्यवादक तथा पीपल के वृक्ष नर्त्तक बने ॥ ४९ ॥ तदनन्तर देवदारु, ताड़, तिलक और करंज वृक्ष कुब्जा तथा वामना हो कर प्रसन्नता पूर्वक वहां आये ॥ ५० ॥ शीशम, आंवला, जामुन तथा अन्य

शिंशपामलकीजम्ब्वो याश्चान्याः कानने लताः । प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥५१॥
सुराः सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः । मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यावदिच्छथ ॥५२॥
उच्छाद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु । अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥५३॥
संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः । परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥५४॥
हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान् । अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥५५॥
इक्षूंश्च मधु लाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् । इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥५६॥
नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः । मत्तप्रमत्तमुदिता चमूः सा तत्र संबभौ ॥५७॥
तर्पिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूषिताः । अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदैरयन् ॥५८॥
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् । कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥५९॥
इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः । अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदैरयन् ॥६०॥
संप्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः । भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥६१॥
नृत्यन्ति स्म हसन्ति स्म गायन्ति स्म च सैनिकाः । समन्तात्परिधावन्ति माल्योपेताः सहस्रशः ॥६२॥
ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् । दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद्भक्षणे मतिः ॥६३॥
प्रेष्याश्चेट्यश्च बध्वश्च बलस्थाश्च सहस्रशः । बभूवुस्ते भृशं तृप्ताः सर्वे चाहतवाससः ॥६४॥
कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः । बभूवुः सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ॥६५॥
नाशुक्लवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा । रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥६६॥

वनस्थ लताओं ने स्त्रियों का रूप धारण कर के भरद्वाज के आश्रम में आवास किया ॥ ५१ ॥ वे कहने लगीं कि सुरा पीने वाले सुरा पीएं, भूखे खीर खायें और जितनी इच्छा हो पवित्र मांस खायें ॥ ५२ ॥ सुरम्य नदी-तीरों पर एक २ पुरुष को सात आठ स्त्रियों ने उबटन लगाकर स्नान कराया ॥ ५३ ॥ सुन्दर नयनों वाली, पैर दबाने वाली स्त्रियां वहां आ गईं । सुन्दर परिचारिकाओं ने स्नान कराने के पश्चात् शरीर पोंछे तथा परस्पर सुरापान किया ॥ ५४ ॥ घोड़ों, हाथियों, गधों, ऊंटों तथा बैलों को गाड़ीवानों ने विधिपूर्वक चारा खिलाया ॥ ५५ ॥ गाड़ीवानों ने खाने के लिये प्रेरित करते हुए, इक्ष्वाकुवंशीय योद्धाओं को वहन करने वाले घोड़ा आदि वाहनों को ईख तथा गुड़ मिश्रित लावा खिलाया ॥ ५६ ॥ मादक पदार्थों के सेवन से वह सेना ऐसी मदमस्त हो गई कि अश्वरक्षकों को अश्वों का ज्ञान न था और हस्ति-रक्षकों को हाथियों का पता न था ॥ ५७ ॥ सब कामनाओं से तृप्त, लाल चन्दन धारण किये हुए तथा अप्सराओं से युक्त सैनिक, परस्पर वार्तालाप करने लगे ॥ ५८ ॥ अब हम न अयोध्या लौटेंगे और न ही दण्डक वन में जायेंगे । भरत कुशल रहें तथा राम भी सुखी रहें ॥ ५९ ॥ ऐसे सत्कार को पाकर अपने को स्वतन्त्र समझते हुए पैदल, अश्वारोही, गजारोही तथा घोड़े-हाथियों को बांधने वाले सैनिक इस प्रकार बातचीत कर रहे थे ॥ ६० ॥ भरत के अनुयायी वे हज़ारों लोग प्रसन्न हो कर चिल्लाने लगे और कहने लगे कि यह तो स्वर्ग है ॥ ६१ ॥ मालाएं धारण किये हुए हज़ारों सैनिक नाचने लगे, हंसने लगे, गाने लगे तथा इधर उधर दौड़ने लगे ॥ ६२ ॥ उस अमृत के समान भोजन को करने के बाद भी उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख कर उनकी पुनः भोजन करने की इच्छा होने लगी ॥ ६३ ॥ सेना के साथ रहने वाली हज़ारों सेविकाएं, दासियां तथा सैनिकों की पत्नियां नवीन वस्त्र धारण किये हुए अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥ ६४ ॥ हाथी, घोड़े, ऊंट, बैल, गधे तथा अन्य पशु-पक्षी सब अच्छे प्रकार तृप्त हो गये । कोई भी अन्य किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता था ॥ ६५ ॥ उस समय वहां कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता था जिसके वस्त्र सफेद न हों, जो भूखा या मलिन हो एवं जिसके बालों में धूल भरी हो ॥ ६६ ॥ उत्तम व्यञ्जनों से युक्त तथा फलों के रस के साथ पकाये हुए

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः । फलनिर्व्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥६७॥
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः । ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥६८॥
बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः । ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुच्युतः ॥६९॥
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः । प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥७०॥
पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च । न्यर्बुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥७१॥
स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः । यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥७२॥
ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे । बभूवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च संचयाः ॥७३॥
कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च । ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥७४॥
शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान् । शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्गेष्ववतिष्ठतः ॥७५॥
दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान् । पादुकोपानहां चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः ॥७६॥
आञ्जनीः कङ्कतान् कूर्चाञ्शस्त्राणि च धनूंषि च । मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ॥७७॥
प्रतिपानह्रदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम् । अवगाह्य सुतीर्थांश्च ह्रदान् सोत्पलपुष्करान् ॥७८॥
आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखाप्लवान् ॥
नीलवैडूर्यवर्णांश्च मृदून् यवससंचयान् । निर्वापार्थान् पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥७९॥
व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् । दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तादृग्भरतस्य महर्षिणा ॥८०॥
इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने । भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥८१॥
प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् । भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥८२॥

बकरे और सूअर के मांस और सुगन्धित तथा सुस्वादु दाल से युक्त, फूलों से सजी हुई, भात से पूर्ण हज़ारों सोने आदि धातुओं की थालियों को आश्चर्यचकित हुए लोगों ने वहां देखा ॥ ६७, ६८ ॥ वन में स्थित कुओं में खीर का कीचड़ भर गया, वहां की गौएं कामदुघा हो गईं तथा वृक्षों से मधु चूने लगा ॥ ६९ ॥ बावड़ियां मद्य से परिपूर्ण थीं तथा वे तपते हुए पात्रों में पके हुए मृग, मोर और मुर्गे के स्वच्छ मांस से भरी थीं ॥ ७० ॥ हज़ारों अन्न रखने के पात्र, लाखों पकाने के पात्र तथा करोड़ों सुवर्ण पात्र भोजन करने के लिये थे ॥ ७१ ॥ घड़े-बटलोई आदि मसालेदार दही से भरे हुए थे। सुपक्व तथा केशर आदि से युक्त सुगन्धित मट्ठे से तालाब भरे हुए थे ॥ ७२ ॥ संस्कृत तक तथा दही से तालाब भरे हुए थे। अन्य तालाब खीर से भरे थे और शक्कर के ढेर लगे हुए थे ॥ ७३ ॥ पात्रों में रखे हुए विविध प्रकार के उबटन, सुगन्धित चूर्ण तथा स्नान के साधन उष्ण जल आदि को नदियों के घाटों पर लोगों ने देखा ॥ ७४ ॥ कूची बनी हुई स्वच्छ दातुनों के ढेरों तथा प्यालियों में रखे हुए सफेद चन्दन को देखा ॥ ७५ ॥ निर्मल दर्पणों तथा वस्त्रों की राशि और खड़ाओं तथा जूतों के हज़ारों जोड़ों को देखा ॥ ७६ ॥ सुरमादानी, कंघे, ब्रुश, शस्त्र, धनुष, कवच, सुन्दर शय्या तथा आसनों को देखा ॥ ७७ ॥ गधे, ऊंट, हाथी, घोड़ों के जल पीने के लिये भरे हुए और सुन्दर घाटों से युक्त, कमल पुष्पों से भरे, आकाश वर्ण के समान, स्वच्छ जल वाले तथा अच्छे प्रकार तैरने योग्य तालाबों को देखा ॥ ७८ ॥ नील-वैदूर्य मणि के सदृश, पशुओं के खाद्य कोमल घास के ढेरों को उन्हों ने वहां सर्वत्र देखा ॥ ७९ ॥ महर्षि के द्वारा किये गये उस स्वप्न के समान अद्भुत आतिथ्य को देख कर वे लोग विस्मित हो गये ॥ ८० ॥ इस प्रकार नन्दन वन में देवों के विहार के समान, भरद्वाज के रमणीय आश्रम में विहार करते हुए उनकी वह रात्रि बीत गई ॥ ८१ ॥ प्रातः काल भरद्वाज मुनि से अनुमति लेकर वे सब नदियां, गन्धर्व तथा वराङ्गनाएं जहां से आई थीं, वहीं लौट गईं ॥ ८२ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरास्तथैव दिव्यागरुचन्दनोक्षिताः ।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ।। ८३ ।।]

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरद्वाजातिथ्यं नाम एकनवतितमः सर्गः ।। ९१ ।।

द्विनवतितमः सर्गः

भरद्वाजामन्त्रणम्

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः । कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह ।। १ ।।
तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम् । हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ।। २ ।।
कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता । समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ।। ३ ।।
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च । आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ।। ४ ।।
सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः । तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो भगवंस्त्वया ।। ५ ।।
अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः । अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ।। ६ ।।
आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम । समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ।। ७ ।।
आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः । आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ।। ८ ।।

प्रातःकाल हो जाने पर भी मनुष्य पूर्ववत् मदोन्मत्त और दिव्य अगर तथा चन्दन से सुभूषित थे । विभिन्न प्रकार की दिव्य मालाओं को यद्यपि लोगों ने इधर उधर फेंक दिया था तथा मसल भी दिया था, तथापि वे पूर्ववत् सुन्दर तथा सुगन्धित थीं ।। ८३ ।।

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरद्वाज का आतिथ्य' विषयक इक्यानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ।।९१।।

बानवेवां सर्ग

भरद्वाज की आज्ञा

इसके पश्चात् अपने साथियों सहित उस रात्रि को बिताकर आतिथ्य पाये हुए भरत राम की प्राप्ति की इच्छा से भरद्वाज के पास गये ।। १ ।। उस पुरुष सिंह भरत को हाथ जोड़े हुए आते देखकर हवन करने के पश्चात् मुनि भरद्वाज उससे बोले ।। २ ।। हे निष्पाप भरत ! मुझे बताओ कि यहां हमारे आश्रम में तुम्हारी रात्रि सुखपूर्वक तो बीती और तुम्हारे सब लोग आतिथ्य से सन्तुष्ट तो हैं ना ? ।। ३ ।। आश्रम से बाहर निकलते हुए महातेजस्वी ऋषि भरद्वाज से हाथ जोड़ प्रणाम करके भरत बोले ।। ४ ।। सारी सेना तथा वाहन सहित मैंने सुखपूर्वक निवास किया । हे भगवन् ! आपने मेरी तथा मेरे मन्त्रियों की सब इच्छाओं को तृप्त कर दिया है ।। ५ ।। थकान दूर हो गई, स्वादु तथा तृप्तिकारक भोजन मिला, सुन्दर आवास प्राप्त हुआ । इस प्रकार नौकर चाकरों को भी लेकर हम सब सुख से रहे ।। ६ ।। हे ऋषिराज ! मैं आपसे अपनी कामना को निवेदन करता हूँ—भाई के पास प्रस्थान करने वाले मुझ पर आप कृपादृष्टि रखें ।। ७ ।। हे धर्मज्ञ ! आप मुझे बतायें कि उन धार्मिक महात्मा रामचन्द्र का आश्रम कहां है, वहां जाने का मार्ग कौन सा है तथा यहां से कितनी दूर है ।। ८ ।। ऐसा पूछे जाने पर भाई के दर्शन के इच्छुक भरत

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् । प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥
भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने । चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥१०॥
उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी । पुष्पितद्रुमसंच्छन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥११॥
अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः । तयोः पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥१२॥
दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव वा । गजवाजिरथाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥१३॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ॥
प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वा राजराजस्य योषितः । हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥१४॥
वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया । कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ॥१५॥
असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता । कैकेयी तस्य जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा ॥१६॥
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् । अदूराद्भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ॥१७॥
ततः पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः । विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव ॥१८॥
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः । उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः ॥१९॥
यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकर्शिताम् । पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ॥२०॥
एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् । कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा ॥२१॥
अस्या वामभुजं श्लिष्टा यैषा तिष्ठति दुर्मनाः । इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा ॥२२॥
कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥

को महातेजस्वी एवं तपस्वी भरद्वाज ने उत्तर दिया ॥ ९ ॥ भरत ! यहां से अढ़ाई योजन पर निर्जन प्रदेश में रमणीय गुफाओं तथा वनों से युक्त चित्रकूट नामक पर्वत है ॥ १० ॥ उसके उत्तर में पुष्पित वृक्षों से आच्छादित एवं रमणीय वनों से युक्त मन्दाकिनी नामक नदी है ॥ ११ ॥ उस नदी के समीप जो चित्रकूट पर्वत है, वहीं राम-लक्ष्मण की पर्णकुटी है और वे वहीं रहते हैं ॥ १२ ॥ हे सेनापति भरत ! हाथी-घोड़े तथा रथों वाली अपनी सेना को कुछ दूर दक्षिण की ओर ले जाकर फिर नैर्ऋत्य दिशा की ओर ले जाओ, तो तुम रामचन्द्र के दर्शन कर सकोगे ॥ १३ ॥ प्रस्थान की बात को सुनकर यान में बैठने योग्य, राजा दशरथ की पत्नियां यानों को छोड़कर मुनि भरद्वाज के पास आ गईं ॥ १४ ॥ कांपती हुई, दुर्बल तथा दीन कौसल्या ने देवी सुमित्रा के साथ हाथों से मुनि के चरणों का स्पर्श किया ॥ १५ ॥ अपूर्ण मनोरथ वाली तथा सर्वत्र निन्दित कैकेयी ने भी लज्जा के साथ मुनि के चरणों का स्पर्श किया ॥ १६ ॥ उन ऐश्वर्यशाली महामुनि की प्रदक्षिणा करके वह दुःखिता भरत के समीप आकर खड़ी हो गई ॥ १७ ॥ तदनन्तर दृढव्रत भरद्वाज ने भरत से पूछा—हे भरत ! मैं तुम्हारी माताओं का विशेष परिचय जानना चाहता हूँ ॥ १८ ॥ भरद्वाज के ऐसा पूछने पर धर्मनिष्ठ वाक्यविशारद भरत ने हाथ जोड़कर यह वचन कहा ॥ १९ ॥ हे भगवन् ! जिन दीन, शोक तथा अनशन के कारण दुर्बल, देवता के तुल्य, पिताजी की महारानी को आप देख रहे हैं; इन कौसल्या रानी ने महापुरुष, सिंह के समान पराक्रमी रामचन्द्र को जन्म दिया है, जैसे अदिति ने विष्णु को जन्म दिया था ॥ २०,२१ ॥ इनके बायें हाथ की ओर जो ये दुःखित मनवाली खड़ी हैं ये दुःख से आर्त देवी सुमित्रा महाराज दशरथ की मंझली पत्नी हैं जो ऐसी दीख पड़ती हैं जैसे वन में गिरे हुए फूलों वाली कर्णिकार की शाखा हो ॥ २२ ॥ इन्हीं देवी के देवतुल्य, सत्यपराक्रमी, वीर पुत्र लक्ष्मण तथा

एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ । उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥२३॥
यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ । राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥२४॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् । ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥२५॥
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् । यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥२६॥
इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा । स निशश्वास ताम्राक्षो नागः क्रुद्ध इव श्वसन् ॥२७॥
भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा । प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवत् ॥२८॥
न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया । रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति ॥२९॥
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् । हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥३०॥
अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् । आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत्॥३१॥
ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमपरिष्कृतान् । अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून् बहुविधो जनः ॥
गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः । जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः संप्रतस्थिरे ॥३३॥
विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च । प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरेव पदातयः ॥३४॥
अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः । रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥३५॥
चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् । आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ॥३६॥
सा प्रयाता महासेना गजवाजिरथाकुला । दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥३७॥
वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः । गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥३८॥

शत्रुघ्न हैं ॥ २३ ॥ जिनके कारण नरकेसरी राम-लक्ष्मण प्रजापालन से वञ्चित हो गये, पुत्रविहीन होकर राजा दशरथ स्वर्गवासी हो गये, क्रोधिनी, अज्ञानी, अभिमानी, अपने को सौभाग्यशाली समझने वाली, ऐश्वर्य की इच्छुक, देखने में आर्या किन्तु वस्तुतः अनार्या इन पापिनी तथा क्रूर कैकेयी को मेरी माता समझें, जिनके कारण मैं अपने ऊपर महती विपत्ति को देख रहा हूँ ॥२४-२६॥ गला रुन्ध जाने से लड़खड़ाती हुई वाणी से ऐसा कहकर, क्रोध से रक्तनेत्र नरकेसरी भरत इस प्रकार लम्बी सांस लेने लगे जैसे क्रुद्ध नाग सांस लेता है ॥ २७॥ ऐसा कहते हुए भरत से महाबुद्धिमान् महर्षि भरद्वाज ने यह अर्थपूर्ण वचन कहा ॥२८॥ भरत ! तुम्हें कैकेयी के ऊपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये क्योंकि सम्भव है राम का वनगमन परिणाम में सुखकारी हो ॥ २९ ॥ रामचन्द्र के वनवास से देवों, दानवों और आत्मज्ञानी ऋषियों का कल्याण होने वाला है ॥ ३० ॥ राम के निवासस्थान को जानकर भरत ने भरद्वाज मुनि का अभिवादन तथा प्रदक्षिणा करके और उनसे आज्ञा लेकर अपनी सेना को प्रस्थान का आदेश दिया ॥ ३१ ॥ तदनन्तर प्रस्थान करने वाले बहुविध लोग बहुत से स्वर्ण से अलंकृत दिव्य रथों में घोड़ों को युक्त करके उनमें आरूढ़ हो गये ॥३२॥ हाथी तथा हथनियां जिनकी रस्सियां सोने की थीं तथा जिन पर पताकायें फहरा रही थीं, इस प्रकार गरजते हुए चले जैसे ग्रीष्म के अन्त में मेघ गरजते हुए आते हैं ॥ ३४॥ विविध प्रकार के छोटे बड़े, मूल्यवान् रथादि यान तथा पैदल सेना भी चल पड़ी ॥ ३४ ॥ राम के दर्शन की इच्छुक कौसल्या आदि स्त्रियां प्रसन्नता पूर्वक उत्तम यानों से चल पड़ीं ॥ ३५ ॥ सूर्य और चन्द्रमा के समान देदीप्यमान तथा वाहकों द्वारा उठाई हुई सुन्दर पालकी में बैठकर श्रीमान् भरत सदलबल चल पड़े ॥ ३६ ॥ हाथी-घोड़े-रथों से युक्त वह महासेना उठे हुए महामेघ के समान दक्षिण दिशा को घेरकर चली ॥ ३७ ॥ गंगा के पश्चिमी तीर पर पर्वतों और नदियों पर स्थित, पशु पक्षियों से सेवित वनों को लांघकर वह आगे बढ़ी ॥ ३८ ॥ प्रसन्न हाथी घोड़े और

सा संप्रहृष्टद्विपवाजियोधा वित्रासयन्ती मृगपक्षिसङ्घान् ।
महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना रराज सेना भरतस्य तत्र ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरद्वाजामन्त्रणं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः

चित्रकूटवनप्रेक्षणम्

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः । अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः संप्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च रुरवश्च समन्ततः । दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥
स संप्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः । वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥
सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः । महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥
तुरङ्गौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः । अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन् काले बभूव भूः ॥ ५ ॥
स गत्वा दूरमध्वानं सुपरिश्रान्तवाहनः । उवाच भरतः श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥
यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव श्रुतं मया । व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजोऽयमब्रवीत् ॥ ७ ॥
अयं गिरिश्चित्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी । एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥
गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य संप्रति । वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

योद्धाओं वाली, पशु पक्षियों के समूहों को भयभीत करने वाली तथा उस महावन को रौंद डालने वाली वह भरत की सेना उस समय अति सुशोभित हो रही थी ॥ ३९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरद्वाज की आज्ञा' विषयक बानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९२ ॥

तिरानवेवां सर्ग

चित्रकूट वन का दर्शन

उस ध्वजाओं से युक्त गमन करने वाली विशाल सेना से उद्विग्न हो कर उन्मत्त हुए यूथपति गजराज अपने सगूह के साथ भाग गये ॥ १ ॥ भालू, पृषत और रुरु हरिण घने जंगलों, पर्वतों तथा नदियों पर संत्रस्त दीख पड़ते थे ॥ २ ॥ प्रसन्न, धार्मिक, दशरथपुत्र भरत आघोष करने वाली अपनी विशाल चतुरङ्गिणी सेना से आवृत चल रहे थे ॥ ३ ॥ सागर के समान विशाल, महात्मा भरत की सेना ने पृथ्वी को इस प्रकार ढक लिया था जैसे वर्षा ऋतु में बादल आकाश को ढक लेते हैं ॥ ४ ॥ घोड़ों और हाथियों के विस्तार के कारण उस समय बहुत काल तक भूमि दिखाई न पड़ी ॥ ५ ॥ लम्बा मार्ग चल कर वाहनों के थक जाने पर श्रीमान् भरत मन्त्रियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ जी से बोले ॥ ६ ॥ जैसा रूप दिखाई पड़ रहा है और जैसा मैंने सुना है, उस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम उस देश में पहुंच गये हैं जिसको मुनि भरद्वाज ने बताया था ॥ ७ ॥ यह चित्रकूट पर्वत है, यह मन्दाकिनी नदी है और यह है वह वन जो दूर से नीले मेघ के सदृश प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥ चित्रकूट पर्वत के सुरम्य शिखरों को इस समय पर्वत के तुल्य मेरे हाथी तोड़े डाल रहे हैं ॥ ९ ॥ पर्वत के शिखरों पर ये नीले वृक्ष [हाथियों के आघात के कारण]

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु । नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥१०॥
किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वतम् । मृगैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥११॥
एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः । वायुप्रविद्धा शरदि मेघराजिरिवाम्बरे ॥१२॥
कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी । मेघप्रकाशैः अलकैर्दाक्षिणात्या यथा नराः ॥१३॥
निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम् । अयोध्येव जनाकीर्णा संप्रति प्रतिभाति मे ॥१४॥
खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति । तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥१५॥
स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सूतमुख्यैरधिष्ठितान् । एतान् संपततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥१६॥
एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् । एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणाम् ॥१७॥
अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे । तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथो यथा ॥१८॥
मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने । मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥१९॥
साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम् । यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥२०॥
भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः । विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः ॥२१॥
ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः । नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥२२॥
अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ । अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसंमतम् । सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥२४॥

इस प्रकार फूलों को गिरा रहे हैं जैसे ग्रीष्म काल की समाप्ति पर घने मेघ जल बरसाते हैं ॥ १० ॥ शत्रुघ्न ! किन्नर-सेवित इस पर्वत-प्रदेश को देखो जो चारों ओर मृगों से ऐसा भरा हुआ है जैसे मगरों से सागर भरा होता है ॥ ११ ॥ सैनिकों के छेड़ने पर वेग पूर्वक दौड़ने वाले मृगों के समूह ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे शरद् ऋतु में वायु के द्वारा प्रताडित मेघों की पंक्ति आकाश में दौड़ती है ॥ १२ ॥ ये वृक्ष सुगन्धित फूलों के गुच्छों को मस्तक पर इस प्रकार धारण करते हैं जैसे दक्षिणी लोग सिर पर मेघ के समान काले बालों को रखते हैं ॥ १३ ॥ पहले यह वन मानव शब्द रहित तथा भयङ्कर था, किन्तु अब तो मुझे यह अयोध्या के समान मनुष्यों से परिपूर्ण प्रतीत होता है ॥ १४ ॥ घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूलि आकाश को आच्छादन कर लेती है, उस को वायु शीघ्र ही दूर उड़ा ले जाती है, मानो वह मेरा अभीष्ट सिद्ध कर रही हो ॥ १५ ॥ शत्रुघ्न ! घोड़ों से युक्त, सारथि आदि से अधिष्ठित, वन में वेगपूर्वक दौड़ते इन रथों को देखो ॥ १६ ॥ देखने में सुन्दर तथा भयभीत इन मोरों और अपने आवास पर्वत की ओर उड़ते हुए पक्षियों को देखो ॥ १७ ॥ यह प्रदेश मुझे अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है । तपस्वियों का यह निवास स्पष्ट ही स्वर्ग प्रदेश सा लगता है ॥ १८ ॥ अनेक चितकबरे मृग मृगियों के साथ वन में ऐसे मनोहर दिखाई देते हैं जैसे वे फूलों से चित्रित किये हों ॥ १९ ॥ सैनिक वन में जायें और सावधानी से अन्वेषण करें जिससे वे महापुरुष रामलक्ष्मण दिखाई पड़ जायें ॥ २० ॥ भरत के वचन को सुन कर हाथ में शस्त्र लिये वीर सैनिक उस वन में प्रविष्ट हुए । तदनन्तर उन्हों ने धूम-शिखा देखी ॥ २१ ॥ धूम-शिखा को देख कर वे आ गये और भरत से बोले—विना मनुष्य के अग्नि नहीं होती, अतः रामलक्ष्मण स्पष्टतः यहीं हैं ॥ २२ ॥ यदि नरव्याघ्र, राजपुत्र, परमतपस्वी रामलक्ष्मण यहां न हों तो अवश्य ही राम के तुल्य अन्य तपस्वी यहां होंगे ॥ २३ ॥ उनके उचित वचन को सुन कर शत्रु सेना को परास्त करने वाले भरत ने उन सब सैनिकों से कहा ॥ २४ ॥

यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः । अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥२५॥
एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः । भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधे ॥२६॥
व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूर्निरीक्षमाणापि च धूममग्रतः ।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे चित्रकूटवनप्रेक्षणं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

चित्रकूटवर्णना

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवनप्रियः । वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् । भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरन्दरः ॥ २ ॥
न राज्याद्भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः । मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥
पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम् । शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥
केचिद्रजतसंकाशाः केचित्क्षतजसंनिभाः । पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः । विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

आप लोग शान्ति पूर्वक यहीं रहें, यहां से आगे न जायें । मैं, सुमन्त्र और धृति ही जायेंगे ॥ २५ ॥ ऐसा कहे जाने पर सब सैनिक वहीं ठहर गये । भरत ने जहां धूम-शिखा थी वहां दृष्टि लगाई ॥ २६ ॥ भरत के द्वारा नियन्त्रित वह सेना सामने धूम को देखती हुई, यह जानती हुई कि प्रिय रामचन्द्र के साथ शीघ्र ही मिलन होगा, प्रसन्न हुई ॥ २७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'चित्रकूट के वन का दर्शन' विषयक तिरानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥९३॥

चौरानवेवां सर्ग

चित्रकूट का वर्णन

गिरि तथा वन के प्रेमी रामचन्द्र उस पर्वत पर वैदेही के प्रिय को चाहते हुए और अपने चित्त को प्रसन्न करते हुए दीर्घ काल तक रहे ॥ १ ॥ देवतुल्य दशरथपुत्र राम ने अपनी पत्नी सीता को रम्य चित्रकूट के दर्शन उसी प्रकार कराये जैसे इन्द्र ने शची को ॥ २ ॥ उन्हों ने सीता से कहा—भद्रे ! इस रमणीय पर्वत को देख कर मेरे मन को न राज्यत्याग ही कष्ट देता है और न इष्ट मित्रों से पृथक् हो जाना ॥ ३ ॥ कल्याणकारिणी ! इस पर्वत को देखो जो नाना प्रकार के पक्षियों से युक्त और गगन छेदी तथा अनेक धातुओं से परिपूर्ण शिखरों से सुभूषित है ॥ ४ ॥ पर्वतराज के विभिन्न धातुओं से अलंकृत कुछ प्रदेश चांदी के समान श्वेत, कुछ रक्त के समान लाल, कोई पीले एवं मजीठ के रंग वाले, कोई नील मणि के समान, कोई पुखराज-स्फटिक-केतकी के तुल्य, कोई तारिका एवं पारे के समान सुशोभित हो रहे थे

नानामृगगणैर्द्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः । अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥
आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः । अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैस्तथा । बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः । एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥१०॥
शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् रोमहर्षणान् । किंनरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥११॥
शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च । पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान्॥१२॥
जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्यन्दैश्च क्वचित्क्वचित् । स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥१३॥
गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान् वहन् । घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥१४॥
यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते । लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधक्ष्यति॥१५॥
बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते । विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि॥१६॥
अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् । पितुश्चानृणता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥१७॥
वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह । पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्कायसंमतान् ॥
इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः वरे । वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥१९॥
शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः । बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥२०॥
निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव । ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥
केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः । केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥२२॥

॥ ५,६ ॥ नाना प्रकार के मृग समूहों और अहिंस्र बाघ-चीता-रीछों के समूहों से आकीर्ण, बहुत से पक्षियों से परिपूर्ण यह पर्वत शोभायमान हो रहा है ॥ ७ ॥ फूलते-फलते हुए, छाया वाले तथा मनोरम आम, जामुन, पीला साल, लोध, खिरनी, कटहल, धव, अङ्कोल, भव्य तिनिश, बेल, तिन्दु, बांस, मधुपर्णी, नीम, बरना, महुआ, तिलक, बेर, आंवला, कदम्ब, बेंत, इन्द्रजौ, अनार इत्यादि वृक्षों से भरपूर यह पर्वत शोभा को बढ़ा रहा है ॥ ८-१० ॥ रमणीय पर्वतखण्डों पर इन रोमहर्षक, मनस्वी, जोड़े-जोड़े में रमण करते हुए किन्नरों को देखो ॥ ११ ॥ शाखा पर लटकती तलवारों तथा उत्तम वस्त्रों को देखो। विद्याधार-स्त्रियों के मनोरम क्रीडास्थलों को भी देखो ॥ १२ ॥ कहीं जलप्रपात तथा कहीं भूमि फोड़ कर निकलने वाले स्रोतों से यह पर्वत ऐसा लगता है जैसे कोई हाथी हो जिससे मद चू रहा हो ॥ १३ ॥ गुफाओं की वायु विविध पुष्पों की गन्ध को वहन करती हुई नासिका को तृप्त करके किस मनुष्य को हर्षित नहीं करती ॥१४॥ अनिन्दित सीता ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ यहां अनेक वर्ष रहूंगा तो भी मुझे शोक दहन न करेगा ॥ १५ ॥ प्रिये ! बहुत पुष्प-फल वाले, रमणीय, नाना पक्षि गणों से युक्त, इस विचित्र पर्वत प्रदेश में मैं आनन्द ले रहा हूं ॥ १६ ॥ इस वनवास से मुझे दो फल प्राप्त हुए हैं—एक तो धर्म विषय में पिता जी के ऋण से मुक्ति (=आज्ञापालन), दूसरा भरत की प्रीति ॥ १७ ॥ वैदेहि ! क्या चित्रकूट में मेरे साथ मन वचन तथा शरीर के अनुकूल विविध पदार्थों को अनुभव करते हुए तुम्हें आनन्द आता है ? ॥ १८ ॥ हे सम्राज्ञि ! हमारे पूर्वज मनु आदि परम राजर्षियों ने वनवास को ही संसार के कष्टों की निवृत्ति के लिये अमृत बताया है ॥ १९॥ चारों ओर इस पर्वत की सैकड़ों विशाल चट्टानें नीले, पीले, श्वेत तथा लाल आदि अनेक वर्णों से सुशोभित हो रही हैं ॥ २० ॥ इस पर्वत की हजारों देदीप्यमान ओषधियां रात्रि में अपनी प्रभा से अग्नि शिखा के समान प्रकाशित होती हैं ॥ २१ ॥ प्रिये ! इस पर्वत के कुछ प्रदेश घर के समान, कुछ उद्यान के सदृश तथा कुछ शिला मात्र ही दीख पड़ते हैं ॥ २२ ॥ यह चित्रकूट पर्वत भूमि को फोड़ कर ऊपर

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः सुमुत्थितः । चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥२३॥
[कुष्ठपुंनागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् । कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥२४॥
मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः । कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥२५॥]
वस्वौकसारां नलिनीमत्येतीवोत्तरान् कुरून् । पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥२६॥
इमं तु कालं वनिते विजह्निवांस्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन च ।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे चित्रकूटवर्णना नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

मन्दाकिनीवर्णना

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः । अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥
अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम् । विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥
विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् । कमलैरुपसंपन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥
नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः । राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥
मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि सांप्रतम् । तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

उठा हुआ प्रतीत होता है और चित्रकूट का यह शिखर तो सब से सुन्दर दिखाई देता है ॥ २३ ॥ कामी लोगों के कूठ, पुत्र जीविका, पुन्नाग तथा भोजपत्र से बनाये गये ऊपरी बिछोनों वाली और कमलदल से युक्त शय्याओं को देखो ॥ २४ ॥ प्रिये ! कामी लोगों के द्वारा मसल डाले गये त्यक्त कमल पुष्प यहां दिखाई दे रहे हैं । विविध फलों को भी देखो ॥ २५ ॥ वहुत मूल-फल-जल सम्पन्न यह चित्रकूट पर्वत अपने सौन्दर्य में इन्द्रनगरी, कुवेर नगरी एवं उत्तर कुरु जैसे उत्तम स्थलों को अति क्रान्त कर गया है ॥ २६ ॥ हे सीते ! अपने उत्कृष्ट नियमों से सत्पुरुषों के मार्ग पर अवस्थित यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ इस चौदह वर्ष के काल को मैं ने सुख पूर्वक बिताया तो कुलधर्म (=राज्य शासन) के सुख को प्राप्त करूंगा ॥ २७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'चित्रकूट का वर्णन' विषयक चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

पचानवेवां सर्ग

मन्दाकिनी का वर्णन

पर्वत से निकल कर कोसलाधिपति रामचन्द्र ने सीता को शुद्ध जल वाली सुन्दर मन्दाकिनी नदी को दिखाया ॥ १ ॥ विदेहराज की पुत्री, चन्द्रमुखी, श्रेष्ठ पत्नी सीता से राजीवलोचन रामचन्द्र बोले ॥ २ ॥ विचित्र तटों वाली, रमणीय, हंसों तथा सारसों से सेवित, कमलों से सम्पन्न, नाना प्रकार के तटीय पौधों तथा फूल-फल वाले वृक्षों से ढकी हुई और महाराज दशरथ की सरयू के समान शोभायमान मन्दाकिनी को देखो ॥ ३,४ ॥ देखो, मृगों के झुण्डों ने अभी जल पिया है, अतः वह गन्दा हो गया है । इस के सुन्दर घाट मुझे आनन्द दे रहे हैं ॥ ५ ॥ प्रिये ! जटा-मृगछाला धारण करने वाले तथा बल्कल का उत्तरीय

[पृष्ठ १५ का शेष]

प्रयोग किये जाते हैं तो उसका प्रभाव विश्व पर पड़ता है। जब तक ये प्रयोग पंचतन्मात्राओं से ऊपर की शक्तियों द्वारा किये जाते हैं अर्थात् मानसिक शक्तियों या चिति शक्तियों अथवा महत्तत्त्व आदि के आश्रय से किये जाते हैं तब तक संकल्प शक्ति के आश्रित सफल होते हैं। वह वैदिक विज्ञान की सूक्ष्म एवं उच्चस्थिति है। परन्तु वैदिक विज्ञान का स्थूल रूप स्थूल जगत् के आश्रय से जब सम्पन्न किया जाता है तो उसकी प्रयोगशाला बाह्य यज्ञवेदि ही बनानी पड़ती है और उसमें सर्वक्रियाकलापों की सिद्धि के लिये अग्नि स्थापना करके द्रव्यों की आहुतियों द्वारा उनको सूक्ष्म करके संयोग एवं वियोग क्रिया द्वारा विश्व में यथास्थान, यथाशक्ति तत्त्वों की वृद्धि एवं ह्रास द्वारा इच्छित क्रिया की जाती है जो कि इष्ट प्राप्ति कराती है। यदि इसके साथ मानसिक शक्तियों का भी प्रयोग किया जाता है तो और भी शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

वैदिक विज्ञान की इस क्रिया को यज्ञ कहते हैं। इसीलिए वेद एवं गीता ने यज्ञ को "कामधुक्"—कहा है। अर्थात् सर्वकामनाओं का दोहन—प्राप्ति यज्ञ द्वारा हो सकती है। कामनानुकूल इष्ट प्राप्ति के लिये जो विविध प्रकार के प्रयत्न एवं क्रिया-समूह हैं वे ही पृथक् पृथक् यज्ञ के रूप में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को समझ कर यज्ञ द्वारा अनुसन्धान का कार्य बड़ी सफलता से सम्पन्न हो जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर:—

(१) यज्ञों द्वारा असमय में आकाश में सोम भरा जा सकता है और उससे मेघों का निर्माण हो सकता है तथा उन मेघों को यथेच्छ स्थानों पर बरसाया जा सकता है। आज राष्ट्र में बड़े-बड़े बांध बन रहे हैं। यदि वर्षा न हो तो वे सब निष्फल हैं। अतः वर्षा की विद्या और वह भी सुलभ विद्या वेदों के द्वारा विश्व को प्राप्त हो सकती है।

(२) अतिवृष्टि को रोकने के प्रयत्न वर्तमान विज्ञान नहीं कर सका। परन्तु अवर्षण निमित्त या अतिवृष्टि को रोकने की भी क्रिया यज्ञ द्वारा सम्पन्न होती है और उसमें सफलता प्राप्त होती है। इस क्रिया द्वारा देश की नदियों की बाढ़ समस्या को नियंत्रित किया जा सकता है और देश को जन-धन की हानि से मुक्त कर समृद्ध किया जा सकता है।

(३) यज्ञ द्वारा मरुभूमि को उर्वरा भूमि में परिवर्त्तित करने की क्रिया भी की जा सकती है। मरुपन पृथ्वी का क्षय है और इस क्षय की चिकित्सा यज्ञ द्वारा हो सकती है। यदि नियत क्षेत्र में ५ वर्ष परीक्षण का अवसर प्राप्त हो तो इसमें सफलता हो सकेगी। पृथ्वी के तत्त्वों में जो विघटन विपरीत क्रिया प्रारम्भ हो गई है उस क्रिया को विपरीत करने से मरुभूमि में अनुकूल परिवर्त्तन होने लगेंगे। इस दिशा में वैज्ञानिक जगत् ने अभी तक सफलता प्राप्त नहीं की है। यह कार्य राष्ट्र के लिये अत्यन्त हितकर है। यदि राजस्थान व कच्छ की मरुभूमि उर्वरा हो जाती है और उसके साथ यज्ञ के द्वारा वर्षा की समस्या को सुधारा जावे तो भारत में खाद्यान्न की कमी न रहे और बकरे, मुर्गे, मछली तथा पशुओं को भोज्य बनाने की आवश्यकता भी न रहे।

(४) यज्ञ द्वारा राष्ट्र की खनिज सम्पदा की वृद्धि हो सकती है। आज भूमण्डल का सारा व्यापार, व्यवसाय एवं व्यवहार सुवर्ण के आश्रय से चल रहा है। जिस राष्ट्र के पास सुवर्ण अधिक है उसका आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक प्रभुत्व अन्य देशों पर भी स्थापित हो जाता है। जिस प्रकार से अन्नादि की अधिक उत्पत्ति के लिये खादों के उपयोग की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सुवर्णादि की विशेष उत्पत्ति एवं वृद्धि के लिये यज्ञों द्वारा इस प्रकार के तत्त्वों को अन्तरिक्ष में फैला दिया जाता है जो कालान्तर में प्रकृति के विविध द्रव्यों के साथ स्वर्ण की खदानों की विशेष समृद्धि के कारण बन जाते हैं। यज्ञ द्वारा ५ वर्ष में इसका परिणाम देखा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों की समृद्धि के लिये भी यज्ञ की विधियों का अनुसन्धान हो सकता है।

(५) यज्ञ द्वारा ऋतुओं के तापमान में न्यूनता एवं वृद्धि हो सकती है। शीत ऋतु में यदि आवश्यकता से अधिक शीत की लहरें वातावरण को अतिशीतल बना दें अथवा ग्रीष्म ऋतु में गर्मी की प्रचण्डता से लू आदि से जनहानि होने लगे तो दोनों अवस्थाओं में अपने अनुकूल वातावरण में परिवर्त्तन यज्ञ के द्वारा संभव है। वर्तमान वैज्ञानिकों के साधन इस दिशा में जो हो रहे हैं वे व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित हैं और उनका लाभ एक छोटे से स्थान में ही कुछ धनी मानी व्यक्ति ही ले सकते हैं, अन्य नहीं। अतः वैदिक विज्ञान द्वारा ऋतु के वातावरण में इच्छित प्रयत्न वर्तमान विज्ञान के प्रयत्नों से भी बढ़कर प्रयत्न होगा।

यज्ञ के वैज्ञानिक उपयोग द्वारा जहाँ इस प्रकार से स्थूल जगत् में परिवर्तन किये जा सकते हैं वहाँ विश्व के मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में भी परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(६) यज्ञ द्वारा विश्व के मानस क्षेत्र में शान्ति, प्रेम, आस्तिकता, अभ्युदय आदि भावनाओं का जागरण हो सकता है।

(७) राष्ट्र में बौद्धिक, क्षात्र एवं विजयशक्ति का भी वर्धन हो सकता है।

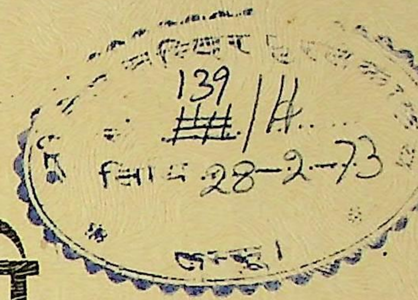
इसी प्रकार के अन्य अनेक कार्य वैदिक विज्ञान से सम्पन्न हो सकते हैं।

[लेखक महोदय के विचार प्रशंसनीय हैं, बहुत कुछ हो सकता है यह भी ठीक है, पर 'अनुभूत इस समय तक क्या है' यह जानना चाहने वाले के लिये कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं है, यही वास्तविक स्थिति है। लोगों के अज्ञान से यज्ञ के नाम पर लाभ उठाना या बड़ी २ योजनायें चलाना तब तक लाभप्रद नहीं हो सकता, जब तक एक छोटा सा अनुभव भी प्रत्यक्षरूप में जनता के सामने न आ जावे। हम सबको इस ओर यत्न करने की आवश्यकता है। बहुत बढ़कर वा रोचक ढंग से बात करने से काम नहीं चल सकता।

—सम्पादक]

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १३] [अङ्क १२



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

आश्विन २०१८ वि०, अक्तूबर १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६२

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।≈)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहिये। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

"श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का स्वास्थ्य"

आर्य जगत् को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा—अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का स्वास्थ्य अब दिन प्रतिदिन ठीक हो रहा है।

गत २–३ वर्ष से उन्हें गुर्दे की खराबी से पेट और गुर्दे में कष्ट रहता था। स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिर रहा था। उसकी चिकित्सा के लिए गत मास २३ ता० को उन्हें बम्बई ले जाया गया। वहाँ दो तीन योग्य डाक्टरों को दिखाया। एक्सरे आदि लेने के पश्चात् कर्नल मिराजकर (जो पहले लाहौर में तथा अब दो मास बम्बई व दो मास देहली में रहते हैं) को दिखाया। उन्होंने कहा कि गुर्दे का आप्रेशन होगा। परन्तु अब मैं देहली जा रहा हूँ। वहाँ आप्रेशन कर सकता हूँ। अन्त में डाक्टर की सलाह से ३१ अगस्त को वे देहली आए और उसी दिन उन्हें तीर्थराम हास्पिटल, राजपुरा रोड में भरती कराया गया। ५ सितम्बर को आप्रेशन हुआ। करीब ४ घंटे लगे। डाक्टर ने गुर्दे के खराब अंश को निकालकर प्लास्टिक-सर्जरी द्वारा उसे नया रूप दे दिया है। अब स्वास्थ्य उत्तरोत्तर प्रगतिशील है। परन्तु अभी लगभग ८–१० दिन हास्पिटल में और लगेंगे। आशा है इस सफल आप्रेशन के पश्चात् वे गत तीन वर्ष के रोग से मुक्त हो जाएँगे।

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १३ } काशी, आश्विन सं० २०१८ वि०, अक्तूबर १९६१ ई० { अङ्क १२

आर्याभिविनय से

व्याख्याता—विन्ध्यवासिनी प्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

सदा भद्र देखें और भद्र सुनें

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ यजु० २५। २१॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

हे देवाः [वयम्] कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम—हे देवेश्वर! हे यजनीयेश्वर! हे विद्वानों! हम लोग कानों से सदैव कल्याण को ही सुनें। अकल्याण की बात भी हम कभी न सुनें।

हे यजत्राः [वयम्] अक्षभिः भद्रं पश्येम—हे यजनीयेश्वर! हे यज्ञकर्त्ता! हम आँखों से कल्याण—मङ्गलसुख—को ही सदा देखें।

[वयं] स्थिरैः अङ्गैः तनूभिः तुष्टुवांसः देवहितं यत् आयुः [तत्] व्यशेमहि—हे जगदीश्वर! हे जनो! हमारे सब अङ्ग उपाङ्ग—श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपाङ्ग—दृढ़[1] सदा रहें, जिससे[2] हम लोग स्थिरता से[3], आपकी स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान[4] सदा करें [और] जिससे हमलोग,

अर्थबोधक टिप्पणी

१. दृढ़ = बली
२. जिससे = जिन अङ्गों की सहायता से
३. स्थिरता से = निरन्तर
४. अनुष्ठान = पालन

आत्मा, शरीर तथा इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविध सुखपूर्वक[५] प्राप्त हों। अर्थात् [हम लोग] सदा सुख में ही रहें।

दण्डान्वय--टीका

हे देवाः[६] = हे सत्य और ब्रह्मानन्द के आश्रय में जीवनयापन करने वाले बुद्धिमानों
यजत्राः[७] = आपके सत्सङ्ग में रहनेवाले
[वयम्] = हम लोग
कर्णेभिः = स्व कानों से
भद्रम्[८] = सर्वोत्तम तथा सर्वोत्तम बनाने वाले सामोक्त साधन सुख तथा सामोक्त ही साध्य—सुख की बातें
शृणुयाम = सुनते रहें
अक्षभिः[९] = (१) आँखों से (२) सूक्ष्म और दिव्यदृष्टि से
भद्रम् पश्येम[१०] } = (१) उपर्युक्त सत्य-सुख पर ही लक्ष्य-वत् दृष्टि रखे रहें (२) ईश्वराज्ञा को समझने का प्रयत्न करते रहें।
(तथा)
स्थिरैः[११] = दृढ़ ,मजबूत
अङ्गैः[१२] = (१) अवयवों से युक्त (२) विस्तृत भेद-प्रभेद तथा कार्य, अनुकूलता, कुश-लता और गम्भीरता से युक्त
तनूभिः[१३] = (१) स्व शरीरों से (२) सत्यधारण, सत्य-साधन सत्य-उपकार की भावना से
तुष्टुवांꣳसः[१४] = आप के दैवी सुख की सराहना करते हुए
देवहितम्[१५] = सत्यानन्द में रहने वाले आप लोगों का
यत् = जो
आयुः[१६] = जीवन
[अस्ति] = है
तत् = उसे
वि = अच्छे प्रकार
अशेमहि[१७] = प्राप्त करें, उसी में रसानुभव करें, उसी में विभोर रहें।

---

५. विविध सुख पूर्वक = अनेक सुख भोगते हुए

६. देवस्य दानशीलकृतस्य। दया० (यजु० ८। १३)॥
गातुविदो हि देवाः। श० ४। ४। ४। १३
ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः। श० २। २। २। ६०॥ ४। ३। ४। ४
सत्यसंहता वै देवाः। ऐ० ब्रा०। १। ६
जाग्रति देवाः। श० २। १। ४। ७
अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः। षड्० १। १
सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः। दया० (यजु० १।१)
यो देवानां पथैति ऋतस्य पथैति! श० ४। ३। ४। १६।
एकꣳह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव। श० ३। ४। २। ८
देवा यज्ञियाः। श १०। ५। २। २
देवा वै नृचक्षसः। श० ८। ४। २। ५
देवाः महिमानः। श० १०। २। २। २
सत्यमेव देवाः। श० १। १। १। ४
आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः। श० १०। ३। ५। १३
यज्ञ उ देवानामात्मा। श० ८। ६। १। १०

७. यज्ञसाधकः। दया० (यजु० ६। १०)
सङ्गन्तारः। दया० (यजु० २५। २१)
इज्यते यजति वा तद् यजत्रम्। अग्निहोत्रं होता वा। उ० ३। १०५

८. भन्दते कल्याणं करोतीति भद्रम्। उ० २। २८
भगेन व्याख्यातं, भजनीयं भूतानाम्। निरु० ४। १०
भद्रमेभ्योऽभूदिति कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति। श० ४। ६। ९। १०
जिससे सत्यता जानी जाय। दया० (स्वभाष्ये, आर्यभाषायाम्)
व्यु० भदि कल्याणे सुखे च भ्वा०। to be excellent: to shine चुरा०। to do an auspicious act (आप्टे कोष में है। वैदिक यन्त्रालय मुद्रित धातुपाठ में नहीं है)

९. व्यु० अक्षु = व्याप्तौ भ्वा०। to pass through: to pervade—आप्टे०
अक्षाणि इन्द्रियाणि तुषं चक्रं शकटं व्यवहारो वा। उ० ३।६५

१०. to see by divine intuition! यथा
ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श। निरु०

११. faithful : strong : intense—आप्टे०

१२. अनक्ति व्यक्तीकरोति इति अङ्गः। उ० ४। २१६।
व्यु० अम् = गत्यादिषु भ्वा०। Constituent part—आप्टे

१३. तन्यते कर्माणि अनेनेति तनुः शरीरं स्वल्पं वा। उ० १।७
व्यु० तनु० = विस्तारे। तुदा०। श्रद्धोपकरणयोः। चुरा०
आत्मा वै तनूः। श० ६। ७। २। ६

१४. ष्टुञ् = स्तुतौ। अदा०

१५. देवेभ्यो विद्वद्भ्यो हितम्। दया० (स्वभाष्ये)

१६. जीवनम्। दया० (स्वभाष्ये)

१७. व्यु० अशूङ् = व्याप्तौ संघाते च। स्वा०॥ अश् = भोजने क्र्या० fill completely : to get : to enjoy : to be master of : to accumulate : to taste—आप्टे०

तत्त्वज्ञान के साधन

[ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

[४]

मुमुक्षुत्व

तत्त्वज्ञान तथा मोक्ष के साधनचतुष्टय का वर्णन करते हुए विवेक—वैराग्य—और षट् सम्पत्ति का कुछ वर्णन किया गया है। अब चौथे साधन "मुमुक्षुत्व" की ओर ध्यान दीजिये। श्री शंकराचार्य जी से जब पूछा गया कि "मुमुक्षुत्वं किम् ?" तो उन्होंने कहा—"मोक्षो मे भूयादितीच्छा" मेरा मोक्ष हो—ऐसी इच्छा का होना मुमुक्षुत्व है। स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने इसकी व्याख्या यह की है।

"जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्न जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना मुमुक्षुत्व है।"

उत्कट इच्छा होना कि सब प्रकार के दुःखों से साधक का छुटकारा हो जाये और परमानन्द प्राप्त हो, जब साधक इस अवस्था में पहुँचता है, तो फिर उसे परमार्थ के विना और कोई बात प्रिय ही नहीं लगती। ऋषि दयानन्द जी की यह उपमा बड़ी उपयुक्त है कि जैसे भूखे को रोटी और प्यासे को पानी के सिवाय और कुछ नहीं सूझता, इसी प्रकार मुमुक्षु को मुक्ति के प्रसङ्ग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं भाता। जैसे प्रियतम के प्रेम में प्रेमी सिवाय प्रियतम के बाकी सब कुछ भूल जाता है, इसी प्रकार मुमुक्षु की अवस्था हो जाती है। तब वह प्रियतम के वियोग में तड़पने वाले विरही की तरह कबीर के शब्दों में कहता है—

मैं प्यासी हौं पीव की, रटत सदा पिव-पीव।
पिया मिले तो जीव हैं, सहजै त्यागो जीव॥

चातक जैसी अवस्था

पृथिवी पर जल की क्या कोई कमी है ? कितनी नदियां बहती चली जा रही हैं। हमारे देश की गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र और दूसरे नदी नद, फिर इतने समुद्र ! परन्तु, चातक इनके होते हुए भी स्वाति की बूँद के लिये आकाश की ओर दृष्टि लगाये उड़ता ही रहता है। वह प्यासा मर जायगा; परन्तु इन नदियों का जल ग्रहण नहीं करेगा:—

गंगा जमुना सरस्वती, हैं जग में भर पूर।
तुलसी चातक के मते, स्वाति बिन सब धूर॥

साधक की ऐसी अवस्था होने पर, केवल आत्म-दर्शन की चाह के प्रेम में उन्मत्त हो उठने पर ही, उसे मुमुक्षु का पद मिल सकता है। मुमुक्षु फिर संसार में रहता हुआ भी उसके जाल में नहीं फंसता। क्योंकि उसकी वृत्ति हर समय दुःखों से छूटने और परम प्रिय परमात्मा से एक हो जाने की बनी रहती है। तब वह विषयों को विष के समान दूर ही से त्याग देता है और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम, दम का अमृत नित्यप्रति सेवन करता रहता है। तब वह मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म, त्वचा, इन सात धातुओं से बने स्थूल शरीर ही को अपना उपास्य देव नहीं समझता, अपितु इसे अपने प्रियतम तक पहुँचाने का साधन मात्र समझ कर इसकी रक्षा करता हुआ, आत्मतत्त्व को पाने के लिये हर समय यत्नशील रहता है। वह समझ जाता है कि यह मनुष्यत्व प्रभु की कृपा ही से मिलता है। इसे पा कर प्रभु कृपा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। अपितु इसे प्रभुमिलन का एकमात्र साधन जानकर, प्रियतम ही की खोज में लगे रहना चाहिये।

ये चार साधन तत्त्वज्ञान के ऋषियों ने वर्णन किये हैं। ऋषि दयानन्द ने इनको मोक्ष के विशेष साधन लिखा है और सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में इनकी सुन्दर व्याख्या भी की है। विवेक चूड़ामणि में भी इन्हीं के द्वारा साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है। वहां दो श्लोकों में सारा सार खींच दिया है:—

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते,
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।
ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा न्यासः,
प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥
ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं,
चिरं नित्यं निरन्तरं मुनेः ।
ततोऽविकल्पं परमेत्य विद्वानिहैव,
निर्वाणसुखं समृच्छति ॥

मोक्ष का प्रथम हेतु अनित्य वस्तुओं में अत्यन्त वैराग्य होना, कहा है। तदनन्तर शम, दम, तितिक्षा और सम्पूर्ण आसक्ति युक्त कर्मों का सर्वथा त्याग है। तदुपरान्त मुनि को श्रवण, मनन चिरकाल तक नित्य निरन्तर आत्म-तत्त्व का ध्यान करना चाहिये। तब वह विद्वान् परम निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होकर निर्वाण सुख को पाता है।

साधक की तैयारी

तत्त्वज्ञान के अधिकारी बनने के लिये जिन चार विशेष साधनों का वर्णन किया गया है, इनसे यह प्रकट हो गया कि कितनी बड़ी तैयारी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये करनी होती है और वह वस्तु कितने बड़े महत्त्व की होगी, जिसको पाने के लिये इतना त्याग, इतना तप और इतना वैराग्य धारण करना पड़ता है।

इन चार साधनों के अतिरिक्त साधक को श्रवण, मनन और निदिध्यासन की वाटिका में से गुजर कर साक्षात्कार के चौक तक पहुँचना होता है। महर्षि दयानन्द के शब्दों में साधक को "सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलिनता, आलस्य, प्रमाद आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्षा, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग हो के, सत्य अर्थात् शांत-प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करना चाहिये।" "सुखी जनों में मित्रता, दुःखी जनों पर दया, पुण्यात्माओं से हर्षित होना, दुष्ट आत्माओं में न प्रीति और न वैर करना चाहिये।" "नित्यप्रति न्यून से न्यून दो घंटा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।"

इसी सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनने के लिये महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में पूरे अनुभव और बड़े महत्त्व पूर्ण आदेश दिये हैं। यजुर्वेद के ११ वें अध्याय का पहला मंत्र देकर लिखा है:—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥

योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान के पहिले जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वह परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं, पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है और यजुर्वेद के इसी अध्याय के तीसरे मंत्र की व्याख्या में महर्षि ने लिखा है कि—

"वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको (साधकों को) युक्त करके उनके आत्माओं में बड़े प्रकाश (बृहज्ज्योतिः) को प्रकट करता है।"

इन दोनों मंत्रों तथा महर्षि की व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान के अधिकारी के हृदय—आत्मा में बृहद् ज्योति प्रकट हो जाती है, परन्तु यह तभी होता है, जब परमात्मा आप कृपालु होते हैं। अधिकारी बनने के लिये जहाँ और साधनों को साधक सम्पन्न करता है, वहाँ उसे प्रभुकृपा की भी प्रतीक्षा करनी होती है। इन साधनों को प्रयोग में लाने वालों को पूर्ण विश्वास दिलाने के लिये ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में यजुर्वेद के इसी अध्याय का पाँचवाँ मंत्र भी दिया है, जिसमें भगवान् की ओर से प्रतिज्ञा है और साधक के लिये पूरा आश्वासन है:—

युजे वाँ ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि
दिव्यानि तस्थुः ॥ यजु० ११। ५॥

"उपासना का उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले, दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है, कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य-प्रेम भाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊँगा कि सत्य कीर्ति तुम दोनों को प्राप्त हो। किसके समान? जैसे परम विद्वान् को धर्म मार्ग यथावत् प्राप्त होता है। इसी प्रकार तुमको सत्य सेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूँ कि—हे मोक्षमार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो! तुम सब लोग सुनो कि—जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त होओ। इसमें संदेह न करो, इसलिये मैं तुमको उपासना योग में युक्त करता हूँ।"

स्वयं भगवान् की ओर से इतना बड़ा आश्वासन पाकर तो साधक उछल पड़ेगा और वह आत्म-दर्शन तथा तत्त्वज्ञान के मार्ग पर तीव्रता से अग्रसर होगा। परन्तु एक बार फिर ध्यानपूर्वक वेद भगवान् का यह आदेश सुन लो कि—

अष्टविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे।
अथर्व० १९।८।२॥

"अट्ठाईस की सेना जो मेरे साथ हैं, हे शिव! वह भी उपासना योग में प्रवृत्त होकर उसी में लगी रहे।" यह २८ की सेना कौन सी है? जिसका संकेत वेद भगवान् ने किया है? यह सेना है—

दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विद्या, स्वभाव, शरीर और बल ये अठाईस जब तक साथ नहीं देते, और सब के सब उपासना मार्ग पर अग्रसर नहीं होते, तब तक सफलता कहाँ? स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म इन्द्रिय तथा भावना तक ये सारे के सारे आत्मा के सच्चे मित्र और संगी बन कर प्रभु से युक्त होने के लिये जब कटिबद्ध हो जाते हैं, तो फिर प्रभु की कृपा स्वयमेव ज्योति के रूप में प्रकट हो जाती है और साधक को तत्त्वज्ञान का अधिकारी घोषित कर देती है॥

मानव—प्रेम

[*ले०—श्री पं० रघुनाथ प्रसाद जी पाठक—देहली*]

सिकन्दर शाह भारत–दिग्विजय के लिये आया हुआ था। एक दिन वह अपने सैनिक अफ़सरों के साथ सैर को निकला। एक भारतीय सज्जन उनके मार्ग–दर्शक थे। सैर करते-करते सिकन्दर ने भारतीय सज्जन से कहा—'भारत में ग्राम और झोंपड़े अधिक हैं, शहर कम हैं। यहाँ आकर्षण की वस्तुएँ भी बहुत कम हैं। यह तो गँवारों और देहातियों का देश जान पड़ता है।

भारतीय सज्जन ने कहा—"सिकन्दर शाह! आपको पता नहीं है कि बड़े शहर वे होते हैं जिनमें उच्च हस्तियाँ निवास करती हैं। केवल ईंटों और पत्थरों की बड़ी-बड़ी इमारतों से कोई जगह बड़ी नहीं कही जा सकती।" इस उत्तर को सुनकर सिकन्दर चुप हो गया।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक वाल्ट-व्हाइट मैने ने भी अपनी रचनाओं में इस भाव को इस प्रकार दर्शाया है—

"यदि टूटे-फूटे झोंपड़ों में महान् व्यक्ति निवास करते हों तो वे झोंपड़े संसार के सबसे बड़े नगर हैं।"

आर्य संस्कृति का विकास इन्हीं झोंपड़ों और वन प्रदेशों में हुआ था। यहीं पर समस्त विश्व के कल्याण की योजनाएँ बनती थीं। यहीं जीवन में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वह मूर्तिमान् दीख पड़ता था। यहीं से मानव–प्रेम की विशुद्ध धारा प्रवाहित होती थी। इनमें रहनेवालों का आभ्यन्तर अधिक संस्कृत और विकसित था।

आर्य संस्कृति की सबसे बड़ी देन यह है कि यह मनुष्य को प्राणिमात्र से निःस्वार्थ और नैसर्गिक प्रेम करना सिखाती है। यह बतलाती है कि अपनी आत्मा के अनुभव के अनुसार दूसरों से व्यवहार करो। जिन कष्टों और यातनाओं से तुम बचना चाहते हो उनसे दूसरों

को पीड़ित मत करो। इस उदात्त भावना ने संसार में सुख और प्रेम के पलड़े को भारी रखा है। यह भावना मनुष्य मात्र में स्वभावतः पाई जाती है परन्तु संस्कार और संगति कोष से अब यह भावना दब सी गई है। पश्चिम में इस समय जो आग लगी है, अब से ५००० वर्ष पूर्व वही आग भारत में भी लगी थी। उसका कारण इस उच्च भावना का दब जाना ही तो है।

प्राणिमात्र से प्रेम की भावना आस्तिकता से उत्पन्न होती है, जब मनुष्य परमात्मा में प्राणिमात्र के और प्राणिमात्र में परमात्मा के दर्शन किया करता है।

यह भाव हमें यह सिखाता है कि दीन-दुःखियों और छोटे-बड़े सबमें हमें दिव्यता का दर्शन करने का अभ्यासी बनना चाहिए। हमें उस महान् व्यक्ति का आदर्श सामने रखना चाहिए जो यह कहता था कि मैं रात-दिन प्राणियों की अच्छाई पर दृष्टि रखता हूँ। मैं उनमें दिव्यता की खोज करता हूँ। इस सुनहरी शिक्षा की अवहेलना से ही विविध दुष्परिणामों के साथ रंग-विद्वेष, जाति-विद्वेष और विभिन्न प्रकार की त्रुटियाँ संसार में शासन कर रही हैं। इसी के कारण संसार अत्यधिक अशान्त और कांतिहीन हो रहा है।

मानव-प्रेम की भावना के चरितार्थ होने के मार्ग में विश्व में समान भाषा, समान धर्म्म, समान विचार और समान सुख-दुःख की भावना का न होना बहुत बड़ा रोड़ा है। इस रोड़े को हटा देना समस्त विश्व के प्राणियों का परम कर्त्तव्य है॥

आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन

[ले०—प्रो० भवानीलाल जी भारतीय एम. ए. जोधपुर]

[२]

ऋग्वेदभाष्य भूमिका के मंगल श्लोकों में आचार्य सायण लिखते हैं—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥

अर्थात् यज्ञ के कार्यों में अध्वर्यु ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के प्रधान होने के कारण पहले यजुर्वेद का व्याख्यान किया, अब होता नामक ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण की दृष्टि में वेदों का महत्त्व उनके यज्ञोपयोगी होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तभी तो उन्होंने चारों वेदों को क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के लिये उपयोगी माना और यज्ञकर्म में अध्वर्यु की प्रधानता को देखकर ऋग्वेद से पूर्व यजुर्वेद का व्याख्यान किया।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में ही उसने यह पूर्वपक्ष बड़े विस्तार से उठाया है कि जहाँ कहीं भी वेदों की चर्चा हुई है वहाँ ऋग्वेद का उल्लेख ही सर्वप्रथम हुआ है, फिर उसे प्राथमिकता न देकर यजुर्वेद की व्याख्या को महत्त्व क्यों दिया गया। स्वयं ही इसका समाधान करते हुये लिखते हैं—

"अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेव आदौ युक्तम्"। पृ० २

अर्थात् माना कि वेद के अध्ययन, पारायण आदि में ऋग्वेद को ही प्रथम कहा है तथापि अर्थज्ञान यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रखकर ही अपेक्षित होता है और यज्ञ के अनुष्ठान में यजुर्वेद की प्रधानता है अतः यजुर्वेद का व्याख्यान आरम्भ में किया गया, वह उचित है।

अब यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेदार्थ करने में सायण का दृष्टिकोण यज्ञपरक और केवल यज्ञपरक ही है। वह तो यज्ञानुष्ठान के अतिरिक्त वेदार्थ की कोई उपयोगिता ही स्वीकार नहीं करता। सायण की प्रशंसा में औचित्यानौचित्य का विचार न रखने वाले पं० बलदेव उपाध्याय अपने सम्पादकीय परिचय में लिखते हैं—

It was proper on the part of Sayana to write his first bhassya upon yajurveda samhita, because it is in order to perform the sacrifice that we must know the meanig of the Veda."[1]

अर्थात् सर्वप्रथम यजुर्वेद संहिता का भाष्य लिखना सायण के लिये उचित ही था क्योंकि यज्ञों के लिये यजुर्वेद की ही प्रमुखता समझी जाती है तथा यज्ञ सम्पादनार्थ ही हमें वेदार्थ को जानने की आवश्यकता रहती है। वस्तुतः सायण और उसके अनुयायी उपाध्याय जी का यह वेदार्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण नितान्त संकुचित है। जहाँ कहीं मनुस्मृति आदि शास्त्रों में भी—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥

कहकर वेद को यज्ञ सिद्धि के अर्थ बताया गया है वहाँ भी 'यज्ञ' का अर्थ अग्निहोत्रादि के संकुचित अर्थों में न कर प्राणिमात्र के कल्याणार्थ किये जाने वाले सभी उत्तम कर्मों में अभिहित करना होगा।

महर्षि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सायण के इस दृष्टिकोण की कटु आलोचना की है। वे लिखते हैं—

यत्सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्परः सन्तीत्युक्तं तदन्यथाऽस्ति।"

अर्थात् सायणाचार्य ने जो वेदों के परमार्थ को न जानकर यह कहा कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही वर्णन करते हैं, यह मिथ्या है। उपर्युक्त विवेचन से महर्षि दयानन्द और आचार्य सायण के वेदार्थ विषयक दृष्टिकोण में जो मौलिक अन्तर है, वह स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड प्रतिपादक होने के कारण यजुर्वेद का सर्वोपरि महत्त्व स्थापित करने के अनन्तर सायण एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उठाते हैं। पूर्वपक्षी कहता है—

'ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः ? तथाहि, कोऽयं वेदो नाम ?' आदि—

अर्थात् जब वेद का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में वेद के अवान्तर विशेष ऋग्वेद का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः प्रश्न यह है कि वेद है क्या ? इस प्रश्न के समाधान में सायण ने लिखा है—

"मन्त्र ब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (१।३३) इति।"

यह एक और महत्त्वपूर्ण विषय है जिस पर सायण और दयानन्द के विचारों में भिन्नता प्रतीत होती है। सायण ने तथा अन्य मध्यकालीन आचार्यों ने जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद की संज्ञा दी है, वहाँ आचार्य दयानन्द केवल मंत्रभाग को ही वेद मानते हैं। सायण ने तो अपने मत की पुष्टि में केवल 'आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा' का एक सूत्र ही उद्धृत किया, परन्तु महर्षि दयानन्द ने अपने 'वेद संज्ञा विचार' प्रकरण के अन्तर्गत इस विषय की पूरी मीमांसा की है। उनकी दृष्टि में 'न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति' ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। कुतः-क्यों नहीं इसलिये कि—

(१) पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्—अर्थात् ब्राह्मणों की पुराण और इतिहास संज्ञा है।

(२) वेद व्याख्यानात्—वे वेद के व्याख्यान हैं।

(३) ऋषिभिरुक्तत्वात्—वे ऋषियों के कहे हुए हैं।

(४) अनीश्वरोक्तत्वात्—ईश्वरोक्त नहीं हैं।

(५) कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्—कात्यायन से भिन्न अन्य किसी ऋषि ने उन्हें वेद संज्ञा प्रदान नहीं की।

(६) मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्—मनुष्य बुद्धि से रचे गये हैं।

ये हैं वे तर्क और युक्तियाँ जो महर्षि ने ब्राह्मणों को वेद न मानने में दी हैं। वे केवल इन युक्तियों का उल्लेख करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गये। प्रत्येक की उन्होंने उदाहरणों द्वारा पुष्टि भी की है। यथा, जब वे कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की इतिहास और पुराण संज्ञा है तो इसको सिद्ध करने के लिये वे 'यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' यह सूत्र उद्धृत करते हैं तथा यह भी बताते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में देवासुर संग्राम,

1. Introduction to the commentary of the Veda—P XVI

याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी आदि का उल्लेख होना उनकी इतिहास संज्ञा को सिद्ध करता है। इसी प्रकार **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** आदि वचनों की सत्ता ब्राह्मणों को पुराण संज्ञा भी प्रदान करती है। यह तो हुआ ब्राह्मणों को 'पुराण' और इतिहास' नाम से अभिहित करने के विषय में।

जहाँ तक उनके वेदव्याख्यान होने का सम्बन्ध है, वह भी स्पष्ट ही है। वे लिखते हैं—

इषे त्वोर्जे 'त्वेति' (शतपथ काण्ड १।) अ० ७ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।

अर्थात् 'इषे त्वोर्जेत्वेति' इस प्रकार वेद मंत्रों की प्रतीकें धरकर जो ब्राह्मणों में वेदों की व्याख्या की गई है वह भी उनका वेदव्याख्यान होना ही सिद्ध करता है न कि स्वयं वेद होना। ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि प्रोक्त तो हैं। ऐतरेय ब्राह्मण इतरा पुत्र ऐतरेय महीदास की रचना है। शतपथ के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य माने गये हैं। इसी प्रकार अन्यान्य ब्राह्मण ग्रन्थ भी ऋषिकृत ही हैं। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। यदि होते तो जहाँ पुरुषसूक्त में 'तस्माद् यज्ञात्' आदि मंत्रों में ऋग्वेदादि ४ वेदों की रचना पुरुष द्वारा होनी बताई गई वहाँ ऐतरेयादि ब्राह्मणों का भी पुरुषोक्त होना अवश्य बताया जाता। उसके अभाव में ब्राह्मणों का अनीश्वरोक्त होना स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व सिद्ध नहीं होता। जहाँ तक उस तथा कथित कात्यायनवचन का प्रश्न है जिसमें वेद को 'मन्त्रब्राह्मणात्मक' कहा गया है हम पाठकों से पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक लिखित उस लघुपुस्तिका[1] के पढ़ने का अनुरोध करेंगे जिसमें इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है।

आर्यसमाज और सनातन धर्म के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त विषय को लेकर नितान्त अन्तर प्रतीत होता है। अभी कुछ वर्ष पूर्व कानपुर में सनातन धर्म के नेता स्वामी करपात्री जी द्वारा सर्व वेदशाखा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसमें आर्य समाज के पक्ष को वेदवाणी के सम्पादक पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने, तथा सम्मेलन के पश्चात् पं० विद्याधर जी मंत्री केन्द्रीय आर्य सभा कानपुर, पं० डा० हरिदत्त जी शास्त्री, संस्कृत विभागाध्यक्ष डी. ए. वी. कालेज कानपुर आदि विद्वानों ने पत्रव्यवहार प्रस्तुत किया था। सम्मेलन के समाप्त होने के पश्चात् सनातन धर्म के दृष्टिकोण को 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' शीर्षक ग्रन्थ के दो भागों में प्रस्तुत किया गया जो स्वामी करपात्री जी के नाम से प्रकाशित हुआ है। आर्यसमाज की ओर से इसका समाधानात्मक उत्तर 'वेदसंज्ञाविमर्श' के नाम से दिया गया है जो आर्यसमाज मेस्टन रोड कानपुर से प्रकाशित हुआ है। दोनों पक्षों के ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से इस विषय की गहनता और जटिलता का भली-भाँति आभास हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि शताब्दियों से वेद का यज्ञप्रधान अर्थ किये जाने तथा अन्यान्य कारणों से ब्राह्मण ग्रन्थों को भी रूढार्थ में 'वेद' संज्ञा प्रदान की जाती रही है परन्तु ऋषि दयानन्द का यह दृष्टिकोण भी नितान्त क्रान्तिकारी तथा युक्ति प्रमाण एवं तर्क सिद्ध है जिसके अनुसार उन्होंने केवल मंत्रसंहिताओं को ही वेद माना और शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का पौरुषेयत्व सिद्ध कर उनका स्वतः प्रमाणत्व अस्वीकार कर दिया॥

१ "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिद् अभिनवो विचारः"।

परम देशभक्त ऋषि दयानन्द

"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है"

(स० प्र०)

क्या आचार्य गौतम नास्तिक थे ?

[ले०—पं० अमरसिंह जी जिज्ञासु, एम० ए०, आगरा]

आधुनिक विश्वविद्यालयों में बी० ए० तथा एम० ए० के दर्शन (philosophy) के कोर्स में न्याय सूत्रों के प्रणेता आचार्य गौतम को अनीश्वरवादी बताया जाता है। इसका कारण भारतीय दर्शन के इतिहास को लिखने वाले हमारे श्रद्धेय विद्वान् गण जैसे डा० राधाकृष्णन्, डा० श्याम सुन्दर दास, डा० के० एन सिन्हा, श्री हरिनारायण तथा अन्यान्य अनेक लेखक हैं। इन सभी महानुभावों ने गौतम मुनि को मूलतः अनीश्वरवादी होना सिद्ध करने का यत्न किया है। इस भूल का कारण यह है कि इन्होंने पाश्चात्य लेखक जैसे गर्बे (Garbe), अथेले (Athalay), मूर (Muir) तथा कीथ (Kieth) इत्यादि लेखकों के भ्रमपूर्ण मतों को विना समीक्षण के स्वीकार कर लिया। प्रस्तुत निबन्ध में इसी भूल को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। स्वाध्यायशील पाठक इस पर मनन करेगें, ऐसी हमारी अभिलाषा है।

पूर्वपक्ष—डा० राधाकृष्णन् जी लिखते हैं--

"In the Nyaya Sutra, we find only a causal mention of God, which justifies the suspecion that the ancient doctrine of Nyaya was not theistic."

(Dr. Radha krishanan : Ind. Phil. Vol. II P. 265)

अर्थात् "न्याय सूत्रों में ईश्वर का उल्लेख केवल "कारण" के रूप में मिलता है जो इस सन्देह को प्रमाणित करता है कि न्याय का प्राचीन सिद्धान्त ईश्वरवादी नहीं था। भाव स्पष्ट है कि न्याय सूत्र जो कि न्याय का प्राचीन ग्रन्थ है—के रचयिता गौतम ऋषि अनीश्वरवादी थे। प्रो० पन्त ने ऑरियेन्टल कान्फ्रेन्स (१९४३-४४) में एक शोध-निबन्ध पढ़ा था। उन्होंने सिद्ध किया है कि—

"Kanad and Gautama might or might not have been theists at heart, but from the available records this much is clear that the theistic position in a definite form was not originally intended to be a part of the Nyaya system."

(Prof. A. S. D. Pant : All India confer. 1943-1944)

अर्थात्—"कणाद और गौतम हृदय से चाहे ईश्वरवादी थे अथवा नहीं थे, लेकिन प्राप्त साधनों से इतना तो स्पष्ट है कि ईश्वरवादी सिद्धान्त अपने निश्चितार्थ में न्याय दर्शन की प्रक्रिया का अंग नहीं था।" आखिर इन्होंने ऐसा क्यों लिखा ? इसके मूल कारण हैं, हमारे विदेशी लेखक जिन्होंने इस निराधार मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उदाहरण के लिये उनके मत प्रस्तुत किये जाते हैं। गर्बे साहब लिखते हैं कि—

"The fundamental text books of the two schools, the Vaishesika and the Nyaya sutras, originally did not accept the existence of God, it was till a subsequent period that the two systems changed to theism, although neither ever went so far as to assume a creater of matter".

(Garbe : Philosophy of Ancient India, P. 23)

अर्थात् "वैशेषिक और न्याय संप्रदायों की मूल पुस्तकों में मूलतः ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है, यह दोनों संप्रदाय बाद में ईश्वरवादी हो गये, हालांकि उन्होंने उसे प्रकृति का कर्त्ता नहीं माना।"

इन्हीं के एक मित्र मूर महोदय के मत का भी श्रवण कर लीजिये। मूर साहब लिखते हैं कि—

"Kanad and Gautama might have at first purposely excluded God from their systems".

(Muir: Original Sanskrit Text Vol. III P. 133)

अर्थात् "कणाद और गौतम ने ईश्वर को जान बूझकर अपने संप्रदाय से निकाल दिया था।"

उत्तर पक्ष—

इस प्रकार हमने गौतम मुनि को अनीश्वरवादी मानने-वाले आचार्यों के मतों को रखा। अब पाठकों के सम्मुख उत्तर पक्ष में सप्रमाण यह सिद्ध किया जायगा कि उपर्युक्त मत अयुक्त, भ्रमपूर्ण व असमीचीन है।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि न्यायसूत्रों के कर्ता आचार्य गौतम पक्के ईश्वरवादी थे, उनके ईश्वरवादी होने पर संदेह भी करना भूल है। हेतु निम्नलिखित हैं:—

पहला हेतु—भारतीय परम्परा के अनुसार यदि किसी आचार्य को कोई विशेष मत मान्य नहीं होता तो वह उसका सूत्र में खण्डन अवश्य कर देता है। आचार्य गौतम ने अपने किसी सूत्र में ईश्वर का खण्डन नहीं किया। कोई भी अनीश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर का खण्डन किये बिना नहीं रह सकता। चारवाक, बौद्ध, जैन इत्यादि इसीलिये अनीश्वरवादी कहे जाते हैं कि उन्होंने ईश्वर की सत्ता का हर प्रकार से खण्डन किया है। यदि गौतम अनीश्वरवादी होते तो इस प्रमुख विषय का कहीं खण्डन अवश्य करते। अतः गौतम निरीश्वरवादी नहीं थे।

दूसरा हेतु—सूत्रकार के मूलभूत सिद्धान्तों को टीकाकार व भाष्यकार अवश्य समझता है तथा अपनी सहमति अथवा असहमति को भाष्य में प्रकट भी अवश्य करता है। न्यायसूत्र के प्रथम भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने तथा "न्यायवार्तिक" लिखने वाले आचार्य उद्योतकर तथा न्यायवार्तिक पर "तात्पर्य टीका" लिखने वाले षड्-दर्शन-सिद्धान्त-मार्तण्ड वाचस्पतिमिश्र ने गौतम को अनी-श्वरवादी सिद्ध न करके ईश्वरवादी सिद्ध किया है। (इसका उल्लेख आगे किया जायगा) आज गर्वे, आथले, डा० राधाकृष्णन् से यह विद्वान् गौतम के सिद्धान्तों के अधिक मर्मज्ञ थे, इस बात को प्रत्येक विद्वान् स्वीकार करेगा। यदि गौतम निरीश्वरवादी होते अथवा इस विषय से तटस्थ होते तो इसका विवेचन वे अवश्य करते। अतः गौतम को अनीश्वरवादी कहना उनके प्रति अन्याय करना है।

तृतीय हेतु—यही नहीं बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने अपने "प्रमाणसमुच्चय" में तथा धर्मकीर्ति ने अपने "प्रमाण-वार्तिक" में न्यायसूत्रों के छोटे से छोटे सिद्धान्तों का खण्डन किया है। वहां उन्होंने गौतम व वात्स्यायन को ईश्वरवादी मानकर उनके ईश्वर विषयक मन्तव्यों पर अनेक आक्षेप उठाये हैं। यदि गौतम जी अनीश्वरवादी होते, तो उन्होंने क्या भाँग पी रखी थी जो व्यर्थ में इस विषय में उनका खण्डन करते। अतः पूर्वपक्षियों का मत निर्मूल है।

चतुर्थ हेतु—गौतम ने शब्द प्रमाण के अंतर्गत वेदों को प्रमाण माना है अर्थात् वेदों में जो कुछ भी लिखा है वह उन्हें मान्य है। स्थान २ पर अपने मत की पुष्टि के लिये वे वेद की ओर संकेत करते हैं जैसे शरीर पार्थिव है, इसको बताने के लिये कहते हैं—

श्रुति प्रामाण्याच्च॥

(न्यायसूत्र ३।१।२९)

आचार्य वात्स्यायन इसकी पुष्टि में वेद का प्रमाण देते हैं। **"सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतामिति मन्त्रे पृथ्वी ते शरीरमिति श्रूयते।"** इसी प्रकार न्याय सूत्र २।१।६७, ३।१।६२ तथा ४।१।६० में वेद को प्रमाण मानकर उद्धृत किया गया है। जो आचार्य वेद को शब्द प्रमाण स्वीकार करता हो वह अनीश्वरवादी नहीं हो सकता। चारवाक, जैन व बौद्धों का अनीश्वरवादी होना उनके वेद को प्रमाण न मानने के कारण ही है। यदि वे वेद को प्रमाण मानते तो कोई उन्हें अनीश्वरवादी की कोटि में नहीं रखता। अस्तु, वेदवादी गौतम का ईश्वरवादी होना स्वयंसिद्ध है, जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाय कि वेद ने ईश्वर की सत्ता से इनकार किया है।

पंचम हेतु—गौतमाचार्य ने अपवर्ग के साधनों के विवेचन के प्रकरण में यम तथा नियमों का उल्लेख किया है। सूत्र इस प्रकार है—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म-विध्युपायैः॥ (न्याय० ४।२।६)

इस सूत्र पर वात्स्यायन जी ने विशेष व्याख्या नहीं की, **योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः......** तथा अपितु **"उपायस्तु योगाचारविधानमिति"** कहकर योग दर्शन की ओर संकेत भर कर दिया है कि यमनियम का विषय योगदर्शन में देख लें। योगदर्शन के अध्ययन करने वाले जानते हैं कि नियम के अन्तर्गत ५ बातें आती हैं—(१) शौच (२) सन्तोष (३) तप (४) स्वाध्याय (५) ईश्वरप्रणीधान (योग)। हमें केवल ईश्वरप्रणिधान पर ही विचार करना है। ईश्वरप्रणिधान का तात्पर्य है

कि "सम्पूर्ण कर्मफलों को ईश्वर को अर्पण करके धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होना" इसका अधिक स्पष्टीकरण तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः (२।१) "तज्जपस्तदर्थभावनम्" तथा "तस्य वाचकः प्रणवः" (यो० सू०) में किया गया है। यदि गौतम अनीश्वरवादी होते तो वे नियमों का उल्लेख क्यों करते ? गौतम जी योग के 'नियमों' से सभी प्रकार परिचित थे। तभी उन्होंने उसकी ओर संकेत किया, अतः वे ईश्वरवादी थे।

छठा हेतुः—गौतम के पश्चात् भारतीय आचार्यों के मतों का इतिहास लिखने वाले आचार्य जैसे माधवाचार्य तथा हरिभद्र इत्यादि ने गौतम जी को ईश्वरवादी माना है। हरिभद्र अपने 'षड् दर्शन समुचय' में प्रतिपादित करते हैं—

अक्षपादमते देवः सृष्टिसहायकः शिवः।
विभुर्नित्य एकः सर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः॥
(हरिभद्र षड् दर्शन समुचय पृ० १३)

अर्थात्—अक्षपाद (गौतम का दूसरा नाम) के मत में सर्वज्ञ, विभु, एक सृष्टिकर्त्ता शिव है। इन आचार्य का ज्ञान गौतम के सिद्धान्तानुकूल था, तभी उन्होंने लिखा। इसी प्रकार शंकराचार्य जी ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में जहाँ अन्यान्य अनीश्वरवादियों का खण्डन किया है, वहाँ गौतम को ईश्वरवादी माना है। वे लिखते हैं—

"तथा चाचार्यप्रणीतन्यायापबृंहितसूत्रम्—"दुःखजन्मप्रवृतिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरपाये तदन्तरापायादपवर्गः" (न्याय० १।२) इति मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति"।

(ब्र० सू० शा० भा० १ । १ । ४)

अर्थात् न्यायाचार्य का इसी प्रकार युक्ति-युक्त सूत्र है 'दुःख, जन्म, प्रवृति, दोष और मिथ्याज्ञान इनमें से पूर्व-पूर्व का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती हैं' इस मिथ्याज्ञान का नाश—जीव व ब्रह्मैक्य ज्ञान से होता है। शंकर का जीवब्रह्मैक्यवाद ठीक हो अथवा न हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि वे गौतम को निरीश्वरवादी नहीं मानते थे। अन्यच, सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी गौतम को ईश्वरवादी माना है। तब हमारे भारतीय विद्वान् व पाश्चात्य विद्वान् गौतम को अनीश्वरवादी कहने का साहस ही कैसे करते हैं ?

सातवाँ हेतुः—मूल न्यायसूत्रों में भी ईश्वर का विवेचन किया गया है। जब गौतम स्वतः ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, तो सन्देह के लिये स्थान ही नहीं रहता। सूत्र है—"ईश्वरः कारणम् पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" (न्याय० ४ । १ । १९) पुरुषों को समस्त शुभाशुभ कर्मों का फल नहीं मिल पाता (पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्) इसलिये (ईश्वरः कारणम्) उन फलों को ईश्वर देता है पुरुष नहीं। इस सूत्र पर आचार्य वात्स्यायन का भाष्य भी द्रष्टव्य है—पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः, तस्मादीश्वरः कारणमिति (वात्स्यायन)।

अर्थात् कर्मफल ईश्वर के आधीन होता है इसलिये ईश्वर उनका कारण हैं। लेकिन क्या ईश्वर पुरुष कर्म के अभाव में भी फल देता है गौतम जी समाधान करते हैं—

"न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पतेः" ॥ (४।१।२०)

अर्थात् पुरुष के कर्मों के अभाव में फल नहीं देता अपितु कर्म के होने पर ही फल देता है। भाव यह है कि उसमें पक्षपात, अन्याय इत्यादि दुर्गुण नहीं हैं। वह सर्वज्ञ है, क्योंकि उससे किसी के कर्म छिपे नहीं हैं। वह सर्वव्यापक है क्योंकि जीवमात्र में व्यापक होकर ही कर्मों को जानता है इत्यादि। वात्स्यायन जी इस पर भाष्य करते हुये कहते हैं कि "ईश्वराधीना चेत् फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति"

अर्थात् ईश्वर के अधीन फल अवश्य है लेकिन वह कर्मों के अनुसार ही मिलता है। अगले सूत्र में तो रहा-सहा सन्देह भी विनष्ट होता है। गौतम जी पूर्वपक्षी का खण्डन व अपने सिद्धांत का मण्डन करते हैं—

"तत्कारितत्वादहेतुः" (४।१।२१)

अर्थात् (तत्) ऐसा (कारितत्वात्) करने से अर्थात् कर्मों के अनुसार फल देने से (अहेतुः) जो शंका की गई वह अयुक्त है। वात्स्यायन जी सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—

"पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति"

इसका भाव यही है कि ईश्वर पुरुष के कर्मों के फलों को सम्पादन करता है (सम्पादयति)। यदि

ईश्वर न हो तो पुरुषकर्म निष्फल हो जायेंगे (यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवति)। अतः फलदाता ईश्वर की सता सिद्ध है। इस सूत्र का अधिक स्पष्टीकरण सुदर्शनाचार्य जी करते हैं—

"रागद्वेषादिदोषरहितत्वादीश्वरः कर्मानुसारेण फलं ददातीति न कर्माभावे फलसम्भवः न वेश्वरस्याऽकारणत्वे इति ईश्वरस्य कारणत्वं सिद्धमिति"।

अर्थात् ईश्वर रागद्वेष से रहित होने के कारण कर्मानुसार फल देता है। शेष स्पष्ट है।

वात्स्यायन द्वारा प्रयुक्त "अनुगृह्णाति" शब्द का अर्थ सुदर्शनाचार्य करते हैं—"सफलं करोति न्यायशीलस्वामिवत्" अर्थात् न्यायाधीश की भाँति फल देता है।

इन प्रमाणों को देखकर भी गौतम को अनीश्वरवादी कहना महासाहसिक कार्य है।

केवल एक ही सूत्र के गर्भ में ईश्वर का स्वरूप भी छिपा हुआ है। जैसे स्पिनोजा (Spinoza) लाइब्निज (Liebnitz) इत्यादि ज्यामिति विधि का अनुसरण कर परिभाषा (Definition) से उपपत्तियां (Corrolaries) निकालते चलते हैं, इसी प्रकार न्याय के उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप की उपपत्तियां निकल आयेंगी। जैसे सर्वज्ञत्व, अमरत्व, सर्वव्यापकत्व, नित्यत्व, निमित्तकारणत्व इत्यादि इत्यादि। ऐसी ही व्याख्या सूत्रों के अन्तर्गत आचार्य वात्स्यायन, उद्योतकर (न्यायवार्तिककार), वाचस्पति मिश्र (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकाकार), उदयन (न्यायकुसुमाञ्जलिकार) इत्यादि ने किया है। स्थानाभाव से यहाँ उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। पाठक स्वयं मूल ग्रन्थों को देखने का कष्ट करें।

सुतराम् यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि गौतम महर्षि अनीश्वरवादी न होकर ईश्वरवादी थे। विद्वान् असत्य का परिहार व सत्य का ग्रहण एवं प्रचार करें॥

समाज सेवक के वेद-कथित गुण

[*ले०—स्वामी ओंकारानन्द जी सरस्वती, ओंकार-आश्रम, गोरखपुर*]

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। बिना मनुष्य के समाज नहीं बन सकता और बिना समाज के मनुष्य नहीं रह सकता। व्यक्ति और समाज का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम इस प्रकार समझें कि समाज एक शरीर है, जिसके अन्दर व्यक्ति रूपी प्राण का संचार हो रहा है। समाजसेवा मनुष्य का परम कर्तव्य है, यह सभी मानते हैं। अब प्रश्न है, **यह समाज सेवा कौन और कैसे करे?**

धार्मिक क्षेत्र हो, चाहे राजनीतिक, चाहे अन्य, सभी क्षेत्रों में कार्य करने वाले, समाज सेवा का ही दम भरा करते हैं। उन सेवकों में कुछ तो सच्ची सेवाभावना तथा अपने विशेष संस्कार से प्रेरित होकर सेवा करते हैं, परन्तु अधिकांश समाजसेवा के रहस्य को नहीं जानते। वे केवल नेताओं के पीछे आँखें बन्द कर चला करते हैं और कभी समाजसेवा के सर्वथा विरुद्ध कार्य भी किया करते हैं। जिस प्रकार जीवन में सभी कार्य करने के लिए, कुछ न कुछ, योग्यता की आवश्यकता है, उसी प्रकार समाज सेवारूप महान् कर्तव्य की सिद्धि के लिए सेवक में प्रवीणता होनी ही चाहिये। उपर्युक्त प्रश्न "समाजसेवा कौन और कैसे करे?" इसका समाधान सेवक के सेवा सामर्थ्य तथा प्रवीणता में ही निहित है। कर्तव्य का पूर्ण-पालक, योग्य व्यक्ति ही हो सकता है। अयोग्य व्यक्ति द्वारा सम्यक् कर्तव्य पालन होना सम्भव नहीं। अयोग्य को ही अनधिकारी कहते हैं।

समाजसेवा की कुंजी है—**त्यागभावना**। जो त्यागी है, वही सच्चा समाजसेवक है। त्याग-भावना बिना स्वार्थ छोड़े आ ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, स्वार्थी व्यक्ति समाजसेवक नहीं हो सकता। इसी आवश्यक सिद्धान्त को महान् तत्त्वज्ञानी महर्षि दयानन्द जी ने आर्य समाज के नवें तथा दसवें नियमों में बतलाया है। आपने लिखा,—"प्रत्येक को अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये। सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र हैं।" ये दोनों नियम आर्य समाज के सेवकों के

लिए तो सदा गुरु-मन्त्र की तरह याद रहने चाहियें। इन्हीं विषयों के अन्दर ऋषि ने समाजसेवा के सम्पूर्ण रहस्य को बतला दिया है। इन पर हमें विचार करना चाहिये।

इन ही दोनों नियमों की व्याख्या करते हुए पूज्य श्री नारायण स्वामी जी ने लिखा—"नवां नियम संसार के सम्पूर्ण झगड़ों की जड़ स्वार्थ (खुदगरजी) को उखाड़कर फेंक देने की प्रेरणा करता है। दसवां नियम व्यक्ति और समाज, दोनों के बीच में रेखा खींचकर, दोनों के साथ मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसका विधान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण कार्यों के करने में पूरी-पूरी स्वतन्त्रता रखता है, जिसका सम्बन्ध व्यक्तिगत हित से है। परन्तु जो कार्य सर्वहितकारी या समाज के हित से सम्बन्धित हैं, उनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको समाज के नियमों का पाबन्द समझे। **यही विधान है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति हुआ करती है।**" इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीनारायण स्वामी जी ने इन नियमों को वह "विधान" माना है, जिसके द्वारा एक समाजसेवक संसार को शान्ति का धाम बना सकता है। जरा सोचिये, यह महान् कल्याणकारी आर्य-समाज जिसके बीज को महर्षि ने अपने करकमलों से बोया, उसके सेवक आज कितने हैं, जो इस 'विधान' को अपनाकर समाजसेवा कर रहे हैं? यदि वे इस पर अमल करते होते तो आज उनके बीच विनाशक दल-बन्दियाँ, द्वेषभावना और भद्दे विचार देखने को नहीं मिलते।

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"—ये ऋषि के शब्द हैं। समाज से सम्बन्ध रखने वाली बातें वेदों में जगह-जगह पर बतलाई गई हैं। समाजसेवक की क्या योग्यता होनी चाहिये, इस सम्बन्ध में वेद के आदेश को भी हम जानें और अपनावें:—

ओ३म् सदापृणो यजतो विद्विषो वधीद्,
बाहुवृक्तः श्रुतवित्तर्यो वः सचा।
उभा स वरा प्रत्येति भाति च,
यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः॥
(ऋ० ५।४४।१२)

ऋग्वेद के इस मन्त्र का अर्थ स्वामी वेदानन्द जी ने इस प्रकार किया है:—

"जो (सदापृणः) सदा प्रसन्न करने वाला तथा सदा प्रसन्न रहने वाला (यजतः) याज्ञिक (बाहुवृक्तः) बाहुओं से शत्रुनाश करने में समर्थ (श्रुतवित्) सुने को जानने वाला (तर्य्यः) तारने वाला (वः) तुम्हारा (सचा) सम्बन्धी (द्विषः) शत्रुओं को (वधीत्) मारदे तो (सः) वह (उभा) दोनों (वरा) भलाइयों को (प्रत्येति) प्राप्त करता है (च) और (भाति) चमकता है (यत्) जब वह (गणम्) जनसमूह का (ईम्) ही (सुप्रयावभिः) उत्तम चालों से अथवा उत्तम ज्ञानियों के द्वारा (भजते) सेवन करता है।" फिर आगे लिखते हैं—"वैयक्तिक हित तथा सामाजिक हित दो भलाइयाँ हैं। मनुष्य इन्हें प्राप्त करने के लिए यत्नशील रहते हैं, किन्तु कोई भाग्यशील ही सिद्धि प्राप्त करता है।" सच है, एक सिद्ध समाजसेवक होना बच्चों का खेल नहीं है। समाज का पूर्ण हित सब नहीं कर सकते। उपर्युक्त मन्त्र और उसके अर्थ पर मनन करने से पता चलता है कि इस मन्त्र में वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के हित करने के उपाय वर्णित हैं। मंत्र के आधार पर समाजसेवक में निम्न गुण अवश्य होने चाहियें।

(१) सदापृणः

समाज सेवक सदा स्वयं प्रसन्न रहनेवाला तथा दूसरों का दुःख मिटाकर उनको भी प्रसन्न करनेवाला हो। दूसरों के दुःखों को मिटाना तथा प्रसन्न करना बिना उद्योग के नहीं हो सकता। इस हेतु उसे उद्योगी तथा उत्साही होना होगा।

(२) यजतः

वह समाजसेवक यजनशील हो। वह क्रियाशील तथा त्यागी भी हो। ऊपर कथित गुण—उत्साह और प्रसन्नता बिना क्रियाशीलता के बेकार हैं। हृदय में चाहे कितना ही उत्साह और त्याग की भावना क्यों न हो, परन्तु यदि वह अमल में न लायी जाय तो किसी को क्या लाभ होगा, इस लिए क्रियाशील होना ज़रूरी है।

(३) बाहुवृक्तः

उस सेवक में भुजबल हो। वह बाहुबल को धारण करने वाला हो। बाहुबल की बड़ी महिमा है। बाहुबल से ही कार्य सिद्ध किया जाता है। लकवा मारे हुए बाहुओं से समाज का कौन कहे, निजका भी हित होना कठिन है।

(४) श्रुतवित्

वह सेवक सुने को जानने वाला हो। सुनने वाले बहुत हैं परन्तु करनेवाले कम। जो सुने उसके रहस्य को तत्त्व से जाने और चरितार्थ भी करे। परन्तु यह कोई सरल काम नहीं है। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार सोच-समझकर सेवा करने वाला व्यक्ति निश्चय ही ज्ञानी होगा। बहुत उत्तम हो यदि बुद्धि और कृति दोनों साथ साथ चलें। जब पूर्व वर्णित गुण अर्थात् उत्साह, कर्मण्यता और भुजबल के साथ ज्ञान मिल जाय तो समाजसेवक के सारे कर्म निर्दोष तथा पवित्र हो जायेंगे। ऐसे ही व्यक्ति लोकसंग्रह के लिए कार्य किया करते हैं।

(५) तर्य्यः

वह ज्ञानी समाजसेवक तर्य्यः = तारने वाला हो। दूसरों के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने वाला हो। जब सेवा स्वार्थरहित होकर की जायगी तब ही सेवक में तारने की योग्यता आ सकती है। स्वयं दलदल में फंसा हुआ अन्धा अपने लंगड़े साथी को कैसे पार उतार सकता है ? इस प्रकार का तारने वाला सेवक ही किसी व्यक्ति अथवा समाज की भाग्य नौका को दुःख और अज्ञान के झंझांवात से निकाल कर सुख और शान्ति के सुनहले किनारे पर लगा सकता है। समाज के ऐसे परम हितैषी सेवक धन्य हैं।

(६) यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः

समाज का हित चाहने और करने वाला व्यक्ति सेवा-भावना से ही कार्य करे। सेवाभावना से कार्य करने वाले के अन्दर कर्तापन का अहंकार नहीं आ सकता। यदि सेवक में अहंकार आ गया तो सेवा कहां रही ? प्रश्न—मनुष्य उत्तम सेवक बनता है कब ? उत्तर—यदीं गणं भजते सुप्रायवभिः = गण सेवा ज्ञान और उत्तम आचरण से करे तब।

उभा स वरा प्रत्येति भाति च

अब मंत्र के इस अंश में उत्तम सेवा से होने वाले लाभ तथा परिणाम की ओर संकेत किया जा रहा है। कोई काम बिना नतीजा जाने कैसे किया जाय ? साधक क्रिया के बाद प्राप्त होने वाली सीढ़ियों और विभूतियों को जानना चाहता है। वही यहां वर्णित हैं। उपर्युक्त छः गुणों से युक्त समाजसेवक जब सेवा करता है, तब वह "उभा वरा" = दोनों भलाईयों को प्राप्त कर लेता है। वे दोनों भलाईयां कौन कौन सी हैं ? वह अपनी और समाज इन्हीं दोनों की भलाई करता है। इस प्रकार की भलाई करने वाले समाज सेवक की क्या दशा होती है ? उत्तर—'भाति' = वह स्वयं चमकता और सबको चमका देता है। वह प्रकाशवान् होकर सबको प्रकाश देता है। वह जो कुछ करता है उसमें चमक आ जाती है। वह आकर्षक हो जाता है। अब इस प्रकाशयुक्त दीपक स्वरूप सिद्ध-सेवक पर हज़ारों और लाखों नर-नारी शलभ बन कर अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार हैं। शरद्पूर्णिमा के शरदिन्दु के समान वह शान्तात्मा, शान्तिद और शान्तिकर बन जाता है। वह स्वयं अभय बनकर सबको अभय प्रदान करता है। इस सिद्ध-सेवक महात्मा की प्रार्थना, "तमसो मा ज्योतिर्गमय"—अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल—को परम कृपालु प्रभु स्वीकार कर लेता है। वह परमपिता प्रसन्न होकर अपने प्रकाश पुंज में से उस सेवक को दे देता है। उसी प्रकाश से वह "भाति"—चमक उठता है। परमात्मा हम सबको ऐसा ही सेवक बनावे, यही प्रार्थना है। ऐसे समाजसेवकों से ही समाज का कल्याण हो सकता है॥

वेदों का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

[ले० —श्री डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, प्रोफेसर राजनीति, पटना विश्वविद्यालय]

आर्यजाति के महान् नेता हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द भारतवर्ष की एक विशिष्ट विभूति थे। आर्यसमाज में तेजस्विता और क्षात्रवृत्ति भरने में उनका विशेष उत्कर्ष प्रकटित हुआ था। अनेक बाधाओं का सामना कर गङ्गा किनारे जङ्गलों में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर शिक्षण-क्षेत्र में एक विराट् क्रान्ति का उन्होंने सूत्रपात किया। महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन और सत्याग्रह में भी स्वामी जी का कार्य-कौशल और त्यागवृत्ति निखर कर आगे आए थे। शुद्धि और संगठन का मंत्र निनादित कर दिन-दिन क्षीण होती हुई हिन्दू (आर्य) जाति में नूतन प्राणसंचार करने का उन्होंने सफल यत्न किया था। इस महान् नेता, विशिष्ट सेनानी, कार्याधिनायक, तपस्वी और महात्मा के जीवन-दर्शन पर विचार करना आवश्यक है।

जगत् में दो प्रकार के नेता होते हैं। एक को हम कार्यशूर कह सकते हैं। इनमें बाहरी कर्म करने की दक्षता होती है। तत्कालीन समाज और राजकारण में जो शक्तियाँ संघर्ष करती हैं उनका प्रतिनिधित्व कर कार्य-शूर नेता आगे आते हैं। दुनिया इनके कार्य के कारण इनके सामने नतमस्तक होती है। कोई आवश्यक नहीं कि निजकार्य सिद्धि में ये कार्यशूर साधु-साधनों का ही उपयोग करें। साधन के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञानात्मक शास्त्रार्थ न करते हुए ऐहिक समय-शक्ति का वाहन बनना इन कार्य-शूरों का लक्षण है। रूसी नेता ख्रुश्चेव, मिश्री नेता नासर और भारतीय मुसलिम नेता मुहम्मदअली जिन्ना इस कार्यशूरता के उदाहरण हैं। सफलता की गाड़ी पर चढ़ कर ये नेता जगत् में प्रकटित होते हैं। जिस दिन सफलता मिलनी बन्द हुई, उसी दिन इनका तिरोभाव हो जाता है। एक जमाना था, दक्षिणी-पूर्वी यूरोप मुसोलिनी के आतङ्क से थर्राता था। लेकिन असफल होने पर उसी के अपने शरीर पर इटली के लोगों ने थूका। प्राचीन यूनान में अलकिबियाडिस (Alcibiades) और मुगलकालीन भारत में शाहजहाँ और दाराशिकोह इस प्रकार के ही नेता थे।

जगत् में एक दूसरे प्रकार के नेता होते हैं जिन्हें हम साधक की संज्ञा दे सकते हैं। आन्तरिक वृत्तियों से युद्ध कर अपने भीतरी व्यक्तित्व को पवित्र और निष्पाप बनाने में इस प्रकार के महापुरुषों का समय व्यतीत होता है। समय का सुयोग या कुयोग होने पर इन्हें बाहरी सफलता मिल भी सकती है या नहीं भी मिल सकती। किन्तु बाह्य मान-दण्ड से उनके व्यक्तित्व की गरिमा का अन्दाजा नहीं हो सकता। सम्भव था कि यदि महर्षि दयानन्द के समान महान् शिष्य नहीं मिलता तो दण्डी विरजानन्द का नाम बहुत कम ही लोग जानते। उत्तरी भारत में स्वामी रामतीर्थ का अच्छा प्रभाव और यश है, लेकिन उनके धर्मगुरु भगत धन्नाराम को कौन जानता है? साधना की गरिमा व्यक्तिनिष्ठ होती है। इसमें शूर अन्तरव्यक्ति है। स्वामी श्रद्धानन्द का महत्त्व, कितने लोग उनके नाम को जानते हैं, कौन सा पद उनका था, कितनी बार वे चुनाव में विजयी हुए थे, इन बाह्य मानदण्डों से हम नहीं कर सकते। समुद्र के रत्नों का मूल्य हम बाहरी सिक्के से नहीं नाप सकते। जिस प्रकार न्यूटन की ज्ञान-क्रान्ति को हम रुपये के मूल्य में नहीं व्यक्त कर सकते, उसी प्रकार साधक की आन्तरिक चेष्टा का बाह्य मूल्याङ्कन कठिन, शायद असंभव भी, है।

महात्मा श्रद्धानन्द को समझने के लिये उनके लिखे "कल्याण मार्ग का पथिक" ग्रन्थ का पाठ करना होगा। यह स्वामी जी की आत्मकथा है। मैंने इस महान् ग्रन्थ को तीन बार आद्योपान्त पढ़ा है। दुनिया के अनेक महापुरुषों की स्वयं लिखित जीवनगाथाओं को भी मैंने पढ़ा है। संत अगस्तीन, रूसो, टालसटाय और महात्मा-गाँधी की आत्म-कथाओं से ही श्रद्धानन्द के इस ग्रन्थ की तुलना की जा सकती है। विराट् जाज्वल्यमान महान् उग्रसत्य के सूक्ष्मदर्शी यन्त्र (microscope) के सामने धीरे-धीरे स्वामी जी के जीवन के पर्दे खुलते हैं। पाठक देखता है कि सत्य और अनृत का युद्ध कैसा भीषण होता है और किस प्रकार अन्धकार के ऊपर प्रकाश का

अवश्यम्भावी निश्चय विजय होता है। "कल्याण मार्ग का पथिक" हिन्दी साहित्य का ही नहीं, जगत् का एक महान् ग्रन्थ है और जब विश्व की प्रसिद्ध भाषाओं में इसका अनुवाद होगा तब श्रद्धानन्द संसार का एक अतिशय श्रेष्ठ साधनामय साहित्यकार गिना जायगा।

श्रद्धानन्द का पहला नाम मुन्शीराम था। बाल्यावस्था से ही मुन्शीराम धर्मवृत्तिसम्पन्न था। किशोरावस्था में धर्म की साधना के साथ साथ दण्ड बैठक और कुश्ती का भी खूब अभ्यास उसने किया। इससे उसके शरीर के अंग और अवयव खूब दृढ़ और पुष्ट हो गए। तुलसीदास का रामचरितमानस उसका प्रिय ग्रन्थ था। सीता के वनवास की यातनाओं का प्रसङ्ग पढ़कर उसका निर्दोष हृदय रो पड़ता था। किन्तु पश्चिमी साहित्य के अध्ययन ने उसको संशयात्मा बना दिया। मिल और स्पेन्सर के अज्ञेयवाद ने ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उसको शंकाग्रस्त कर दिया। कामुकता को बढ़ाने वाले यूरोपीय उपन्यासों के दुश्चरित्र नायकों की उत्तेजक बातों को पढ़कर मुन्शीराम कुछ उच्छृङ्खल वृत्ति का भी हो गया। मदिरा का भी अभ्यास किया। रात में जगने भी लगा। वह प्राचीन आर्यसंस्कृति को निकम्मी मानने लगा। पश्चिमी सभ्यता के बाह्य मनोमोहक रूप का वह समर्थक-सा हो गया।

किन्तु समय बदला। बरेली में बालयति महर्षि दयानन्द के तीक्ष्ण तर्कों से वह परास्त हो गया। पश्चिमी दार्शनिकों के बड़े परिश्रम से गढ़े हुए नास्तिकता के समर्थक समस्त तर्क जिन्हें बड़े कौशल से मुन्शीराम ने पेश किया था, आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द के प्रचण्ड आक्रमण के सामने फीके पड़ गए। ऋषि का विशाल व्यक्तित्व, अनेक वर्षों की तपस्या से संचित उनका तेज, सिंह के समान उनकी निर्भीकता, असत्य, अनाचार के खंडन में काल के समान उनका निर्मम रूप, आदि से नास्तिक मुन्शीराम भीतर ही भीतर अतिशय प्रभावित हुआ। पश्चिमी संस्कृति के आदर्शों से लड़ने के लिये एक प्रचण्ड अस्त्र—ऋषि दयानन्द का असीम शक्तिशाली व्यक्तित्व—उसको प्राप्त हुआ। द्वन्द्व फिर आरम्भ हुआ। मुन्शीराम शनैः शनैः आर्यावर्त के महान् संन्यासी श्रद्धानन्द के रूप में प्रकट हुआ। यही श्रद्धानन्द था, जिसने मुगल सल्तनत के बनाए जामा मसजिद पर से वेद-मंत्रों का उच्चारण किया और हिन्दू-मुसलमान को भ्रातृवत् रहने का संदेश दिया। अंग्रेजी साम्राज्य के द्वारा नियुक्त गुरखे सिपाहियों की संगीनों के सामने अपना वक्षस्थल खोलकर, उन्हें वार करने को ललकारने वाला, आत्मा की अमरता का अदम्य विश्वासी श्रद्धानन्द, अपने ओजस्वी वर्चस्वी व्यक्तित्व के द्वारा आज भी जगत् को अमर जीवन का संदेश दे रहा है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के जीवन का क्या रहस्य था? महात्मा गांधी के भी गुरु स्वनाम धन्य गोपाल कृष्ण गोखले क्यों स्वामी जी से प्रभावित थे? क्यों गांधीजी "पहाड़ जैसे दीखने वाले" श्रद्धानन्द का मान करते थे। क्यों जवाहरलाल अब तक स्वामी जी की अदम्य निर्भीकता का स्मरण करते हैं? इसीलिये कि स्वामी श्रद्धानन्द जी सत्यव्रत, निष्ठा, दीक्षा के अनवरत सफल उपासक थे। अपने जीवन में ज्ञान और सत्य की तीव्र अग्नि जलाकर अपने को ज्ञान निर्धूत-कल्मष बना डाला था। आपके जीवन का लक्ष्य गीता के निम्नलिखित श्लोकों में व्यक्त होता है:—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति॥ (गीता ४।२६)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ (गीता ४।२७)

स्वामी जी ने कामभावना को अखण्ड एकरस जगदात्मा के मातृत्वरूप की उपासना में दग्ध कर दिया था। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के आप एक ही साथ माता-पिता थे। पिता का अनुशासन प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु अपने निर्देशन में प्राप्त ब्रह्मचारियों की माता बनना अत्यन्त कठिन साधना है। मठ, मन्दिर, आश्रमों में आज साधु संन्यासियों की कमी नहीं है। किन्तु चरित्र की असीम निर्मलता और पवित्रता जो स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन में थी वह अन्यत्र दुर्लभ है। आर्य संस्कृति और ऋषिप्रवर दयानन्द द्वारा प्रवर्तित और समर्थित मार्ग पर चलते हुए अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक ब्रह्मचर्य का उज्ज्वल नमूना देश को दिया। समस्त अन्धकार, भय, वासना, तुच्छता आदि के संस्कारों और विचारों को आपने वैदिक जीवनाग्नि में भस्मसात् कर दिया। ऋषि दयानन्द के उपदेशों को श्रवण कर, उनके निर्मल व्यक्तित्व का साक्षात् कर और उनके वार्तालापामृत को पान कर ज्ञानज्योति के सत्यान्वेषण की

जो लगन श्रद्धानन्द जी के जीवन में लगी वह अनवरत साधना में परिणत हो गई। श्रद्धा और निष्ठा के द्वारा जो प्रचण्ड ज्ञानाग्नि उद्दीप्त हुई, समस्त पुरानी बुराइयाँ, अविवेक आदि उसमें जल गए। भगवान् कृष्ण ने कहा है:—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (गीता ४।१९)

वेद-उपनिषद्-गीता-वेदान्त प्रदर्शित मार्ग रूपी अग्नि में मुन्शीराम ने कृतश्रद्धभाव से अपने को झोंक दिया और आर्यावर्त्त तथा हिन्दू धर्म को श्रद्धानन्द रूप सुवर्ण प्राप्त हो गया। श्रद्धा ही स्वामी जी के जीवन की आराध्य देवी थी। उन्नति के मार्ग पर सतत आरोहण में श्रद्धा ही उनके लिए निर्मल सोपान तथा सम्बल थी। गीता में कहा है कि:—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४।३८,३९)

स्वामी जी का अमर जीवन सर्वदा निर्मल प्रकाश फैलाता रहेगा। उनकी मृत्यु भी अत्यन्त शिक्षाप्रद और जीवन-प्रद हुई।

शरीर नश्वर है। भौतिक शरीर का नाश अवश्यम्भावी है। सशरीर अमरता कविकल्पना का उदाहरण है, वस्तुगत सत्य नहीं है। भस्मान्तं शरीरम्—मरने के बाद सभी की हड्डियाँ लकड़ी के समान जलती हैं और सभी के केश घास के समान जलते हैं। किन्तु श्रद्धानन्द की हड्डियाँ और उनके केश ज्ञानपूत थे। एकहत्तर साल के बूढ़े संन्यासी से इसलाम खौफ खाता था। मतान्ध अब्दुलरशीद की गोली का शिकार होकर महात्मा श्रद्धानन्द सुकरात, ईसामसीह और संत पीटर तथा गुरु तेगबहादुर की श्रेणी में बैठते हैं। युगों और सदियों तक जब कभी आर्य-हिन्दू जाति पर आक्रमण का खतरा होगा तब स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का पवित्र स्मरण शक्ति और जीवन का संचार करेगा। उनका धारणीय वरणीय निर्मल जीवन हमारी संस्कृति का एक प्रिय अंग है। उनका मरण भी अत्यन्त तेजस्वी है। मरकर जो अग्नि आर्यावर्त के इतिहास में उन्होंने जलाई है, वह अमर है। मेरी आँखें आज भी उनकी जलती चिता को देख रही हैं। पवित्र चिन्ताग्नि का वह जाज्वल्यमान प्रकाश हमारे हृदयान्धकार को नष्ट कर हमें जाति और संस्कृति की सेवा करने का अमिट संदेश दे रहा है। आवश्यकता है कि हमारे भय, प्रलोभन, संशयात्मकता आदि जल जायें और अपने नश्वर शरीर का दैवी उपयोग कर स्वामी जी की चिंताग्नि के प्रकाश को हम कायम रख सकें। आज अनेक प्रकार के खतरे हमारी संस्कृति और हमारे देश पर हैं। अतः आवश्यकता है कि हम फिर स्वामी जी के जीवन-संदेश को धारण करें। स्वामी जी कहते थे "मैं फिर भारत में जन्म लेकर शुद्धि द्वारा देश और जाति की सेवा करूँगा।" कितनी पवित्र उनकी देशभक्ति थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का संदेश पूर्णतम वीरता का है। वे हिमालय के समान शुभ्र शुद्ध पवित्र और शक्तिशाली थे। वे शक्तिशाली वैदिक सिंह थे। हमें इस बात का सात्विक अभिमान होना चाहिये कि हमारे देश में इस प्रकार का महात्मा पैदा हुआ। अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्षपद से भाषण करते हुए स्वामी जी ने बताया था कि वैदिक शिक्षा के अनुसार सौ वर्ष तक अनासक्त कर्मयोग का पालन ही उनका लक्ष्य था। शुद्धि और संगठन का कार्य करते हुए अनेक धमकी के पत्र उनके पास भेजे गये किन्तु सार्वजनिक जीवन व्यतीत करते हुए अपना कफन वे सर्वदा सर पर बाँधे रहते थे। महात्मा गांधी ने उन्हें वीराग्रणी (hero of heroes) कहा था। रैमजे मैकडोनल्ड स्वामी श्रद्धानन्द के तेजपूर्ण तपःपूर्ण प्रदीप्त मुखमंडल से इतना प्रभावित हुआ था कि उसने हजरत ईसामसीह और संत पीटर के समकक्ष उनको बताया था।

स्वामी जी के अभाव में आज देश सूना लगता है। आज स्वार्थ, तामसिकता, अनाचार का नंगा नाच है। तानाशाही का वातावरण तैयार हो रहा है। अन्धे नेता रुपयों और डंडे के भय से भोली जनता को चूस रहे हैं। ज्ञान और सत्य का स्थान चाटुकारी ले रही है। नश्वर लोगों के पीछे पागल होकर हम सभी निर्मल आदर्शों को भूल रहे हैं। अपने आत्मिक सत्य को दबाकर स्वार्थ पोषक बातों को कहना सफल व्यक्तित्व का आज लक्षण हो रहा है। इस भीषण संक्रमण काल में सबसे अधिक आवश्यकता आज स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन-दर्शन को समझने और धारण करने की है। बाधाओं से लड़ने

में उन्हें आनन्द आता था। सत्य के अतिरिक्त उन्होंने कोई दूसरी नीति नहीं अपनाई। त्याग और बलिदान ही उनके अमोघ अस्त्र थे। पवित्र जीवन ही उनका बृहत्तम सम्बल था। रह-रहकर यह आवाज़ हृदय से निकलती है—

"श्रद्धानन्द तुझे आज जीवित रहना था।"

टी० एल० वास्वामी जी ने लिखा था—"स्वामी श्रद्धानन्द ने कभी भी अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं की। वीरतापूर्ण जीवन ही उनका आदर्श था। सत्य की श्रद्धापूर्ण खोज में ही पंजाब का सफल वकील झोली लेकर भिक्षु बना और फिर संस्कृति और देश की रक्षा करने के लिये अपने शरीर का भी बलिदान कर दिया। प्रेरणा का अक्षुण्ण स्रोत स्वामी जी के जीवन में है। उनकी स्मृति सर्वदा भारतवर्ष का मार्ग आलोकित करे, यही मेरी इच्छा है।

अहिंसा ही वैदिक परम धर्म है

[ले०—देशभक्त श्री डाक्टर गुरुबक्ष राय जी, निज़ामुद्दीन—नई देहली]

ज्येष्ठ मास अंक ८ की वेदवाणी में मेरे परममित्र योग्य पं० रामगोपाल जी शास्त्री का एक योग्यतापूर्ण और विचारणीय लेख "हिंसा और अहिंसा का वैदिक स्वरूप" प्रकाशित हुआ है। उसको पढ़ कर मेरे मन में कई प्रकार की लहरें उठीं। सोचता हूँ, कुछ आनन्द आता है, कुछ व्याकुलता होती है। उन तरंगों का चित्र इस लेख में खींचने का साहस कर रहा हूँ इस धर्मनिरपेक्ष युग में हर नर और नारी को अपने विचारों को वाणी या लेखनी द्वारा प्रकट करने का पूरा अधिकार है। कोई उन विचारों से सहमत हो या न, यह दूसरी बात है। प्रतीत होता है कि हमको नये विचार अच्छे नहीं लगते। परन्तु समय बीत जाने पर वही विचार हमको न केवल अच्छे लगते हैं, बल्कि हम उनका प्रचार करते हैं।

श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री ने अपने लेख के आरम्भ में कहा है कि—यदि वेदादि शास्त्र में कही हुई अहिंसा पर आचरण करें तो जीवन में कई बार दुर्गति, अपमान और कष्ट उठाना पड़ता है। कई बार तो अपनी संपत्ति सन्तान और जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है। यदि पण्डित जी आज्ञा दें, मैं दो शब्द और लिख दूं कि अहिंसा धर्म का पालन करने से कभी-कभी देश, जाति और धर्म का भी पतन हो जाता है। यदि वेदादि शास्त्र में कही हुई अहिंसा पर आचरण करने से हमारी दुर्गति या अपमान होता है, तब क्या हम हिंसा को भी वैदिक धर्म मान लें और समझ लें कि वेदादि शास्त्र में कही हुई अहिंसा का पालन करना हमारा धर्म नहीं क्योंकि इससे कभी-कभी जीवन और सन्तान से भी हाथ धोना पड़ता है। पहली तरंग उठी, क्या अहिंसा इतनी बुरी वस्तु है कि इससे धर्म, देश और जाति का पतन हो जाता है। फिर 'अहिंसा परमो धर्मः' की रट क्यों लगाई जाती है। वेदादि शास्त्रों में अहिंसा की महिमा का गान क्यों किया गया है?

श्री पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री ने इस सिद्धांत के आधार पर हिंसा का भी वैदिक स्वरूप माना है कि आततायी, दुराचारी, धर्मविरोधी अर्थात् धर्म का नाश करने वाले को मारने में पाप, दोष या हिंसा नहीं होती। अपने इस पक्ष में उन्होंने भगवान् राम और योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण की कुछ जीवनघटनाओं का उल्लेख किया है

अब दूसरी तरंग उठी, मैं व्याकुल हो गया। मेरे सामने ईसा का जीवन था। ईसा ने जब अपने विचारों का प्रचार किया। लोगों ने उसे आततायी, दुराचारी समझा कि यह हमारे धर्म का नाश कर रहा है। उस पर मामला चलाया गया। उसे धर्म का शत्रु घोषित कर सूली पर चढ़ा दिया गया। यदि हम यह मान लें कि धर्म का नाश करने वाले को मारना पाप नहीं तो क्या ईसा को सूली पर लटकाना अहिंसा का वैदिक स्वरूप है? फिर तरंग उठी!! मेरे सामने जलयांवाला बाग का भयंकर चित्र था, राजविद्रोही आततायी हैं, देश का विधान भंग करना अपराध है। डायर की दृष्टि में हम आततायी थे, क्योंकि हम राज्य में विद्रोह कर रहे थे। देश का कानून तोड़ रहे थे। देश का अमन भंग कर रहे थे। उसने हमको गोली मारी। क्या इसे भी हिंसा या अहिंसा का वैदिक स्वरूप मान लें—नहीं मैं तो नहीं, मान सकता।

अब फिर तरंग उठी। और मेरे सामने पंडित लेखराम जी का चित्र था। मुसलमान ने समझा कि वह

इसलाम का शत्रु है, उसे मारना मेरा कर्तव्य है, उसने पंडित जी को छुरा मार दिया, उसे कातल कहें या गाजी क्या इसे भी वैदिक अहिंसा मान लें ? अब जो तरंग उठी उसने मुझे बहुत परेशान किया। मान लो, कोई जाने या अनजाने, क्रोध में आकर या इस विचार से कि वह अपने मान की रक्षा कर रहा है, किसी की हत्या कर देता है, उसे फांसी का दण्ड दिया जाता है, उसने अपने किए का फल पा लिया, चाहे कोई इसे वैदिक अहिंसा का स्वरूप मान ले। मैं नहीं मानता, परन्तु उसकी निर्दोष युवा पत्नी विधवा हो गई, बच्चे अनाथ हो गये, वृद्ध माता पिता का जीवनसहारा जाता रहा। यह क्या हुआ। हिंसा या अहिंसा ? एक समय था छोटे से अपराध के लिए संगसार कर देते थे, हाथ काट देते थे, जिंदा जला देते थे, शेर आदि जानवरों से मरवा देते थे। यह सब कुछ न्याय और धर्म के नाम पर किया जाता था। लोग तालियां बजाते, गाते, खुश होते थे। कर्ण के वध को हम वैदिक अहिंसा का नाम देकर तालियां बजाते हैं, परन्तु अभिमन्यु के वध को वैदिक हिंसा कह कर आंसू बहाते हैं। आज भी संसार में कोड़े लगाये जाते हैं। मृत्युदण्ड दिया जाता है। परन्तु आज लोग इस प्रकार के दण्ड को महापाप और हिंसा समझ कर विरोध कर रहे हैं।

एक ही धर्म एक ही देश के वासी दो दलों में बंट जाते हैं। एक समझता है कि हम ही देश और धर्म की रक्षा करते हैं, दूसरा दल देश और धर्म का नाश कर रहा है। दूसरे दल वाले पहले दल वालों को देश और धर्म का शत्रु मानते हैं। देश में खून की नदी बहने लगती है। कौन जाने कौन हिंसा कर रहा है और कौन अहिंसा। रूस का चित्र हमारे सामने है।

मैं न जैनी हूं, न बुद्ध धर्म को मानता हूं। क्षत्रिय कुल में जन्म लिया है, क्षात्र धर्म का मान करता हूं। परन्तु जो हिंसा है वह हिंसा ही है, राजा के नाम पर हो या धर्म के नाम पर। मैंने महात्मा गांधी जी से साफ कहा था कि मैं उनकी अहिंसा को देश और काल के अनुकूल अच्छी नीति तो मान सकता हूं, सिद्धांत के रूप में नहीं मानता। महात्मा जी अहिंसा को सिद्धांत के रूप में मानते थे।

क्योंकि हम साधु नहीं थे, हम धर्म के क्षेत्र में नहीं थे। उस समय हम थे पोलिटिकल (Political) राजनैतिक मैदान में। अंग्रेजी की एक कहावत है Politics is last source for scoundral धर्मक्षेत्र में और साधु जनों के लिये अहिंसा ही परम धर्म है। १९४७ में जब मैं निकास का काम कर रहा था। एक सिक्ख परिवार मुसलमानों से घिरा था। उनके सम्बन्धी और मित्र उनको बचाने के लिये बार-बार कह रहे थे। परन्तु वहाँ जाना आसान काम न था। जीवन का भय था। अवसर मिलते ही मैं वहाँ गया। सरदार जी ने मेरा अपमान किया, बहुत बुरी तरह गालियाँ दीं। मेरे साथ जो दो फौजी नौजवान थे उन्हें तैश आगया। मैंने उनको समझाया कि हम धर्म क्षेत्र में हैं युद्ध क्षेत्र में नहीं। गाली देना उनका अधिकार है क्योंकि उनका सर्वनाश हो रहा है, हमारा धर्म्म शान्त रहना है। इस संकट के समय हमको इनकी रक्षा करनी है, इस प्रकार की इससे भी बढ़कर कई घटनाएँ हैं जिनका उल्लेख अपनी पुस्तक में करूँगा। मेरे जीवन की यही अंतिम इच्छा है कि भारत के स्वतन्त्रता संग्राम, भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान में और फिर स्वतंत्र भारत में मैंने जो कुछ देखा है, (मेरा विचार है कि पाकिस्तान में मैंने जो देखा वह और किसी ने नहीं देखा सिवाय उनके जिनके साथ गुजरी अथवा जिन्होंने अत्याचार किया) एक छोटी सी पुस्तक के रूप में संसार में छोड़ जाऊँ। मेरे जीवन में धन का संकट बना ही रहा। न जाने प्रभु मेरी यह इच्छा पूरी करते हैं कि नहीं कि सब कुछ मेरे साथ चिंता में जल जाता है।

वेद के बताए हुए अहिंसा या कोई मार्ग हमारे लिये दुःखद नहीं हो सकते। वेद मार्ग पर चलने से न दुर्गति हो सकती है न जीवन और संतान से हाथ धोना पड़ता है। धर्म और साधु जनों का मार्ग अहिंसा ही है। ईसा ने अपने शत्रुओं के लिये क्षमा की याचना की थी। हमारे स्वामी दयानन्द जी ने भी क्षमा को धर्म माना था।

न हो दुश्मनों से मुझे गिला,
करके बदी की जगह भला।
मेरे दिल से निकले सदा दुआ,
चाहे कष्ट कोई हजार दे॥

हाँ मानता हूँ कि राजनैतिक क्षेत्र में समय और जनता द्वारा देश के बनाए हुए विधान के अनुकूल राजा को ंड देने का अधिकार है परन्तु है हिंसा, अहिंसा नहीं।

न्याय के अनुकूल भी किसी प्राणी को मार कर कब कोई कहता है कि आज मैंने अच्छा काम किया। फाँसी लटका कर कब कोई प्रसन्न होता है। दण्ड विधान बदलता रहता है, धर्म नहीं बदलता। साधुजनों के लिए अहिंसा परम धर्म है। पं० रामगोपाल जी शास्त्री के हिंसा का वैदिक स्वरूप मान लेने से संसार में शान्ति नहीं रह सकती। अहिंसा को परम धर्म मानने में ही संसार का कल्याण है यही वैदिक परम धर्म है।

[अपराधी को दण्ड देना हिंसा नहीं। हाँ दण्ड देने का हर कोई अधिकारी नहीं। अपराध वास्तव में होना चाहिये, किसी दण्ड विधान के आधीन नहीं। ईसा को फाँसी देनेवाला दण्ड विधान अयथार्थ दण्ड विधान है। अतः श्री पं० रामगोपाल जी का लेख ठीक ही था। डा० साहब को उसके समझने में भूल लगी है। डाक्टर साहब देश के रत्न हैं। इनकी सेवायें प्रशंसनीय हैं। डा० साहब की उक्त पुस्तक अवश्य छपनी चाहिये। —सम्पादक]

विविध समाचार

राष्ट्रसंघ के महामन्त्री श्री हैमरशेल्ड का देहावसान

राष्ट्रसंघ के महामन्त्री श्री डाग हैमरशेल्ड का उत्तरी रोडेशिया के एनडोला स्थान के निकट एक विमान दुर्घटना में देहावसान हो गया। वे कटांगा के राष्ट्रपति शोम्बे से शान्ति वार्त्ता करने के लिये जा रहे थे। विमान दुर्घटना में महामन्त्री के अतिरिक्त १२ अन्य व्यक्तियों की भी मृत्यु हुई है। श्री हैमरशेल्ड के अफ्रीकी समस्याओं के सर्वोच्च सलाहकार श्री हेनरिच भी उक्त दुर्घटना के शिकार हुए हैं। ऐसी आशङ्का है कि दुर्घटना किसी षड्यन्त्र का परिणाम थी। दुर्घटना में जीवित बचे एक मात्र अमेरिकी सैनिक के वक्तव्य से इस आशंका की पुष्टि होती है। भूमि पर गिरने से पूर्व विमान में कई विस्फोट हुए। दुर्घटना की जाँच प्रारम्भ हो गई है।

अनशनकारी अपने निश्चयों पर दृढ़

अकाली नेता मास्टर तारा सिंह तथा योगिराज सूर्यदेव अपने २ अनशन के निश्चयों पर दृढ़ हैं। स्वामी रामेश्वरानन्द जी ने प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू के आश्वासन दिलाने पर अनशन भंग कर दिया। मास्टर तारा सिंह पंजाबी सूबे से कम किसी भी चीज़ से सन्तुष्ट नहीं। देश के सभी वर्गों के प्रयत्न तथा अपीलें विफल हो चुकी हैं। सरकार भी अपने निश्चय पर दृढ है। सरदार प्रताप सिंह ने अकालियों पर आरोप लगाया है कि उन्होंने गुरुद्वारों को समरभूमि बना दिया है। गुरुद्वारों में अवैध हथियार इकट्ठे किये जा रहे हैं तथा अपराधियों को उनमें शरण दी गई है।

बर्ट्रेण्ड रसेल और उनकी पत्नी दण्डित

८९ वर्षीय प्रसिद्ध दार्शनिक श्री बर्ट्रेण्ड रसेल तथा उनकी पत्नी को पारमाणविक अस्त्रों के विरुद्ध प्रदर्शन करने के अपराध में मजिस्ट्रेट ने सात दिन के कारावास का दण्ड दिया। इनके अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियों को एक एक मास कारावास का दण्ड दिया गया। आन्दोलन में ११०० व्यक्ति गिरफ्तार हो चुके हैं।

अनुसन्धान के लिये प्राणोत्सर्ग

दिल्ली विश्वविद्यालय के जीव विज्ञान विभाग के तरुण शोध-छात्र ने पोटेशियम साइनाइड की प्रतिक्रिया जानने के लिये अपने शरीर पर इञ्जेक्शन लगाया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। उसके शोधकक्ष से एक पत्र मिला है जिससे साइनाइड विष के प्रभाव के विषय में नवीन तथ्य प्रकट हुए हैं।

योग साधना शिविर

वैदिक साधना आश्रम रोहतक की ओर से इस वर्ष मन्त्र योग साधना शिविर २४ सितम्बर रविवार से प्रारम्भ हो कर १८ अक्तूबर बुधवार तक वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में चलेगा। महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज स्वयं साधना की शिक्षा देंगे। तदुपरान्त रोहतक में एक मास तक ब्रह्म पारायण महायज्ञ होगा।

तुर्की के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री को फांसी

तुर्की के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री अदनान मेण्डरेस तथा उनके सहयोगी मन्त्रियों को फांसी दे दी गई। उनपर सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया। उन पर संविधान के उल्लंघन का आरोप लगाया गया था।

जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः । ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

[आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः । एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ॥ ७ ॥]

मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः । पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित्पुलिनशालिनीम् । क्वचित्सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥९॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान् । पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥१०॥

पश्यैतान् वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः । अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः ॥११॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने । अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥१२॥

विधूतकलुषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः । नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥१३॥

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् । कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥१४॥

त्वं पौरजनवद्व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् । मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥१५॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः । त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥१६॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः । नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽद्य त्वया सह ॥१७॥

इमां हि रम्यां गजयूथलोलितां निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितैः पुष्पधरैरलंकृतां न सोऽस्ति यः स्यादगतक्लमः सुखी ॥१८॥

ओढ़ने वाले मन्दाकिनी नदी में यथासमय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥ हे विशाल नेत्रों वाली सीता ! ये अन्य व्रतधारी मुनि नियमतः ऊपर हाथ करके आदित्य की उपासना करते हैं ॥ ७ ॥ वायु से कम्पायमान शाखा वाले, पत्र-पुष्पों को मुक्त करते हुए वृक्षों से युक्त नदी के चारों ओर पर्वत नृत्य सा कर रहा है ॥ ८ ॥ कहीं मोती के समान स्वच्छ जल वाली, कहीं ऊंचे तटवाली तथा कहीं सिद्ध जनों से आकीर्ण मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ९ ॥ वायु के द्वारा गिराये गये तथा इधर उधर फैले हुए फूलों के ढेरों और जल में गिरे तैरते हुए अन्य पुष्प समूहों को देखो ॥ १० ॥ हे कल्याणि ! इन मनोहर शब्द करने वाले चक्रवाक पक्षियों को देखो जो अपनी मधुर वाणी से कलरव करते हुए नदी-तट पर बैठे हैं ॥ ११ ॥ सुन्दरि ! निरन्तर तुम्हारा दर्शन हो जाने के कारण चित्रकूट और मन्दाकिनी का दृश्य नगरवास से भी अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होता है ॥ १२ ॥ तप-दम-शमादि सम्पन्न निष्पाप सिद्धों के स्नान से नित्य आन्दोलित इस नदी में मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥ प्रिय सीते ! लाल तथा सफ़ेद कमल पुष्पों को पानी में डुबाती हुई, सखी के समान मन्दाकिनी नदी में स्नान करो ॥ १४ ॥ प्रिये ! तुम वनचर प्राणियों को नगरवासियों के समान, चित्रकूट पर्वत को अयोध्या के समान तथा इस नदी को सदा सरयू के तुल्य समझो ॥ १५ ॥ हे वैदेहि ! धर्मात्मा लक्ष्मण मेरी आज्ञा में स्थित हैं तथा तुम भी मेरे अनुकूल हो । इस प्रकार तुम दोनों मुझे प्रसन्न करते हो ॥ १६ ॥ तुम्हारे साथ तीनों समय स्नानादि करता हुआ तथा मधु-मूल-फल खाता हुआ मैं न तो अयोध्या की और न राज्य की ही कामना करता हूं ॥ १७ ॥ रमणीय, हस्ति समूहों से आलोडित, जिस का जल पिया जाता है, हाथी सिंह-बन्दरों तथा फूले हुए वृक्षों से अलंकृत इस नदी में स्नान करके कोई ऐसा नहीं जिसकी थकावट दूर न हो जाय और वह सुखी न हो ॥ १८ ॥ इस प्रकार रघुकुल को बढ़ाने वाले वे रामचन्द्र नदी

इतीव रामो बहुसंगतं वचः प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे मन्दाकिनीवर्णना नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

लक्ष्मणक्रोधः

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् । निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां कन्देन छन्दयन् ॥ १ ॥
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना । एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥
तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः । सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभःस्पृशौ ॥ ३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः । अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥
स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः । तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥
तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम् । उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

के विषय में बहुत सी बातें बताते हुए, सीता के साथ नयन के अंजन के समान नील वर्ण वाले उस सुरम्य चित्रकूट पर्वत पर विचरण करते रहे ॥ १९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'मन्दाकिनी का वर्णन' विषयक पचानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥९५॥

छियानवेवां सर्ग

लक्ष्मण का क्रोध

पर्वत से निकलने वाली उस मन्दाकिनी नदी को सीता को दिखा कर, उन्हें कन्दादि से प्रसन्न करते हुए राम पर्वत के शिखर पर बैठे ॥ १ ॥ यह अग्नि में पकाया गया है, पवित्र एवं स्वादु है। इस प्रकार वे धर्मात्मा राम सीता के साथ बैठे थे ॥ २ ॥ इस प्रकार वे जब वहां बैठे थे उसी समय समीप आते हुए भरत की सेना की धूलि और शब्द आकाश को स्पर्श करने लगे ॥ ३ ॥ इसी बीच में महान् शब्द से भयभीत तथा दुःखी यूथपति हाथी उन्मत्त होकर अपने यूथ के साथ इधर-उधर भाग गये ॥ ४ ॥ रामचन्द्र ने भी सेना के द्वारा किये हुए उस शब्द को सुना और भागते हुए उन सब हाथियों को भी देखा ॥ ५ ॥ उन हाथियों को भागते हुए देखकर तथा उस महान् शब्द को सुनकर रामचन्द्र सुमित्रा के पुत्र तेजस्वी लक्ष्मण से बोले ॥ ६ ॥ लक्ष्मण ! इधर देखो, सुमित्रा तुम से सुप्रजा है। मेघगर्जन के समान घोर, भयानक,

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया । भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥
गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने । वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने । अन्यद्वा श्वापदं किंचित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥
सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण । सर्वमेतद्यथातत्त्वमचिराज्ज्ञातुमर्हसि ॥१०॥
स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् । प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥११॥
उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् । गजाश्वरथसंबाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥१२॥
तामश्वगजसंपूर्णां रथध्वजविभूषिताम् । शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥१३॥
अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् । सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥१४॥
तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह । अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥१५॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् । दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥१६॥
संपन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् । आवां हन्तुं समभ्येति भरतः कैकयीसुतः ॥१७॥
एष वै सुमहाञ्श्रीमान् विटपी संप्रकाशते । विराजत्युद्गतस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥१८॥
भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् । एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥१९॥
गृहीतधनुषौ चावां गिरिं वीर श्रयावहे । अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥२०॥
अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे । अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥२१॥
त्वया राघव संप्राप्तं सीतया च मया तथा ॥

महान् शब्द सुनाई पड़ रहा है ॥ ७ ॥ विशाल वन में हाथियों के झुण्ड, भैंसे तथा सिंहों से भयभीत से मृग सहसा इधर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥ क्या कोई राजा अथवा राजपुत्र वन में आखेट के लिये आया है अथवा कोई अन्य पशु जंगल में आ गया है ? हे लक्ष्मण ! तुम पता लगाओ ॥ ९ ॥ हे लक्ष्मण ! यह पर्वत पक्षियों के लिये भी दुर्गम है । तुम इस सबको यथार्थ रूप से मालूम करो ॥ १० ॥ लक्ष्मण ने शीघ्रता से फूले हुए साल के वृक्ष पर चढ़कर चारों ओर देखते हुए पूर्व दिशा की ओर ध्यान से देखा ॥ ११ ॥ उत्तर की ओर देखते हुए उन्होंने हाथी-घोड़ा-रथ तथा सुसज्ज पैदल सैनिकों से युक्त महती सेना को देखा ॥ १२ ॥ उन्होंने उस हाथी-घोड़ों से युक्त तथा रथों पर लगे झण्डों से सुभूषित सेना के विषय में राम को बताया और वे यह वचन बोले—॥ १३ ॥ आप अग्नि को बुझा दें और सीता गुफा में चली जायें तथा आप अपने धनुष-बाण और कवच धारण कर लें ॥ १४ ॥ पुरुषसिंह रामचन्द्र ने लक्ष्मण को उत्तर दिया—लक्ष्मण ! ध्यान से देखो । बताओ, तुम इसे किसकी सेना समझते हो ॥ १५ ॥ राम के ऐसा कहने पर, अपने क्रोध से अग्नि के समान मानो उस सेना को जला देने की इच्छा करते हुए लक्ष्मण कहने लगे— ॥ १६ ॥ अभिषेक के पश्चात् निष्कण्टक राज्य की कामना करता हुआ कैकेयी का पुत्र भरत हम दोनों का वध करने के लिये आ रहा है ॥ १७ ॥ वह जो विशाल एवं सुन्दर वृक्ष दिखाई दे रहा है, उसके समीप रथ पर ऊँचा कोविदार ध्वज फहरा रहा है ॥ १८ ॥ शीघ्रगामी घोड़ों पर चढ़कर ये घुड़सवार इस देश में विचर रहे हैं और हाथी-सवार प्रसन्नता पूर्वक हाथियों पर चढ़कर इधर चले आ रहे हैं ॥ १९ ॥ हे वीर ! धनुष लेकर हम पर्वत का आश्रय लें अथवा आयुधों से सन्नद्ध हम लोग यहीं रहें ॥ २० ॥ यदि रण में यह कोविदार-ध्वज वाला रथ हमारे वश में आ जाय, तो मैं भरत को देखूँगा, जिसके कारण हे रामचन्द्र ! आप, सीता तथा मुझे यह महान् कष्ट उठाना पड़ा है ॥ २१ ॥ हे वीर रामचन्द्र ! जिसके कारण आप शाश्वत राज्य से

यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात्। संप्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे ॥२२॥
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव। पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते ॥२३॥
पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव। एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् ॥२४॥
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका। मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम् ॥२५॥
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम्। कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ॥२६॥
अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद। मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् ॥२७॥
अद्यैतच्चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः। भिन्दञ्शत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ॥२८॥
शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा। श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ॥२९॥
शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे। ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे लक्ष्मणक्रोधो नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥९६॥

सप्तनवतितमः सर्गः

भरतगुणप्रशंसा

सुसंरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम्। रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वञ्चित कर दिये गये हैं, वह शत्रु भरत आ गया है। यह अवश्य मारने योग्य है ॥ २२ ॥ हे राघव! भरत के वध में मैं कोई दोष नहीं देखता। पूर्व अपकार करनेवाले को मारकर कोई व्यक्ति अधर्म से युक्त नहीं होता ॥ २३ ॥ भरत ने पहले अनिष्ट किया है और धर्म का त्याग किया है। अतः इनके वध के पश्चात् आप सारी पृथ्वी (राज्य) पर शासन करें ॥ २४ ॥ जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मेरे द्वारा आज रण में आहत अपने पुत्र को राज्य की इच्छुक कैकेयी दुःखी होकर देखे ॥ २५ ॥ मन्थरा आदि अनुचरियों तथा सम्बन्धियों सहित कैकेयी को भी मारूँगा। आज महान् पाप से यह पृथ्वी मुक्त हो जाय ॥ २६ ॥ हे मानद रामचन्द्र! आज इस संयत क्रोध एवं निरादर को शत्रु की सेना पर इस प्रकार छोड़ूँगा जैसे सूखे तिनकों पर अग्नि छोड़ी जाती है ॥ २७ ॥ अपने तीखे बाणों से शत्रुओं के शरीर को छेदता हुआ आज मैं इस चित्रकूट के वन को रक्ताप्लावित कर डालूँगा ॥ २८ ॥ मेरे बाणों से छिन्न-भिन्न हृदयों वाले हाथी-घोड़ों तथा मेरे द्वारा वध किये हुए मनुष्यों को जंगली पशु घसीट ले जायें ॥ २९ ॥ आज इस युद्ध में सेना सहित भरत का वध करके मैं धनुष और बाण के ऋण से मुक्त हो जाऊँगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३० ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'लक्ष्मण का क्रोध' विषयक छियानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९६ ॥

सत्तानवेवां सर्ग

भरत के गुणों की प्रशंसा

युद्ध के लिये उद्यत तथा क्रोध से परिपूर्ण लक्ष्मण को सान्त्वना देकर रामचन्द्र ये वचन बोले ॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा । महेष्वासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥
पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमागतम् । किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥
यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् । नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्षान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥
धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण । इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण । राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥
नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा । न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद । भवेन्मम सुखं किंचिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः । मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् । जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥१०॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः । द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः ॥११॥
अम्बां च कैकयीं रुष्य परुषं चाप्रियं वदन् । प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥१२॥
प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति । अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥१३॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् । ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद्विशङ्कसे ॥१४॥
न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः । अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥१५॥
कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि । भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥१६॥

महा धनुर्धारी, बुद्धिमान् भरत के स्वयं आने पर धनुष, तलवार और ढाल से क्या प्रयोजन है ? ॥ २ ॥ लक्ष्मण ! पिता के आज्ञा पालन की प्रतिज्ञा करने के बाद भरत का वध करके मैं लोक-निन्दा से पूर्ण राज्य को ले कर क्या करूंगा ॥ ३ ॥ मित्रों और सम्बन्धियों के विनाश पर जो धन मिले, मैं उसे उसी प्रकार स्वीकार नहीं करता जैसे विष मिश्रित अन्न को कोई भी स्वीकार नहीं करता ॥ ४ ॥ लक्ष्मण ! मैं तुमसे दृढ़ता पूर्वक कहता हूं कि धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी को मैं आप लोगों के लिये ही चाहता हूं ॥ ५ ॥ हे लक्ष्मण ! भाईयों के पालन तथा सुख के लिये ही मैं राज्य की कामना करता हूं, ऐसा मैं शपथ पूर्वक शस्त्रास्त्र का स्पर्श करके कहता हूं ॥ ६ ॥ सौम्य ! सागरों से घिरी यह भूमि मेरे लिये दुष्प्राप्य नहीं। परन्तु लक्ष्मण ! मैं अधर्म से इन्द्र पद को भी नहीं चाहता ॥ ७ ॥ यदि भरत के बिना और तुम्हारे तथा शत्रुघ्न के बिना मुझे कोई सुख हो तो अग्नि उसे नष्ट कर दे ॥ ८ ॥ मैं समझता हूं कि मेरे प्राण से भी प्रिय भ्रातृवत्सल भरत कुल के धर्म (बड़े भाई का राजा बनना) को स्मरण करते हुए अयोध्या आये होंगे ॥ ९ ॥ हे वीर लक्ष्मण ! जानकी तथा तुम्हारे सहित जटा वल्कल धारण करके मेरे वन में प्रवासी होने का समाचार सुन कर स्नेह से आक्रान्त हृदय वाले तथा शोक से व्याकुल हुए ये भरत मुझे देखने के लिये आये हैं, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं ॥ १०, ११ ॥ कठोर और अप्रिय बोलते हुए माता कैकेयी को रुष्ट करके तथा पिता जी को प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मुझे राज्य देने आये हैं ॥ १२ ॥ भरत जो हमसे इस समय मिलना चाहते हैं, यह उचित है। ये मन से भी हमारा अनिष्ट नहीं करेंगे ॥ १३ ॥ भरत ने तुम्हारा कब और क्या अनिष्ट किया है जिससे आज तुम्हें इतना भय हो रहा है या उन पर सन्देह हो रहा है ॥ १४ ॥ भरत के लिये तुम्हें कठोर और अप्रिय वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। भरत के लिये यदि तुम अप्रिय भाषण करोगे तो वह मेरे लिये ही होगा ॥ १५ ॥ लक्ष्मण ! किसी भी आपत्ति में पुत्र अपने पिता को कैसे मार सकते हैं तथा भाई अपने प्राणप्रिय भाई की हत्या कैसे कर सकता है ॥ १६ ॥ यदि तुम राज्य के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग कर रहे हो, तो भरत के यहां आने पर

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे । वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥१७॥
उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः । राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव वक्ष्यति ॥१८॥
तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः । लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥१९॥
तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह । त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥२०॥
व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह । एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥२१॥
अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ । वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥२२॥
इमां वाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् । पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥२३॥
एतौ तौ संप्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ । वायुवेगसमौ वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥२४॥
स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे । नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥२५॥
न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डरं लोकसत्कृतम् । पितुर्दिव्यं महाबाहो संशयो भवतीह मे ॥२६॥
वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः । इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥२७॥
अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिंजयः । लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः॥२८॥
भरतेनाथ संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति । समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥२९॥
अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य सा । पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिरथाकुला ॥३०॥

उनसे कहूंगा कि राज्य इन्हें (=लक्ष्मण को) दे दो ॥ १७ ॥ लक्ष्मण ! मेरे यह कहने पर कि राज्य इनको दे दो, भरत अवश्य ही स्वीकार कर लेंगे ॥ १८ ॥ धर्मशील भाई रामचन्द्र के ऐसा कहने पर, उनके हित में रत लक्ष्मण लज्जा के कारण मानो अपने अंगों में प्रविष्ट हो गये ॥ १९ ॥ उनके उस वाक्य को सुन कर लज्जित लक्ष्मण पुनः बोले—सम्भवतः स्वयं पिता जी आपको देखने आये हैं ॥ २० ॥ लक्ष्मण को लज्जित हुए देख कर रामचन्द्र बोले—वे महाबाहु हम लोगों को देखने के लिये आये हैं ॥ २१ ॥ अथवा हमें सुख के अभ्यासी समझते हुए, वनवास के कष्टों का चिन्तन करके घर लौटा ले जायेंगे ॥ २२ ॥ अथवा अत्यन्त सुख सेवन करने वाली इन वैदेही को मेरे पूज्य पिता जी वन से ले जायेंगे ॥ २३ ॥ वीर ! अच्छी जाति वाले वनोरम तथा वायु के समान तेज चलने वाले ये दो घोड़े दिखाई दे रहे हैं ॥ २४ ॥ बुद्धिमान् पिता जी का विशालकाय शत्रुञ्जय नामक वृद्ध हाथी सेना के आगे २ चला आ रहा है ॥२५॥ परन्तु मैं इस पर पिता जी का दिव्य लोक-सम्मानित सफेद छत्र नहीं देख रहा हूं, अतः मुझे सन्देह सा हो रहा है ॥२६॥ लक्ष्मण ! तुम मेरी बात मानो, वृक्ष से नीचे उतर आओ। धर्मात्मा रामचन्द्र ने लक्ष्मण से ऐसा कहा ॥ २७ ॥ उस साल वृक्ष से उतर कर वे युद्ध में विजय पाने वाले लक्ष्मण हाथ जोड़ कर राम के पास बैठ गये ॥ २८ ॥ किसी को कष्ट न हो, इस लिये भरत से आदेश पाकर सेना ने उस पर्वत के समीप निवास किया ॥ २९ ॥ हाथी-घोड़े-रथों से युक्त भरत की सेना पर्वत के समीप डेढ़ योजन भूमि पर फैल कर स्थित हो गई ॥ ३० ॥ धर्म का विचार करके तथा अभिमान को त्याग कर रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये

सा चित्रकूटे भरतेन सेना धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य विराजते नीतिमता प्रणीता ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे भरतगुणप्रशंसा नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

रामान्वेषणम्

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः । अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम् ॥ १ ॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् । भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥
क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसङ्घैः समन्ततः । लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥
गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिधारिणा । समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥
अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः । वनं सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥
यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् । वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥
यावन्न चन्द्रसंकाशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम् । भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

आये हुए नीतिमान् भरत के द्वारा लाई गई वह सेना चित्रकूट में शोभायमान हो रही थी ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'भरत के गुणों की प्रशंसा' विषयक सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९७॥

अट्ठानवेवां सर्ग

राम की खोज

सेना को ठहरा कर पुरुषश्रेष्ठ, पिता की आज्ञा का पालन करने वाले भरत राम के पास जाने की इच्छा करने लगे ॥ १ ॥ आदेशानुसार विनीत के समान सेना के ठहर जाने पर भरत ने भाई शत्रुघ्न से यह बात कही ॥ २ ॥ सौम्य ! पुरुषों के समूहों तथा व्याधों के साथ तुम इस बन की खोज करो ॥ ३ ॥ वाण-धनुष- तलवार धारण करने वाले हज़ारों सम्बन्धियों के साथ स्वयं गुह भी इस बन में राम-लक्ष्मण की खोज करे ॥ ४ ॥ मैं स्वयं भी मन्त्रियों, नागरिकों, गुरुओं तथा द्विजों के साथ इस सारे वन में पैदल ही भ्रमण करूंगा ॥ ५ ॥ जब तक मैं रामचन्द्र, महाबली लक्ष्मण अथवा सौभाग्यवती वैदेही को न देख लूंगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ६ ॥ जब तक मैं कमलनयन भाई रामचन्द्र के चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर मुख का दर्शन न कर लूंगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ७ ॥ जब तक मैं भाई के राज-

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ । अग्रहीष्यामि शिरसा न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८॥
यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः । अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९॥
सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् । मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥१०॥
कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा । भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति ॥११॥
सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः । यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥१२॥
कृतकार्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम् । यदध्यास्ते महातेजा रामः शस्त्रभृतां वरः ॥१३॥
एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरुषर्षभः । पद्भ्यामेव महाबाहुः प्रविवेश महद्वनम् ॥१४॥
स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु । पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥१५॥
स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमासाद्य पुष्पितम् । रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥१६॥
तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः । अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥१७॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामान्वेषणं नाम अष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

लक्षणों से युक्त चरणों को सिर से प्रणाम न कर लूंगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ८ ॥ जब तक पिता-पितामह के राज्य पर, राज्य पाने योग्य व्यक्ति (=रामचन्द्र) अभिषेक-जल से भीग कर न बैठेगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ९ ॥ लक्ष्मण सफल-मनोरथ हैं जो वे कमलनयनों से युक्त, तेजस्वी तथा चन्द्रमा के समान, राम के मुख का दर्शन करते हैं ॥ १० ॥ सौभाग्यवती सीता कृतकृत्य है जो वह सागर पर्य्यन्त भूमि के स्वामी रामचन्द्र का अनुगमन करती है ॥ ११ ॥ गिरिराज के समान यह चित्रकूट पर्वत सौभाग्यशाली है जिस पर रामचन्द्र इस प्रकार निवास करते हैं जैसे नन्दनवन में कुबेर ॥ १२ ॥ जंगली पशुओं से सेवित यह दुर्गम वन भी कृतार्थ है, जिसमें शस्त्र धारण करने वालों में श्रेष्ठ महातेजस्वी रामचन्द्र निवास करते हैं ॥ १३ ॥ ऐसा कह कर पुरुषसिंह, महातेजस्वी, विशालबाहु भरत पैदल ही उस घने वन में प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥ बोलने वालों में श्रेष्ठ वे भरत पर्वत के शिखरों पर उगे हुए पुष्पित वृक्षों के समूहों के बीच से गये ॥ १५ ॥ चित्रकूट पर्वत के एक फूले हुए वृक्ष के पास जा कर उन्होंने रामचन्द्र के आश्रम में स्थित अग्नि के धुएं को देखा ॥ १६ ॥ उस धूम को देख कर श्रीमान् भरत अपने भाई शत्रुघ्न सहित बहुत प्रसन्न हुए। राम यहीं हैं, यह जान कर उन्हें ऐसा लगा, मानो सागर के पार पहुँच गये हों ॥ १७ ॥ चित्रकूट पर्वत पर मुनिजन सेवित रामाश्रम को देख कर तथा सेना को वहीं छोड़ कर वे महात्मा भरत गुह के साथ शीघ्रता से आश्रम की ओर चले ॥ १८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम की खोज' विषयक अट्ठानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमः सर्गः

रामसमागमः

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः। जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥
ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय। इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥
सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत। रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥
गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंश्रिताम्। भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥
शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा। काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥
सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः। कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥
ददर्श च वने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान्। मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥
गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान् भरतस्तदा। शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥
मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत्। नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥
उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम्। अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥१०॥
इदं चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम्। शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥११॥
यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने। तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥१२॥
अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम्। आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥१३॥

निन्यानवेवां सर्ग

राम के साथ मिलन

सेना के ठहर जाने पर भरत शत्रुघ्न को आश्रम आदि दिखाते हुए भाई रामचन्द्र को देखने के लिये
गये ॥ १ ॥ ऋषि वसिष्ठ के पास यह सन्देश भेजकर कि मेरी माताओं को शीघ्र ले आयें, वे गुरु के प्रिय
भरत शीघ्र आगे बढ़े ॥ २ ॥ सुमन्त्र भी शत्रुघ्न से थोड़ा पीछे चल रहे थे क्योंकि वे भी भरत के समान
राम दर्शन के लिये उत्कण्ठित थे ॥ ३ ॥ जाते २ ही भरत ने आश्रम में स्थित भाई की पर्णकुटी तथा शयना-
गार को देखा ॥ ४ ॥ उस शाला के सामने भरत ने टूटी हुई लकड़ियां तथा चुने हुए फूल देखे ॥ ५ ॥
आश्रम को जाते हुए राम-लक्ष्मण के बनाये हुए, वृक्षों पर कहीं २ कुश तथा वस्त्रों के चिह्नों को भरत ने देखा
॥ ६ ॥ उस वन में उन्हों ने मृग तथा भैंसों के सूखे गोबर के ढेरों को सर्दी के निवारणार्थ देखा ॥ ७ ॥
उस समय चलते २ महाबाहु, तेजस्वी भरत ने प्रसन्न होकर शत्रुघ्न तथा सब मन्त्रियों से कहा ॥ ८ ॥ मैं
समझता हूं कि हम उस स्थान पर पहुँच गये हैं जिसको भरद्वाज मुनि ने बताया था। यहां से थोड़ी दूर पर
मन्दाकिनी नदी होगी ॥ ९ ॥ वृक्षों के ऊँचे स्थानों पर ये वस्त्रों के टुकड़े बन्धे हुए हैं। समय-बे समय जाने
के लिये लक्ष्मण ने यह मार्ग का चिह्न किया होगा ॥ १० ॥ परस्पर गर्जते हुए लम्बे दांतों वाले तथा शीघ्र-
गामी हाथियों का पर्वत के समीप यह मार्ग है ॥ ११ ॥ तपस्वी लोग वन में जिसको निरन्तर स्थापित रखना
चाहते हैं, उसी अग्नि का यह घना धुआं दिखाई दे रहा है ॥ १२ ॥ यहां मैं श्रेष्ठ पुरुष, गुरुओं का सत्कार
करने वाले, प्रसन्न तथा महर्षि के समान वेषधारी आर्य रामचन्द्र को देखूंगा ॥ १३ ॥ मुहूर्त्त भर में मन्दा-

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः । मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥१४॥
जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः । जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥१५॥
मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः । सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥१६॥
इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् । रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥१७॥
एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः । ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥१८॥
सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् । विशालां मृदुविस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥१९॥
शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः । रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥२०॥
अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणीगतैः शरैः । शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥२१॥
महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् । रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥२२॥
गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रैः काञ्चनभूषितैः । अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥२३॥
प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् । ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥२४॥
निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् । उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥२५॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम् । ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥२६॥
सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् । पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥२७॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् । स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥२८॥

किनी नदी से वे भरत चित्रकूट पर जाकर अपने साथियों से यह बोले ॥ १४ ॥ निर्जन वन में जाकर पुरुष श्रेष्ठ जनेन्द्र रामचन्द्र वीरासन से पृथ्वी पर बैठे हैं, मेरे जन्म और जीवन को धिक्कार है ॥ १५ ॥ मेरे कारण लोकपाल महातेजस्वी रामचन्द्र आपत्ति में पड़े हैं और सब कामनाओं का त्याग करके वन में रह रहे हैं ॥ १६ ॥ इस प्रकार लोक में निन्दित मैं आज रामचन्द्र को प्रसन्न करते हुए उनके, लक्ष्मण तथा सीता के पैरों पर पड़ूंगा ॥ १७ ॥ इस प्रकार विलाप करते हुए दशरथपुत्र भरत ने उस वन में विशाल, मनोरम तथा शुभ पर्णशाला देखी ॥ १८ ॥ साल, ताड़ तथा अश्वकर्ण के बहुत से पत्तों से वह विशाल पर्णशाला इस प्रकार ढक दी गई थी जैसे यज्ञ में कुशाओं से वेदि को ढक दिया जाता है ॥ १९ ॥ वह पर्णशाला इन्द्रधनुष के सदृश, भारी, स्वर्णमण्डित, दृढ तथा शत्रुओं को नष्ट करने वाले धनुषों से सुशोभित हो रही थी ॥ २० ॥ वह पर्णकुटी सूर्य रश्मियों के समान चमकते हुए, भयङ्कर, तरकशों में स्थित तथा चमकदार नोकों वाले बाणों से ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे सांपों से भोगवती नगरी सुशोभित होती है ॥ २१ ॥ स्वर्णमय म्यानों वाली दो तलवारों तथा स्वर्ण विन्दुओं से चित्रित दो ढालों से वह पर्णशाला शोभा पा रही थी ॥ २२ ॥ वहां रखे हुए स्वर्णमण्डित गोधा (हस्तरक्षक) तथा अङ्गुलित्र से वह पर्णकुटी सुशोभित थी। शत्रु समूह से वह उसी प्रकार अप्रवेशनीय थी जैसे मृगों से सिंह की गुफा ॥२३॥ रामचन्द्र के निवासगृह में भरत ने पूर्वोत्तर दिशा की ओर कुछ नीची, जलती हुई अग्नि से युक्त विशाल वेदि को देखा ॥ २४ ॥ मुहूर्त भर उसे देखकर भरत ने उटज में बैठे हुए जटाधारी रामचन्द्र को देखा ॥ २५ ॥ काली मृगछाला धारण किये, चीर वल्कल पहने, अग्नि के समान तेजस्वी रामचन्द्र को भरत ने बैठे हुए देखा ॥ २६॥ सिंह के समान कन्धों वाले, कमलनेत्र, सागर पर्यन्त पृथ्वी के पालक, धार्मिक, महाबाहु रामचन्द्र को देखा ॥ २७ ॥ कुशा बिछे हुए चबूतरे पर सीता और लक्ष्मण के साथ महाबाहु रामचन्द्र को इस प्रकार बैठे हुए देखा जैसे पुरातन ब्रह्मा बैठे हों ॥ २८ ॥ उनको इस अवस्था में देखकर कैकेयी पुत्र धर्मात्मा श्रीमान् भरत शोक मोह से व्याकुल

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् दुःखमोहपरिप्लुतः । अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥२९॥
दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा । अशक्नुवन् धारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवीत् ॥३०॥
यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् । वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥३१॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः । मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥३२॥
अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसस्तदा । सोऽयं जटाभारमिमं वहते राघवः कथम् ॥३३॥
यस्य यज्ञैर्यथोद्दिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः । शरीरक्लेशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥३४॥
चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् । मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥३५॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः । धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥३६॥
इत्येवं विलपन् दीनं प्रस्विन्नमुखपङ्कजः । पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥३७॥
दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः । उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन ॥३८॥
बाष्पापिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् । आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत्ततः ॥३९॥
शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् । तावुभौ स समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत् ॥४०॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव समीयतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥४१॥
तान् पार्थिवान् वारणयूथपार्हान् समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वेऽप्यश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम् ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामसमागमो नाम एकोनशततमः सर्गः ॥९९॥

होकर उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥ देखते ही वे दुःखी होकर लड़खड़ाती वाणी से विलाप करने लगे। शोक को रोकने में असमर्थ वे कुछ धैर्य धारण करके कहने लगे ॥ ३० ॥ जो संसद में प्रजाजन से उपासनीय हैं, वे मेरे बड़े भ्राता आज वन्य मृगों से उपासित हो रहे हैं ॥ ३१ ॥ जो महात्मा रामचन्द्र पहले हजारों के वस्त्र धारण करते थे, आज वे धर्म का पालन करते हुए केवल दो मृगछालाओं को धारण किये हुए हैं ॥ ३२ ॥ तब जो विविध प्रकार की विचित्र मालाएँ धारण करते थे, वे आज इस जटाभार को कैसे वहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥ जिसके लिये धर्म का संग्रह शास्त्रोक्त यज्ञों के द्वारा उचित था, वह आज शरीर को दुःख देकर धर्म का उपार्जन कर रहा है ॥३४॥ जिसका शरीर मूल्यवान् चन्दन से लिप्त होता था, अब उसका शरीर मल से लिप्त क्यों है ॥ ३५ ॥ सुख पाने योग्य रामचन्द्र को मेरे कारण यह कष्ट मिला है। मुझ नृशंस के लोक-निन्दित जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥ इस प्रकार दीनतापूर्वक विलाप करते हुए भरत का मुखमण्डल पसीने से तर हो गया। राम के पैरों को न पाकर वे रोते हुए गिर पड़े ॥ ३७ ॥ दुःख से संतप्त महाबलवान् राजपुत्र भरत एक बार दीनतापूर्वक 'आर्य' कहकर पुनः कुछ न कह सके ॥ ३८ ॥ यशस्वी राम को देखकर रुंधे गले से भरत पुनः 'आर्य' इतना मात्र बोलकर और कुछ भी न बोल सके ॥ ३९ ॥ शत्रुघ्न ने भी रोते हुए, रामचन्द्र के चरणों की वन्दना की। उन दोनों का आलिङ्गन करके रामचन्द्र भी आंसू बहाने लगे ॥ ४० ॥ फिर वे राजपुत्र रामलक्ष्मण सुमन्त्र और गुह से उसी प्रकार मिले जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्रमा आकाश में शुक्र और बृहस्पति से मिलते हैं ॥ ४१ ॥ हाथियों पर चलने योग्य उन राजपुत्र भरत-शत्रुघ्न को वन में आये हुए देखकर वनवासी लोग भी हर्ष को त्यागकर अश्रु मोचन करने लगे ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम के साथ मिलन' विषयक निन्यानवेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥९९॥

शततमः सर्गः

कच्चित्सर्गः

जटिलं चीरवसनं प्रांजलिं पतितं भुवि । ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् । भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना ॥ २ ॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः । अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥
क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः । न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥
चिरस्य बत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् । दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥
कच्चिन्नु धरते तात राजा यत्त्वमिहागतः । कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥
कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् । कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितरं सत्यविक्रमम् ॥ ७ ॥
कच्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः । राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥
स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः । इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥
सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती । सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥१०॥
कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः । अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥११॥
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः । हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥१२॥
कच्चिद्देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि । वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥१३॥
इष्वस्त्रवरसंपन्नमर्थशास्त्रविशारदम् । सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥१४॥

सौवां सर्ग

कुशलता आदि विषयक प्रश्न

जटा-चीरधारी, हाथ जोड़ कर भूमि पर पड़े हुए, प्रलयकालीन देखने में अयोग्य अमिततेज सूर्य के समान भरत को राम ने देखा ॥ १ ॥ कान्तिरहित मुख वाले तथा दुर्बल भाई भरत को किसी प्रकार पहचान कर रामचन्द्र ने उन्हें हाथ से उठाया ॥ २ ॥ रामचन्द्र ने उनका आलिङ्गन करके और मस्तक सूंघ कर तथा गोद में बैठा कर सावधानी से पूछा ॥ ३ ॥ भाई ! तुम्हारे पिता कहां गये कि तुम वन में आये हो क्यों कि उनके जीते हुए तुम्हारा वन में आना उचित नहीं ॥ ४ ॥ दूर से समागत तुम को बहुत काल के पश्चात् देख रहा हूँ । प्रिय ! इस घने वन में तुम क्यों आये हो ॥ ५ ॥ क्या महाराज जीवित हैं या दुःखी होकर सहसा स्वर्ग लोक सिधार गये, जिस से तुम यहां आये हो ॥ ६ ॥ सौम्य ! तुम बालक हो, अतः तुम्हारा राज्य तो नष्ट नहीं हो गया ? सत्य के व्रती पिता जी की सेवा तो करते हो ना ? ॥ ७ ॥ सत्य-प्रतिज्ञ, राजसूय-अश्वमेध आदि यागों के करने वाले धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ कुशल हैं ना ? ॥ ८ ॥ प्रियवर ! विद्वान्, धर्मनिष्ठ, महातेजस्वी, इक्ष्वाकु वंश के आचार्य वे ब्राह्मण वसिष्ठ यथायोग्य सत्कृत तो होते हैं ? ॥ ९ ॥ वे माता कौसल्या तथा प्रजावती सुमित्रा सुखी तो हैं और श्रेष्ठ देवी कैकेयी भी आनन्द में हैं ? ॥ १० ॥ क्या विनयशील, कुलीन, विद्वान्, प्रशंसनीय तथा सत्कर्म-कुशल तुम्हारे पुरोहित का आदर यथायोग्य होता है ? ॥ ११ ॥ यज्ञ के लिये तुमने जिस शास्त्रज्ञ, बुद्धिमान् तथा सरल पुरोहित को नियत किया है, वह हवन के पूर्व और पश्चात् तुम्हें सूचित तो करता है ? ॥१२॥ प्रिय ! देवों, पितरों, नौकरों, पितृतुल्य गुरुओं, वृद्ध वैद्यों और ब्राह्मणों का सम्मान तो करते हो ? ॥ १३ ॥ भाई ! क्या तुम बाण तथा अस्त्र विद्या में निपुण और अर्थशास्त्रज्ञ आचार्य सुधन्वा का आदर करते हो ? ॥ १४ ॥ क्या तुमने

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः। कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥१५॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव। सुसंवृतो मन्त्रधरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥१६॥
कच्चिन्निद्रावशं नैषीः कच्चित्काले प्रबुध्यसे। कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥१७॥
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह। कच्चित्ते मन्त्रितो मंत्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥१८॥
कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्। क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥१९॥
कच्चित्ते सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः। विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥२०॥
कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः। त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥२१॥
कच्चित्सहस्रान्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्। पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥२२॥
सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः। अथ वाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥२३॥
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः। राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥२४॥
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः। जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥२५॥
अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्। श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥२६॥
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजितप्रजम्। राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥२७॥
कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा। उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥२८॥
उपायकुशलं वैद्यं भृत्यं संदूषणे रतम्। शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते ॥२९॥

अपने समान शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन, संकेत को समझने वाले व्यक्तियों को मन्त्री बनाया है? ॥ १५ ॥ भरत ! मन्त्र धारण करने वाले शास्त्रविशारद सचिवों के द्वारा गुप्त रखी हुई मन्त्रणा ही राजाओं की विजय की मूल होती है ॥ १६ ॥ अधिक निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते, ठीक समय पर सोकर उठ जाते हो तथा रात्रि के अन्तिम पहर में कार्य सिद्धि के उपायों का चिन्तन करते हो ना ? ॥ १७ ॥ किसी बात का निर्णय अकेले तो नहीं कर लेते हो, बहुत से लोगों के साथ विचार-विमर्श तो नहीं करते और गुप्त रहस्य साधारण प्रजा तक तो नहीं पहुँच जाते ? ॥ १८ ॥ हे भरत ! प्रारम्भ में साधारण किन्तु परिणाम में महत्त्वपूर्ण अर्थ का निश्चय करके शीघ्र उसको कार्य रूप में परिणत करना आरम्भ तो कर देते हो, देर तो नहीं करते ? ॥ १९ ॥ तुम्हारे कार्यों का ज्ञान राजाओं को समाप्ति पर या उससे कुछ पूर्व ही होता है ना, आरम्भ करने से पूर्व ही तो नहीं हो जाता ? ॥ २० ॥ तुम्हारे अकथित निश्चयों को दूसरे लोग तर्क और युक्ति से जान तो नहीं लेते और तुम वा तुम्हारे मन्त्री अन्यों के गुप्त रहस्यों को जान लेते हो ना ? ॥ २१ ॥ हजारों मूर्खों की अपेक्षा एक बुद्धिमान् व्यक्ति को रखना अच्छा समझते हो ना, क्यों कि कठिनाई के समय में बुद्धिमान् व्यक्ति महान् कल्याण करता है ॥ २२ ॥ यदि राजा हजारों या लाखों मूर्खों को रख लेता है, तो समय आने पर उनसे सहायता नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २३ ॥ मेधावी, शूर, दक्ष तथा निपुण मन्त्री अकेला ही राजा अथवा राजपुत्र को महती लक्ष्मी से युक्त कर सकता है ॥ २४ ॥ क्या तुमने बड़े २ कार्यों में मुख्य, मध्यमश्रेणी के कार्यों में मध्यम तथा साधारण कार्यों में साधारण नौकरों को लगाया है ? ॥२५॥ क्या तुम धर्म-अर्थ-काम से सुपरीक्षित, वंश परम्परा से प्राप्त, पवित्र तथा श्रेष्ठ मन्त्रियों को श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो ? ॥ २६ ॥ हे कैकेयीपुत्र भरत ! मन्त्री लोग तुम्हारे राज्य को अत्यन्त उग्र दण्ड से पीड़ित प्रजा से युक्त तो नहीं समझते हैं ? ॥ २७ ॥ याजक लोग तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं करते जैसे कुलीन स्त्रियां उग्रा (नीचकुलोत्पन्न) के ग्रहण करने वाले कामी पतित पुरुष का तिरस्कार करती हैं ॥ २८ ॥ साम आदि उपायों में निपुण वैद्य, दूसरों पर दोषारोपण करने वाले नौकर तथा ऐश्वर्य के अभिलाषी शूर को जो राजा नहीं मारता वह स्वयं मारा जाता है ॥ २९ ॥ क्या तुमने प्रसन्न रहने वाले, शूर, बुद्धिमान्,

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्शुचिः । कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥३०॥
बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः । दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥
कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् । संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥३२॥
कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः । भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥३३॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः । कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥३४॥
कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान् । यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥३५॥
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च । त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारणैः ॥३६॥
कच्चिद्व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा । दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥३७॥
कच्चिन्न लौकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे । अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥३८॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः । बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥३९॥
वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तातपूर्वकैः । सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥४०॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा । जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥४१॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् । कच्चित्समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसि ॥४२॥

धीर, पवित्र, कुलीन, तुमसे प्रेम करने वाले तथा निपुण व्यक्ति को सेनापति बनाया है ? ॥ ३० ॥ तुम्हारे मुख्य योद्धा बलवान्, युद्ध के अभ्यस्त, वीर तथा सत्कार कर के तुम्हारे द्वारा सम्मानित हैं ना ? ॥ ३१ ॥ क्या तुम सेना के भोजन और वेतन जो उचित परिमाण में तथा उचित काल में देना चाहिये, उसे ठीक समय पर देते हो, देर तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥ भोजन और वेतन के उचित काल पर न मिलने से भृत्य लोग स्वामी के ऊपर क्रोध करने लगते हैं तथा बिगड़ उठते हैं, वह बड़ा अनर्थ हो जाता है ॥ ३३ ॥ मुख्यतः सब कुलीन लोग तुम से प्रीति रखते हैं ना तथा तुम्हारे लिये सावधानी से प्राण न्योछावर करने के लिये उद्यत तो रहते हैं ? ॥ ३४ ॥ भरत ! क्या तुमने अपने राज्य में उत्पन्न, विद्वान्, चतुर, प्रतिभाशाली, सन्देश को यथार्थतया पहुँचाने वाले पण्डित को अपना दूत बनाया है ? ॥ ३५ ॥ भरत ! क्या तुम परस्पर अनभिज्ञ तीन २ गुप्तचरों के द्वारा अपने राज्य के पन्द्रह तथा अन्य राज्य के अट्ठारह तीर्थों ❀ को जानते हो ? ॥ ३६ ॥ शत्रुनाशक ! पराजित करके भगाये हुए शत्रुओं के पुनः आजाने पर उनको दुर्बल समझ कर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते हो ? ॥ ३७ ॥ हे तात ! तुम लौकायतिक (नास्तिक) ब्राह्मणों की संगति तो नहीं करते ? ये अर्थों में प्रवीण तथा अपने को पण्डित समझने वाले मूर्ख हैं ॥ ३८ ॥ प्रधान धर्मशास्त्रों के विद्यमान होने पर भी वे दुर्बुद्धि लोग शुष्क तार्किक बुद्धि के आधार पर निरर्थक प्रलाप करते हैं ॥ ३९ ॥ प्रिय ! हमारे पूर्वज वीरों के निवास स्थान, अन्वर्थ नाम वाली, दृढ द्वारों वाली, हाथी-घोड़े-रथों से पूर्ण, अपने २ कार्यों में संलग्न, जितेन्द्रिय, उत्साही, तथा श्रेष्ठ हजारों ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों से युक्त, अनेक प्रकार के महलों से आवृत, वैद्य जनों से परिपूर्ण, समृद्ध अयोध्या की रक्षा तो करते हो ?

❀ राजनीति में मन्त्री आदि अट्ठारह 'तीर्थ' कहे जाते हैं । नीतिशास्त्रों में अट्ठारह तीर्थों के नाम इस प्रकार हैं:— (१) मन्त्री (२) पुरोहित (३) युवराज (४) सेनापति (५) दौवारिक (६) आन्तर्वंशिक (७) कारागाराधिकृत (८) अर्थसंचयकृत् (९) कार्यनियोजक (१०) प्राड्विवाक (११) सेनानायक (१२) नगराध्यक्ष (१३) कर्मान्तिक (१४) सभ्य (१५) धर्माध्यक्ष (१६) दण्डपाल (१७) दुर्गपाल (१८) राष्ट्रान्तपाल । स्वपक्ष में मन्त्री, पुरोहित तथा युवराज को छोड़ कर पन्द्रह पुरुष बचते हैं ।

[देखें—कौटिलीय अर्थशास्त्र अ० १२]

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः । देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥४३॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः । सुकृष्टसीमा पशुमान् हिंसाभिरवर्जितः ॥४४॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः । परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥४५॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः । कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥४६॥
कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः । वार्तायां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते ॥४७॥
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् । रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥४८॥
कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः । कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥४९॥
कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः । कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुन्जराणां च तृप्यसि ॥५०॥
कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् । उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥५१॥
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया । सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥५२॥
कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः । यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥५३॥
आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः । अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥५४॥
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च । योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥५५॥
कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चोरकर्मणा । अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः ॥५६॥
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः । कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥५७॥

॥ ४०-४२ ॥ हे भरत ! सैकड़ों यज्ञशालाओं से सेवित, सुबुद्ध पुरुषों से पूर्ण, देवस्थानों, पौसरों तथा तालाबों से सुशोभित, प्रसन्न नर नारी वाले, सभाओं तथा उत्सवों से शोभायमान, अच्छी कृषि वाले, बहुत पशु वाले, हिंसावर्जित, कृषि के लिये केवल मेघवृष्टि पर ही आश्रित न रहने वाले, रमणीक, हिंस्र जन्तुओं से रहित, सब प्रकार भयों से वर्जित, खानों से शोभित, पापी लोगों से रहित, मेरे पूर्वजनों के द्वारा सुरक्षित तथा समृद्ध कौसल देश सुखी तो है ? ॥४३-४६॥ कृषि-गोरक्षा आदि में लगे हुए तुम्हारे सब प्रिय जन सुखी हैं ना ? अपनी जिवीकाओं में लगे हुए सब लोग सुखी तो हैं ? ॥ ४७ ॥ उनके इष्ट की रक्षा एवं अनिष्ट के परिहार से तुम उनका पालन तो करते हो क्यों कि राज्य के सब निवासियों की रक्षा राजा को धर्म से करनी चाहिये॥४८॥ तुम अपनी स्त्रियों के अनुकूल तो रहते हो ? और वे सुरक्षित तो हैं ? उन पर अधिक विश्वास तो नहीं करते और कोई रहस्य तो उन्हें नहीं बताते ? ॥ ४९ ॥ हाथियों का वन तथा हथनियाँ सुरक्षित तो हैं ? हथनी, घोड़े तथा हाथियों से तुम तृप्त तो नहीं होते हो ? ॥ ५० ॥ हे राजपुत्र ! प्रतिदिन प्रातः काल उठ कर सुभूषित हो कर महापथ पर नागरिकों को नित्य दर्शन तो देते हो ? ॥ ५१ ॥ तुम्हारे नौकर निश्शङ्क हो कर सदा तुम्हारे सामने ही तो नहीं डटे रहते अथवा भयभीत हो कर सदा सब दूर भाग जाते हैं ? इस विषय में मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ है ॥ ५२ ॥ तुम्हारे सब दुर्ग धन, धान्य, शस्त्र, जल, यन्त्र, शिल्पियों तथा धनुर्धारियों से परिपूर्ण तो हैं ? ॥ ५३ ॥ हे राघव ! तुम्हारी आय विपुल तथा व्यय न्यून है ना ? तुम्हारे कोष का धन अयोग्य व्यक्तियों के पास तो नहीं जाता ? ॥ ५४ ॥ तुम्हारा धन देव, पितर, ब्राह्मणों अभ्यागतों, योद्धाओं तथा मित्रों पर ही व्यय होता है ना ? ॥ ५५ ॥ किसी विशुद्धात्मा, पवित्र और श्रेष्ठ व्यक्ति पर आरोप लगा कर शास्त्रज्ञ लोगों के विना परीक्षा किये ही लोभ से उसका वध तो नहीं कर दिया जाता ? ॥ ५६ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! जो चोरी करते हुए पकड़ा गया है, उससे अच्छे प्रकार पूछ लिया गया है, चोरी करते समय देखा गया है तथा चोरी का धन भी जिसके पास मिला है उस चोर को धन के लोभ से छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥ ५७ ॥ भरत ! ऐसे संकट के समय किसी धनी या निर्धन व्यक्ति के धन

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव । अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥५८॥
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यस्राणि राघव । तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥५९॥
कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुख्यांश्च राघव । दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥६०॥
कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन् । चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥
कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः । उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न बाधसे ॥६२॥
कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर । विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥६३॥
कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः । आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥६४॥
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् । अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥६५॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् । निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥६६॥
मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः । कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥६७॥

को तुम्हारे विद्वान् मन्त्री धनलोभ से रहित हो कर ही देखते हैं ना ? ॥ ५८ ॥ राघव ! मिथ्या अपराधों के कारण दण्डित व्यक्तियों के जो आँसू गिरते हैं, वे अपने आनन्द के लिये शासन करने वाले राजा के पुत्र और पशुओं का नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥ वृद्धों, बालकों तथा वैद्य आदियों को दान, मन (स्नेह) तथा वाणी से तृप्त तो करते हो ? ॥ ६० ॥ गुरुओं, वृद्धों, तपस्वियों, देवों, अतिथियों, यज्ञशालाओं, तथा सिद्ध-मनोरथ ब्राह्मणों का सत्कार तो करते हो ? ॥ ६१ ॥ कहीं अर्थ से धर्म अथवा धर्म से अर्थ को या धर्म-अर्थ दोनों को काम से बधित तो नहीं करते ? ॥ ६२ ॥ हे विजेताओं में श्रेष्ठ तथा काल को जानने वाले भरत ! अर्थ-धर्म-काम का विभाग करके सब का यथासमय अनुष्ठान करते हो ? ॥ ६३ ॥ नगरवासियों सहित सर्वशास्त्रनिष्णात ब्राह्मण लोग तुम्हारे कल्याण की कामना तो करते हैं ? ॥ ६४ ॥ नास्तिकता, असत्यभाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता (टालमटोल), सज्जनों से न मिलना, आलस्य, ऐन्द्रियिक सुख, अकेले ही राज-कार्यों का विचारना, मूर्खों से परामर्श, निश्चित कार्यों को आरम्भ न करना, रहस्यों को प्रकट करना, मङ्गलादि को न करना, सब शत्रुओं पर एक साथ आक्रमण—राजाओं के इन चौदह दोषों को त्यागते तो हो ? ॥६५-६७ ॥ दशवर्ग[1], पञ्चवर्ग,[2] चतुर्वर्ग,[3] सप्तवर्ग,[4] अष्टवर्ग,[5] त्रिवर्ग,[6] तीनों विद्यायें,[7] बुद्धि से इन्द्रियों पर

१—मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्यं च कामजो दशको गणः ॥ (मनु ७।४७)
अर्थात्— शिकार, जुआ, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्रियाँ, मद, नाचगाना, व्यर्थ घूमना—कामज दशक गण है।

२—औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा । इति दुर्गं पञ्चविधं पञ्चवर्ग उदाहृतः ॥
अर्थात्—जल, पर्वत, वृक्ष, उजाड़, मरु प्रदेशों में स्थित—पाँच प्रकार का दुर्ग होता है ।

३—साम दानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुर्गणः । (कामन्दकीय)

४—स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गकोशौ बलं सुहृत् । परस्परोपकारीदं राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥
अर्थात्—स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना, मित्र—ये राज्य के सात अङ्ग हैं ।

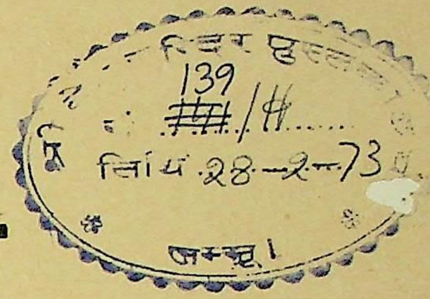
५—पैशुन्यं साहसं द्रोहमीर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ (मनु ७।४८)
अर्थात्—चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, निन्दा, बलात् परसम्पत्ति पर अधिकार, वाणी तथा दण्ड की कठोरता—ये आठ क्रोध से उत्पन्न होते हैं ।

६—धर्म, अर्थ और काम ।

७—वेदत्रयी, कृष्यादि वार्ता और नीति ।

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १४]  [अङ्क ४

इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

माघ २०१८ वि०, फरवरी १९६२ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६२

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य–भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।||) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जावेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

विविध समाचार

क्रिकेट में भारत की ऐतिहासिक विजय

३० वर्ष के टेस्ट क्रिकेट के इतिहास में भारत ने इङ्गलैण्ड के विरुद्ध इस वर्ष प्रथम बार विजय श्री (रबर) प्राप्त की है। वर्तमान टेस्ट शृंखला में भारत ने लगातार दो टेस्ट जीते तथा अन्य तीन में बराबर रहा। अब तक भारत ने इंगलैण्ड के विरुद्ध कुल २९ टेस्ट मैच खेले हैं, जिनमें से इंगलैण्ड ने १५ एवं भारत ने ३ मैच जीते हैं, शेष ११ बराबर रहे।

पेरू में ४ हजार व्यक्ति मरे

इण्डीज क्षेत्र में एक विशाल हिमखण्ड के टूट कर नीचे गिरने के कारण ४ कस्बों में सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न हो गई। लगभग ४ हजार व्यक्ति मृत्यु के मुख में चले गये तथा हजारों लापता हो गये हैं।

सुरक्षापरिषद् में कश्मीर के प्रश्न पर पाक-आवेदन

पाकिस्तान सरकार ने कश्मीर के प्रश्न पर विचारार्थ एक आवेदन पत्र सुरक्षापरिषद् के अध्यक्ष के पास भेजा है। भारत ने राष्ट्रसंघ से कश्मीर-विवाद पर विचार न करने की मांग की है।

नेपाल में अशान्ति

पश्चिमी नेपाल में अज्ञात व्यक्तियों ने हवाई अड्डे पर अधिकार कर लिया। अन्य तोड़-फोड़ के कार्य भी हुए। इसी प्रकार के कार्य पूर्वी नेपाल में भी हुए हैं। नेपाल कांग्रेस के अध्यक्ष जनरल सुवर्ण शमशेर ने कलकत्ता में कहा कि यह जन-संघर्ष अब राज्य में लोकतन्त्र व्यवस्था हो जाने पर ही शान्त होगा।

कश्मीर की एक हजार वर्ग मील भूमि पर चीन का दावा

चीनी रेडियो ने घोषित किया कि उत्तर पश्चिम गिलगिट क्षेत्र की एक हजार वर्ग मील भूमि को पाकिस्तान लौटा दे। वस्तुतः यह भारत की भूमि है जिस पर पाकिस्तान ने अधिकार जमा रखा है।

राष्ट्रपति सुकर्ण की हत्या का प्रयास विफल

मकासर में हिन्देशिया के राष्ट्रपति की हत्या का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह सफल न हो सका। किसी अज्ञात व्यक्ति ने उन की कार पर हथगोला फेंका जो कार से १०० गज पीछे फटा। ३१ व्यक्ति घायल हुए, परन्तु राष्ट्रपति साफ बच गये।

ओ३म्

ऋग्वेद यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १४ } काशी, माघ सं० २०१८ वि०, फरवरी १९६२ ई० { अङ्क ४

टिप्पणीकार—श्री पं० विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी अनुगामी

आर्याभिविनय-व्याख्या

प्रार्थना विषय

जल और ओषधियाँ सुखदायक हों।

सुमित्रिया न आपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु।

योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः॥ यजु० ३६।२३॥

आर्याभिविनय—व्याख्या

आपः ओषधयः नः सुमित्रियाः सन्तु—हे सर्वमित्र सम्पादक! आपकी कृपा से प्राण और जल, तथा विद्या और ओषधि, हमलोगों के लिये सुखदायक हों, कभी प्रतिकूल न हों।

योऽस्मान् द्वेष्टि वयञ्च यं द्विष्मः=और जो हम से द्वेष-अप्रीति-शत्रुता करता है, तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं।

अर्थबोधकटिप्पणी—

१. सर्वमित्रसम्पादक=सब सुखों को पूर्णतया प्राप्त कराने वाले।

२. दुष्ट=painful; worthless—आप्टे०।

तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु = हे न्यायकारिन् ! उसके लिये पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही हों। अर्थात् जो अधर्म करे, उसको आपके रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों, जिससे वह हमको दुःख न दे सके। पुनः[3] हम लोग सदा सुखी रहें।

दण्डान्वय-टीका

आपः[4] = सुख पाने का बहुत बड़ा साधन जल और जल से प्राप्त शक्ति (तथा) प्राणबल, और सकल कामनायें
ओषधयः[5] = यवादि अन्न, मूल, फलादि
नः (= अस्मभ्यं) = हमारे लिये
सुमित्रियाः[6] = सुखदायी
सन्तु = हों
(और)
यः = जो
अस्मान् = हम लोगों को
द्वेष्टि[7] = हानि पहुँचाता है
वयं च = और हम लोग
यम् = जिसको
द्विष्मः = हानिकारक समझते हैं
तस्मै = उसके लिये
दुर्मित्रियाः[8] = दुःखदायी
सन्तु = हों

३. पुनः = on the other hand : प्रत्युत—आप्टे०।
४. आपो वै प्राणाः। श० ३।८।२।४।
अद्भिर्वाऽइदꣳ सर्वमाप्तम्। श० ११।१।१।१४।
अमृतं वाऽआपः। श० ११९।२।७।
शान्तिरापः। श० ११२।२।११।
वीर्यं वा आपः। श० ५।३।४।१।
आपो वै यज्ञः। ऐ० २।१०।
आपो वै सर्वे कामाः। श० १०।५।४।१५।
५. ओषः पाकः धीयते अत्र। वाचस्पत्यकोष।
सैनान्यं वा एतदोषधीनां यद्यवाः। ऐ० ८।१६।
द्वय्यो वा ओषधयः। पुष्पेभ्यो अन्याः फलं गृह्णन्ति। मूलेभ्योऽन्याः। तै० ३।८।१७।४।
यवाद्याः। दया० (स्वभाष्ये)।
६. शोभनं मित्रमिव वर्त्तमानाः। दया० (स्वभाष्ये)।
मित्रः (एवैनं) सत्यानां सुवते। तै० १।७।४।१।
मित्र ! सत्यनामधिपते। तै० ३।११।४।१।
प्राणो वै मित्रः। श० ६।५।१।५।
७. ज्यु० द्विष् = अप्रीतौ। अदा०। to abhor : to dislike--आप्टे०।
अप्रीतयति। दया० (स्वमन्त्रभाष्ये)।
८. शत्रुरिव विरुद्धाः। दया० (मन्त्रभाष्ये)।

गायत्री-गरिमा

अर्थात्

पूर्ण (ईश्वर) आनन्द पूर्ण (वेद) विद्या-प्रवेश तथा जीव-प्रकृति-विजय

[*ले०—श्री पं० विन्ध्यवासिनी प्रसाद जी अनुगामी*]

(गताङ्क से आगे)

उपनिषद् में लिखा है कि गायत्री-जप से वेदमंत्रों का सम्यक् ज्ञान होता है। जब तक जप-प्रणाली द्वारा वेदार्थ समझने की परिपाटी नहीं चल पड़ती तब तक वेदार्थ कैसे किया जाय और नतमस्तक हो थोड़ा सा भी इस अक्षय निधि से भावात्मक और बुद्धिपरक (Emotional & intellectual) संबंध स्थापित किया जाय, यह भी एक समस्या है और उसका समाधान भी आवश्यक है क्योंकि ईश्वर और वेद का अन्योन्य संबंध है और दोनों की भक्ति से जीवन भक्तिमय-सुखमय बनता है। मनुजी का आदेश है कि "स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्"—वेदाध्ययन में बराबर लगा रहना चाहिये। संन्यासी के लिये मनु महाराज की आज्ञा है कि—

संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्रः तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥
मनु० अध्याय ६

संन्यासी को सब जगह अलिप्त रहना चाहिये परन्तु वेदाध्यनय से कदापि विमुख न हो, नहीं तो शूद्रत्व को प्राप्त होगा। अर्थात् वेदानध्ययन और शूद्रत्व समानार्थक हैं।

वेदार्थ समस्या के समाधान में एक बड़ी अड़चन यह है कि वेदमन्त्रों में लोक में प्रचलित संस्कृत शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। वेदार्थ-शैली से अपरिचित होने के कारण हम उन शब्दों का लोक-परक अर्थ करने लगते हैं और अनेक मन्त्रों का अर्थ बेसिर-पैर का बन जाता है। शेक्सपीयर द्वारा प्रयुक्त बहुत से शब्दों का अर्थ आधुनिक अंग्रेजी भाषा के अर्थों से भिन्न है और उन शब्दों का एक पृथक् कोष भी है। शेक्सपीयर के समझने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। लौकिक संस्कृत शब्दों को ही लीजिये। कुछ शब्द कहीं-कहीं प्रसिद्धार्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। उनका अप्रसिद्धार्थ करने से ही ग्रन्थ के कुछ वाक्य खुलते हैं। गौतम धर्म सूत्रों पर श्री हरदत्त की प्रसिद्ध टीका है। उन्होंने अनेक शब्दों का अप्रचलित अर्थ किया है और वे सुसंगत हैं। जैसे—

उपस्पर्शन = स्नान। जपना = अध्ययन करना। अजपः = अश्रोत्रियः। चारणः = सहाध्यायी। शुश्रूषा = अनुगमनम्। तल्प = पाणिगृहीता भार्या। स्रग्विणं तल्पमासीनमर्हयेत् प्रथमं गवा इति मनुः ३।३ में तल्प का 'पाणिगृहीता भार्या' अर्थ सुसंगत है। गुरुतल्प = गुरुपत्नी। मानवो वै तल्पः—तै० २।२।५।३। हविः = एतेन शब्देन दैवानि च मानुषाणि च कर्माण्युच्यन्ते। सवनम् = कर्म, उपवासः = इन्द्रियनिग्रहः। दण्डो दमनादित्याहुः।

अब कुछ वैदिक शब्दों को लीजिये। यदि वैदिक परिभाषाओं का आश्रय लेकर इनका अर्थ न किया जाय तो ये शब्द निरर्थक लगेंगे और जो अर्थ इनका किया जायगा, वह हास्यास्पद होगा। जैसे—

(१) भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृहणामि प्रजाभ्यः। यजु० १३।५५॥

यहाँ भरद्वाज ऋषिः का अर्थ 'मन' है।

मनो वै भरद्वाज ऋषिः। तै० सं० ८।१।१९

(२) इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः।
ऋ० २।१०४।२१॥

यहाँ पराशर का अर्थ है नाश करनेवाला।

(३) सिद्धन्तकौमुदी में लिखा है—

ऋषिर्वेदमन्त्रः।

(४) विश्वामित्रः सर्वमित्रो भगवाना-दित्यः—स्कन्द स्वामी।

(५) वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातः—निरु० ५।१४ स्कन्द स्वामी।

(६) अश्वः प्राजापत्यः। तै० ३।८।४।२

(७) अश्वमेध=प्रजापतिंसर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते। तां० २१।४।२

(८) संवत्सरो वै धाता। तै० १।७।२।१ यः भूतानां पतिः स संवत्सरः। श० ६।१।३।८

(६) अन्नं वै वाजः। श० ५।१।४।३

(१०) स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः।ऐ० १।२६॥ गां पृथिवीं धारयतीति गन्धर्वः॥

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि शब्दों के वैदिक और लौकिक अर्थों में कितना अन्तर है। अतः मन्त्रों का अर्थ करते हुए बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। नहीं तो अर्थ का अनर्थ होगा और लाभ के स्थान में हानि की सम्भावना है।

वेदमन्त्रों का अर्थ करने में, साधारणतया, यास्ककृत निघंटु निरुक्त पाणिनि मुनि कृत धातुपाठ और उणादिकोष, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदादि ग्रन्थ, संस्कृतकोष, मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध तथा अपनी ऊहाशक्ति सहायक है। किस मन्त्र का कौन देवता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिये।

स्वामी दयानन्द जी ने वेद के पठन पाठन को अग्रसर करने के लिये, ईश्वर के विधान से परिचय पाने के लिये, गायत्री जप द्वारा वेदज्ञ होने की भूमिका बनाने के लिये, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक व्यावहारिक व्यवस्था दी है। इससे वेद के पठनपाठन में शनैः २ वृद्धि होगी, और उसकी लुप्तप्राय परम्परा पुनर्जीवन प्राप्त करेगी। वह इस प्रकार है—

(१) यो न पठति तस्मात्स्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति।

समझकर न पढ़ने से, पाठमात्र पढ़ना भी उत्तम है।

(२) यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः।

पाठमात्र करने वाले से वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ़ने वाला श्रेष्ठतर है।

(३) यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः।

जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़ के, शुभगुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वह सबसे उत्तम है।

मूल संहितायें उपलब्ध हैं। ईश्वर कृपा से विधान बोधक मनोवैज्ञानिक आनुक्रमिक सभाष्य अथवा सटीक वेद भी मिलते हैं। सम्प्रति प्राप्य हैं—

(१) मूल संहितायें (२) श्री स्वामीदयानन्दजी कृत संस्कृत-हिन्दी भाष्य ऋग्वेद ७ मण्डल ६२ सूक्त तक, यजुर्वेद सम्पूर्ण (३) श्री जयदेव विद्यालंकार कृत चारों वेदों की सरल हिन्दी टीका (४) श्री हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार कृत सामवेद की सरल हिंदी टीका (५) श्री सातवलेकर जी कृत अथर्ववेद की सरल हिंदी टीका (६) श्री कपाली शास्त्री (अरविंदाश्रम-पांडिचेरी) कृत ऋग्वेद प्रथम द्वितीय मण्डल संस्कृत-भाष्य (७) श्री भगवदाचार्य कृत सामवेद संस्कार-भाष्य।

इस रीति से वेद के पठन पाठन की एक परम्परा बन सकती है। स्मरण रहे कि (१) अकार उकार मकार (२) भूः भुवः स्वः (३) और त्रिपाद गायत्री, इन तीनों की एक सम्मिलित प्राक्रिया का उपयोग वेद का स्वाध्यकर और पूर्ण प्रकाश ग्रहण करने के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु उपर्युक्त पद्धति से एक

स्थूल परिपाटी की नींव पड़ जाने पर, भविष्य में, उस पर सुन्दर भव्य प्रकाशमय भवन का निर्माण करना युक्ति सङ्गत और सम्भाव्य है।

इस प्रकार ईश्वर से प्रेम बढ़ेगा, ईश्वर-विधान वेद हमारे बहुत समीप आ जायेंगे और हम सबकी आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक उन्नति होगी। संसार एक शासनसूत्र में बंध सकेगा—एक स्वामी एक विधान और तब—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

मनु की यह उक्ति फिर पुनर्जीवित होगी।

विद्याविषयभ्रान्ति पर बहुत लिखा, जो विषय के शीर्षक से असंबद्ध लगता है। थोड़ा सा विचारने पर प्रतीत होगा कि मेरी विद्या-अविद्याविषयक इतनी अधिक चर्चा उचित ही थी। इस तथ्य का स्पष्टीकरण जरूरी था कि जो ईश्वर है वही गायत्री है, और जो गायत्री है वही वेद विद्या (सत्य विद्या) है। सत्य विद्या का अभाव और अविद्या का साम्राज्य—अनेक विद्याओं का परस्पर संघर्ष कितना घातक है यह फैसिस्टवाद, मार्क्सवाद, डिक्टेटरवाद, पूँजीवाद के सिद्धांत का आचार और प्रचार और तज्जन्य युद्ध, कशमकश और तनातनी से संसार कितना बेचैन और दुःखी है, एक दूसरे के खून का प्यासा है, यह तथ्य सब पर प्रकट है और—शासकों को छोड़कर—जनता के अनुभव की वस्तु है। धर्म कहलाने वाले क्षेत्र में भी विचार वैषम्य ने जनता को कुछ कम दुःख का शिकार नहीं बनाया।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इस उपनिषद् वचन के अनुकूल पूर्ण सुख तो इसमें है अथवा होगा कि ईश्वर गायत्री, सत्य विद्या (वेद) की आराधना—साधना—एक साथ की जावे। ये ही तीन सब के ध्येय हों, उपास्य हों, प्रेय हों और जीव और प्रकृति इनके अनुगामी रूप में रहें। यह भी अत्यावश्यक है कि शरीरधारी जीव इनके दास बने रहने में सुखानुभव करें। इनकी समता अथवा इन पर अधिकार जमाने का कष्ट न करें।

इतनी विशद विद्या सम्बन्धी भ्रान्ति का समाधान बाध्य होकर करना पड़ा और आवश्यक भी था। धीरे-धीरे प्रयत्न करते रहने से यह भ्रान्ति दूर हो सकती है, और तब आज के विद्वान् समझने लगेंगे कि "ऋषिः मन्त्रदर्शनात्" "साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः" में सचाई है और ऋषियों को ही सत्यविद्या का ज्ञान होता है, और वे ही धर्मव्यवस्था के अधिकारी हैं। शायद यही कारण है कि राजा दशरथादि सम्राट् के प्रधान मन्त्री वसिष्ठादि ऋषि थे, इतर मनुष्य कोटि के लोग नहीं।

द्विज बनने की प्रक्रिया

श्री स्वामी दयानन्द जी ने स्वसिद्धान्त ग्रन्थ और वेदभाष्य में द्विज को योगी—ईश्वरयुक्त—होना आवश्यक ठहराया है। उन्हों ने अपने लेखों में केवल महर्षि मनु का आदेश दुहराया है। यथा—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥
मनु०

अर्थात् माता पिता के पार्थिव मूल तत्त्व को धारण कर, ९–१० मास के उस तत्त्व को पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार का रूप देकर, एक सुन्दर बालक का प्रसव करती है। तदुपरान्त उस बालक के पाँचवें अथवा आठवें वर्ष में दूसरा आचार्य संज्ञक पिता—

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । मनु० २।१७१

विश्वरचयिता सविता के सावित्री रूपी गर्भ में रखता है। सावित्री गर्भ में रहना सविता से शक्ति प्राप्त करना है। वह बालक न्यून से न्यून २५ और अधिक से अधिक ४८ वर्ष तक उस सवित्री-गर्भ में रहता है, सायं प्रातः कम से कम १ घंटा और यथाशक्ति यथा रुचि, अधिक से अधिक समय तक विधिपूर्वक गायत्री-जप करता है।

सावित्री-गर्भ की प्रक्रिया भी मातृगर्भ की प्रक्रिया

के समान है। "ऋतावान ऋतजातो ऋतावृधः घोरासो अनृतद्विषः"—ऋग्वेद के इस मन्त्र में उस प्रक्रिया का उल्लेख है। दोनों प्रक्रियाओं की समानता इस प्रकार है—

मातृगर्भ प्रक्रिया—

१. माता पितृमूलतत्त्व को अपने गर्भ में धारण करती है।

२. वह पार्थिव तत्त्व वहाँ स्थिर होता है।

३. उस की वहाँ वृद्धि होती है।

४. और वह गर्भ से पृथक् होता है। उसका जन्म होता है।

सावित्रीगर्भ प्रक्रिया—

१. आचार्य द्वारा प्रेरित होकर बालक को सावित्री का बोध होता है।

२. उस बालक के आत्मा में ऋत स्थिर होता है। (समझना और विस्मृति नहीं)

३. उसके आत्मा में ऋत की वृद्धि होती है।

४. और उस बालक के आत्मा का जन्म होता है। वह अनृत से पृथक् होकर सर्वाङ्ग ऋतमय बन व्यावहारिक दुनिया में पदार्पण करता है।

ऋत क्या वस्तु है? ईश्वर, वेद, ईश्वरीय शक्ति, ईश्वरीय कार्य, सच्चा मार्ग, सच्चे मार्ग का अनुसरण ये सब ऋत हैं।

दोनों प्रक्रियाओं में समानता रहते हुए भी, इसमें एक असमानता है और वह विलक्षण है, एक दूसरे के विपरीत है। शारीरिक वृद्धि सदैव सीमित है और शरीर में क्षय की क्रिया भी होती है। आत्मिक वृद्धि सीमारहित है और निरन्तर सचेष्ट रहने से एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब आत्मा को शरीर धारण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। यही आत्मा की मनूक्त 'सत्य, अजर, अमर' दशा है।

उपर्युक्त श्लोक का मूल स्रोत अथर्ववेद (११।५।३) का निम्न मन्त्र है—

आचार्य उपनयमानो कृणुते
ब्रह्मचारिणं गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्रः उदरे बिभर्त्ति
तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

आचार्य ब्रह्मचारी को ले जाकर सविता के त्रिपाद सावित्री रूपी गर्भ में रखता है—रात्रिः सावित्री—गो० पू० १।३३। और इस दूसरे गर्भ में परिपक्व होकर बालक का फिर जन्म होता है। ७, ८, ९, १० मास तक मातृगर्भ में रहने के बाद के शारीरिक प्रसव की तुलना २५, ३६, ४०, ४८ वर्ष की आयु तक गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी के आत्मिक प्रसव—समावर्त्तन संस्कार—के साथ की जा सकती है। जैसे मातृप्रसूत बालक में क्रमशः अधिक शारीरिक पुष्टि पायी जाती है, वैसे ही आत्मशुद्धि—विद्यातपोभ्यां भूतात्मा (मनु० ५।१०९) विद्या धर्मदृढता का यथाक्रम बल इन चार प्रकार के ब्रह्मचारियों में होता है। इस दूसरे प्रसव के बाद—देव बनने के बाद—पूर्व के देव (अपहतपाप्मानो देवाः। श० २।१।३।४; सत्यसंहिता वै देवाः—ऐ० १।६; परोक्षकामा हि देवाः—श० ६।१।१।२) आकर इस नये ब्रह्मचारी का स्वागत करते हैं, उसे बधाई देते हैं।

श्री स्वामी दयानन्द जी के मार्गदर्शन कराने के बावजूद अद्यावधि ईश्वरसाक्षात्कारयुक्त विद्याग्रहण की प्रणाली का आरंभ नहीं हो सका। अतएव यथार्थ ज्ञान, यथार्थ आनन्द का दरवाजा बन्द सा है। ईश्वर और वेद के पक्ष में अनेकानेक पुस्तकें लिखी गयीं और प्रवचन होते ही रहते हैं। परन्तु इतना प्रयत्न होते हुए यथार्थ पूर्ण सुख कहाँ! अहंकार-सुख, प्रकृति-सुख, मनुष्य का मोह-सुख, पक्षविपक्ष-सुख का प्राबल्य है। उच्चतम सुखों के अभाव में छोटे २ सुखों का साम्राज्य है। फलतः इतनी विद्यावृद्धि होती रहने पर भी संघर्षों की, मनोमालिन्य की वृद्धि में कोई कमी नहीं, वृद्धि तो अबाध गति से चल रही है। डा० राधाकृष्णन् ने अभी हाल में एक प्रसङ्ग में उचित ही कहा है—

It was true, man had been able to master the secrets of nature and knew

how to go to the other side of the moon, but still he lived in a world of fear, insecurity and tension.

यह सही है कि मनुष्य प्रकृति के रहस्यज्ञान में निष्णात हो गया है, और उसने चन्द्रमा ग्रह तक पहुँचने की विद्या को भी खोज लिया है, परन्तु फिर भी वह भय, अरक्षा और परस्पर तनाव के संसार में रह रहा है। विद्यावृद्धि से कष्ट वृद्धि हो ! किमाश्चर्यमतः परम् ।

इस विपरीत फलप्राप्ति का कोई कारण ढूँढना चाहिये। वैशेषिक दर्शन के दो सूत्र हैं--कारणभावात् कार्यभावः ॥४।१।३ और कारणाऽभावात् कार्याभावः १।२।१॥ किसी भी कार्य के पीछे (in the background) कोई कारण छिपा रहता है। कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता। इस विश्वव्यापी दुःख का भी कोई कारण होना चाहिये। इस लेखक के मत में हमारी विद्याप्राप्ति का क्रम ही दोषपूर्ण है और वही दोष आज की विद्योन्नति की तीव्रता के साथ २ संसार को द्रुतगति से विनाश की ओर ढकेल रहा है।

विद्याप्राप्ति की आर्ष-प्राचीनतम पद्धति में पहिला नम्बर ६ वेदाङ्गों का है। वेदाङ्ग वेद को समझने के लिये क्रमागत ६ प्रकार के ज्ञान और आचार का अभ्यास है। प्रथम के तीन अङ्ग हैं--शिक्षा, कल्प (कृप = सामर्थ्य) और व्याकरण। गृहनिर्माण कार्य में पहिले ठोस नींव रखी जाती है। उसी नींव पर दीवारें खड़ी की जाती हैं और उनपर छत का निर्माण होता है। बाल शिक्षा नींव है। यह सम्भवतः बाल के ७ या ८ वर्ष की आयु तक हो जानी चाहिये। इस शिक्षा के द्वारा बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार सुव्यवस्थित किये जाते हैं। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग में एक प्रकार के अनुशासन का संचार हो जाता है। यह अनुशासन प्रक्रिया आधुनिक Nursery system, Montissori system है।

इन अनुशासित (disciplined) इन्द्रियों से पहिले गुण सहित (सगुण) और गुणरहित (निर्गुण) ब्रह्म से संयुक्त होने का कार्य लिया जाता है। यह गायत्री के सविधि अधिकाधिक जप द्वारा सम्पन्न होता है। गायत्री-जप एक संस्कार है और उपनयन वेदारम्भ संस्कार का मुख्य अङ्ग है और 'कल्प' के अन्तर्गत है। इस जप द्वारा ईश्वर-योग में कुछ सफलता मिलने पर उसे व्याकरण, संस्कृत भाषा का अध्ययन कराया जाता है। साथ ही साथ गायत्री-जप ईश्वर-साक्षात् करने की सीढ़ी पर चढ़ने का अभ्यास जारी रहता है। उसमें वृद्धि करते रहना उसके जीवन का ध्येय है, मुख्य कार्य है, द्विजत्व से अलंकृत होना है। गुरुकुलवास का मुख्य उद्देश्य ही देवहित = ईश्वरयुक्त होना है, और सब गौण हैं, साधक हैं, साध्य नहीं। इस मूल के सींचने से अन्य चीजों की प्राप्ति सुगम, सुलभ और सुखदायिनी हो जाती हैं। और नहीं तो वे ही वस्तु दुःखदायिनी हो जाती हैं। यही विद्याप्राप्ति का क्रम सुधार है। इसी से शास्त्रों ने शूद्र (असूर्यः शूद्रः) को द्विज के अधिकार में रहने का आदेश दिया है। मनु का इनके लिये यह आदेश है--'एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषा अनसूयया'--प्रसन्नतापूर्वक द्विजों के अनुकूल आचरण करे। इसी से मनु ने ठीक लिखा कि शूद्र सम्पत्ति न रखे। यथा—

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥
मनु० १०।१२९ ॥

समर्थ शूद्र को भी धनसञ्चय नहीं करना चाहिये क्योंकि शूद्र धन को पाकर ब्राह्मणादि को बाधा देता है। आज संसार के शक्तिशाली सभी लोग शासक वर्ग, धनीवर्ग, पंडितवर्ग शूद्रवत् हो रहे हैं। ये धन रखकर अपने अथवा अपने विशिष्ट वर्ग (group) के अहङ्कार की पूजा करते हैं। पारमाणविक प्रयोग, देश की मुकदमेबाजी, उच्च पदाधिकारियों द्वारा अपने विपक्षी को मरवा देना, वकीलों के युक्ति बल पर घोर अपराधियों को दण्ड मुक्त कराना, धनजन्य अनर्थ के प्रमाण हैं। श्री बर्ट्रेण्ड रसल जैसे दार्शनिक विद्वान् को पारमाणविक परीक्षण रोकने के प्रयत्न में जेल की हवा खानी पड़ी। यही मनूक्त

ब्राह्मणों को बाधा पहुँचाना है। मनु ने यह भी लिखा है कि जो द्विज प्रातः सायं ईश्वरयुक्त होने का अभ्यास नहीं करता, उससे द्विज का अधिकार छीन लेना चाहिये (मनु० २।१०३)। ईश्वर-अयुक्त मनुष्य न्याय सद्बुद्धिपूर्ण नहीं हो सकता। जितनी अथवा जब कभी सद्बुद्धि में न्यूनता होगी, वह अनर्थ करेगा।

व्याकरण के अध्ययन की समाप्ति पर, अन्य तीन वेदाङ्ग निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ६ उपाङ्ग—पूर्व मीमांसा वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि १० उपनिषद्, वेदान्त सूत्र चार उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद—ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ब्राह्मण सहित चारों वेदों को पढ़कर बालक पूर्ण विद्वान् पूर्ण युक्त हो जाता है। यही विद्या और योग की परिपक्वता मनूक्त (५।१०९) मनः सत्येन शुद्ध्यति, विद्या तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धि र्ज्ञानेन शुद्ध्यति है।

बालशिक्षा (जीवन नींव) पद्धति अर्थात् गायत्री-जप आरंभ करने के पूर्व की शिक्षा

(१) शुद्ध वर्ण उच्चारण। वर्णों के उचित स्थान प्रयत्न का अभ्यास। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक ठीक बोलने का अभ्यास और मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान का भिन्न-भिन्न श्रवण हो, इनका अभ्यास।

(२) मान्य जनों के पास उठने-बैठने की शिक्षा।

(३) इन्द्रियों की चञ्चलता को रोकने की शिक्षा। देना तथा विद्या और सत्सङ्ग में रुचि उत्पन्न कराना।

(४) व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि दमन की शिक्षा।

(५) सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य प्रसन्न वदन आदि गुणों की प्राप्ति कराना।

(६) तदनन्तर देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराना।

(७) पुनः अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म परमेश्वर के और माता-पिता-आचार्य, विद्वान् अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी आदि से कैसे वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य तथा पद्य भी अर्थसहित कंठ कराना।

(८) विद्या-धर्म विरुद्ध भ्रान्ति जाल में गिराने वाले व्यवहार का उपदेश करना।

(९) चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, कृतघ्नता, अभिमान, विरोधभाव, मोह, दुष्टों का सङ्ग आदि छोड़ने और सत्याचार ग्रहण करने की शिक्षा देना।

(१०) वीर्यरक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति का उपदेश देना।

(११) सज्जनों का सङ्ग और माता-पिता-आचार्य की तन मन धनादि उत्तम उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करने की शिक्षा देना।

(१२) यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। तै० उप० १।११॥

अर्थात् जो २ माता-पिता-आचार्यादि मान्य जनों के धर्मयुक्त कर्म हैं उन्हीं का ग्रहण करना, और जो २ उनके दुष्ट कर्म हैं उनके त्याग करने का उपदेश देना।

(१३) परमेश्वर के सैंकड़ों गुणों का चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करने का उपदेश देना।

(१४) क्षुधा से कुछ न्यून भोजन करने का अभ्यास और मद्यमाँस सेवन से अलग रहने का उपदेश देना।

(१५) अज्ञात जलाशय में प्रवेश-निषेध की शिक्षा देना।

(१६) नीचे दृष्टि रख, ऊँचे नीचे स्थान को देख कर चलने, छानकर जल पीने और सत्य से पवित्र करके बोलने और मन से विचार कर आचरण करने की शिक्षा देना (मनु० ६।४६)।

गायत्री की महिमा का उल्लेख जैसा वेद में है और उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में है, वह लिख चुका

हूँ। अब उस दिव्य मन्त्र के महत्त्व का वर्णन जैसा मनुस्मृति और भगवद्गीता में है, वह देखिये—

(१) त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥
मनु० २।७७

सर्वोत्कृष्ट प्रजापालक ईश्वर ने इस अमृतमयी सावित्री के एक एक पाद को एक २ वेद से साररूप में निकाला।

(२) ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
मनु० २।८१

सदा फल दायिनी तीनों महाव्याहृतियाँ—भूः भुवः स्वः—और इसके साथ तीनों पादों वाला सावित्री मन्त्र—१. तत्सवितुर्वरेण्यम् २. भर्गो देवस्य धीमहि ३. धियो यो नः प्रचोदयात्—को ईश्वर और वेद का प्रवेश द्वार समझना चाहिये।

(३) अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥
मनु० २।७६

सृष्टिरक्षक ईश्वर ने तीनों वेद—ऋग्० यजु० साम०—का साररूप क्रमशः अ + उ + म् और भूः भुवः स्वः हमें दिया।

(४) एकाक्षरं परं ब्रह्म ... सावित्र्यास्तु परं नास्ति॥
मनु० २।८३

ईश्वर वाचक ओ३म् सर्वोत्कृष्ट है, उन्नतिकारक है, और सावित्री से अधिक श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं।

(५) न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
मनु०२।१०३

जो द्विज कहलाता हुआ प्रातःकाल की 'गायत्री' नहीं जपता और तदनन्तर स्ववर्णाश्रम कार्य में नहीं लग जाता और सायंकाल की 'गायत्री' भी नहीं जपता और धर्म के निश्चय करने में नहीं लग जाता वह शूद्र (असूर्यः शूद्रः। तै० १।२।६।७) ईश्वरप्रकाश-रहित कार्याकार्य विवेकशून्य सा हो जाता है। समाज या राष्ट्र को उससे द्विजयोग्य जिम्मेदारी का काम नहीं लेना चाहिये।

गायत्री जप का फल सुनिये—

(६) पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥
मनु० २।१०२

प्रातःकाल का गायत्री जप रात्रि के अधर्म, पाप, भूल को सुधार देता है और सायंकालिक गायत्री जप, दिन के अधर्म कार्य पर प्रकाश डालता है और भविष्य में उससे बचने के लिये सचेत करता है।

(७) सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
मनु० २।७९

त्रिपाद गायत्री को घर के बाहर (नदी के किनारे या पर्वत पर) एक मास तक प्रतिदिन सहस्रबार जपने से 'द्विज' केचुली से सर्प की तरह बड़े से बड़े पाप से छूट जाता है।

(८) ऋषयो दीर्घसंध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिश्च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥
मनु० ४।९४

ऋषि लोग बहुत अधिक काल तक, सन्ध्या अर्थात् गायत्री जप द्वारा प्रभुचिन्तन करने से लम्बी आयु पाते रहे हैं। इस अनुष्ठान से उन्हें सूक्ष्म बुद्धि, अनेक उत्कृष्ट वस्तुयें, कीर्त्ति, और ईश्वर वेद प्रकाश की उपलब्धि है।

(९) योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥
मनु० २।८२

जो द्विज निरालस्य होकर तीन वर्ष तक प्रतिदिन सावित्री मन्त्र जपता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करने

में समर्थ होता है तथा शुद्ध (शान्तिर्हि वायुः । ता० ४।६।९॥ शुक्लो हि वायुः । श० ६।२।२।७) और सुख-स्वरूप (ख=Happiness : Knowledge—आप्टे कोष) बन जाता है।

(१०) जप्येनैव तु संसिध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
मनु० २।८७

जप से ही ब्रह्माभिलाषी ब्रह्म की प्राप्ति में सफल हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। वह दूसरे साधनों को बर्त्ते अथवा न वर्त्ते। इस प्रकार ईश्वर-सम्पर्क बढ़ाने वाला ब्राह्मण कहलाने योग्य है।

(११) विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
मनु० २।८५

मन्त्रोच्चारणमात्र से अर्थपूर्वक जप में आत्मोत्थान की दशगुणी शक्ति है, विना मुख खोले जप में सौगुनी और मानसिक जप में सहस्रगुणा बल है।

(१२) युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
भ० गी० ६।२८

इस प्रकार विक्षेपरहित और परमात्मवश हुआ साधक (यथाशक्ति) आत्मा को परमात्मा में अनवरत लगाता हुआ उस प्रभु के सान्निकट्य से पूर्णानन्द को अच्छी तरह अनुभव करता है।

(१३) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
भ० गी० ६।२९

धर्म और न्याय से आचरण करने वाला एवं सही ज्ञान रखनेवाला, परमात्मा में युक्त आत्मा सर्व अवस्थाओं में तथा सब वस्तुओं में परमात्मा को प्रेरकरूप से विद्यमान और सबको ईश्वर द्वारा प्रेरित समझता है।

कैसे जपें, इसकी प्रक्रिया भगवद्गीता और मनुस्मृति में—

(१४) अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥
मनु० २।१०४

ईश्वरानुरूप मन बनाकर जङ्गल में जाकर जलाशय के निकट बैठकर, अपने मन को सब ओर से हटावे, सावित्री मन्त्र पर मनन करे और ईश्वर-प्रकाश की उपलब्धि करे।

(१५) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
भ० गी० ६।११

स्वच्छ स्थान में अपना आसन जमावे। बैठने की पीठ न बहुत बड़ी, न बहुत छोटी, और न हिलने डुलने वाली हो। उस पर मृग चर्म, तदुपरि कुशासन, और फिर सब के ऊपर सूती गद्दा बिछावे।

(१६) पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥
मनु० २।१०१

प्रातः काल प्रभु से मिलाने वाली "सावित्री" को सूर्यदर्शन तक चिन्तन सहित जपता रहे और तदुपरान्त पूर्वनिश्चित धर्मकार्य में लग जावे। सायंकाल सम्यक् नक्षत्र दर्शन तक गायत्री-जप में व्यस्त रहे और फिर सत्य (=धर्म) के निर्णय में मन को अवस्थित करे।

(१७) तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
भ० गी० ६।१२

उस आसन पर बैठकर मन को ईश्वर की ओर ले जावे। अन्तःकरण की शुद्धि के लिये मन और इन्द्रियों की क्रियाओं को भी रोके। इस प्रकार परमात्मा के गुणों का चिन्तन करता हुआ अपने आत्मा को परमात्मा से मिलाने का प्रयत्न करे।

(१८) समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
भ० गी० ६।१३

अपने धड़, सिर और ग्रीवा, को सीधा और स्थिर रखे। अन्य दिशाओं की ओर मन को न ले जावे, और नासिका के ऊपरी भाग (भ्रूमध्य) को देखता हुआ बैठा रहे।

(१९) सङ्कल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
भ० गी० ६।२४

(२०) शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
भ० गी० ६।२५

मनमें उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णतया त्यागकर, अपने मनोबल के योग से, ५ ज्ञानेन्द्रियों तथा पांचों कर्मेन्द्रियों को अपने २ विषयों से हटा दें।

सब ओर से हटे हुए मन को प्रसन्न और स्थिर-बुद्धि से परमात्मा में अटका दे। परमात्मा के गुणों के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे।

(२१) यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
भ० गी० ६।२६

यह अस्थिर और चंचल मन जब-जब परमात्म-चिन्तन से बाहर होने लगे, तब-तब उसे रोककर परमात्मा के ही अधीन करे।

(२२) प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतः तत ओङ्कारमर्हति ॥

प्रातः जलाशय की ओर मुँह करके बैठा हुआ साधक, प्रथम कुश से जल लेकर अपने को शुद्ध करे। फिर तीन प्राणायाम करे। तब ओङ्कार पूर्वक गायत्री जपने योग्य होता है।

इस दिव्य मन्त्र के तीन भिन्न नाम क्यों ?

इस गुरुमन्त्र, सावित्री मन्त्र अथवा गायत्री मन्त्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के रहस्य को समझने की शक्ति का समावेश है।

"अ + भूः + तत्सवितुर्वरेण्यम्" पर ध्यान लगाने से और साथ ही परमात्मा की भी सहायता मिलने पर अनेक विद्याओं की निधि 'ऋग्वेद' के पूर्णरूपेण समझने की शक्ति प्राप्त होती है।

"उ + भुवः + भर्गो देवस्य धीमहि" पर एकाग्रता लाने से 'यजुर्वेद' के ज्ञान को यथोचित यथा समय कार्यान्वित करने का बल मिलता है।

"म् + स्वः + धियो यो नः प्रचोदयात्" पर मन के समाहित हो जाने पर व्यापक परमेश्वर के साहाय्य से 'सामवेद' की साम्यशक्ति (To be at a level with God) प्राप्त हो जाती है और हमारे कार्य बहुधा परमात्मा के अनुकूल होने लगते हैं।

प्रभु से सीधे उपदेश मिलने का माध्यम होने से 'गुरु मन्त्र' है। (गृणाति उपदिशति वेदशास्त्र-विद्यामाचारञ्च स गुरुः। सर्वेषां गुरुत्वादीश्वरः। उ० १।२४॥ स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो १।२६)

जीवन में बल देकर रक्षा करने से 'गायत्री मन्त्र' और परमेश्वर का हमारे कार्यों में हाथ होने से वह कार्य सफल और सुखदायक होता है, इससे इसे 'सावित्री मन्त्र' कहते हैं (प्रमाण के लिये देखिये 'गायत्री की महिमा वेदों में' इस शीर्षक को)।

एक निवेदन

"गुरु मन्त्र" "गायत्री मन्त्र" अथवा "सावित्री मन्त्र" का उपर्युक्त महत्त्व निदर्शन प्राचीनतम वेद तथा आर्ष ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। इसी मन्त्र का अन्तिम पाद (स्तम्भ) "धियो यो नः प्रचोदयात्" है। इसके शब्दानुरूप और सस्वर साधना का अपना गौरव है जिसकी परिणति 'साक्षात्-कृतधर्माणः ऋषयः' इस उक्ति में हो जाती है। प्रत्येक शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक और भौतिक तथ्य का ईश्वर के प्रकाश से आलोकित होना और उस प्रकाश के सहारे मानव का यज्ञ, प्रकृताचार व्यवहार की ओर सतत गति करते रहना उस साधना का उत्कृष्टतम फल है। वह सचेष्ट अथवा अचेष्ट प्रेरणा उपलब्धि प्राणिमात्र में प्रयोज्य अथवा प्रयुक्त है। मनुष्य जन्म की सार्थकता सचेष्ट और

प्रयोज्य प्रेरणा प्राप्ति में है। भगवद्गीता के शब्दों में यह आज्ञापालन है; मन की कोरी प्रियता नहीं, जिसे अर्जुन ने श्रीकृष्णचन्द्र से 'स्मृतिर्लब्धा', कह कर सीखा था और स्वप्रियता के प्रतिकूल युद्ध को ईश्वरप्रेरणा समझकर, उनके सामने नतमस्तक हुआ था। छोटे या बड़े मानुषी बुद्धि से प्रवाहित विभिन्न विचारों के संमिश्रण और संघर्षण से ऊपर उठकर ऊर्ध्व मनोवृत्ति बनाने पर ही यह साधना व्यवहार परिधि में आती है और आल्डस हक्सले के शब्दों में हमें अपने स्वभाव--दैवीभाव--में प्रतिष्ठित करती है॥

विदुषां विचाराय—

आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीय-प्रयोगाणां साधुत्व-विवेचनम्

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिरो मीमांसकः, भारतीय प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, रामगंज, अजमेर]

(चतुर्दशवर्षस्य द्वितीयाङ्कतोऽग्रे)

४—पाणिनीयतन्त्रस्य येदानीं व्याख्या वैयाकरणैः क्रियते साऽवैज्ञानिकी वर्तते। नहि तस्या व्याख्यायाः कथमपि विज्ञानमूलत्वं शक्यते प्रतिपादयितुम्। तथाहि—

क—कन्यायाः कनीन च (४।१।११६) इति सूत्रमित्थं व्याख्यायते—'कन्याशब्दादपत्यार्थेऽण् प्रत्ययो भवति तस्य च कनीनादेशः। कानीनः कर्णः।'

अत्रेदं विचार्यते—कन्याकनीनशब्दयोः किन्नाम सादृश्यं, येनोभययोः स्थान्यादेशभावः कल्प्येत। यदि हि अर्थकृतं सादृश्यमभिप्रेतं स्यात्, तदपि न शक्यते वक्तुम्। नहि कन्याकनीनयोः शक्यते पर्यायत्वं वक्तुम्, कनीनशब्दस्य लोकेऽप्रयोगात्। नहि लोकप्रयोगाद् ऋतेऽर्थज्ञानं सम्भवति। तस्माच्चिन्त्येयं व्याख्या।

ख—मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४।१।१६१) इत्यपीत्थं व्याख्यायते—'मनुशब्दाद् अपत्येऽर्थे ऽञ्यतौ प्रत्ययौ भवतः, मनोः षुक् चागमः। मानुषः, मनुष्यः।'

अत्रापीदं विचार्यम्—मनुशब्दस्याञ्यतोः परत एव कथं षुगागमो भवति अन्यस्मिन् प्रत्यये कुतो न भवति। यदि वाऽञ्यतोः परत एव षुगागमः, तर्हि तयोः परतोऽन्यस्य प्रातिपदिकस्य कुतो न भवति। स एव नाम प्रादेशिको विकारो युक्त उच्यते यः सर्वत्र समानरूपेणोपलभ्यते।[1] न चात्र तथा दृश्यते। तस्मादियं षुगागमकल्पनाऽपि चिन्त्यैव।

न च नाम प्रमाणीभूतः पाणिनिराचार्य ईदृगवैज्ञानिकं मतमाश्रयितुं शक्नोति, तस्मात्तस्या अष्टाध्याय्याः कयाचनाऽन्यया वैज्ञानिक्या व्याख्यया भवितव्यम्। तामत्र संक्षेपतो निदर्शयामः।

वैयाकरणानां लोपागमविकारादेशवर्णविपर्ययादिकल्पनायाः पृष्ठभूमिः—यदि हि नाम साम्प्रतिकानां वैयाकरणानां सूत्रव्याख्याऽवैज्ञानिकी तर्हि कुतः पाणिन्यादयो वैयाकरणास्तादृशीमकाण्डकल्पनां कुर्वन्ति? उच्यते—

पुरा खल्वादिकाले इयं देववाणी महती विशालाऽऽसीदित्युक्तं प्राक्। सा मनुष्याणां मेधाह्रासाद्यनेककारणैर्ह्रसन्ती विविधप्रकारेण संकोचमाप्ता। तत्र सार्वलौकिकाः केचन शब्दा उत्तरकाले देशजातिप्रस्थान[2] भेदेन नियत-

---

१. तुलनीयम्—'अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे…।' निरुक्त २।१॥

२. प्रस्थानशब्देन चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानान्युच्यन्ते।

विषयत्वमापन्नाः[1] । तदुक्तम्—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । महाभाष्य-प्रथमाह्निके ।

देशभेदेन यथा—समानार्थका अपि शव-हम्म-रंह-गमप्रभृतयो धातवो न सर्वत्र समानरूपेण प्रयुज्यन्ते । तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति,...हम्मतिःसुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते इति ।

जातिभेदेन यथा—हय इति देवेषु, अर्वा इत्यसुरेषु, वाजीति गन्धर्वेषु, अश्व इति मनुष्येषु प्रयुज्यते (द्र० बृहदा० उप० १।१।१) । एवम् भव इति वाहीकाः शर्वं इति प्राच्याः (शत० १।७।३।८।) आहुः । इत्थमेव च अर्ध इत्यार्येषु प्रयुज्यते नेम इति म्लेच्छेषु[2] (मीमांसा शाबर भाष्य १।३।१०) ।

प्रस्थानभेदेन यथा—ऋग्वेदे 'पृतन्यतः' पदम्, यजुषि च पृतनायतः । मूर्च्छाय इति चरके, मूर्च्छा इति अन्यत्र ।

प्रकृतिविकृतीनां नियतविषयः—तत्रैतस्मिन् नियतविषये प्रकृतिविकृतिरूपा अपि शब्दा नियतप्रयोगविषया दृश्यन्ते । कस्मिंश्चिद्देशे प्रकृतीनाम् (आख्यातानाम्) एव प्रयोगो भवति, अन्यस्मिंश्च तद्विकृतीनामेव । तद्यथा—

शवतीत्याख्यातपदं कम्बोजेष्वेव प्रयुज्यते, तस्यैव शव इति कृदन्तमार्येषु । एवं दातीति क्रियापदं प्राच्येष्वेव प्रयुज्यते, तस्यैव दात्रमिति कृदन्तमुदीच्येषु[3] ।

अष्टाध्याया वैज्ञानिकोऽव्याख्यामार्गः—

तत्रैवं देशभेदेन व्यवस्थिते शब्दव्यवहारे तत्र तत्र म्लेच्छन्ती देववाणी यदा विकारमाप्ता तदा तत्र तत्र प्रयुज्यमानस्य कस्यचिच्छब्दस्य प्रकृतिर्नष्टा कस्यचिच्च विकृतिः । एवं शब्दव्यवहारेऽव्यवस्थायामुत्पन्नायामुत्तरवर्तिभिर्वैयाकरणैःस्वस्वकाले प्रयुज्यमानानां विनष्टप्रकृतीनां शब्दानां साधुत्वद्योतनायार्थप्रदर्शनाय च तादृशो वैज्ञानिको मार्ग आदृतो येन व्याक्रियमाणानां विनष्टप्रकृतीनां शब्दानां मूलप्रकृतिविज्ञानमर्थविज्ञानं चोभयं भवेत् । तदर्थं तैस्तैराचार्यवर्यैर्विनष्टप्रकृतीनां व्याक्रियमाणानां शब्दानां मूलप्रकृतेर्यः समानार्थकस्तत्सदृशतमश्च लोके लब्धप्रचारः शब्द आसीत् तस्मात् प्रत्ययमुत्पाद्य व्याक्रियमाणस्यार्थप्रदर्शनमकारि, मूलप्रकृतिं च तत्स्थान आदिश्य, यद्वा प्रत्ययविधानायोपात्तप्रकृतेरेकदेशे लोपागमादेशवर्णविपर्ययान् विधाय मूलप्रकृतिस्वरूपमपि निदर्शितम् । तद्यथा—

कन्यायाः कनीन चेत्यस्य वैज्ञानिकी व्याख्या—योऽयमार्येषु प्रयुज्यमानः 'कानीन' शब्द आसीत् तस्य मूलभूतायाः कनीनाप्रकृतेरार्येष्वप्रयोगात् तत्समानार्थकात् कन्याशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिं विधाय कन्यास्थाने कनीनादेशो[4] विहितः । एवं भगवता पाणिनिना एकेनैव कानीनशब्दसाधुत्वनिदर्शनरूपेण यत्नेन कानीनशब्दस्यार्थः तस्य मूलप्रकृतिस्वरूपं चोभयमपि निदर्शितम् ।

यदि हि नाम पाणिनिः कानीनशब्दनिर्वचनाय मूलभूतां कनीनाप्रकृतिमुपाददीत तर्हि तस्य लोकेऽप्रयुज्यमानत्वात् तदर्थपरिज्ञानं न स्यात्, अर्थज्ञानस्य लोकप्रयोगाधीनत्वात् । यदि लोकपरिज्ञातार्थकं कन्याशब्दमेव स्वीकुर्यात्तर्हि ततोऽञ्जसा कानीनपदनिष्पत्तिर्न भवेत् । तस्मादविरविकन्यायेन[5] भगवता कन्याशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिं विधाय तस्य कनीनादेशं चोक्त्वोभयमपि कार्यजातमञ्जसैव निष्पादितम् ।

कनीना-शब्दस्यार्येभ्योऽन्यत्र प्रयोगः—यद्यपि कनीनशब्दस्य मूलभूता कनीना प्रकृतिर्वेदे कनीनकेव[6] इत्यादि-

१. इमे देशभेदेन नियताः साधुशब्दाः, तदपभ्रंशरूपा वा उत्तरकाले देशी-देश्यादिपदैरुच्यन्ते ।

२. 'नेम' इत्यस्यैवापभ्रंशः 'नीम' इति फारसीभाषायामवेस्ताग्रन्थे च प्रयुज्यते । 'सामि' इत्यस्य विकारः 'सेमि' (semi) इत्याङ्गलभाषायां प्रयुज्यते ।

३. द्र० निरुक्त २।२॥ महाभाष्य प्रथमाह्निक ।

४. आदेशविधाने प्रातिपदिकमात्रकनीनादेशे स्त्रीलिङ्गकनीना-आदेशे च विशेषाभावात् प्राथमकल्पिकः प्रातिपदिकनिर्देश एवोपात्तः ।

५. तत्र द्वयोः समानार्थकयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यत्यविरविकन्यायेन । तद्यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवत्याविकमिति । महाभाष्य ४।१।८८॥ ४।२।६० इत्यादिषु बहुत्र ।

६. ऋ० ४।३२।२३॥ कनीनके कन्यके । निरुक्त ४।१५॥

ष्ूपलभ्यते । तथापि तस्या आर्येषु प्रयोगो नासीत् । अवेस्ता ग्रन्थे कनीनशब्दस्य 'कइनीन' इति विकारोपलम्भाद्[1] ईरानदेशे कन्यार्थे कनीनाशब्दस्य पुरा प्रयोग आसीदिति संभाव्यते ।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् चेत्यस्य वैज्ञानिकी व्याख्या—इत्थमेव मानुष-मनुष्यशब्दनिर्वचनाय मूलप्रकृतेः षान्तस्य 'मनुष्' शब्दस्य लोकेऽप्रयोगाद् वैयाकरणैस्तत्समानार्थकात् तत्सदृशाच्च मनुशब्दात् 'अञ यत्' प्रत्ययौ विधाय मनोः षुगागमद्वारा 'मनुष्' इति रूपं निष्पाद्य मूलभूतप्रकृतेर्विज्ञानमुपदिष्टम् । मानुषमनुष्ययोर्मूलभूता 'मनुष्' प्रकृतिर्वेदेऽसकृदुपलभ्यते । अत एव भगवता यास्केन मनुष्यशब्दनिर्वचने मनोरपत्यं मनुषो वा (निरुक्त ३।७) इत्युभयमप्युपात्तम् ।

एवं च यत्र क्वचिदपि भगवता पाणिनिनाऽन्यैर्वा वैयाकरणैः कस्यचित् पदस्य निर्वचनाय प्रकृतेर्लोपागमादेशवर्णविपर्यया विहितास्तत्र सर्वत्रैव लोपागमादेशवर्णविपर्ययैर्निष्पन्नस्य शब्दस्य यत्स्वरूपं निष्पद्यते तदेव तस्य तस्य व्याक्रियमाणस्य शब्दस्य मूलभूता प्रकृतिरिति बोध्यम् । इयमेव च प्रक्रिया यास्कप्रदर्शितेषु लोपागमादेशादिषु द्रष्टव्या । अस्याः प्रक्रियाया वैशद्याय कतिपयोदाहरणा न्युपस्थाप्यन्ते । तद्यथा—

लोपः—रञ्जधातो रजकरजनरजःसूपसंख्यानमिति (६।४।२४) वार्तिकेन नलोपं विधाय रजकादीनां मूलप्रकृतिः 'रज' धातुरिति प्रदर्शितम् । तेन रज-रञ्ज द्वे पृथक् मूलप्रकृती स्तः । अतएव रञ्जेश्च (६।४।२६) इत्यनेन शपि नलोपे विहिते क्वचिन्नलोपो नापि दृश्यते[2] । तद्यथा—वर्गान्ते रङ्गते[3]यस्तु (याज्ञ० शिक्षा १९३ काशी संस्क०) ।

आगमः—मानुषमनुष्योर्मनोः षुकि 'मनुष्' इति मूलप्रकृतिरित्युक्तं प्राक् तत्रैव च 'मनुष्' इत्यस्य प्रयोगोऽपि निदर्शितः ।

इत्थमेव 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः। दधिस्यति मधुस्यतीत्येवमर्थम्' (महा० ७।१।५१) अनेन सुग्विधानपरिज्ञापनेन सर्वेषामप्यवर्णेवर्णोवार्णान्तानां प्रातिपदिकानां पक्षे 'अस्-इस्-उस्' अन्तान्यपि रूपाण्यभ्यूहनीयानि ।[4]

आदेशः—हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु (६।३।४९) इत्यादिभिर्विहितो हृदादेशो 'हृदयम्' 'हार्दम्' आदीनां मूलप्रकृतिर्विज्ञेया। सुधातुरकङ् च (४।१।९७) इत्यनेनाकङादेशेऽयत् सुधातकरूपं निष्पद्यते तत् 'सौधातकि' इत्यस्य मूलप्रकृतिः ।

वर्णविपर्ययः—हिंसेःसिंहः, कृतेस्तर्कः, कसेः सिकता, (द्र० महाभाष्य ३।१।१२३) । अत्र हिंसधातोर्वर्णविपर्यये योऽयं सिंहधातुर्निष्पद्यते, स सिंहस्य मूलप्रकृतिः, कृतेर्वर्णविपर्यये तृकधातुस्तर्कस्य, कसेर्वर्णविपर्यये सिकधातुस्सिकतापदस्य। तदेवं हिंस-सिंहौ, कृततृकौ, कस-सिकौ पृथक् पृथक् स्वतन्त्रौ धातू ज्ञेयौ ।[5]

अनयैव वैज्ञानिक्या प्रक्रियया पाणिनीयसूत्राणां वास्तविकी युक्तियुक्ता व्याख्या सम्भवति, नान्यथा ।

वैज्ञानिक्या व्याख्यायाः प्राचीनपरम्परा—इयं च वैज्ञानिकी पाणिनीयसूत्रव्याख्या नास्मत्कल्पनाप्रसूता, अपितु भगवत्पतञ्जलिप्रभृतिभिः प्रमाणभूतैर्यत्र तत्र स्वीकृता वर्तते । तथाहि—

---

१. ह ओम यशत ९।२३ लाहौर संस्करण ।

२. अनयैवान्वयव्यतिरेक प्रक्रियया प्रकृत्यन्तरकल्पनाऽक्लसैव संपद्यते तथा चोक्तं महाभाष्यकृता पतञ्जलिना—'बृहिः प्रकृत्यन्तर कथं । ज्ञायते अचीति [बृंहेरच्यनिटि वार्तिकेन] लोप इच्यतेऽनजादावपि दृश्यते-निबृह्यते । अनिटीत्युच्यते इडादावपि दृश्यते-निबर्हितुम् । अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते-निबृंहयति निबृंहकः (६।४।२४) ।

३ क्वचित् 'वर्गान्तै रज्यते यस्तु' इति पठयते । स औत्तरकालिकैर्लेखकैः पाणिनीयप्रभावेण परिवर्तितः ।

४. एतद्विषये 'भाषा का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य 'सादृश्य' नाम चतुर्थं व्याख्यानं विशेषतोऽवलोकनीयम् । तत्रापि ६८-७१ पृष्ठानि ।

५. एतद्विषये 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य ३८ पृष्ठं द्रष्टव्यम् ।

क—नेष्टृशब्दव्याख्यानाय 'नयतेः षुक् च'[1] (३।२।१३५) इति कात्यायनीयं वार्त्तिकम्। तत्रोक्तं भाष्यकृता न वा वक्तव्यम्, किं कारणम्? धात्वन्यत्वात्। धात्वन्तरं नेषतिः। कथं ज्ञायते। नेषतु नेष्टात् इति प्रयोगदर्शनात्...इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्। अत्र हि षुग्विधानमनुसृत्य निष इति स्वतन्त्रो धातुरूहितो भाष्यकृता।

ख—सुधातुरकङ् च (४।१।९७) इत्यत्र सुधातृव्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बकानामिति वक्तव्यम् इत्यङ् विधायकं वार्तिकम्। भाष्यकारस्तु अकङ् विधानज्ञापितान् 'सुधातक' आदीन् स्वतन्त्रशब्दान्मत्वाह— तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। प्रकृत्यन्तराण्येवंजातीयकानि।

ग—हृदयस्य हृदादेशविषये काशिकाकृतोक्तम्—हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति। तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम् (६।३।५०)।

घ—यत्र क्वचित् प्रत्ययविशेषविधाने सति प्रकृत्यंशे लोपादीन् विधाय रूपान्यत्वं प्रतिपाद्यते तत्रापि वस्तुतः शब्दान्यत्वमेव भवति। यथा—पञ्चानामह्नां समाहारः—पञ्चाहः, सप्ताहः। अत्र समासान्ते टचि टिलोपे (६।४।१४५) यदुत्तरपदस्य 'अह' इति रूपं निष्पद्यते तदपि स्वतन्त्रमेव शब्दरूपं द्रष्टव्यम्। तथा च प्रयुज्यते 'यस्मिन् वयसि यत्काले यदह्वे चाथवा निशि।' तन्त्राख्यायिका २।१३६॥

ङ—ध्माधातोः सार्वधातुके परतो विधीयमानस्य धमादेशस्यार्धधातुकप्रत्ययेऽपि प्रयोगदर्शनात् क्षीरस्वाम्याह— धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके (क्षीरतरङ्गिणी[2] १।६५९)।

च—हिंसेः सिंह इति वर्णविपर्ययेण प्रज्ञापितः सिंह (सिहि) धातुः काशकृत्स्ने धातुपाठे हिंसागत्योरर्थयोः साक्षात् पठ्यते। तट्टीकाकृता चन्नवीरकविना तस्य 'सिंहति, सिंहः, सिंहलः' प्रयोगा निर्दिश्यन्ते (पृ० ६६)।

इत्थं प्रमाणभूतैराचार्यैर्यत्र तत्र निदर्शिता या प्रकृत्यन्तरकल्पनारूपा व्याख्या, तामेव प्रमाणीकृत्यास्माभिःसर्वस्याप्यष्टाध्याय्या एतादृशी व्याख्या क्रियते। अनया लोपागमादेशवर्णविपर्ययद्वारा प्रकृत्यन्तरकल्पनारूपया व्याख्ययाऽऽदिभाषायां पुरा प्रयुज्यमानानां तदुत्तरकालं विनष्टप्रयोगाणां शतशो धातूनां नाम्नां च विज्ञानमपरो महान् लाभः।

(क्रमशः)

वेद और अष्टाध्यायी

[लें०—*श्री पं० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेशरी—ज्योतिर्मठ बदरी नारायण*]

[वर्ष १४ अङ्क २ से आगे]

८।३।१९ पर बैठकर कहता है कि देखो भैया तुम तो अपने से पूर्व सूत्रों में असिद्ध हो हट जाओ। आद्गुणः ६।१।८८ का सूत्र आ रहा है। अब 'लोपः शाकल्यस्य' ८।३।१९ लगाकर जो यलोप किया था, वह किया कार्य भी असिद्ध हो गया। अब लोप नहीं रहा, य् आ गया। तब तो हरय् इह हो गया। अब बेचारा आद्गुणः ६।१।८८ क्या करे। अब तो वह निराश होकर लौट जाता है। अब उसकी प्रवृत्ति ही रुक जाती है। हरय् इह में अ के बाद य् तब इ हो जाता है। अब वह कैसे लगे बीच में य् जो बैठा है हरय् इह। देखा आपने पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ न्यायाधीश का न्याय। उसने 'लोपःशाकल्यस्य' को तो त्याग सिखाया। उसके त्याग से आद्गुणः ६।१।८८ को शिक्षा मिली कि वह भी त्यागकर लौट गया। दूसरे का घर बिगाड़ना चाहता था। वह बिगाड़ नहीं सका। स्वयं लज्जित होकर लौट गया। उसके चले जाने पर पुनः 'हर इह' यह सिद्ध प्रयोग बना रहेगा। वह जब भी आना चाहेगा तभी यही स्थिति हुआ करेगी।

---

१. अत्र व्याख्याकाराः षुकि सति गुणस्य प्राप्त्यभावात् गुणे कृते षुग्भावमाहुः। वयं त्वनुमिनुमो नैतत् कात्यानीयं वार्तिकम्, अपि त्वन्यदीयम् (अन्यत्रापि दृश्यते)। अस्माच्च वार्तिकात् तत्र पूर्वं किमपि तादृशं वचमासीत्, यत्र ह्रस्वविधानमासीत्। तस्यैवात्रानुवृत्त्यर्थं चकारः श्रूयते। ह्रस्वत्वे कृते च गुणः लघूपधत्वात् सुकर एव।

२ रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशिता क्षीर-तरङ्गिणी।

देख लिया आपने पाणिनि जी की अष्टाध्यायी एक पद साधुत्व ही नहीं सिखाती। वह तो न्याय के साथ-साथ भारतीय समाजशास्त्र भी सिखाती है। भारतीय, पाणिनि जी का न्यायाधीश भी त्याग तपस्या की ही शिक्षा देता है। दूसरे के घर बिगाड़ने वाले को भी अपने त्याग के बल से लज्जित कर उसको बुरे कार्य करने से रोक देता है इत्यादि। न्याय के साथ-साथ समाजशास्त्र की भी शिक्षा अष्टाध्यायी देती है। पर यह ध्यान रहे कि यह सारा रहस्य पूर्वापरीभाव पर ही तो अवलम्बित है। अतः अष्टाध्यायी का अध्येता ही इस पूर्वापरीभाव क्रम को जानेगा। सिद्धान्तकौमुदी पढ़नेवाला तो वेचारा इस रहस्य से वञ्चित ही रहेगा। उसको तो सूत्र क्रम का ज्ञान ही नहीं होता है। इसी से मैंने अष्टाध्यायी की प्रशंसा में लिखा है—

समाजशास्त्रावगतिर्भवेदितस्तथेति-
हासादिनयादि बुध्यते।
अहो सुमेधां सृजती मुनेः सृतिर्द्विज-
त्वसम्पादनसञ्चिकाद्भुता ॥

इस अष्टाध्यायी से भारतीय समाजशास्त्र का ज्ञान होता है, इतिहास का ज्ञान होता है। भारतीय नीतिशास्त्र का ज्ञान होता है। आश्चर्य है कि यह अष्टाध्यायी अध्येता की सुमेधा की वृद्धि करती हुई उसे द्विज (संस्कार सम्पन्न) मानव बना देती है। यह व्याकरण की पुस्तक ही नहीं है। यह तो 'आर्य्य' बनाने का एक अद्भुत सांचा है।

मैं पाठकों को अष्टाध्यायी की वेद समता दिखाना चाहता था। सो तो अब स्पष्ट हो गया कि वेद विरोधी बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति ने जब अष्टाध्यायी के क्रम को तोड़ा है, तो उसका क्रम अवश्य वैदिक है जो उसे खटक रहा था। उसने वैदिक प्रयोगों की सिद्धि से लोगों को हटाने के लिये पाणिनिपद्धति विध्वंसक क्रम चलाया है। जिस (पाणिनिपद्धति विध्वंसक) क्रम को आज का भ्रान्त पण्डित समुदाय दाँत से पकड़े हुए है। उसे छोड़ना नहीं चाहता है। जब तक इस पाणिनि सूत्रक्रम विध्वंसक प्रक्रियाग्रंथ सिद्धान्तकौमुदी को छोड़ेंगे नहीं तब तक वैदिक प्रयोगों का ज्ञान भी दुर्लभ है और व्याकरण की सरलता भी दूर ही रहेगी। सरलता तो इसी क्रमबद्ध पाणिनि प्रक्रिया में निबद्ध है कि एक साथ दस-दस बीस-बीस सूत्रों का अर्थ छात्र स्वयं करता चला जाता है। उसे जरा भी दिक्कत नहीं होती। ऊपर मैंने संक्षेप में दिखाया ही है विशेष देखना हो तो कुछ समय खर्च करें। काशी के मोतीझील स्थान में पाणिनि महाविद्यालय में प्रत्यक्ष कर आईये। यहाँ कागज पर वह सरलता कैसे दिखाई जाय। वह तो स्वयं समझने की चीज है। हाँ उसकी विशेषता को विदेश के पण्डितों ने समझा है। देखिये—

(१) ह्यून साङ्ग हिन्दी अनुवाद प्रथमभाग २२१ पृष्ठ—
"महर्षि पाणिनि ने शब्द भण्डार से शब्द राशि को चुनकर पूर्ण मनोयोग के साथ यह शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) लिखा है। इतने में ही सारी वैदिक और लौकिक ज्ञानराशि समाप्त है। इसके बाहर शब्द ज्ञान करना अवशिष्ट नहीं रह जाता।

(२) पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है—मोनियर विलियम कहता है—संस्कृत व्याकरण (अष्टाध्यायी) मानव मस्तिष्क की, मनुष्य प्रतिभा की अन्तिम सीमा है जो संसार को चकित करती है।

(३) हण्टर भी ऐसा ही अपना भाव व्यक्त करता है—कि यह अष्टाध्यायी मानव मस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण चामत्कारिक विकास है।

(४) लेनिनग्राड के प्रो० टी० श्चेरबात्सकी का कहना है कि यह अष्टाध्यायी शब्दानुशासन मानव मस्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

इत्यादि बहुत कुछ विदेशी विद्वानों ने अष्टाध्यायी के सम्बन्ध में लिखा है—मैं यहाँ कागज में इसकी विशेषता को कैसे बताऊँ। "द्वादशभिवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" ऐसा प्रवाद पण्डितों में प्रसिद्ध है। इसका आज अर्थ किया जाता है—व्याकरण पढ़ना इतना कठिन है कि तुम जब से व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ करोगे, तब से १२ बारह वर्ष में वह समाप्त होगा। वह भी यदि तुम्हारी बुद्धि अच्छी है और तुम लगातार अविच्छिन्न रूप से निर्विघ्न बारह वर्ष तक पढ़ते रहोगे। तब बड़े गर्व से वैयाकरण पण्डित अपने व्याकरण शास्त्र की प्रशंसा में और कठिनता दुरूहता में गर्जकरक इस अर्थ को कहता है। पर इस प्रवाद का बिलकुल उलटा अर्थ है। वह यही है देखिये—

व्याकरण पढ़ना, पढ़नेवाले की बारह वर्ष की

उम्र तक समाप्त हो जाना चाहिये। वयसो द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते। छात्र की अवस्था के बारह वर्ष तक व्याकरण पढ़ लिया जाता है और वह उसे आ भी जाता है। अपवर्गे तृतीया २।३।६ इस सूत्र से यहां तृतीया विभक्ति हुई है। कैसे छात्र अपनी बारह वर्ष की उम्र में व्याकरण समाप्त कर लेगा? इसका उत्तर यह है कि ६ वर्षका बालक पहले १ वर्षमें अष्टाध्यायी रट लेगा। बाद में उसे सामान्यतः सन्धि, समास तथा अ, इ, उ, अन्तवाले शब्दों के तथा अण् अक् अच् हल् इत्यादि हलन्त प्रत्याहारों के रूप बताकर ही अष्टाध्यायी पढ़ा दी जायगी। दो वर्ष में वह काशिका के आधार पर भी अष्टाध्यायी पढ़ लेगा। दो वर्ष में भाष्य-वार्त्तिक पढ़कर छात्र ने अपनी ११ या १२ वर्ष की अवस्था में व्याकरण पढ़ तो लिया। जहाँ पढ़ने का कोई प्रबन्ध ही नहीं है वहां की बात मैं नहीं करता। पाणिनि जी के पढ़ाने का मैं क्रम बता रहा हूँ। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं। 'शिवराज विजय' संस्कृत उपन्यास के लेखक अम्बिकादत्त व्यास ने २२ वर्ष की उम्रमें 'सामवतम्' नामक नाटक ग्रन्थ लिखा है जो कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक से बढ़ चढ़ कर है। उन्होंने अपनी जीवनी में एक जगह लिखा है कि मैंने अपने पितामह की गोद में अष्टाध्यायी घोख ली थी और अपनी बारह वर्ष की अवस्था में ही भाष्यान्त व्याकरण समाप्त कर लिया था। कहिये, प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल गया कि अष्टाध्यायी पद्धति से "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" इसका अर्थ बारह वर्ष की उम्र तक व्याकरण समाप्त हो जाता है, यही है।

यों ही अष्टाध्यायी की अन्य विशेषताएं भी देखनी हों तो उसका परिशीलन कीजिये। लेख तो बढ़ता जा रहा है। सम्पादक जी से डर भी लग रहा है। स्वयं सूत्रवृत्ति बना लेने वाले छात्र में आत्मबल बढ़ता है। उसकी बुद्धि विकसित होती है। वह स्वतंत्रप्रज्ञ हो जाता है। ये सारी बातें देखने की हैं। कहने से कैसे ज्ञात होंगी। मैंने तो लिखा है—

स्वयं ही सूत्रार्थविदस्तु पाठका
वरं लभेरन्नपि पाणिनेर्मुनेः।
व्यवस्थितत्वं प्रतिभाप्रवर्द्धनं स्वतंत्रता-
द्यार्य्यगुणोऽपि सञ्चरेत् ॥

न केवला व्याकरणस्य पुस्तिका
ऽष्टाध्यायिकेयं नयशास्त्रसञ्चिका।
इमां पठन् पाठक एति पाटवं
सर्वत्र लोकव्यवहारमार्दवम् ॥
कालिदासस्तथान्ये बुधा ये पुरा
शङ्कराचार्यवर्योऽथ बाणादयः।
पाणिनेः पद्धतिज्ञा अभूवन्निमे-
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा महापण्डिताः ॥
साम्प्रतं सा हि धारा निरुद्धा यतः
कौमुदीजालमग्नाः समे पण्डिताः।
अर्कवर्षैर्यदा व्याकृतिः श्रूयते
प्रवेशो भवेदन्यशास्त्रे कथम् ॥
काठिन्यवृद्धिः क्रमसूत्रभेदा-
न्मेधाविलोपोऽपि च वृत्तिघोषात्।
हा कौमुदीरीतिरभूतपूर्वा
महर्षिशिक्षोत्तमशस्यदूर्वा ॥
क्रमे निबद्धा किल पाणिनीयता
व्युत्क्रम्य साऽलुप्यत कौमुदीकृता।
यत्तैलकारस्य वृषान्धदृष्टिका
छात्रावली घुष्यति सूत्रवृत्तिकाः ॥

यह अष्टाध्यायी केवल व्याकरण की ही पुस्तक नहीं है। यह तो नीति-शास्त्र का साँचा है। इसे पढ़ने वाला पाठक सभी विषयों में प्रवीण हो जाता है (हरफन मौला हो जाता है)।

पहले कालिदास, शङ्कराचार्य, बाणभट्ट प्रभृति अष्टाध्यायी पद्धति के विद्वान् सर्वतंत्र स्वतंत्र हो चुके हैं।

आज तो वह पद्धति ही उच्छिन्न है। सभी पण्डित कौमुदी के जाल में फंस गये हैं। जहाँ १२ बारह वर्ष में केवल व्याकरण पढ़ा जाता है वहाँ अन्य शास्त्रों में प्रवेश कैसे हो सकता है।

आज अष्टाध्यायी के क्रम को तोड़ कर सूत्रों के नीचे वृत्ति लिखकर रटाने से ही तो व्याकरण की कठिनता बढ़ गयी है और ऊहा के द्वारा सूत्रों के पदों से ही सूत्रार्थ न कर वृत्ति (सूत्रार्थ) रटने से छात्रों की मेधाशक्ति का बिलकुल नाश हो रहा है। यह कौमुदी की पढ़ाई तो महर्षि पाणिनि की शिक्षारूपी उत्तम खेती में दूर्वा (दूब) घास बनकर उनकी शिक्षा का विनाश कर रही है।

पाणिनीयता तो सूत्रों के क्रम में ही थी। उसे तोड़कर कौमुदीकार ने भारी अपराध किया है। इसी कारण तेली के बैल के समान आँख पर पट्टी बाँध कर आज के छात्र सूत्रवृत्ति रटा करते हैं। इसी से आज के वैयाकरण को समय ही नहीं मिलता कि वह इस के "रक्षोहागमलध्व संदेहाः प्रयोजनानि" इत्यादि पतञ्जलि कथित प्रयोजनों की ओर सिर उठाकर देखें।

अतः यदि वेद का रहस्य जानना है। वेद के अध्ययन में जनसमुदाय को लगाना है तो इस वेदतुल्य [आंशिक-सम्पादक] अष्टाध्यायी का ही अध्ययनाध्यापन पुनः प्रवृत्त करना होगा। यह अष्टाध्यायी वस्तुतः वेद के अर्थ का अद्भुत साधन है। 'सूत्राणि छन्दोवद्भवन्ति' यह प्रसिद्धि निर्मूल नहीं है। इसका अज्ञात रहस्य सभी के सामने प्रगट करना है॥

[श्री शास्त्री जी काशी के सनातनधर्मी, प्रसिद्ध एवं प्रमुख विद्वानों में से हैं। आपका लेख संस्कृत के विद्वानों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य है। निःसंदेह अष्टाध्यायी का क्रम (वा आनुपूर्वी) अपूर्व है। इनका अष्टाध्यायी के विषय में विचार सर्वथा ठीक है। आनुपूर्वी को वेदतुल्य कहने का इनका अभिप्राय इतना ही है कि जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितं' में 'ईळे अग्निं पुरोहितं' नहीं हो सकता, इसी प्रकार अष्टाध्यायी का क्रम भी भंग नहीं किया जा सकता। क्रम भंग करना अपराध है, वेदतुल्य कहने का अभिप्राय शास्त्री जी का यही है।

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में शास्त्री जी की अनिर्वचनीय श्रद्धा है।

ये शास्त्री जी के मौलिक विचार हैं। —सम्पादक]

हमारे संस्कार

[ले०—श्री पं० रामावतार जी शर्मा, षट्तीर्थ, कलकत्ता]

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से "संस्कार शब्द बनता है। जो भली भाँति परिमार्जित रूप दे सकें वही संस्कार कहा जाता है।

कोशों में संस्कार शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। उन अर्थों पर विचार करने से संस्कार का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।

१—जिसके द्वारा दोष दूर किये जा सकें वह संस्कार कहलाता है।

जब वस्तुगत अथवा द्रव्यगत दोष दूर होते हैं तो निर्दोष होने पर ही, उस वस्तु अथवा द्रव्य का आदर किया जाता है। दोष के रहते-रहते कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र आदर का पात्र नहीं बनता है। व्यक्तिगत दोष राष्ट्र के लिये भी घातक सिद्ध होता है।

रावण में राक्षसी वृत्ति की प्रबलता होने से ही उसका समूल नाश हुआ था। बाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों के पढ़ने से ऐसा ही ज्ञात होता है।

अभिप्राय यह हुआ कि जब तक द्रव्य अथवा स्थान के बुरे परमाणु निकल कर बाहर न हो जायँ, अथवा उनको नहीं निकाला जाय, तब तक अच्छे गुणों का आधान या विकास का होना असम्भव हो जाता है। चाहे वह वस्तु हो, स्थान हो, अथवा द्रव्य हो, सब के बुरे परमाणुओं को निकाल देने पर ही उसके लिये आदर का स्थान मिलना संभव होता है।

एक उदाहरण लीजिये—जिस समय लोहा खान से निकलता है उस समय उसमें पर्याप्त मात्रा में खाद विद्यमान रहती है। उस समय में उसका मूल्य किसी पत्थर के टुकड़े से अधिक नहीं होता है। उस लोहे को जब लोहा गलाने की भट्ठी में डाल कर कड़ी आँच से गलाया जाता है। जब वह गल कर पानी के समान बन जाता है, तब उस लोहे के सारे के सारे दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। उस समय उसको शुद्ध लोहे का रूप प्राप्त हो जाता है। यह उसका प्रथम संस्कार समझना चाहिये।

इतना होने पर उस लोहे का रूप कुछ बदला हुआ होता है, कुछ थोड़ी कीमत भी बढ़ी हुई होती है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका इतना संस्कार पर्याप्त हो गया। अभी आगे भी इसके संबंध में संस्कार आवश्यक होते हैं, जिनसे इसके मूल्य और आदर में वृद्धि होने की सम्भावना है।

दोष दूर हो जाने मात्र से अब ऐसा शुभ अवसर उसको उपलब्ध है कि उसमें विशेष गुण उत्पन्न किये जायँ। दुर्गुण के रहते-रहते ऐसा सम्भव नहीं था। अब उसमें गुण का आधान किया जाता है जिससे उसका बल बढ़ जाता है।

जब लोहे का नया संस्कार किया जाता है तो अब वह कच्चा लोहा नहीं किन्तु पक्का लोहा बन जाता है। तब उसके काम तथा दाम दोनों बढ़ जाते हैं। निःसन्देह अब वह एक मूल्यवान् द्रव्य का रूप धारण कर लेता है।

इतना होने पर भी अभी उसमें विशेष प्रकार के आकर्षक गुणों का उदय नहीं हुआ है। इसके लिये तीसरे संस्कार की आवश्यकता होती है।

जब तक उस लोहे में आकर्षक गुण चमक दमक नहीं होते तब तक उसके आदर और मूल्य दोनों में कमी रहती है। अतएव जब चमक लाने का प्रयोग किया जाता है तब वह अत्यन्त आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। यद्यपि उसके अनेक रूप बदलते जाते हैं फिर भी तीसरे संस्कार से वह "स्टेनलेस स्टील" बन जाता है।

इस रूप में आने पर हम देखते हैं कि उससे विविध भाँति के उपयोगी पात्र बनते हैं तथा अनेक उपयोगों का वह आगार बन गया है। अब वह एक मूल्यवान् द्रव्य तथा सौंदर्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है।

सर्व प्रथम वह खान से लोहा निकला था। आज भी वह लोहा ही है परन्तु उसके मूल्य में जो परिवर्तन दीखते हैं, उनका एकमात्र कारण, किये गये विविध संस्कार ही हैं। यदि संस्कार नहीं किये जाते तो न उसका इतना मूल्य होता और न वह इस प्रकार के सर्व सुलभ आदर तथा शोभा का पात्र ही बनता।

इस उदाहरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि चाहे द्रव्य हो, स्थान हो, अथवा मनुष्य ही क्यों न हो, किन्तु उसमें तीन संस्कार अत्यन्त आवश्यक और बहुत ही उपयोगी प्रतीत होते हैं। इनके बिना सब पूरे नहीं, अधूरे रहते हैं।

१—सर्वप्रथम दोष दूर करना।

२—उसमें गुण का आधान करना।

३—आहित गुण का उत्कर्ष करना।

इन्हीं तीन संस्कारों से किसी पात्र को आदर का स्थान मिलता है।

२—संस्कार का दूसरा अर्थ यह होता है कि "पूर्वजन्मकुलमर्यादाशिक्षासभ्यतादीनाम् मनसि पतितः प्रभावः"।

पूर्वजन्म का प्रभाव

आचार्य यास्क ने निरुक्त में एक प्रमाण दिया है जिससे पुनर्जन्म पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥१॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधा स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥२॥

हमारे सूक्ष्म शरीर का आकार प्रकार कुछ ऐसा ही है जिस पर अनेक जन्मों के संस्कार जमे रहते हैं। इन संस्कारों का प्रभाव ही हमारे भावी जीवन का साधक अथवा बाधक बन जाया करता है।

एक उदाहरण लीजिये। आजकल व्याख्यानों तथा गानों का "टेप्रेकार्ड" कर लिया जाता है, उसके बाद गायक अथवा व्याख्याता की आवश्यकता नहीं रहती। रेकार्ड बजाये जाते हैं। उनसे व्याख्यान अथवा भजन चाहे जिस तरह का हो सुना जाता है।

इसी प्रकार से स्थूल शरीर द्वारा हम जैसे विचार, व्यवहार आदि का अभिनय करते हैं, उनका सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव पड़ता जाता है। ये प्रभाव ही मन को प्रभावित करते हैं जो दूसरे तीसरे आदि जन्मों तक काम देते हैं। हमको इनका पता नहीं होता।

क्यों पता नहीं होता इसका उत्तर भी यास्काचार्य ने दिया है। उन्होंने कहा है कि—

"जातश्च वायुना स्पृष्टस्तत्र स्मरति जन्ममरणम्, अन्ते च शुभाशुभं कर्मैतच्छरीरस्य प्रामाण्यम्"।

जब मानव का जन्म होता है तब जन्म के बाद संसार में पाँव रखते-रखते हवा का स्पर्श होता है और

[सशेष]

निधन समाचार

(१) श्री० स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक

आप लाहौर के प्रसिद्ध आर्यसमाजी परिवार ला० केदारनाथ जी मन्त्री आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के लघु-भ्राता, प्रसिद्ध आर्य संन्यासी स्वामी व्रतानन्द जी के चाचा थे। आरम्भ से ही आप बड़े उत्साही, देशभक्त और विद्या-प्रेमी थे। घरबार छोड़, गृहस्थाश्रम में न जाकर सारा जीवन आर्यजाति-देशसेवा में व्यतीत किया। आरम्भ में आप ऋषि दयानन्द की आर्ष-प्रणाली की प्रेरणा लेकर काशी में अष्टाध्यायी पढ़ने के लिये आये। उस समय जो भी साधन आप को मिल सके, आपने भरसक प्रयत्न किया। पर उसमें सफलता न मिल सकी। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि उस समय उनको इसमें सफलता मिल गई होती तो आप काशी के मूर्धन्य विद्वान् बने होते और ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के एक उच्चकोटि के विद्वान् होते। उनकी कार्यशक्ति इतनी प्रबल थी कि वह एक ही जगह सन्तुष्ट होकर बैठने वाले न थे। इसी कारण आपने साहसपूर्वक विदेश यात्रायें आरम्भ कीं, जो उस समय एक बड़ा साहस समझा जाता था। उन यात्राओं से नवयुवकों को बड़ी प्रेरणा मिलती थी। विदेशों से भारत के सम्बन्ध घनिष्ठ होने में आप का भी बहुत कुछ हाथ था। उच्चकोटि के देशभक्त थे। पिछले विश्वयुद्धों में आपने भारत की सेवा अपने ढंग से बहुत कुछ की। कांग्रेस में वह घुल मिल नहीं सके। आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द में आस्था रखते हुऐ भी वह कभी-कभी बहुत कुछ आलोचना भी करने लगते थे। इसलिये आर्यसमाज में सीमित न रह सके। मुझे स्मरण है कि वह एक बार रसड़ा (जि० बलिया) आर्यसमाज के उत्सव में डट गये कि मेरे "संगठन का बिगुल" की तीन सौ प्रतियाँ बिकें तो मैं व्याख्यान दूँगा। इन पङ्क्तियों के लेखक को बोलने के लिये कहा गया तो उसने कहा कि बिगुलों की (जो बजे और बजेंगे) मौं क्यों न लीजिये। जनता ने उस दिन आध घण्टे में ही ६७५ पौने सात सौ सत्यार्थप्रकाश खरीदे। वैदिक यन्त्रालय के कार्य कर्ता चकित रह गये। स्वामी जी ने भाषण नहीं दिया। इस हठ पर बड़ी हंसी होती रही। स्वामी जी बड़े प्रसन्न हुये।

भारतीय संस्कृति की अद्भुत व्याख्या आप किया करते थे। ऐसी व्याख्या हमने कहीं नहीं सुनी। वेदों के विषय में कहते थे कि वेद ईश्वरकृत है, यह बात आर्यसमाज के विना कोई नहीं मानता। इसलिये इस विषय में सच्ची निष्ठा वाले विद्वान् तय्यार करके भारत तथा विदेशों में भेजने चाहियें।

पता लगा है कि उनका ५४०००) रुपया गुरुकुल कांगड़ी में पड़ा है। जीवन में तो लगा न गये। देखें यह अब कहां लगता है। क्यों न यह रुपया श्री० स्वामी जी की स्मृति में पुस्तकालय में एक अलग विभाग वेद और विदेशी विद्वानों के लिये उच्चकोटि का साहित्य संगृहीत करने में या तैयार करा कर छापने में लगा दिया जावे।

स्वामी अच्युतानन्द जी लुधियाना (पंजाब) में बहुत सा रुपया छोड़ गये। वह इन पंक्तियों के लेखक को सारी सम्पत्ति देना चाहते थे, इसके लिये बुला कर कहा कि लुधियाना में बैठो, इसने माना नहीं, कहा कि स्वामी जी यह रुपया आप का लगना नहीं। वही हुआ, सब रुपया सम्पत्ति सरकार में चली गई। यह रुपया परिव्राजक जी का गुरुकुल कांगड़ी में ही लग जावे तो अच्छा है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के गुणों से भारतीयों को प्रेरणा मिलती रहेगी। जीवन के अन्त के वर्षों में कुछ कुछ अट्ट पट्ट भी बोल दिया करते थे। सो मनुष्य के गुण दोष उसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। पीछे रहने वालों को तो उनके सद्गुणों, सद्भावना और सत् कृत्यों की ही प्रेरणा लेनी चाहिये। प्रभु हम भारतीयों को ऐसी प्रेरणा दें और उनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करें, ऐसी हम सबकी कामना है।

(शेष टाईटिल पृष्ठ ३ पर देखिये)

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि । शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥१३॥
इत्युक्त्वा न्यपतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा । भृशं संप्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः ॥१४॥
तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् । श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम् ॥१५॥
आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या । भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥१६॥
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः । सर्वकार्याणि संमन्त्र्य सुमहान्त्यपि कारय ॥१७॥
लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् । अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥१८॥
कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् । न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥१९॥
एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् । तेजसादित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥२०॥
अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते । एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥२१॥
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च । प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥२२॥
स पादुके संप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् । चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥२३॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन । तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः ॥२४॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप । चतुर्दशे हि संपूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥२५॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् । तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥२६॥

प्राप्त कीजिये । हे काकुत्स्थ कुलभूषण ! आप इस सम्पूर्ण लोक की प्रजा का पालन करने में समर्थ हैं । ॥ १३ ॥ इतनी बातें कह कर भरत रामचन्द्र के चरणों में नतमस्तक हो गये तथा बार-बार प्रिय शब्दों में रामचन्द्र से प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥ उस भाई भरत को गोद में लेकर कमल के समान नेत्र वाले युवा भरत के प्रति मत्त हंस के स्वर में स्वयं रामचन्द्र यह बोले ॥ १५ ॥ हे तात भरत ! तुम्हारे अन्दर जो स्वाभाविक नम्र बुद्धि आई है, इससे तुम सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन अच्छी तरह कर सकते हो ॥ १६ ॥ राजभक्त महामन्त्री तथा मंत्रियों के द्वारा सम्पूर्ण कार्यों में सलाह लेकर राज्य का संचालन करो ॥ १७ ॥ चन्द्रमा की चन्द्रिका चन्द्रमा को छोड़ दे, हिमवान् अपने हिमों को छोड़ दे, समुद्र अपनी वेला (मर्यादा) को छोड़ दे, किन्तु मैं पिता की प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता ॥ १८ ॥ हे तात ! कामना से या लोभ से माता ने जो तुम्हारे लिए यह राज्य दिया है, मन में उसके लिये अन्यथा विचार मत करना । पूर्ववत् माता के समान उनका आदर करना ॥ १९ ॥ तेज में आदित्य के समान, प्रियदर्शित्व में प्रतिपत्-चन्द्रमा के समान, कौसल्या के पुत्र रामचन्द्र के ऐसा कहने पर भरत नम्रतापूर्वक उनसे बोले ॥ २० ॥ हे आर्य रामचन्द्र ! स्वर्णभूषित इन पादुकाओं पर अपने चरणों को रखिये । ये चरणपादुका ही सारी प्रजा का योग क्षेम करेंगी ॥ २१ ॥ महातेजस्वी नरकेसरी रामचन्द्र ने उन खड़ाओं पर आरूढ़ होकर पश्चात् खड़ाओं को अलग कर महात्मा भरत को दिया ॥ २२ ॥ उन चरण पादुकाओं को प्रणाम करके भरत रामचन्द्र से यह वचन बोले— चौदह वर्ष तक जटा तथा वल्कलवसन धारण करूँगा ॥२३॥ हे रघुकुल भूषण ! कन्दमूल-फल आदि को खाते हुये अयोध्या नगरी से बाहर आप के आगमन की प्रतीक्षा करूँगा ॥ २४ ॥ हे रघुकुलनन्दन शत्रुतापी रामचन्द्र ! आपकी चरण पादुका को सिंहासन पर रखकर राज्यशासन करते हुए यदि चौदह वर्ष की समाप्ति पर आप का दर्शन नहीं हुआ, तो मैं अग्नि में प्रवेश कर प्राण त्याग दूँगा । हे भरत ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा, यह कहकर राम ने भरत का आदर पूर्वक आलिङ्गन किया ॥२५, २६॥ शत्रुघ्न का

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥२७॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम। इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥२८॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान् स्वलंकृते संपरिगृह्य धर्मवित्।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥२९॥
अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं गुरूंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथानुजौ।
व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः स्थिरः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥३०॥
तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स त्वेव मातॄरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पादुकाप्रदानं नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥११२॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

पादुकाग्रहणम्

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ १ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः। अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

भी आलिङ्गन करके राम भरत से यह बोले—हे तात ! माता कैकेयी की रक्षा करो, उन पर क्रोध मत करो ॥ २७ ॥ इसके लिये हे रघुनन्दन ! मेरी तथा सीता की तुम्हें सौगन्ध है। ऐसा कहते हुए आँखों में आँसू भरे हुए रामचन्द्र ने भरत को विदा किया ॥ २८ ॥ प्रकाश करने वाले अलंकृत उन चरण पादुकाओं को लेकर महात्मा भरत ने रामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उन पादुकाओं को हाथी के ऊपर रखा ॥ २९ ॥ रघुवंश की कीर्त्ति बढ़ाने वाले, अपने धर्म पर हिमालय के समान अचल रामचन्द्र ने यथाक्रम गुरुजनों, मन्त्रिवर्ग, प्रजा तथा भरत शत्रुघ्न को सत्कार करके विदा किया ॥ ३० ॥ कण्ठ भर आने के कारण माताएं रामचन्द्र से कुछ कह न सकीं। रामचन्द्र ने अपनी माता के चरणों का अभिवादन करके अपनी कुटी में प्रवेश किया ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'पादुका प्रदान' विषयक एक सौ बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥११२॥

एक सौ तेरहवां सर्ग

पादुका ग्रहण

तब भरत चरण पादुका को सिर से लगा प्रणामकर शत्रुघ्न के सहित प्रसन्न होकर रथ पर बैठे ॥ १ ॥ दृढ़व्रती वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि तथा माननीय मन्त्रिगण ये सभी आगे चल पड़े ॥ २ ॥ महान्

मन्दाकिनीं नदीं पुण्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा । प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥
पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च । प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥
अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा । आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥
स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान् । अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥
ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् । अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धीमता । प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥
स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः । राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः । चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥१०॥
एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह । वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥११॥
एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते । अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरे तव ॥१२॥
एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः । पादुके अधिरुह्यैते मम राज्याय वै ददौ ॥१३॥
निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना । अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥१४॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः । भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥१५॥
नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे । यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ॥१६॥
अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव । यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥१७॥

पर्वत चित्रकूट की परिक्रमा करते हुए रमणीय मन्दाकिनी नदी के किनारे किनारे पूर्व की ओर मुख कर के चल पड़े ॥ ३ ॥ नाना प्रकार की रमणीय धातुओं को देखते हुए सेना के समेत भरत चित्रकूट के पास से चले ॥ ४ ॥ चित्रकूट के थोड़ी दूर पर भरत ने उस आश्रम को देखा, जहाँ महामुनि भरद्वाज निवास करते थे ॥५॥ कुल के आनन्द बढ़ाने वाले पराक्रमी राजकुमार भरत ने भरद्वाज के आश्रम पर पहुँच कर रथ से उतर कर उनके चरणों को छूकर प्रणाम किया ॥ ६ ॥ प्रसन्न होकर भरद्वाज ऋषि भरत से यह वचन बोले— हे तात भरत ! क्या आप का मनोरथ सफल हो गया, रामचन्द्र से आप की भेंट हो गई ॥ ७ ॥ महामति भरद्वाज के इस प्रकार पूछने पर धर्मप्रेमी भरत ने महर्षि भरद्वाज को यह उत्तर दिया ॥८॥ गुरु देव वसिष्ठ तथा मेरे प्रार्थना करने पर प्रसन्न होकर भाई रामचन्द्र गुरुदेव वसिष्ठ से यह बोले ॥ ९ ॥ जो प्रतिज्ञा मैंने पूज्य गुरु पिता दशरथ के सामने की थी, मैं उसी प्रतिज्ञा को चौदह वर्ष तक वन में पालन करूँगा ॥ १० ॥ इन बातों के कहने पर बात के जानने वाले, महाप्राज्ञ वसिष्ठ वाणी बोलने में कुशल रामचन्द्र से यह वचन बोले ॥ ११ ॥ हे रामचन्द्र ! प्रसन्न होकर स्वर्ण भूषित इन चरण पादुकाओं को दे दो । हे महाप्राज्ञ ! अयोध्या में इन्हीं के द्वारा योग-क्षेम होगा ॥ १२ ॥ गुरुदेव वसिष्ठ के इस प्रकार कहने पर पूर्वाभिमुख बैठे रामचन्द्र ने स्वर्ण मण्डित चरण पादुकाएँ राज्य के लिये मुझे दे दीं ॥१३॥ रामचन्द्र की आज्ञा से प्रसन्नचित्त मैं चरण पादुका लेकर लौट आया । इन शुभ चरण पादुकाओं को लेकर मैं अयोध्या जा रहा हूँ ॥ १४ ॥ महात्मा भरत की इन बातों को सुनकर महर्षि भरद्वाज कल्याणमय वचन बोले ॥ १५ ॥ चरित्र तथा धर्म को जानने वाले तुम नरकेसरी के लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं । बड़े भाई के प्रति तुम्हारे अन्दर आदरणीय वृत्ति वैसी ही ठहरे जैसे छोड़ा हुआ जल निम्न स्थान में जाकर ठहरता है ॥ १६ ॥ तुम्हारे पिता राजा दशरथ अपने पूर्वजों के ऋण से अनृण हो गये जो आप जैसे धर्म प्रेमी धर्मात्मा पुत्र को पैदा किया ॥ १७ ॥ महर्षि भरद्वाज के इस प्रकार कहने पर हाथ जोड़कर भरत ने उनसे

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः । आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥१८॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः । भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥१९॥
यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः । पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥२०॥
ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् । ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥२१॥
तां पुण्यजलसंपूर्णां संतीर्य सहबान्धवः । शृङ्गिबेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥२२॥
शृङ्गिबेरपुराद्भूयस्त्वयोध्यां संददर्श ह । अयोध्यां च ततो दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥२३॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् । सारथे पश्य विध्वस्ता सायोध्या न प्रकाशते ॥२४॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पादुकाग्रहणं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥११३॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

अयोध्याप्रवेशः

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः । अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

जाने के लिये आज्ञा माँगी और उनके चरणों को छूकर प्रणाम किया ॥ १८ ॥ पश्चात् महामुनि भरद्वाज की प्रदक्षिणा करके राजकुमार भरत ने अयोध्यापुरी को प्रस्थान किया ॥ १९ ॥ रथ, बैलगाड़ी, घोड़ा, हाथी आदि भरत के पीछे चलने वाली सम्पूर्ण विशाल सेना फिर अयोध्या को लौट पड़ी ॥ २० ॥ लहरों वाली उस यमुना नदी को पार करके उन लोगों ने अमित जलवाली गंगा को देखा ॥ २१ ॥ बन्धु बान्धवों के सहित भरत रमणीय उस जलवाली गंगा का पार करके सैनिकों के साथ रमणीय शृङ्गवेरपुर में प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥ शृङ्गवेरपुर से आगे चलकर भरत ने पुनः अयोध्या को देखा । भ्राता तथा पिता से रहित अयोध्या को देखकर दुःख से सन्तप्त भरत अपने सारथि से बोले—हे सारथि ! तुम देखो, अपने आकार प्रकार तथा आनन्द से रहित, नृत्य-गान-वाद्य सब जिसके बन्द हो चुके हैं, ऐसी विध्वस्त दीन नगरी अयोध्या इस समय शोभा को नहीं प्राप्त हो रही है ॥ २३, २४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'पादुका-ग्रहण विषयक एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११३ ॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

अयोध्या में प्रवेश

रमणीय तथा गम्भीर घोष करने वाले रथ पर बैठ कर भरत अयोध्या आये और महायशस्वी भरत ने शीघ्र ही नगरी में प्रवेश किया ॥ १ ॥ बिल्ली और उल्लू जहाँ विचर रहे हैं, मकानों के दरवाजे बन्द हैं,

विडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् । तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥
राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् । ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥
अनिलोत्क्षुब्धसलिलां घर्मोत्तप्तविहङ्गमाम् । लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥
विधूमामिव हेमाभामध्वराग्नेः समुत्थिताम् । हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥
विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् । हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥
सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् । प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥
त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः । सुत्याकाले विनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥
गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामाचरन्तीं तृणं नवम् । गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥
प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः । वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥१०॥
सहसा चलितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद्गताम् । संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥११॥
पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरनादिताम् । द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥१२॥
संमूढनिगमां स्तब्धां संक्षिप्तविपणापणाम् । प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥१३॥
क्षीणपानोत्तमैर्भिन्नैः शरावैरभिसंवृताम् । गतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम् ॥१४॥

अन्धकार से जो आच्छादित हो रही है ऐसी विकराल रात्रि के समान अयोध्या में प्रवेश किया ॥ २ ॥ चन्द्रग्रहण के समय प्रकाशहीन रोहिणी के समान स्वजनों से वियुक्त कान्तिहीन अयोध्या में प्रवेश किया। ॥ ३ ॥ थोड़े जल वाली, गदले जल वाली, घाम से संतप्त पक्षी जिस के आस पास बैठे हैं, मछली-ग्राह आदि जलजन्तु जहाँ छिप गये हैं, क्षीण जल वाली नदी की तरह अयोध्या थी ॥ ४ ॥ वह अग्नि जो धूप रहित, स्वर्णमयी शिखा जिसकी जाज्वल्यमान हो रही हो, पश्चात् अधिक हवि डालने से जिसकी प्रदीप बुझ गई हो, ऐसी कान्तिहीन अयोध्या थी ॥ ५ ॥ संग्राम में जिसके वीरों के कवच टूट गये हैं, हाथी-घोड़े-रथ तथा ध्वजाएँ जिसके रुग्ण तथा नष्ट-भ्रष्ट हो गये हों, जिसके सैनिक मार दिये गये हों और जो विपत्ति में फँसी हो, ऐसी सेना के समान अयोध्या थी ॥ ६ ॥ अधिक वायुवेग से तरङ्गित होने वाली, जिसमें फेन उठ रहा है तथा ऊँचे शब्द हो रहे हैं, वायु के शान्त हो जाने पर जिसके शब्द, फेन आदि शान्त हो गये हों, ऐसी लहरों के समान अयोध्या थी। ७ ॥ यज्ञ की समाप्ति पर ऋत्विज् लोग यज्ञ पात्र आदि लेकर चले गये हों तथा जहाँ की वेदध्वनि समाप्त हो गई हो, ऐसी यज्ञवेदी के समान अयोध्या थी ॥ ८ ॥ वह नगरी ऐसी दीन गौ प्रतीत हो रही थी जैसे जिस गौओं के गोष्ठ से सांड दूर कर कर दिया गया हो तथा उसकी उत्सुकता में जिसने घास खाना भी छोड़ दिया हो ॥ ९ ॥ अयोध्या उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी जैसे कोई ऐसी मोती की माला हो जिससे उत्तम जाति के मूल्यवान् पद्मराग आदि रत्न निकाल लिये गये हों ॥१०॥ अयोध्या ऐसी तारा के समान प्रतीत होती थी जो अपनी आयु के समाप्त हो जाने पर कान्तिहीन होकर सहसा आकाश से गिर गई हो॥११॥ वह नगरी ऐसी वनलता प्रतीत होती थी जो वसन्त ऋतु में फूलों से भरी हुई हो, जिस पर मधु पान मत्त भ्रमर गूँज रहे हों, सहसा वनाग्नि के लग जाने से जो झुलस गई हो ॥ १२ ॥ अयोध्या इस प्रकार हो रही थी जैसे राम के वनवास से किंकर्त्तव्य विमूढ वहाँ का वैश्यवर्ग हो गया तथा क्रय-विक्रय बन्द हो गया हो और बादलों के द्वारा चन्द्र और नक्षत्र जिसके ढक गये हों ऐसा आकाश हो ॥ १३ ॥ वह नगरी ऐसी पान भूमि के समान हो गई थी जहाँ मार्जन आदि बन्द हो गया हो और जहाँ मद्यपान आदि होकर टूटे फूटे शराव इधर उधर गिरे हों तथा जिसका स्वामी नष्ट हो गया हो ॥ १४ ॥ वह अयोध्या ऐसी प्याऊ के समान हो रही थी जिसकी भूमि टूट जाने से ऊँची

वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम् । उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥१५॥
विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् । भूमौ बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात् ॥१६॥
सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम् । निक्षिप्तभाण्डामुत्सृष्टां किशोरीमिव दुर्बलाम् ॥१७॥
भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान् दशरथात्मजः । वाहयन्तं रथं श्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥
किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशम्यते । यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥१९॥
समृगमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः । धूपितागरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥२०॥
यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः । प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः ॥२१॥
नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां रामे विवासिते । चन्दनागरुगन्धाश्च महार्हाश्च वनस्रजः ॥२२॥
गते हि रामे तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते । बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥२३॥
नोत्सवाः संप्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे । सह नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥२४॥
न हि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा । कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥२५॥
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः । तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ॥२६॥
संपतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः । एवं बहुविधं जल्पन् विवेश वसतिं पितुः ॥२७॥
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥

नीची हो रही हो, टूटे फूटे पात्रों से भरी हो, जिसका पानी समाप्त हो गया हो तथा जो गिर गई हो ॥ १५ ॥ वह नगरी उस प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) के समान हो रही थी जो धनुष के दोनों कोनों से सम्बद्ध हो, जो विस्तृत तथा दृढ़ हो किन्तु बाण के द्वारा कट कर जो भूमि पर गिर गई हो ॥ १६ ॥ वह अयोध्या ऐसी घोड़ी के समान प्रतीत होती थी जो रणदुर्मद वीर सवार से संचालित हो रही हो किन्तु एकाएक शत्रु सैनिक ने मार दी हो ॥ १७ ॥ रथ पर बैठे हुए श्रीमान् राजा दशरथ के राजकुमार भरत रथ हाँकने वाले सारथि से बोले ॥ १८ ॥ अयोध्या में जैसे पहले गाने बजाने के आनन्द दायक स्निग्ध शब्द सुनाई देते थे, आज वे क्यों नहीं सुनाई देते हैं ॥ १९ ॥ कस्तूरी की गन्ध, माला के फूलों की उत्तम सुगन्धि तथा चन्दन अगर आदि से सुगन्धित वायु नहीं बह रही है ॥ २० ॥ उत्तम रथों के घोष, घोड़ों की हिनहिनाहट, मतवाले हाथियों का गर्जन तथा सामान्य सवारियों की गड़गड़ाहट राम के वनवासी हो जाने पर इस समय अयोध्या में नहीं सुनाई दे रहे हैं। राम के बन चले जाने पर सन्तप्त युवक चन्दन अगर तथा मूल्यवान् वन के फूलों की गन्ध का उपयोग नहीं कर रहे हैं तथा नाना प्रकार के माला और वस्त्र धारण करने वाले मनुष्य बाहर भ्रमण करने नहीं जाते हैं ॥ २१–२३ ॥ राम के शोक से दुःखी इस पुरी में आज उत्सव नहीं हो रहे हैं। निश्चय ही इस अयोध्या नगरी की शोभा भाई रामचन्द्र के साथ वन में चली गई है ॥ २४ ॥ यह अयोध्या नगरी कुहासे से युक्त शुक्ल पक्ष की रात्रि के समान आज शोभा नहीं दे रही है। महोत्सव के समान भाई रामचन्द्र का आगमन अयोध्या में कब होगा ॥ २५ ॥ ग्रीष्मकाल के पश्चात् मेघों के आगमन के सदृश अयोध्या में आनन्द कब मनाया जायेगा। अच्छी वेषभूषा वाले, मदमाती चाल से तरुण मनुष्य आज अयोध्या की सड़कों पर चलते हुए नहीं दिखाई दे रहे हैं। सारथि से ऐसा कहते हुए भरत बहुत दुःखी हो गये ॥ २६, २७ ॥ सिंह से हीन गुफा की तरह आज राजा दशरथ से हीन

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं सुरैरिवोत्सृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान् मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे अयोध्याप्रवेशो नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥११४॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

नन्दिग्रामनिवासः

ततो निक्षिप्य मातॄः स अयोध्यायां दृढव्रतः । भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥
नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽद्य वः । तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥
गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्मम । रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः । अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥
सदृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया । वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥

अयोध्या के राजमहल में भरत ने प्रवेश किया ॥ २८ ॥ सूर्य से हीन दिन के समान कान्ति से हीन तथा दिव्य शक्तियों ने जिसका त्याग कर दिया है ऐसे प्रभाहीन उस अन्तःपुर को देखकर दुःखित भरत आँखों से आँसू बहाने लगे ॥ २९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'अयोध्या प्रवेश' विषयक एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११४ ॥

एक सौ पन्द्रहवां सर्ग

नन्दिग्राम में निवास

दृढ़व्रती भरत माताओं को अयोध्या में छोड़कर शोक से दुःखी होते हुए अपने गुरु से यह बोले ॥ १ ॥ मैं नन्दिग्राम में जाना चाहता हूँ । आप लोगों से यह आज्ञा चाहता हूँ । वहाँ रहकर राम के विना मैं इन दुःखों का वहीं शमन करूँगा ॥ २ ॥ मेरे पूज्य पिता राजा दशरथ दिवंगत हो गये, ज्येष्ठ भ्राता राम वनवासी हो गये हैं । मैं राज्य के लिये रामचन्द्र की प्रतीक्षा करूँगा क्योंकि मेरे तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के वे ही महायशस्वी राजा हैं ॥ ३ ॥ महात्मा भरत की इन शुभ बातों को सुनकर गुरुदेव पुरोहित वसिष्ठ तथा सारे मन्त्री इस प्रकार बोले — हे राजकुमार भरत ! भाई रामचन्द्र के प्रेम में आकर तुमने जो श्लाघनीय वचन कहा है, वह तुम्हारे अनुरूप ही है ॥ ४, ५ ॥ सर्वदा बन्धु-बान्धवों की रक्षा करने वाले, भाई के प्रेम में निमग्न रहने वाले तथा निरन्तर सन्मार्ग पर चलने वाले आप ऐसे व्यक्ति के वचनों का कौन मनुष्य अनु-

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे । आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥
मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम् । अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥
प्रहृष्टवदनः सर्वा मातॄः समभिवाद्य सः । आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥
आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ । ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥
अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः । प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥ १० ॥
बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम् । प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥
रथस्थः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः । नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके ॥ १२ ॥
ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः । अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरूनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥
एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासवत्स्वयम् । योगक्षेमवहे तस्य पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥
भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः । अब्रवीद्दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ । आभ्यां राज्ये स्थितोधर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥ १६ ॥
भ्रात्रा हि मयि संन्यासो निक्षिप्तःसौहृदादयम् । तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनःस्वयम् । चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः । निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥ १९ ॥
राघवाय च सन्न्यासं दत्त्वेमे वरपादुके । राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥ २० ॥
स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः । नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २१ ॥

मोदन नहीं करेगा ॥ ६ ॥ अपने अनुकूल मन्त्रियों के प्रिय वचनों को सुनकर राजकुमार भरत ने सारथि से कहा—हे सारथि ! तुम मेरे रथ को तैयार करो ॥ ७ ॥ प्रसन्न होते हुए सब माताओं को प्रणाम करके राजकुमार भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ रथ पर बैठ गये ॥ ८ ॥ मन्त्री और पुरोहितों से घिरे हुए प्रसन्न-वदन दोनों राजकुमार भरत-शत्रुघ्न ने रथ पर बैठकर शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया ॥ ९ ॥ वसिष्ठ आदि विद्वान् उधर गुरुजनों को आगे करके पूर्वाभिमुख सभी लोग चल पड़े, जिधर नन्दिग्राम था ॥१०॥ विना बुलाई सेना, हाथी, घोड़े, रथ समुदाय तथा सब पुरवासी लोग रथ के पीछे चल पड़े ॥११॥ रथ पर बैठे हुए धर्मात्मा भ्रातृ-वत्सल भरत सिर पर चरण पादुका रखकर नन्दिग्राम को शीघ्र चले गये ॥ १२ ॥ पश्चात् नन्दिग्राम में शीघ्र प्रवेश कर रथ से उतरते हुए गुरुजनों से यह बोले ॥ १३ ॥ यह सम्पूर्ण राज्य मेरे भाई रामचन्द्र ने मुझे न्यास (धरोहर) के रूप में दिया है । स्वर्णभूषित ये चरणपादुका योग-क्षेम का प्रतिपादन करेंगी ॥ १४ ॥ न्यास रूप चरण पादुका को सिर पर रखकर दुःख से संतप्त भरत सम्पूर्ण प्रजा-मण्डल से यह बोले ॥ १५ ॥ मेरे गुरु भाई रामचन्द्र की इन चरण पादुकाओं पर शीघ्र ही छत्र लगाओ । ये रामचन्द्र के चरणों के समान हैं । इन्हीं के द्वारा राज्य में धर्म नियम स्थापित होगा ॥ १६ ॥ प्रेम में आकर भाई रामचन्द्र ने मुझे यह न्यास दिया है । वनवासी रामचन्द्र के लौटने तक मैं इस की रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥ शीघ्र ही इन चरण पादुकाओं को भाई रामचन्द्र के चरणों में अर्पण कर पादुका युक्त उनके चरणों का पुनः दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥ वनवास से लौटने पर धरोहर में दिया हुआ सम्पूर्ण राज्य भाई रामचन्द्र को अर्पण करके उनकी आज्ञा से उनके चरणों की सेवा करूँगा ॥ १९ ॥ सम्पूर्ण धरोहर में दिया हुआ राज्य, इन चरण पादुकाओं तथा अयोध्या को रामचन्द्र को अर्पण कर महान् कलङ्क रूपी पातक से मुक्त हो जाऊँगा ॥ २० ॥ जटा वल्कलधारी मुनियों के वेष में वह धीर भरत सैनिकों के साथ नन्दिग्राम में रहने लगे ॥२१॥ बाल व्यजन

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् । भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां न्यवेदयत् ॥२२॥
ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके । तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥२३॥
यदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे नन्दिग्रामनिवासो नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥११५॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

खरविप्रकरणकथनम्

प्रतिप्रयाते भरते वसन् रामस्तपोवने । लक्षयामास सोद्वेगमथोत्सुक्यं तपस्विनाम् ॥ १ ॥
ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे । राममाश्रित्य निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥
नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः । अन्योऽन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥
तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः । कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

(चंवर) तथा छत्र को स्वयं चरण पादुका पर धारण करते हुए राजकुमार भरत जो कुछ भी राजशासन का काम होता था, पादुकाओं से उसे निवेदन करते थे ॥ २२ ॥ रामचन्द्र की चरण पादुकाओं का अभिषेक करके उसके अधीन ही सम्पूर्ण राज्यकार्य का सर्वदा संचालन किया ॥ २३ ॥ जो कार्य राज्यसम्बन्धी आता था तथा जो कोई भेंट आदि वस्तु आती थी, भरत प्रथम चरण पादुकाओं को निवेदन करते थे, पश्चात् उसको यथायोग्य व्यवहार में लाते थे ॥ २४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'नन्दिग्राम में निवास' विषयक एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११५ ॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

खर प्रदत्त कष्टों का कथन

सदलबल भरत के अयोध्या लौट जाने पर वन में रहते हुए रामचन्द्र ने ऋषियों के अन्दर आतङ्क तथा घबराहट की भावना का अनुभव किया ॥ १ ॥ चित्रकूट में जो तपस्वी रामचन्द्र के आश्रम में शान्ति पूर्वक रहते थे, वे भी घबराहट पूर्वक कुछ कहना चाहते हैं, ऐसा राम ने अनुभव किया ॥ २ ॥ आँखों और भौओं के इशारे से रामचन्द्र को लक्ष्य कर एक दूसरे से कुछ कहते हुए शङ्कित मन से शनैः शनैः बातें करने लगे ॥ ३ ॥ उनकी इस प्रकार की घबराहट को देखकर अपने विषय में शङ्कित होकर रामचन्द्र हाथ जोड़ कर ऋषियों तथा उनके कुलपति से बोले ॥ ४ ॥ हे भगवन् ! क्या ये ऋषि गण पहले के समान

न कच्चिद्भगवन् किंचित्पूर्ववृत्तमिदं मयि । दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥
प्रमादाच्चरितं कच्चित्किंचिन्नावरजस्य मे । लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥
कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि । प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥
अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः । वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥
कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेस्तथा । चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥
त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान् प्रति वर्तते । रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥
रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः । उत्पाट्य तापसान् सर्वाञ्जनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः । अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥
त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे । तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥
दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि । नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैर्विकृतदर्शनैः ॥ १४ ॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः संप्रयोज्य च तापसान् । प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रं मायया पुरतः स्थितान् ॥ १५ ॥
तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च । रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥
अपक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा । कलशांश्च प्रमृद्नन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥
तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः । गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

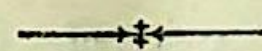
मेरे प्रति भाव नहीं रखते। क्या मेरे व्यवहारों में कुछ विकार दिखाई देता है, जिससे ये तपस्वी लोग मुझसे विरक्त से मालूम पड़ते हैं ॥ ५ ॥ क्या मेरे छोटे भाई लक्ष्मण ने प्रमाद वश आप लोगों के प्रति कुछ अनुचित व्यवहार तो नहीं कर दिया है, जिसे ऋषियों ने देख लिया है ॥ ६ ॥ अथवा अर्घ्य-पाद्य आदि के द्वारा आप लोगों की सेवा करनेवाली सेवापरायण सीता मेरी सेवा में संलग्न होने के कारण आप लोगों की उचित सेवा नहीं कर पाती, यह तो कारण नहीं है ॥७॥ पश्चात् राम के ऐसा कहने पर तपस्वियों में ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध एक तपस्वी काँपते हुए दयालु रामचन्द्र से इस प्रकार बोले ॥ ८ ॥ पवित्र विचार वाली तथा कल्याणमय कामों में सदा रत रहने वाली सीता का अनुचित व्यवहार कैसे हो सकता है, विशेषकर तपस्वियों के प्रति ॥ ९ ॥ हे तात! आप के कारण वनवासी तपस्वियों को आज राक्षसों से भय उत्पन्न हो गया है। इसलिये घबराये हुए वे तपस्वी इधर उधर आपस में बातें कर रहे हैं ॥ १० ॥ रावण का छोटा भाई खर नामक कोई राक्षस है उसने जनस्थान निवासी प्रायः सब तपस्वियों को समाप्त कर दिया है ॥ ११ ॥ वह विजयी, ढीठ, निर्दयी, मनुष्य मांसहारी, घमण्डी तथा महान् पापी है। हे तात रामचन्द्र! वह आपको नगण्य समझता है ॥ १२ ॥ हे तात रामचन्द्र! जब से आप इस आश्रम में आये हैं, तभी से राक्षस लोग तपस्वियों को महान् कष्ट दे रहे हैं ॥ १३ ॥ भयङ्कर, क्रूर, बीभत्स, नाना प्रकार के अशोभन तथा दुःखदायी रूपों को दिखाकर ऋषियों को डराते हैं ॥ १४ ॥ ये अनार्य राक्षस लोग अशुद्ध तथा अशुभ प्रयोगों के द्वारा सामने आये हुए तपस्वियों को शीघ्र ही मार देते हैं ॥ १५ ॥ उन उन स्थानों में वे क्रूर राक्षस अज्ञात रूप से छिपकर पश्चात् अल्पबुद्धि वाले तपस्वियों को मारकर आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ १६ ॥ वे दुष्ट राक्षस हवन के समय स्रुवे और यज्ञ पात्रों को फेंक देते हैं, जल से आग को बुझा देते हैं, घड़ों को तोड़ देते हैं ॥ १७ ॥ उन दुष्ट राक्षसों के द्वारा जो आश्रम अपवित्र हो गये हैं, उन आश्रमों को छोड़कर अन्य स्थानों में जाने के लिए ऋषि लोग मुझे प्रेरित कर रहे हैं ॥ १८ ॥ हे रामचन्द्र!

तत्पुरा राम शारीरामुपहिंसां तपस्विषु । दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥१९॥
बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् । अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥२०॥
खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते । सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥२१॥
सकलत्रस्य संदेहो नित्यं यत्तस्य राघव । समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥२२॥
इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् । न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवरोद्धुं समुत्सुकम् ॥२३॥
अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् । स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥२४॥

रामः संसाध्य त्वृषिगणमनुगमनाद्देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिसंपेदे ॥२५॥

आश्रमाद् ऋषिविरहितं प्रभुः क्षणमपि न विजहौ स राघवः ।
राघवं हि सततमनुगतास्तापसाश्चर्षिचरितधृतगुणाः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे खरविप्रकरणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥११६॥



वे दुष्ट राक्षस शारीरिक कष्ट द्वारा ऋषियों की हिंसा करना चाहते हैं । इसलिये हम लोग इस आश्रम को छोड़ना चाहते हैं ॥ १९ ॥ यहाँ से थोड़ी दूर पर बहुत से फल फूल वाला एक वन है, वहीं पर अश्व ऋषि का आश्रम है । वहीं हम अपने समूह के साथ आश्रय लेंगे ॥२०॥ वह दुष्ट खर, हे रामचन्द्र ! आप के प्रति भी पहले से ही बुरा भाव रखता है । यदि आप के विचार में अच्छा लगे तो आप भी हमारे साथ यहाँ से चलें ॥ २१ ॥ हे रामचन्द्र ! यद्यपि आप सब प्रकार से समर्थ हैं तथा सतर्क रहते हैं तथापि स्त्री के साथ यहाँ रहना सन्देहास्पद तथा दुःखदायी प्रतीत होता है ॥ २२ ॥ इस प्रकार बातें करते हुए उस तपस्वी को उत्तर देने के लिये राजकुमार रामचन्द्र रोक नहीं सके, क्योंकि वह जाने के लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे ॥ २३ ॥ इस प्रकार राम का अभिनन्दन करके, उनको समझा बुझाकर तथा उनसे आज्ञा लेकर वह कुलपति अपने कुलवासियों के साथ अन्य आश्रम को चले गये ॥ २४ ॥ ऋषिगणों को गन्तव्य स्थान के लिये प्रस्थान कराकर, उस कुलपति ऋषि को प्रणाम करके, उनकी बातों पर पूर्ण विश्वास करके उनके उपदेशों को स्वीकार करते हुए रामचन्द्र विश्राम करने के लिये अपने पुण्य आश्रम पर लौट आये ॥ २५ ॥ ऋषियों से रहित उस आश्रम को रामचन्द्र ने एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ा । ऋषियों के समान गुण धारण करने वाले उस रामचन्द्र पर विश्वास करते हुए कुछ ऋषि लोग उनके साथ आश्रम पर रह गये अर्थात् अन्यत्र नहीं गये ॥ २६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'खर प्रदत्त कष्टों का कथन' विषयक एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११६ ॥



सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

सीतापातिव्रत्यप्रशंसा

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन् । न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥
इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः । सा च मे स्मृतिरन्वेति तान्नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥
स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः । हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥
तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिंत्य राघवः । प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥
सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः । तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥
स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् । सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत् ॥ ६ ॥
पत्नीं च समनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् । सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् । प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥
रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् । दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥
यया मूलफले सृष्टे जलधारा प्रवर्तिता । उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥१०॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

सीता के पतिव्रता-धर्म की प्रशंसा

उन तपस्वियों के अपने आश्रम से चले जाने पर रामचन्द्र ने बहुत विचार किया। अन्य कई कारणों को देखकर रामचन्द्र ने वहाँ रहना अच्छा नहीं समझा ॥ १ ॥ वहाँ पर भाई भरत बैठे थे, यहाँ माताएँ बैठी थीं, यहीं पर सम्पूर्ण नगरवासियों को देखा। उनकी स्मृति मुझे बार २ आती है तथा उन्हीं के विषय में सोचता रहता हूँ ॥ २ ॥ अयोध्या से आनेवाले भरत के हाथी-घोड़ों के मलमूत्र करने से तथा उनके द्वारा वनस्पतियों के उपमर्दन हो जाने से यह स्थान रहने योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ हम लोग यहाँ से अन्यत्र चलें, ऐसा विचार कर रामचन्द्र ने लक्ष्मण और वैदेही के साथ वहाँ से प्रस्थान कर दिया ॥ ४ ॥ महायशस्वी रामचन्द्र महर्षि अत्रि के आश्रम में गये और उनको प्रणाम किया। महर्षि अत्रि ने भी रामचन्द्र के प्रति पुत्रवत् व्यवहार किया ॥ ५ ॥ सब लोगों का स्वयं अतिथि सत्कार करके लक्ष्मण तथा महाभागा सीता को उन्होंने आश्वासन दिया ॥ ६ ॥ अपने पास में आई हुई अपनी वृद्धा पत्नी का ऋषि ने सत्कार किया। सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी धर्मात्मा अत्रि ऋषि ने तपस्विनी को सान्त्वना दी ॥ ७ ॥ धर्मचारिणी, महाभागा, तापसी अनसूया से अत्रि ऋषि ने कहा—हे तपस्विनि ! तुम जानकी का आलिङ्गन करो ॥ ८ ॥ उस तपस्विनी अनसूया का परिचय देते हुए महर्षि अत्रि ने रामचन्द्र से कहा—दस वर्ष की अनावृष्टि होने से यह संसार दग्धवत् हो गया अर्थात् यहाँ के वृक्ष-वनस्पति सूख गये ॥ ९ ॥ उस समय यम नियमादि योगाङ्गों से अलंकृत अनसूया ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा मेघ से जलधारा की सृष्टि की जिससे कन्द-मूल-फलादि का दुबारा सृजन हुआ ॥ १० ॥ हे ककुत्स्थ शिरोमणि रामचन्द्र ! दस वर्ष की अनावृष्टि से उत्पन्न कष्ट को दूर करने के लिये

दश वर्षाणि काकुत्स्थ यया तप्तं महत्तपः । अनसूया व्रतैः स्नात्वा प्रत्यूहाश्च निवर्तिताः ॥११॥
देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया । दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥१२॥
तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् । अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥१३॥
एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः । सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥१४॥
राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् । श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥१५॥
अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता । तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥१६॥
सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः । तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥१७॥
शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डरमूर्धजाम् । सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीं यथा ॥१८॥
तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् । अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥१९॥
अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तामनिन्दिताम् । बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥२०॥
ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् । सान्त्वयन्त्यब्रवीद्धृष्टा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥२१॥
त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानमृद्धिं च भामिनि । अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥२२॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः । यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥२३॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः । स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥२४॥

इस तपस्विनी ने दस वर्ष के महान् तप को किया, जिससे अनावृष्टि जन्य सबके कष्ट दूर किये ॥ ११ ॥ विद्वान् सज्जनों के कल्याण निमित्त यह शीघ्रता के कारण इस प्रकार समाधिस्थ हुई कि दस रात्रि बीत जाने पर इसे एक ही रात्रि प्रतीत हुई इसलिये हे निष्कलङ्क रामचन्द्र ! यह तुम्हारी माता के समान है ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण प्राणियों के द्वारा नमस्कार करने योग्य, क्रोधादि विकारों से रहित इस वृद्धा तपस्विनी के पास सीता जाये ॥ १३ ॥ उस ऋषि के ऐसा कहने पर 'हे महाराज ! बहुत ठीक' ऐसा कहकर रामचन्द्र धर्मचारिणी सीता को देखकर यह वचन बोले ॥ १४ ॥ हे राजकुमारि ! इस मुनि के कथन को तो तुमने सुन लिया, इसलिये अपने कल्याण के लिये इस तपस्विनी के पास तुम शीघ्र जाओ ॥ १५ ॥ अपने उत्तम कर्मों के द्वारा इस संसार में अनसूया इस प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है, उस पूजनीया तपस्विनी के पास तुम शीघ्र जाओ ॥ १६ ॥ यशस्विनी, मिथिला की राजकुमारी सीता रामचन्द्र के इन वचनों को सुन कर उस धर्मचारिणी अत्रिपत्नी अनसूया के पास चली गई ॥ १७ ॥ वृद्धावस्था के कारण जिसके सब अङ्ग शिथिल हो गये हैं, झुर्रियाँ पड़ गई हैं, सिर के बाल सफेद हो गये हैं, वायु के द्वारा कदली दल के समान निरन्तर जिसके सर्व अङ्ग काँप रहे हैं, [सीता ने उसे देखा]॥ १८ ॥ महाभागा, पतिव्रता उस अनसूया को अपना नाम सुनाती हुई प्रसन्नचित्त सीता ने प्रणाम किया ॥१९॥ प्रसन्नवदना सीता ने पवित्र आचरण वाली उस तपस्विनी को प्रणाम करके हाथ जोड़कर उस तपस्विनी से कुशल वार्ता पूछी ॥२०॥ पश्चात् धर्मचारिणी महाभागा उस सीता को देखकर उसे सान्त्वना देती हुई वह वृद्धा अनसूया बोली—सौभाग्य है कि तुम अपना धार्मिक विचार रखती हो ॥ २१ ॥ अपने सभी सम्बन्धियों को छोड़कर तथा उभय कुल के राज्याभिमान को छोड़कर हे मानिनीसीते ! यह सौभाग्य की बात है कि वनवासी अपने पति रामचन्द्र के साथ तुम वन में आई हो ॥ २२ ॥ चाहे नगरवासी हो या वनवासी हो, शुभ हो अथवा अशुभ हो, जिन स्त्रियों को अपना पति ही सर्व प्रिय है उन्हीं स्त्रियों को कल्याणकारी तथा श्रेष्ठ लोक प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ चरित्रहीन हो या स्वैर वृत्ति वाला हो या दरिद्र हो, किन्तु ऐसा पति भी श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिये परम देवता है ॥ २४ ॥ विचार करने पर भी, हे वैदेहि ! पति से बढ़कर शुभचिन्तक बन्धु और कोई इस संसार

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्। सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥२५॥
न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः । कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥२६॥
प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि । अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥
त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः । स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥२८॥

तदेवमेनं त्वमनुव्रता सती पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।
भवस्व भर्तुः सहधर्मचारिणी यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सीतापातिव्रत्यप्रशंसा नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥११७॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

दिव्यालंकारग्रहणम्

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया । प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
नैतदाश्चर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभाषसे । विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

में नहीं दिखाई देता । इस लोक और परलोक दोनों में ही पति कल्याणकारी माना गया है । योग्य पति का पाना अनपायिनी तपश्चर्या का फल है ॥ २५ ॥ जो पति पर शासन करनेवाली होती हैं. जिनका हृदय कामासक्ति से पूर्ण होता है, ऐसी गुण-दोष को न जानने वाली असत् स्त्रियाँ अपने पति का अनुगमन नहीं करतीं ॥ २६ ॥ इस प्रकार की कामासक्त पतित स्त्रियाँ जो दुष्ट कार्य में संलग्न हैं, हे मैथिलि ! उनके धर्म-कर्म आदि सब नष्ट हो जाते हैं और अन्त में अपयश को प्राप्त होती हैं ॥ २७ ॥ किन्तु तुम्हारे ऐसी गुणवती स्त्रियाँ जिन्होंने सब प्रकार की गति का अध्ययन किया है, वे अपने गुणों से स्वर्ग में इस प्रकार विचरण करती हैं जैसे पुण्यवान् लोग अच्छे लोकों में विचरते हैं ॥ २८ ॥ इसलिये अपने पति का अनुवर्त्तन करती हुई पति को ही प्रधान मानकर समयानुसार बर्त्ताव करती हुई अपने पति की सहधर्मचारिणी बनो, जिससे यश और धर्म की तुम्हें प्राप्ति होगी ॥ २९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'सीता के पतिव्रता-धर्म की प्रशंसा' विषयक एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११७ ॥

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग

दिव्य अलंकारों का ग्रहण

देवी अनसूया के ऐसा समझाने पर राजकुमारी जानकी उनका आदर सत्कार करके प्रेम पूर्वक यह वचन बोली ॥ १ ॥ हे तपस्विनि ! आपने मुझे जो यह उपदेश दिया है, आप ऐसी पतिव्रता तपस्विनी के के लिये कोई विशेष बात नहीं । मुझे भी इस बात का पता है कि स्त्रियों का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्भर्ता ममार्यं वृत्तवर्जितः । अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥
किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः । स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥
यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः । तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥
सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः । मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥
आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् । समाहितं मे श्वश्र्वा च हृदये तद्धृतं महत् ॥ ७ ॥
पाणिग्रहणकाले च यत्पुरा त्वग्निसंनिधौ । अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥
नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि । पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥
सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते । तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥
वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता । रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥
एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः । देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥
ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः । शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥
नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे । तत्संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥
उपपन्नं मनोज्ञं च वचनं तव मैथिलि । प्रीता चास्म्युचितं किं ते करवाणि ब्रवीहि मे ॥ १५ ॥

यद्यपि मेरे पति अनार्य दुश्चरित निर्धन भी होते तब भी मैं निस्सन्देह इनकी यथावत् सेवा करती ॥ ३ ॥ किन्तु मेरे पति तो श्लाघनीय गुणों से युक्त, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिर प्रेम करने वाले, धर्मात्मा तथा मुझे माता-पिता के समान प्रेम करने वाले हैं ॥ ४ ॥ जैसा बर्त्ताव महाबली रामचन्द्र अपनी माता कौसल्या के साथ करते हैं, वैसा ही बर्त्ताव राजा दशरथ की अन्य स्त्रियों के साथ भी करते हैं ॥ ५ ॥ एकबार भी स्नेह से राजा दशरथ ने किसी स्त्री को देख लिया हो, पितृभक्त रामचन्द्र मान अपमान के भाव को छोड़कर उसके प्रति सदा माता के समान व्यवहार करते थे ॥ ६ ॥ भय देने वाले इस विजन वन में आते समय मेरी सास कौसल्या ने मुझे जो उपदेश दिया था, मेरे हृदय में वह स्थिर विद्यमान है ॥ ७ ॥ मेरे पाणिग्रहण के समय यज्ञवेदी के समीप मेरी माता ने मुझे जो उपदेश दिया था, वह भी मुझे स्मरण है ॥ ८ ॥ वे बातें तो पहले ही से मुझे स्मरण थीं किन्तु आज आपकी बातों से मेरे हृदय में उनका नवीकरण हो गया है। पति की सेवा से बढ़कर स्त्रियों के लिए और कोई तप नहीं माना गया है ॥ ९ ॥ सती सावित्री ने पति की सेवा से स्वर्ग में प्रतिष्ठा प्राप्त की, उसी प्रकार पति की सेवा करने तथा पति की अनुकामिनी होने से तुम भी स्वर्ग की अधिकारिणी हुई हो ॥ १० ॥ सम्पूर्ण स्त्रियों में श्रेष्ठ देवी रोहणी भी अपने पति चन्द्र देव के विना एक क्षण भी नहीं रह सकती ❀ ॥ ११ ॥ पति से दृढ़ प्रेम करने वाली इस प्रकार की उत्तम स्त्रियाँ अपने पुण्य कर्मों से ही महान् लोगों में पूजित होती हैं ॥ १२ ॥ जानकी के वचनों को सुनकर प्रसन्न हुई अनसूया माता, जानकी के सिर को सूँघकर प्रसन्न करती हुई उससे बोली ॥ १३ ॥ नाना प्रकार की तपश्चर्या करने से मैंने जो सिद्धि प्राप्त की है, उसी के बल पर मैं कहती हूँ—आप जो चाहें मुझसे वर मागें ॥ १४ ॥ हे मिथिला की राजकुमारी ! युक्ति पूर्वक उचित मनोहारी तुम्हारी बातों को सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। हे सीते ! तुम स्वयं बोलो—मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ॥ १५ ॥ अनसूया देवी की इस बात को सुनकर सीता

❀ इस श्लोक में जो चन्द्र और रोहिणी का नाम आया है, वह विशेष पुरुष तथा स्त्री का वर्णन है, न कि आकाश के चन्द्र और रोहिणी का।

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया। कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥१६॥
सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत्। सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥१७॥
इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम् ॥१८॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्। अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥१९॥
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे। शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥२०॥
सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा। मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥२१॥
प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी। श्लिष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपोधनाम् ॥२२॥
तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता। वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥२३॥
स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना। राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥२४॥
तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि। यथानुभूतं कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥२५॥
एवमुक्ता तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम्। श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥२६॥
मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित्। क्षत्त्रधर्मे ह्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥२७॥
[तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम्। अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥२८॥

आश्चर्य चकित हो गई। मन्द हास्य करती हुई तपःपरायण अनसूया माता से सीता यह बोली—सभी कुछ है, आपका आशीर्वाद मात्र चाहिये ॥ १६ ॥ जनक नन्दिनी सीता के ऐसा कहने पर धर्मचारिणी माता अनसूया बहुत प्रसन्न हुई तथा जानकी से कहा—हे सीते ! तुम्हारे इस हर्ष को अबन्ध करना चाहती हूँ अर्थात् तुम्हे कुछ अवश्य देना चाहती हूँ ॥ १७ ॥ हे विदेह राजकुमारी ! यह दिव्य श्रेष्ठ माला, वस्त्र, आभूषण, अङ्गराग (उबटन) और दिव्य चन्दन (ये सब तुम्हें दे रही हूँ) ॥ १८ ॥ हे सीते ! मेरी दी हुई ये दिव्य वस्तुएँ तुम्हारे अङ्ग की शोभा बढ़ाएँगी। प्रयोग होने पर भी इनके अन्दर कोई विकार नहीं आयेगा ॥ १९ ॥ हे जनकनन्दिनी ! इस दिव्य अङ्गराग आदि के अनुलेपन से अलंकृत आभूषणों से अपने पति की शोभा को इस प्रकार बढ़ाओगी जैसे प्रकृति (विभूति) पुरुष (परमात्मा) की शोभा को बढ़ाती है ॥२०॥ वस्त्र, अङ्गराग, भूषण तथा माला इन सभी दिव्य वस्तुओं को जानकी ने देवी अनसूया के श्रेष्ठ प्रीतिदान के रूप में स्वीकार कर लिया ॥ २१ ॥ यशस्विनी जानकी प्रीतिदानस्वरूप इन दिव्य वस्तुओं को लेकर तथा हाथ जोड़कर अनसूया के समीप खड़ी हो गई ॥ २२ ॥ इस प्रकार जनक नन्दिनी सीता को अपने समीप खड़ी देखकर दृढव्रता तपस्विनी अनसूया किसी मनोहारी आनन्दमय कथा को सुनने के लिये सीता से पूछने लगी ॥ २३ ॥ यशस्वी रामचन्द्र के द्वारा स्वयंवर में तुम उन्हें प्राप्त हुई हो। हे सीते ! इस प्रकार की कथा मैंने सुनी है ॥२४॥ हे मिथिला की राजकुमारी ! उस तुम्हारे स्वयंवर की आद्योपान्त कथा को मैं सुनना चाहती हूँ। वह घटना जैसे घटी है, उसको विस्तार पूर्वक मेरे सामने कहो ॥ २५ ॥ तपस्विनी अनसूया के ऐसा कहने पर उस धर्मचारिणी अनसूया से 'सुनिये' ऐसा कहकर सीता ने उस सम्पूर्ण कथा को कहना आरम्भ किया ॥ २६ ॥ मिथिला के अधिपति वीर तथा धर्मात्मा जनक नामक राजा हैं। क्षत्रिय-धर्म में अनुराग रखने वाले हैं तथा न्याय पूर्वक पृथ्वी का शासन करते हैं ॥ २७ ॥ हाथ में हल पकड़ कर उस राजा के पृथ्वी को जोतते हुए मैं पृथ्वी को फोड़कर राजकन्या के रूप में निकल पड़ी ❀ ॥ २८ ॥ बीज बोने में तत्पर वह राजा जनक

❀ इन श्लोकों में हल जोतने तथा उससे सीता के निकलने आदि की जो कल्पना की गई है, वस्तुतः यह पुराणों

(पृष्ठ २० का शेष)

कर्मवीर पं० जियालाल जी अजमेर

उक्त पं० जी आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के परम भक्त—कर्मठ—उत्साही कार्यकर्त्ता थे। आप ने जीवन भर आर्यसमाज की भारी सेवा की। अजमेर में आर्यसमाज का जो कुछ भी गौरव है उसमें उनका प्रमुख हाथ रहा। विधर्मियों से लोहा लेने में इनकी शक्ति का परिचय मिलता था। निर्भीक और कष्ट पड़ने पर काम आने वाले अद्भुत व्यक्ति थे। इनके द्वारा सैकड़ों का उपकार होता था। लगभग ३५ वर्ष से हम ने इनको देखा। हर समय आर्य-समाज के ही कार्य में व्यस्त रहते थे। जब जब आर्यसमाज पर आपत्ति आई, आप अपनी पूरी शक्ति से इसमें लग जाते थे। हैदराबाद सत्याग्रह में आपने बहुत कार्य किया। हिन्दी सत्याग्रह में भी अशक्त होते हुए पूरा मनोयोग रहा। कैसरगंज आर्यसमाज का जो कुछ भी काम है, उस सबका श्रेय आप को है। डी० ए० वी० कालेज की स्थापना और उसके संचालन का भार आप पर ही था। और बहुत कुछ कार्य भी आप के द्वारा अजमेर में होते रहे और हो रहे हैं जिनमें इनका प्रमुख हाथ रहा। आर्यसमाज के लिये जिये और मरे।

मनुष्य के जीवन में कमी रहना स्वाभाविक है। पीछे रहने वालों का उनके सद्गुणों द्वारा प्रेरणा प्राप्त करना ही कर्त्तव्य होता है। आर्यसमाज कैसरगंज और उनके परिवार के सदस्यों को प्रभु ऐसी शक्ति प्रदान करें जो पं० जी के आरम्भ किये कार्यों को सफल बनावें। प्रभु इनकी आत्मा को सद्गति प्रदान करें यही कामना हम सब करते हैं।

श्री विक्रमसिंह शूरजी वल्लभदास बम्बई

यह एक धनी आर्यसमाजी परिवार के अभी ३५ वर्ष की आयु के ही थे। बम्बई में इनकी प्रतिष्ठा बहुत कुछ थी। इनके निधन से इनके परिवार को अनिर्वनीय आघात हुआ। देश की एक विभूति उठ गई। हमें इसमें इनके परिवार से गहरी संवेदना है।

विशेष परिचय तो नहीं। कुछ थोड़ा सा परिचय मिला था। सो लिखते हैं—बाल्यकाल में विक्रमसिंह जी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री प्रतापसिंह जी शूरजी वल्लभदास के साथ (सम्भवतः देवलाली में) अष्टाध्यायी का अध्ययन करते थे। इनके पूज्य पिता श्री शूरजी वल्लभदास जी को ऋषि दयानन्द की आर्ष पाठविधि में अनुपम निष्ठा थी। आपने अपने इन सब पुत्रों को ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पाठविधि के अनुसार घर पर ही अष्टाध्यायी आदि आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन की व्यवस्था की। अर्थात् बाल्यावस्था में अपने पुत्रों को पिता ने जो शिक्षा दी वह यह पवित्र शिक्षा थी। आर्य पुरुषों के लिये यह आदर्श है।

ऋषि दयानन्द के भक्त वा अनुयायी होते हुये उनकी बताई शिक्षा पर आचरण करना प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है।

सन् १९३४ की बात है इनके पूज्य पिता शूरजी वल्लभदासजी ने आर्ष पाठविधि के दो विद्यालय खोलने की योजना ऊँचे स्तर पर बनाई थी।

इस परिवार की आर्यसमाज के लिये दानशीलता को कौन आर्य पुरुष नहीं जानता। इनके परिवार में प्रतिदिन सायं प्रातः सन्ध्योपासना-अग्निहोत्र बड़ी श्रद्धा और निष्ठा के साथ होता है। इनकी माता जी अतिधार्मिक हैं। परिवार में अन्य सब भी पवित्र विचार के हैं। यह सब भावना बनी रहनी चाहिये। कर्म भोग का ऐसा चक्र है कि इससे कोई बच नहीं सकता। प्रभु इन सबको धैर्य और शान्ति प्रदान करें। हम विगत आत्मा की सद्गति के लिये प्रभु से कामना करते हैं।

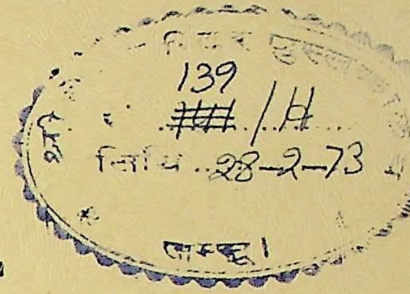
परम देशभक्त ऋषि दयानन्द

"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है"।

(स० प्र०)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥





वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १४] [अङ्क २



इस अङ्क के लेख

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

मार्गशीर्ष २०१८ वि०, दिसम्बर १९६१ ई०
दयानन्दाब्द १३७
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६२

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अजमतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५॥=)
” ” विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।||) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। **पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥**

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है और वर्ष का प्रथम अङ्क **विशाल विशेषाङ्क** के रूप में **प्रति वर्ष** प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख **'सम्पादक वेदवाणी'** के नाम से आने चाहिये। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र **'व्यवस्थापक वेदवाणी'** के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना **ग्राहक नम्बर** अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

[पृष्ठ ३७ का शेष]

रामेभ्यः यहाँ राम+भ्यस् की स्थिति में सुपि च ७।३।१०२ दीर्घ करना चाहता है। और बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ एकार करना चाहता है तो वहाँ विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् १।४।२ न्यायाधीश आकर पर 'बहुवचनने झल्येत्' को डिग्री देता है। इसी कारण ए हो जाने से रामेभ्यः होता है। पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ का न्याय विलक्षण है। अधिकार सूत्र होने के कारण वह तो जहाँ बैठा रहता है। उसी को हर हालतों में त्याग करने की सीख देता है। देखिये—सत्+चित् की स्थिति में झलां जशोऽन्ते ८।२।३९ तकार को दकार करना चाहता है स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४० तकारका चकार करना चाहता है। तो पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ अधिकार सूत्र होने के कारण स्तोः श्चुना श्चुः के यहाँ बैठकर कहता है कि भैया तुम हट जाओ। तुम्हारे यहाँ जो कोई आता है तो उसका सत्कार करना तुम्हारा धर्म है। तुम हट जाओ उसको लगने दो। तो यहाँ झलां जशोऽन्ते ८।२।२० पूर्व का सूत्र लग कर तकार को दकार बनाकर चला जाता है। तब सद्+चित् की स्थिति में पुनः स्तोः श्चुना श्चुः ८।२।४० द को ज करना चाहता है। ...र खरि च ६।४।५५ द को त करना चाहता है। तो पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ अधिकार होने के कारण अब तो खरि च ८।४।५५ के यहाँ बैठा रहता है। तो अब इसी को कहता है कि तुम्हीं हट जाओ तुम्हारे यहां अतिथि आ रहा है। उसे लगने दो, तो यहाँ स्तोः श्चुना श्चुः लगकर दकार को जकार कर देता है। अब उसके लग जाने पर खरि च ८।४।५५ आकर ज को च करके बैठा देता है तो सच्चित् बनता है। इतना ही नहीं पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ का त्याग तो इतना प्रबल है कि लगे हुए अपने अधिकार के सूत्रों को हटा लेता है। देखिये हरे+इह की स्थिति में एचोऽयवायावः ६।१।७८ सूत्र जब ए का अय् कर देता है। तब हरय्+इह की स्थिति में पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ के अधिकार का सूत्र लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९ आकर य का लोप कर जाता है। तो हर इह ऐसा प्रयोग सिद्ध बन जाता है।

अब यहाँ आद्गुणः ६।१।८७ का सूत्र आकर 'हरइह' को विगाडना चाहता है। अ+इ का गुणकर 'हरेह' कर देना चाहता है तो यहाँ वही न्यायाधीश पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ वाला अधिकार सूत्र होने के कारण लोपःशाकल्यस्य

(क्रमशः)

ऋग्वेद ओ३म् यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

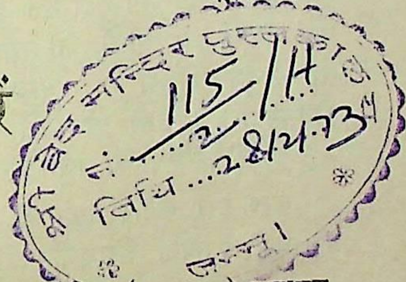
हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १४ } काशी, मार्गशीर्ष सं० २०१८ वि०, दिसम्बर १९६१ ई० { अङ्क २

ऋषिभाष्य से

प्रार्थना विषय

हम प्रभु की उपासना करें



अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्।
यं ते पूर्वं पिता हुवे॥ ऋ० १।३०।९॥

पदार्थः—हे मनुष्य (ते) तेरा (पिता) जनक वा आचार्य (यम्) जिस (प्रत्नस्य) सनातन कारण वा (ओकसः) सब के ठहरने योग्य आकाश के सकाश से (तुविप्रतिम्) बहुत पदार्थों को प्रसिद्ध करने और (नरम्) सब को यथायोग्य कार्यों में लगाने वाले परमेश्वर वा सभाध्यक्ष का (पूर्वम्) पहिले (हुवे) आह्वान करता रहा, उसका मैं भी (अनु हुवे) तदनुकूल आह्वान वा स्तवन करता हूं।

पदार्थ :— ईश्वर मनुष्यों को उपदेश करता है—हे मनुष्यो ! तुम को औरों के लिये ऐसा उपदेश करना चाहिये कि जो अनादि कारण से अनेक प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करता है, तथा जिसकी उपासना पहिले के विद्वानों ने की वा अब के करते वा अगले करेंगे, उसी की उपासना नित्य करनी चाहिये। उपासना के विषय में कोई किसी से पूछे कि तुम किस की उपासना करते हो, उसके लिये ऐसा उत्तर देवे कि जिसको तुम्हारे पिता वा विद्वान् जन करते हैं, तथा वेद जिस निराकार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, अज और अनादि स्वरूप जगदीश्वर का प्रतिपादन करते हैं, उसी की उपासना मैं निरन्तर करता हूं॥

ई॥

भजन का मार्ग

[ले०—श्री स्वामी गंगागिरि जी महाराज, आचार्य गुरुकुल रायकोट (लुधियाना)]

भजन का मार्ग बड़ों की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करना है, नकि उनके नाम की माला जपना। जिस धातु से भजन शब्द बना है उसका अर्थ है संगति करना। संगति किसकी करनी चाहिये। संगति का भाव ही सत्संग है। सत्संग का अर्थ है सत्य की संगति और सत् पुरुषों की संगति, तथा सद्गुणों की संगति, सद्विचारों का धारण करना यह ही संगतिकरण है।

ब्राह्मण ग्रंथ में लिखा है "असतो मा सद्गमय"।

क्या आजकल के नर-नारी भजन पाठ करने वाले सत्य का पालन करते हैं? कहना पड़ेगा—बहुत कम हैं जो सत्य का आचरण और धारण करते हैं।

मनु महाराज इसी बात को धर्मशास्त्र में लिखते हैं—"नास्ति सत्यात् परो धर्मः"—सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। "न अनृतात् पातकं परम्"—झूठ जैसा कोई पाप नहीं है। आज यदि किसी को कहें—भाई सत्य बोलो, तो उत्तर मिलता है सत्य तो सतयुग का धर्म था। आज तो कलियुग है, झूठ ही फलता है। इसी बात को लेकर आजकल के मनुष्यों की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

करण हार कर्तार के रंग हैं अधिक कमाल।
धर्मी दुखिया निरधनी पापी परम निहाल॥

पापी परम निहाल जगत् में नित चैन उड़ाते हैं।
सत्धर्मी फिरें नपूते और पापी घर लाल खिलाते हैं॥
घर भक्त दरिद्र भोग रहे पापी नित्य न्यामत खाते हैं।
पर बखत आखिरी में सब करनी का फल पाते हैं॥
पुण्य उस प्रभु मय जाते पापी मझदार गोते खाते।

अंत के शब्दों में कवि जी ने पुण्य पाप निचोड़ निकाल दिया है। जो कहते हैं कलि में झूठ फलता है उनको कवि के अंत के शब्दों पर ध्यान देना चाहिये।

सत्य के आठ अंग हैं—पहला है सत्य में श्रद्धा रखना जिस पर वेद ने बल दिया है—

"अश्रद्धां अनृते दधात श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः"

यह भगवान् की आज्ञा है। वेद में इसका भाव यह है, मनुष्य यदि अपना कल्याण चाहे तो सत्य में श्रद्धा को धारण करे और असत्य में अश्रद्धा अर्थात् झूठ से घृणा होनी चाहिये। उदाहरणार्थ महाराज दशरथ के जीवन को देखें। जिसके विषय में रामायण में लिखा है—

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुपश्यता।
पालिताभूत् पुरी सा तु शक्रेणेवामरावती॥

ऋषि ने दशरथ को सत्यसंध कहा है। सत्य के साथ सन्धि कौन कर सकता है। जिसके आठ अंगों में सचाई हो। आजकल के लोग महाराज दशरथ को अपने विषय रूपी गज से मापते हुए कहते हैं। महाराज बूढ़े ने युवती कैकेयी के वश होकर चौदह वर्ष के लिये राम जैसे पुत्रों को वन में भेज दिया। पाठकजन! यह बात नहीं थी। बात थी महाराज की सत्य में श्रद्धा। कवि ने ठीक ही कहा है दशरथ के बारे में :—

प्राण से प्यारे पुत्र हैं, पुत्र से प्यारे प्राण।
दशरथ ने तीनों तजे बचन ना दीनो जान॥

महाराज ने प्राणों को वन भेज दिया सत्य की रक्षा के लिये। कैकेयी को दो वर दिये थे। यह है सत्य में श्रद्धा की भावना। अपने प्यारे पुत्रों को वन में भेज दिया। सत्य की रक्षा के लिये सदासंगी प्राणों को भी छोड़ दिया।

सत्य का दूसरा अङ्ग है—मनुष्य के मन के विचार भी सत्य हों। क्योंकि परमात्मा सत्य स्वरूप है। मन पवित्र हो तभी उस भगवान् से मिलाप होगा। मन की पवित्रता मनुष्य के पवित्र विचारों से होती है। उदाहरण के लिये नदी जहाँ से निकलती है बड़ी छोटी होती है, एक टिड्डी भी छलाँग लगा सकती है। जब वह नदी अपने यौवन पर होती है तो बलवान् हाथियों को पार नहीं होने देती है।

मामूली सी बूँदाबांदी होती है, थोड़ी सी वायु चलती है, आगे आकर तूफान का रूप धारण कर लेती है। बड़े-बड़े मकानों का सत्यानाश कर देती है। कहीं भूल से जलती हुई दियासलाई गिर जाय तो लाखों की संपत्ति का नाश करती है। वट का बीज कितना छोटा है वृक्ष कितना बड़ा है। यह तो है स्थूल संसार की अवस्था। जरा अपने सूक्ष्म संसार की ओर देखें। मन का एक विचार ही है। यदि मन पवित्र हो तो संसार का बहुत उपकार हो जाता है। यदि मन मलिन है तो संसार को बहुत नुकसान पहुँचता है। परमात्मा सत्यस्वरूप है यदि उसको मिलना है तो भी सत्य से मिलाप करो। वही अंतिम शरण है। उसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। इस अद्भुत सृष्टि में जीवन के लिये जो उपयोगी है उसे अवश्य प्राप्त करो ताकि जीवन में आनन्द की बहार आये, जीवन सत्य शिव सुन्दर बने। अपने आपको सही जानो। तुमने भूल से शरीर को ही सब कुछ मान लिया है। इसी लिये संसार में दिनोंदिन अत्याचार फैल रहा है। सत्य विचार न होने से लोग भगवान को भूल चुके हैं। विचारों का संबंध मन से है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चित्ते चलिते संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

मन ही मनुष्य के बंधन का कारण है। मन ही मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाता है।

ऋषि दयानन्द जी के मन में शिवमंदिर में विचार पैदा हुआ था कि यह मूर्ति शिव नहीं, शिव कोई और है। उसका दर्शन करना चाहिये। ऋषि के पवित्र विचार से संसार का कितना उपकार हुआ है। इस लिये मन का पवित्र विचार सत्य का दूसरा अंग है।

सत्य का तीसरा अंग है मनुष्य की वाणी में भी सत्य हो। वाणी का सत्य ही सनातन धर्म है। इस विषय में मानव धर्मशास्त्र बलपूर्वक कहता है:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः॥

अर्थात् मनुष्य अपनी वाणी से सत्य का उच्चारण करे। वह सत्य प्यारा हो, दूसरे मनुष्य को आघात पहुँचाने वाला न हो। प्यारा झूठ भी न बोल। यह वेद का बताया प्राचीन सनातन धर्म है। उदाहरण के लिये राम के जीवन को लें। जिस समय राम ने लंका पर चढ़ाई की तो विभीषण अपने भाई रावण का सताया राम की शरण में आया। राम ने आश्वासन देते हुए कहा तुझे लंकापति बनाऊँगा। मनुष्य के धर्मात्मापन का पता तो तब लगता है जब विपत्ति सिर पर आ पड़ती है। उस समय मनुष्य विचलित न हो, तब तो धर्मात्मा है। सुख में तो सब ही धर्म के गीत गाते रहते हैं। मेघनाद की मृत्यु के बाद रावण लक्ष्मण पर बरछी का प्रहार कर उसे मूर्च्छित कर देता है। राम पर संकट का पहाड़ आ गिरा। प्यारा भाई रण में मृत्यु के मुख में जा रहा है। महाराज अति दुःखी हैं। विलाप करते हुए कहते हैं:—

न युध्येन कार्यं न प्राणैर्न च सीतया।
वक्ष्यामि किं नु मातरं सुमित्रां पुत्रवत्सलाम्॥

प्यारे भ्राता अब मुझे युद्ध से कोई कार्य नहीं है, न ही सीता से, न प्राणों से प्रयोजन है। मुझे तो यह बात सता रही है कि मैं माता सुमित्रा के समक्ष जाकर क्या कहूँगा, जब वह यह शब्द कहेगी :—

त्वया सह गतो राम लक्ष्मणो मे न दृश्यते।
एकाकी त्वमनुप्राप्तः क्व गतः स सुतो मम॥

प्यारे राम! मैंने लक्ष्मण को तेरे साथ भेजा था, तू अकेला अयोध्या में आ गया। मेरे पुत्र को कहाँ पर छोड़ आया? मेरे पास इस प्रश्न का उत्तर ही न होगा। इन श्लोकों का उलथा किसी कवि ने किया है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये लिखता हूँ—

जानकी को जीया शोक नहीं
ना कछु संकोच पितु देह गँवाई।
देश तज्यो लियो भेष तपोधन
कैकेई की ना गई ठकुराई॥
जैसी कछु जीया में सुन वीर
मार बिभीषण की छुहटाई॥

प्राण निशंक तजे तुम ज्यों हम
रंक भये इन लंक न पाई ॥

प्यारे लक्ष्मण? विभीषण को कहा था तुझे लंकापति बनाऊँगा। अब राज्य की कोई चिन्ता नहीं, नहीं पिता के वियोग का दुःख है, इस बात से भी कोई चिंता नहीं कि राज छूट गया। मुझे चिंता है तो इस बात की कि—यह दीन विभीषण भाई के साथ को छोड़ कर मेरी शरण में आया था। इसको कहा था तुझे लंकापति बनाऊँगा। तेरे बिना मैं लंका को कैसे जीत सकूँगा? सो वह मेरी प्रतिज्ञा झूठी हो रही है। इसका महाक्लेश है। हमारे कुल की मर्यादा के विषय में यह उक्ति है—"रघुकुलरीति सदा चली आई। प्राण जायें पर वचन न जाई॥" हमारे कुल में आज तक कोई पैदा नहीं हुआ है जिसकी वाणी झूठी गई हो। एक मैं ही हूँ जिसकी वाणी झूठी हो रही है। मुझे इसका महान् दुःख है। यह है सत्य का तीसरा अंग जिसके विषय में श्री महाराज को दुःख है॥

वेदमंत्र में जीवन-यात्रा की झांकी

[ले०—श्री स्वा० ओंकारानन्द जी सरस्वती, ओंकार-आश्रम, पो० मानीराम, गोरखपुर]

किसी भी यात्रा के सम्बन्ध में निम्न बातें मुख्य रूप से अवश्य हुआ करती हैं—

(१) कोई यात्री होता है, तथा उसका कोई निज स्थान होता है।

(२) उसकी यात्रा का कुछ उद्देश्य होता है।

(३) यात्री को पूर्ण परिश्रम से, निर्विघ्न यात्रा समाप्त करनी होती है।

(४) यात्रा समाप्त होने पर यात्री निज स्थान को लौट आता है।

अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में आत्मा को एक यात्री मानकर, उसकी इस लौकिक यात्रा के सम्बन्ध में, उपर्युक्त चारों बातों पर, बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रकाश डाला गया है। यदि मनुष्य, इस मंत्र के गूढ़ रहस्य को तत्त्वतः जानले, तो वह अच्छी तरह अपने आप को पहचान सकता है। यह मंत्र स्पष्ट रूप से बतला रहा है कि यह आत्मा कौन है? इस संसार के साथ इसका क्या सम्बन्ध है? अतः मानव की जीवन-यात्रा के सम्यक् ज्ञान के लिए यह मंत्र बड़े महत्त्व का है—

यमस्य लोकादध्या बभूविथ
प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्
स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥
(अथर्व० १९।५६।१)

इस मंत्र का अर्थ श्री स्वामी वेदानन्द जी इस प्रकार करते हैं—(यमस्य) न्यायकारी भगवान् के (लोकात्+अधि) लोक से (आ+बभूविथ) तू समर्थ हुआ है, तू (धीरः) धीर होकर (मर्त्यान्) मनुष्यों को (प्रमदा) मस्ती से (प्र+युनक्षि) युक्त करता है। तू (विद्वान्) विद्वान् (असुरस्य) असुर के (योनौ) ठिकाने में (स्वप्नम्+मिमानः) सपने लेता हुआ (सरथम्) कृतकर्मों की वासनाओं के साथ (एकाकिना) अकेला ही (यासि) जाता है।

(१) यात्री—आत्मा तथा उसका निज स्थान

यमस्य लोकादध्या बभूविथ—तू न्यायकारी भगवान् के लोक से आया। इस मंत्र में यात्री आत्मा का निज स्थान 'यम लोक' बतलाया गया है। वह इस भौतिक जगत् में आने के पूर्व अभौतिक ब्रह्मलोक का वासी था। उस निराकार दिव्य लोक का बसने वाला कोई साधारण सत्तावाला नहीं हो

सकता। अपने राजा के साथ रहने से यह प्रजा (जीव) अपने मालिक के कुछ गुणों से युक्त हो चुका है। प्रभु 'यम' है। न्यायकारी है। जीव भी अपने स्वामी के समान ही इस संसार में न्याय स्थापित करना चाहता है। वह समर्थ है। आत्मा के सामर्थ्य का निरूपण वेद कर रहा है।

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं
मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रयुतो
मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो
मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

(अथर्ववेद १९।५१।१)

मनुष्य कह रहा है, मैं हजारों शक्तियों से युक्त हूँ। यह आत्मा महान् शक्तिशाली है। मेरी आँखें, मेरे कान, प्राण, अपान, व्यान, सभी शक्तियों के भण्डार हैं और अन्त में कहता है—अयुतः अहम् सर्वः=मैं संपूर्ण रूप से सामर्थ्य वाला हूँ। वास्तव में परमात्मा के बाद, आत्मा ही की शक्ति है। यदि एक बार भी मनुष्य अपनी शक्तियों को सच्चे रूप से अनुभव करले तो वह संसार का कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। आत्मा को यदि एक बार यह याद आजाय कि वह उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सखा है, जिसने अपने प्यारे भक्त, मित्र आत्मा के लिए, अपनी वेदवाणी द्वारा घोषित किया है--

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन।

(ऋग्वेद १०।१५२।१)

उसका सखा न मारा जाता है और न कभी पराजित होता है। भगवान् प्राणी मात्र का स्वाभाविक मित्र है। रे मानव! जरा स्मरण कर, तू कौन है? तेरी शक्तियाँ कितनी हैं? तू कहाँ से आया है? तू क्या कर रहा है?

(२) यात्री का उद्देश्य

प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः—धीर मनुष्य ही अन्य मनुष्यों को आनन्द प्रदान कर मस्त बना सकता है। बिना उद्देश्य के कुछ नहीं किया जाता। आत्मा की जीवन-यात्रा का भी कुछ न कुछ उद्देश्य होगा ही। ऊपर कहा गया कि यात्री—आत्मा, परमात्मा का सखा होने के नाते, महान् शक्तियों से युक्त तथा एक महान् सत्ता है। प्रत्यक्ष है कि इस महान् सत्ता की यात्रा का भी कुछ महान् उद्देश्य ही होगा। यदि आत्मा अपने पवित्र उद्देश्य को भूल जाय तो मकड़ी के जाल में फँसी हुई मक्खी के समान अपने को कैदी बना लेता है। यदि उसे अपना उद्देश्य स्मरण रहा, तो वह शुभ कर्मों के करने के बाद पुनः निज धाम को लौट जाता है। सारथी आत्मा, शरीर रूपी रथ में बैठ कर, अपनी जीवन-यात्रा जिस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर रहा है, उसी ओर यह वेदमंत्र संकेत कर रहा है। आत्मा अपने साथी दूसरे आत्माओं को आनन्द देने आया है। इस लोक में मानव-जीवन का महान् उद्देश जनसेवा तथा संगठन है। आत्मा, "बहुजन हिताय"—ही यात्रा करने आया है। परन्तु यह कार्य सहज नहीं है। इसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है। 'धीर' मनुष्य ही नाना प्रकार के विरोधों और सङ्कटों को सहते हुए, सेवा कार्य से अपना मुँह नहीं मोड़ सकता। अधीर व्यक्ति, अपनी चंचलता के कारण किसी का स्थायी हित कर ही नहीं सकता। वह किसी को सच्चा आनन्द दे ही नहीं सकता। दूसरों को आनन्दित करने के लिए महामानव महर्षि दयानन्द तथा तत्त्वदर्शी सुकरात के समान हलाहल पीना पड़ता है। यह कार्य कोई 'स्थितप्रज्ञ' ही कर सकता है। सागर की गहराई और गंभीरता, चंचल और ओछी नदियों में आ ही नहीं सकती। इस हेतु आत्मा धैर्य धारण कर, 'बहुजन सुखाय' कर्म करता रहे—यही उसकी जीवन-यात्रा का परम उद्देश्य है।

(३) यात्रा निर्विघ्न कैसे समाप्त हो?

स्वप्नम् विमानः असुरस्य योनौ—यात्री सावधान! अमृत लोक का रहने वाला यात्री (पुरुष) मृत्यु लोक में, अपने दूसरे साथियों को सुख देने के लिए ही आया है। उस पुरुष (जीव) का सम्बन्ध प्रकृति से हुआ। इस छली नर्तकी प्रकृति ने अपनी अद्भुत माया और नृत्य के द्वारा, पुरुष को लुभा लिया। वह अज्ञानग्रस्त हो गया। वह अपने सच्चे

स्वरूप को भूल गया। अपने उद्देश्य को भूल गया। अपनी शक्तियों को भूल गया। अपने कर्मों को भूल गया। अब वह तमोगुण के चंगुल में फँसा, प्रमाद और आलस्य में पड़ा पड़ा केवल सपनों की दुनियाँ बसाने लगा। वास्तविकता से सुदूर हट कर, भावनाओं के सागर में गोते लगाने लगा। स्वप्न कब सच्चे होते हैं। जागने पर वे नेस्त-वो-नाबूद हो जाते हैं। कोरी कल्पना से क्या हाथ आता है? कल्पना के साथ जब कर्म भी हो, तब ही फल की प्राप्ति हो सकती है। सपनों में सोने के राजमहल में रहने वाला प्राणी वास्तव में फूँस की झोंपड़ी में पड़ा है। सोने के महल तैयार करने के लिए अथक परिश्रम की जरूरत है। अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति आत्मा तब ही कर सकता है, जब वह जागरूक रहे। चलता रहे, सोये नहीं, रुके नहीं। इस जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में, यही भाव मेरी कविता "रथपरिवर्तन" की निम्न पंक्तियों में दर्शाया गया है:—

अमर लोक से नित्य निरन्तर,
आता है यह दिव्य संदेश।
थक कर रुकना नहीं सरथी,
नीयराया अब 'पी' का देश॥

मनुष्य के कृतकर्मों की वासनायें ही साथ रह जाती हैं। उन्हीं कर्म वासनाओं के आधार पर वह पुनः पुनः जन्म लिया करता है अथवा आवागमन से मुक्त हो जाता है। असावधान यात्री अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। समय थोड़ा यात्रा लम्बी! मार्ग में नाना प्रकार की रुकावटें। इस दशा में एक सावधान तथा धीर यात्री ही अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर सकता है। यात्री, सावधान!

(४) यात्री का निज धाम को लौटना

एकाकिनो सरथं यासि विद्वान् = अपने कृतकर्मों की वासनाओं से युक्त आत्मा अकेला ही जाता है। अब यात्री आत्मा अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर चुका है। वह निज धाम को लौटना चाहता है। परन्तु उस आजादी के साथ वह नहीं जा पाता, जिस आजादी के साथ वह आया था। कारण? यह कि उसने अपने जीवन-यात्रा काल में हजारों सम्बन्ध जोड़ रखे हैं। उसके माता, पिता, पुत्र, दारा, बन्धु, मित्र इत्यादि सभी रिश्तेदार हो चुके हैं। उसने धन सञ्चय किया है। जीवन भर की कमाई को छोड़ जाना उसके लिए कठिन हो रहा है। शिकारी के जाल में फँसे हुए शेर के समान उसका भवजाल से निकल भागना कठिन है। उसने जीवन की नाट्यशाला में नाना प्रकार के अभिनय किये हैं। अब जीवन का नाटक समाप्त है। अब नाटक का पट गिरा। कूच की घंटी बजी। उसे अब जाना है। वह सम्बन्धियों से कहता है—"साथियो! मेरे साथ चलो"—परन्तु कोई तैयार नहीं होता। उसकी अन्तिम यात्रा का साथी कोई नहीं बनना चाहता। सभी अपने, पराये निकले। अब उसकी आँखें खुलीं। उस समय उसे मनु महाराज के वचन याद आगये—

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

रे आत्मन्! तू अकेला आया और अकेला ही जायगा। अकेला ही बुरे-भले कर्मों का फल भोगेगा। परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न दारा और न कोई सम्बन्धी ही सहायता दे सकता है। केवल एक साथी धर्म साथ जाता है। कूच के समय, संसार की याद क्या करता है? अब तो 'कृतं स्मर'=अपने कृतकर्मों को ही स्मरण कर। उस न्यायकारी, निराकार भगवान् के दरबार में तो तेरा प्रभाषी होना काम न देगा। वहाँ तेरी वाणी मूक हो जायगी। प्रभु के पास तो 'उत स्वेन क्रतुना संवदेत'—केवल तेरे कर्म ही बोलेंगे। वहाँ तुझे अपने कर्मों द्वारा ही बतलाना होगा कि तू ने दुर्लभ मानव तन पाकर क्या-क्या किया।

यदि आत्मा ने अपने जीवन यात्रा काल में मेध को साथी नहीं बना लिया, तो वह शरीर त्याग कर निज धाम "यमलोक' को जा ही नहीं सकता।

धर्म के अतिरिक्त जितने साधन और साथी हैं, वे केवल मृत्युलोक को ही प्राप्त कराने वाले हैं। स्वतन्त्र कर्ता आत्मा, अब स्वयं अपने साथी का चुनाव करे। अब उसके सामने लौटने के दो मार्ग हैं। जो साथी उसके निज स्थान अमर-लोक के जाने में सहायक हो, उसी को अपनावे। मृत्यु के पश्चात् जीव के जाने के दो मार्ग जो वेदों ने बतलाये हैं, वे ये हैं—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। (ऋग्वेद १०।८८।१५) मनुष्यों के लौटने के दो मार्ग (१) पितृयान (२) देवयान को सुना जाता है।

(१) **पितृयान**—इस मार्ग से जाने से मनुष्य पिता बनता है अर्थात् मृत्युलोक ही में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। यह असावधान यात्री का मार्ग है। जिसने अपने जीवन-काल में सकाम कर्म किया। ममता में फँसा। सभी से नाता जोड़ा, परन्तु धर्म से पृथक् रहा।

(२) **देवयान**—इस मार्ग से देव जाया करते हैं। इस मार्ग के द्वारा मुक्त आत्मा उसी 'यमलोक' को जाता है, जहाँ से वह आया था। यह मार्ग सावधान यात्री का है। जिसने अपने जीवन काल में निष्काम कर्म किया। ममता से रहित रहा। धर्म को साथी बनाया।

प्राणी मात्र तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा चाहते हैं। पूर्ण छुटकारा केवल देवमार्ग के यात्रियों को ही प्राप्त हो सकता है। इस हेतु, देवयान से जाने का ही उपाय करना चाहिए। यह मार्ग सत्य मार्ग है। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी है—

सत्यं वै देवाः। सत्येन पन्था विततो देवयानः = देव सत्य हैं। उनका मार्ग भी सत्य से विस्तृत है। यमलोक का रहने वाला आत्मा स्वयं अकाय परमात्मा का ही सखा है। यह अपने बिछुड़े हुए साथी के पास ही जाना चाहता है। लौकिक मित्रों के पास वह आनन्द नहीं, जो उस पारलौकिक मित्र के पास है। आत्मा ने कभी उस मधुर आनन्द-रस को चखा है। उसी अमृत की चाट उसे लगी है। उस विचित्र सोमरस के पान करने वालों को कभी दुःख नहीं मिलता। यह अमृत केवल प्रभु विष्णु के पास ही है। आत्मा उसी के लिए बेचैन है। वह बार-बार 'विष्णुधाम' को ही जाना चाहता है। क्यों जाना चाहता है? वेद इस रहस्य को खोल रहा है—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋ० १।१५४।५) = विष्णु के परमपद में मधु का कुँआ है। उस मधु अर्थात् अमृत में विभिन्न मिठास है। विचित्र शक्ति है जो उसको एक बार पान करले, वह अमर हो जाता है। मुक्त हो जाता है। आनन्द रूप भगवान् के साथ आनन्दमय हो जाता है।

परम दयालु प्रभु! हम सब को भी अपना वह चर्णामृत दे दे। वह विचित्र मधु चखा दे। हम याचक हैं। तू महादानी है। तेरे दर से कोई निराश नहीं लौटा! तू कृपालु है। वह 'मधु' एक बार दे दे। बस एक घूँट ही दे दे। दे दे प्रभु! दे दे॥

परम देशभक्त ऋषि दयानन्द

विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। (स० प्र०)

शौर्य का देवता-इन्द्र

[ले०—श्री पं० श्रुतिशील जी शर्मा, तर्कशिरोमणि, स्वाध्याय-मण्डल, पारड़ी]

विश्व के आधिदैविक शासन में इन्द्र का वही स्थान है, जो किसी देश के शासन में रक्षा-मन्त्री का होता है। देश की शत्रुओं से रक्षा करना, अवसर आने पर स्वयं भी आक्रमण करना, युद्ध में वीरता दिखाना ये सब कार्य जो एक रक्षामन्त्री के कंधों पर हैं, इन्द्र करता है।

इन्द्र की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं, "इन्द्रः इरां दृणाति, इन्दवे द्रवति, इन्धे भूतानि प्राणैः समैन्धन्, इदं करणात्, इदं दर्शनात्, इन्दतीति वा।" नि. १०।८

इसमें "इन्धे भूतानि प्राणैः समैन्धन्" की व्युत्पत्ति के आधार पर डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने इन्द्र का अर्थ प्राण किया है, तथा श्री जयदेव जी ने इस शब्द को प्रायः राजा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। वस्तुतः यह शक्ति का एक प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से श्री डॉ० वासुदेव शरण जी का अर्थ ठीक है और आधिभौतिक दृष्टि से श्री जयदेव जी का अर्थ भी युक्तियुक्त है। पर आधिदैविक दृष्टि से इसको शक्ति का प्रतीक ही मानना पड़ेगा, जो सब ग्रहों को चलाता है।

वस्तुतः इन्द्र क्या है ? इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया, आधिदैविक दृष्टि से ही कोई इन्द्र को बिजली कहता है और कोई सूर्य बताता है। यहाँ मेरा लक्ष्य इस समस्या में पड़कर इसको सुलझाना या उलझाना नहीं है, अपितु यह है कि इन्द्र देवता के गुणों को धारण करके हम भी देव बनें। "यत् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि" (शतपथ ब्रा०) जो देवों ने किए उन कामों को मैं भी करूँ। केवल इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर इस लेख में विचार प्रकट किए गये हैं।

शक्तिशाली-इन्द्र

इन्द्र का एक एक पराक्रम इतना अद्भुत है कि कविजन यही कहता है कि "यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव" (ऋ. २।१२।९) जो सारे विश्व का प्रतीक है। "श्रद् अस्मै धत्त" (ऋ. २।१२।५) ऐसे इस इन्द्र के ऊपर श्रद्धा करो। इन्द्र इतना शक्तिशाली है कि यह सारा ब्रह्माण्ड भी उसकी शक्ति का अन्त नहीं पा सकता

द्यावः अन्तरिक्षाणि भूमयः इन्द्रं न विव्यचन्तः। (ऋ० ८।३।१५) 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूमियां भी इन्द्र को घेर नहीं सकतीं और न सिन्धवः रजसो अन्तमानशुः। (ऋ० १।५२।१४) "न नदियां तथा अन्य लोक ही इसके अन्त को पासके"। इतना शक्तिशाली यह इन्द्र है। इसी कारण योद्धा गण युद्धमें अपनी रक्षा के लिए इसी को बुलाते हैं, और न केवल बुलाते ही हैं अपितु उसे आगे भी रखते हैं

देवासः वृत्राय हन्तवे इन्द्रं पुरः दधिरे।
ऋ० ८।१२ २२॥

इन्द्र ! पृतनाज्ये त्वा पुरः दधिरे।
ऋ. ८।१२।२५॥

युद्धों में इन्द्र आगे रहता है और शत्रुओं को मारता है। इतना शक्ति शाली होते हुए भी इसकी शक्ति समाज के हित के लिए, सन्त साधुजनों के हित के लिए और तीनों लोकों के उद्धार के लिए ही है। इसकी इस विशेषता को "देवासः" पद प्रकट करता है। इसकी सहायता के अधिकारी देवगण हैं जो विद्वान्, सज्जन और विजिगीषु होते हैं। यह मित्रों के लिए मित्र है। यह अपने भक्तों को संग्राम में जिताता है और अनेक प्रकार के धन देता है, पर जो इससे छल कपट करता है 'त्वं मायिनं मायया ऽवधीः' (ऋ० १।८०।७) उस छली और कपटी शत्रु को छल और कपट से ही मारता है। चाहे कितना ही भयंकर शत्रु हो, उसको अपने स्थान से हटा देता है। इसी विशेषता के कारण वेद में इसे "अच्युत च्युत्" "दुर्हणावान्" (ऋ० ८।२।२०) आदि पदों से सम्बोधित किया गया है।

महत् तदस्य पौंस्यं (ऋ० १।८०।१०) इसकी शक्ति महान् है, इस लिए महान् शक्ति शाली वृत्र भी अपनी गर्जना से इसको डरा नहीं सका (ऋ० १।८०।१२)। इसकी शक्ति ही सारे जगत् में प्रकाशित हो रही है। (ऋ०८।१२।२४)। उपनिषद् का ऋषि इन्द्र की शक्ति से अच्छी तरह परिचित था। उसने इन्द्र की शक्ति को

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।"
"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व-

मिदं विभाति" आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया है। वेद भी इसी शक्ति को दूसरे शब्दों में वर्णित करता है—

"इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही।" (ऋ० १।८०।११) "इस इन्द्र के ही डर से ये दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक कांपते हैं।" इतना शक्तिशाली यह इन्द्र है अवश्य, पर किसी दूसरे की सहायता से यह शक्तिशाली नहीं हुआ है, अपितु "महिना महान्" (ऋ० ८।१२।२३) तथा "महोभिः शचीभिः महान्" (ऋ० ८।२।३२) अपनी ही शक्तियों से महान् बना है। यह अपनी ही शक्ति से संग्रामों को जीतता है और संसार पर शासन करता है।

"युध्मः खज-कृत्"—युद्ध करने वाला (ऋ० ८।१।७); शक्रः (ऋ० ८।२।२३); अन्-आभयिन्—न डरने वाला (ऋ० ८।२।१); च्यौत्ना—शत्रुओं को अपने स्थान से हटाने वाला (ऋ० ८।२।३३); पृतनासु स्थिरः—युद्धों में स्थिर रहने वाला (ऋ० ८।३२।२४); अ-वृत-शत्रु से कभी न घिरने वाला; अषाळ्ह—पराजित न होने वाला (ऋ० ८।३२।२७) आदि अनेकों पद इसकी शक्तिशालिता के बोधक हैं।

शत्रुनाशक इन्द्र

इस महान् ब्रह्माण्ड के रक्षा-मंत्री होने के कारण इन्द्र के बहुत से शत्रु हैं, पर उनमें वृत्र, शम्बर, अहि ये तीन चार असुर मुख्य हैं। ये सब असुर शक्तिशाली भी हैं और कपटी भी। इन्द्र को धोखा देने के लिए यह असुर भिन्न-भिन्न पशुओं का रूप धारण करते हैं। पर इन्द्र भी इनके कपटों को अच्छी तरह समझता है और इनको माया से ही मारता है। "यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीः" (ऋ० १।८०।७) उस कपटी मृग को इन्द्र ने कपट से मारा। इनमें शम्बर तो इतना मायावी था कि इन्द्र के ढूंढ़ते रहने पर भी उसको चकमा दे जाता था। इस प्रकार शम्बर ३९ वर्ष तक इन्द्र से बचता रहा, पर ४० वें वर्ष में इन्द्र ने उसे ढूंढ ही निकाला। इस सब का वर्णन इस प्रकार है—

यच्छम्बरं पर्वतेष्वधि क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्॥ ऋ० २।१२।११॥

"पर्वतों में रहने वाले शम्बर को इन्द्र ने ४० वें वर्ष में ढूँढ निकाला।"

पर इन तीनों शत्रुओं में वृत्रासुर सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है, क्योंकि वेद के अनेक मन्त्रों में इन्द्र के द्वारा वृत्र के वध का वर्णन है। इन्द्र के अन्य विशेषणों में "वृत्र-हा; वृत्र हन्तमः" आदि विशेषण इस बात को बताते हैं कि इन्द्र का प्रबलतम शत्रु वृत्र है। इन सब शत्रुओं का एक ही काम है, "पानी को रोकना और देवों को तंग करना"। इन्द्र इनको मारकर पानी बहाता है, जिससे देवगण प्रसन्न होते हैं। "अहन् अहि-मरिणात्सप्त सिन्धून्"—इन्द्र अहि को मार कर सातों नदियों को बहाता है। इसके पास अनेक बड़े बड़े धनुष हैं जिनसे वह वृत्र और अर्बुद आदि शत्रुओं को मारता है (८।३।१९)। इस प्रकार इसका मन हर समय शत्रुओं के नाश में ही लगा रहता है। युद्ध में शत्रुओं को देखकर इसे इतना क्रोध चढ़ जाता है कि यह असंख्य शत्रुओं को एक बार में ही मार देता है—

"यः वाजी शता सहस्रा अदर्दिरत् (ऋ० ८।३२।१८) और इस कारण—

ते विश्वेन्द्रः पृतनायवः वृक्षा इव नियेमिरे। (ऋ० ८।४।५)

इसके इस शौर्य को देखकर सभी शत्रु स्तब्ध होकर वृक्ष के समान निष्क्रिय हो जाते हैं। यह लड़ने के हर तरीकों को जानता है और उन सब तरीकों से यह शत्रुओं को मारता है, इसलिए वेद में इन्द्र को "शत-क्रतु" (ऋ० ८।३२।११) कहा है। सारे शत्रु इससे काँपते हैं और जब डर कर शत्रु किले की शरण में जाते हैं, तब वह "पुर-भित्" (ऋ० ८।३३।५) इनके किलों को भी तोड़ डालता है। इन असुरों में एक असुर ने एक चलता फिरता नगर बसाया था, पर इन्द्र ने उसे भी तोड़ डाला— "वधैः शुष्णस्य चरिष्णवं पुरं सं पिणक् (ऋ० ८।१।२८)। इसलिए इन्द्र को वेदों में "दंसना महान्" (ऋ० ८।१।२७) शत्रुवध रूपी अपने इस कर्म के कारण महान् कहा गया है। पर यह इन्द्र का वध रूपी कर्म शत्रु के प्रति ही होता है, अपने भक्तों के लिए तो वह "'रत्नानि दधत्' रत्नों को देता है, इसलिए कोई भी उसकी "सख्ये न" (ऋ० ८।४।७) मित्रता में कष्ट नहीं पाता। वह अपने मित्रों की "शतमूतिः" सैकड़ों प्रकार से रक्षा करता है।

इन्द्र का वज्र

यह रक्षा-मंत्री ऐसा है जो स्वयं जा कर युद्ध में शत्रुओं का संहार करता है। वह एक कुशल सेनापति भी है। मरुद्गण इसके सैनिक हैं, इसलिए इन्द्र का वेदों

में "मरुत्वान्" कहा गया है। इसके ये सैनिक भी इतने बहादुर हैं कि "मर-उत्" मरते दम तक उठकर लड़ने वाले हैं, और इन्द्र की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। इन्द्र स्वयं भी सदा ही शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहता है। यह "खड्ग, धनुष-बाण" सभी आयुध चलाने में प्रवीण है। उसने "बृहतीभ्यः धनुर्भ्यः वृत्रं मायिनं अस्फुरः" बहुत बड़े धनुषों से कपटी तथा घेरने वाले शत्रु को मारा। यों तो प्रायः वह शत्रुओं को मारने में शस्त्रास्त्रों का ही प्रयोग करता है, पर जब उसे अत्यन्त क्रोध आ जाता है तो केवल रथ के पहिये से ही बहुत से शत्रुओं को मार देता है (ऋ० १।५३।९)। इन्द्र के द्वारा प्रयुक्त होने वाले शस्त्रास्त्रों में वज्र प्रमुख है। इस वज्र को देवों का कारीगर त्वष्टा बनाता है और तीक्ष्ण करता है—

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षत् वज्रं (ऋ० १।६१।६)।

त्वष्टा चित्ते युज्यं वावृधे शवस्ततक्ष वज्रमभि-भूत्योजसम् (ऋ० १।५२।७)।

त्वष्टा इन्द्र के लिए वज्र को बनाकर उसके बल को बढ़ाता है। त्वष्टा इस वज्र को फौलाद (लोहा) और हड्डियों से बनाता है।

अभ्येनं वज्रं आयसः सहस्रभृष्टिरायतः।
(ऋ० १।८०।१२)

अयच्छथाः बाह्वोर्वज्रमायसम्। (ऋ० १।५२।८)

इन्द्र फौलाद (आयसं) से बने हुए वज्र को हाथों में धारण करता है और उसे वृत्र को लक्ष्य करके फेंकता है। तथा

इन्द्रो दधीचो अस्थभिः वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव॥ (ऋ० १।८४।१३)

यह इन्द्र दधीची की हड्डियों से बने हुए वज्र से निन्यानवे शत्रुओं को मारता है।

इस प्रकार फौलाद और हड्डियों के सम्मिश्रण से बना हुआ यह वज्र अनेकों धाराओं वाला है, इसकी इस विशेषता को "शत पर्वणा" (ऋ० ८।६।६); सहस्र भृष्टिः (ऋ० १।८०।१२); भृष्टिमत् (ऋ० १।५२।२५) आदि पदों से व्यक्त किया गया है। इस वज्र की एक और विलक्षणता है कि यह फेंका जाने पर शत्रु को मार कर फिर इन्द्र के पास लौट आता है। इसकी इस विलक्षणता को "ससिषा" पद प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त इस वज्र पर "हिरण्ययः" (ऋ० १।५७।२) सोने का काम भी होता है। इस वज्र को हाथ में लेकर इन्द्र सुनहरे काम वाले रथ (ऋ० ८।१।२४) पर बैठ कर शत्रुओं को मारता है। इसी वज्र के कारण इन्द्र "वज्री" कहाता है।

इस रूप में हमें इन्द्र का वर्णन चारों वेदों में मिलता है। इन वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि इन्द्र शौर्य का देवता है, जो संरक्षण के कार्य में "अतन्द्र" सजग रहता है।

ये इन्द्र और वृत्र कौन हैं, इन्द्र का रथ क्या है, वज्र क्या है? यह संशोधन का विषय है। पर इससे जो शिक्षा मिलती है, वह यह है कि देश और राष्ट्र की रक्षा में इन्द्र के समान सजग रहकर जितने असुर अर्थात् राष्ट्र के शत्रु हैं, उन्हें वज्र अर्थात् अपनी शक्ति से नष्ट करना चाहिए।

वेदों की यह शिक्षा आज के समय में अत्यावश्यक है, अतः मननीय और आचरणीय है।

[उपर्युक्त विशेषणों में 'इन्द्र' शब्द सृष्टिविधाता, व्यवस्थापक, ईश्वरवादी तथा तेजस्वी सभानायक, सेनानायक परक है—सम्पादक]

विदुषां विचाराय—

आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीय-प्रयोगाणां साधुत्व-विवेचनम्

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिरो मीमांसकः, भारतीय प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, रामगंज, अजमेर]

(गताङ्कतोऽग्रे)

अपशब्दत्वप्रतिज्ञानसमीक्षा—इदं चाधुनिकानां लक्ष्यज्ञानविरहितानां लक्षणैकचक्षुष्काणामतिसाहसम्, यत्ते खल्वेकमाचार्यं प्रमाणीकृत्यापरान् परः सहस्रान् परमशिष्टान् आचार्यान् मूर्खयन्ति। नैतावदेव, भाष्यकारवचनं प्रमाणीकृत्य पाणिनिमपि प्रमत्तचेतसं प्रख्यापयन्ति, इत्यहो तेषां विभ्रमः। शब्दानां साधुत्वासाधुत्वे शिष्टा एव प्रमाणम् इति सर्वसम्मतो राद्धान्तः। इमे तु खलु स्वयमज्ञानगर्तनिमग्नाः प्रमाणभूतानां शिष्टानां प्रामाण्यमपाकर्तुमेव यतन्ते। को हि नाम सचेताः पाणिनिमेकं विहाय व्यासकणादाग्निवेशवाल्मीकिमनुप्रभृतीनां सर्वेषामपि प्राचामाचार्याणामशिष्टत्वमुररीकुर्यात्। इदमपि विचार्यम्, यदासर्गाद् यावत् पाणिनिपरः सहस्रेष्वब्देषु नैकोऽपि शब्दानां साधुत्वासाधुत्व-विभागज्ञोऽभूत्, पाणिनिरेव तादृशः प्रथमो ज्ञातेति को नाम मतिमान् श्रद्दधीत।

पूर्वोद्धृतानां साधुत्वविचारः—इदमिदानीं विचार्यते, यत् पूर्वोद्धृतानां तादृशां चान्येषाम् अपशब्दत्वेनाभिमतानां प्रयोगाणां कथं साधुत्वमिति।

अपशब्दत्वप्रतिज्ञाने हेतुः—वयं तु मन्यामहे, साम्प्रतिकानां लक्षणैकचक्षुषां पाणिनीयवैयाकरणानां स्वीयमज्ञानमेव परमशिष्टपरिगृहीतशब्दानामपशब्दत्वप्रतिज्ञाने प्रधानो हेतुः। तच्चाज्ञानं पञ्चविधम्। तथाहि—

१—प्राक्पाणिनीयव्याकरणविषयकम्।

२—पाणिनीयतन्त्रस्वरूपविषयकम्।

३—पाणिनीयतन्त्रस्यार्धजरतीयव्याख्याजनितम्।

४—पाणिनीयतन्त्रस्य वैज्ञानिकव्याख्याभावजनितम्।

५—वाग्व्यवहारप्रयोजनाज्ञानमूलकम्।

तद् वयमेकैकमज्ञानविषयमवलम्ब्य संक्षेपतः प्रतिविधास्यामः।

१—पाणिनेः प्राक्कालिकैरनेकैराचार्यैर्यानि व्याकरणतन्त्राणि विरचितानि तानि नाद्योपलभ्यन्ते। तेषामनुपलब्धेः प्राक्पाणिनीयव्याकरणनियमानामज्ञानात् पूर्वव्याकरणनियमानुरूपान् अपि प्राचीनान् शिष्टप्रयोगान् अपशब्दान् प्रतिजानते साम्प्रतिका वैयाकरणाः। ये नाम केचन प्राचीन-व्याकरणनियमाः पुरातनवाङ्मये क्वचिद् उद्धृता उपलभ्यन्ते, तेषामपि मूल्याङ्कनम् 'उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' इति प्रमाणाविरहितमसन्मतमातिष्ठमाना न कुर्वन्ति। यदि हि नाम कतिपयानामप्युपलब्धप्राचीननियमानामुचितं मूल्याङ्कनं भवेत्तर्हि बहूनां शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वपरिज्ञानमनायासेनैव भवेत्। वयमिह द्वौ प्राचीनव्याकरणनियमावुद्धृत्य विषयमिमं स्पष्टीकुर्मः।

क—'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) इति पाणिनिसूत्रानुसारं ह्रस्वावर्णान्तेभ्यः तृतीयाबहुवचने 'देवैः' 'पुरुषैः' इत्येकविधान्येव पदानि निष्पद्यन्ते। काशकृत्स्नतन्त्रसंक्षेप्ता कातन्त्रकारः[1] 'अतो भिस् ऐस् वा' (२।१।१८) इत्येवं सूत्रयति। तदनुसारं लोकभाषायां[2] देवेभिः पुरुषेभिः इत्यपरविधान्यपि पदानि साधूनीति गम्यते। प्राकृतभाषायां देवेहि पुरुषेहि इत्यादीनि प्रयुज्यमानानि पदानि आसन्, कदाचित् लोकभाषायामपि देवेभिः पुरुषेभिः इत्येवमादीनि भिसन्तानि पदानीति मतं सम्यग् द्रढयन्ति। यतो हि 'नाप्रकृतिरपशब्दः[3]' इत्यागमिनः प्रतिजानते। दैवीवागेव अशक्त्यादिकारणैर्विविधास्वपभ्रंशभाषासु व्याकीर्णा। तदुक्तम्—

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।[4]

---

१. कातन्त्रं काशकृत्स्नमहातन्त्रस्य संक्षेप इत्यन्यत्र विस्तरेण प्रतिपादितम्।

२. कातन्त्रं लौकिकभाषाया एव व्याकरणम्। द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३०।

३. वाक्यपदीय आगम काण्डं, स्वोपज्ञ टीका, पृष्ठ १३४। तत्रैव 'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति व्याडिमतमप्युद्धृतम्।

४. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १५५।

उपलभ्यन्ते ह्यतिभाषायां भिसन्ताः प्रयोगाः । तद्यथा—

मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च । बौधा० धर्म १६।३२॥

पाणिनिप्रभावपरिभूतैः कातन्त्रव्याख्यातृभिः 'अतोभिस् ऐस् वा' इति स्पष्टमैस्भावविकल्पविधायकं वापदं क्लिष्टकल्पनयाऽन्यथैव व्याख्यातम् ।

ख—भगवता पाणिनिना 'इको यण् अचि' (६।१।७७) इति सूत्रयता दध्यत्र मध्वत्र इत्यादिषु यण्सन्धिरनुज्ञातः । प्राचीनव्याकरणानुसारं यण्सन्धिवत् यण्व्यवधानसन्धिरपि भाषायां प्रयुक्त आसीत् । तदुक्तं पुरुषोत्तमदेवेन भाषावृत्तौ—'इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोः' (६।१।७७) । अयं सन्धिनियमः पुरुषोत्तमदेवात् प्राक्तनैर्हैमचन्द्र-पाल्यकीर्ति-अभयनन्दिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैः स्वीकृतः । अतएव कैश्चिद् 'इको यणचि' सूत्रं तन्त्रावृत्योभयथा व्याख्यातम्[1] 'इकः स्थाने यण् भवति, इकः परो वा यण् भवत्यचि परतः ।' अयं यण्व्यवधानरूपः प्राचीनसन्धिः 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) इति सूत्रयता स्वयं पाणिनिना ऽभ्यनुज्ञातः ।[2] एतेन न केवलं यण्सन्धावेव द्वैरूप्यमुपपद्यतेऽपितु कृततादृशसन्धिशब्देभ्यो निष्पद्यमानेषु परः सहस्रेषु तद्धितप्रयोगेषु वैशिष्ट्यमुपपद्यते । तद्यथा—

त्रि + अम्बक = त्र्यम्बक, त्रियम्बक ।

नि + अङ्कु = न्यङ्कु, नियङ्कु ।

सु + अर् = स्वर्, सुवर् ।

एभ्यस्तद्धितोत्पत्तौ यद्वैशिष्ट्यमुपपद्यते तत् 'नि + अङ्कु' सन्धिमधिकृत्य प्रदर्श्यते ।

साम्प्रतिका हि वैयाकरणा 'न्यङ्कु' इत्येकविधमेव शब्दं प्रतिजानते । परन्तु न्यङ्कोर्विकारश्चर्म इत्यर्थे 'अञ्' (४।३।१५४) नैयङ्कवं चर्म इति पाणिनीयाः प्रतिपद्यन्ते, आपिशलास्तु न्याङ्कवं चर्म इति । द्विविधसन्धौ 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११५) इत्यनेनोत्सर्गसूत्रेण न्यङ्कुशब्दान्न्याङ्कवम्, नियङ्कुशब्दाच्च नैयङ्कवमिति रूपद्वयमञ्जसैव निष्पद्यते। इत्थं द्विविधिसन्धिपरिग्रहे 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (७।३।३) इत्यादिप्रकरणस्योपयोगितैव नावतिष्ठते । एतत्प्रकरणे ऐजागमद्वारा प्रसाधिताः सर्व एव शब्दा यण्व्यवधानसन्धिमाश्रित्योत्सर्गसूत्रेणैव निष्पद्यन्ते। यथा त्रैयम्बकं त्रियम्बक[3]शब्दात्, वैयाकरणं वियाकरणशब्दात्, सौवरं सुवर[4] शब्दात्, सौवश्वः सुवश्वशब्दात्। पाणिनिना तु खलु लुप्तप्रयोगेभ्यो यण्व्यवधानसन्धिजेभ्यः शब्देभ्यो निष्पन्नानां ताद्धितशब्दानामर्थनिर्देशः कर्तुमशक्य इति कृत्वा स्वकाले लब्धप्रचारैर्यणसन्धिनिष्पन्नैः शब्दैः सह तेषां सम्बन्धः प्रदर्शितः । तदेवं किल इकोऽचि परतस्त्रिविधः सन्धिः पुरा लब्धप्रचार आसीत्—यणादेशरूपः, यण्व्यवधानरूपः, इयङुवङादेशरूपश्च । यण्व्यवधानसन्धिना त्रियम्बकादिप्रयोगाणां निष्पत्तावपि 'गायत्रियै' (तै० सं०) इत्येवमादिप्रयोगसिद्धये इयङुवङादेशसन्धिरप्यावश्यकः ।

२—पाणिनीयं तन्त्रं पूर्वतन्त्राणामपेक्षया संक्षिप्ततमं विद्यते । तेन पूर्वतन्त्रेषु विद्यमानानां बहूनां व्याकरणनियमानाम् अस्मिन् तन्त्रे संग्रहो नाभावि । तादृशनियमेषु यण्व्यवधानसन्धिः, ऐसादेशविकल्पश्च पूर्वमुक्त एव । इदानीमेकोऽपरो नियमः प्रदर्श्यते, यः प्राचीनव्याकरणे निर्दिष्टोऽप्यत्रापरिगृहीतः—

कतिपयवर्षेभ्यः प्राक् चन्नवीरकविकृतकन्नडटीकया सनाथीकृतो यः काशकृत्स्नधातुपाठः प्रकाशं गतस्तत्र काशकृत्स्नतन्त्रस्य त्रिंशदुत्तरशतं सूत्राण्युद्धृतान्युपलब्धानि । तेष्वेकतमं सूत्रमस्ति—स्वरवद् यः कृत् (पृष्ठ १७२) ।

अस्यायमर्थः—यः कृत्संज्ञको यकारः स स्वरवत् कार्यं लभते । वद्ग्रहणाद् व्यञ्जनवदपि । चन्नवीरकविना सूत्रमेतत् 'दीधय्यं दीधाय्यम्' पदव्याकरणायोद्धृतम् । इत्थमेवोत्तरधातुव्याख्याने 'वेवय्यम्, वेवाय्यम्' पदे निर्दिष्टे । अत्र दीधीङ् वेवीङ् धातुभ्यां यति गुणे 'दीधे–य, वेवे–य' ण्यति च वृद्धौ 'दैधै–य, वेवै–य' इत्यलौकिकेषु रूपेषु कृद्यकारस्य स्वरवद्भावे विहिते यथासंख्यम् अय् आय् आदेशौ भवतः । इत्थमेवोकारान्तधातुभ्यो लव्य—लाव्यादयो द्रष्टव्याः ।

---

१. जैन शाकटायनलघुवृत्ति १।१।७३॥ हैमबृहद्वृत्ति १।२।२०॥

२. भूवादयो धातवः (१।३।१) इत्यत्र 'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' इति, तदीयं च भाष्यं यथा व्याख्यायते तत् चिन्त्यम् । अस्य सम्यग्व्याख्यानमन्यदा प्रदर्शिष्यते ।

३. एतच्छब्दप्रयोगपरिज्ञानाय 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ २३ द्रष्टव्यः ।

४. सुवःपदं तैत्तिरीयसंहितादिषूपलभ्यते ।

यद्यपि चन्नवीरकविना वन्निर्देशफलबोधकमुदाहरणमत्र नोपात्तम्, तथापि सूत्रपदैरेतत् स्पष्टमेव यत् कृद्यकारे परतः पक्षेऽयादयो भवन्ति। तेन सर्वेभ्योपीगन्तेभ्यो धातुभ्यो यति ण्यति च द्वे द्वे रूपे निष्पद्येते। पाणिनीयतन्त्रे तस्य सामान्यनियमस्यैकदेशमात्रं 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' (६।१।८०) इत्यादिभिश्चतुर्भिः सूत्रैः संगृह्यते।

काशकृत्स्ने व्याकरणे क्यप्-यत्-ण्यतां सामान्येन विधानमासीद् इति पूर्वं प्रतिपादितम्। तथा सति स्वरवद्भावे च विहिते इगन्तधातोः पञ्चपञ्चरूपाणि निष्पद्यन्ते। तद्यथा चिधातोः क्यपि—चित्यम्, यति—चय्यम्, चेयम्, ण्यति—चाय्यम्। एवमन्येषामपि ज्ञेयानि। पाणिनीयव्याकरणानुसारं तु यथासम्भवं कस्यचिदेकम्, कस्यचिद् द्वे रूपे निष्पद्येते। अत एव पूर्वोदाहृते पद्ये देवबोधेन पाणिनीयव्याकरणस्य गोष्पदत्वमुक्तम्। स एव पुनराह—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते॥

काशकृत्स्नतन्त्रापेक्षया पाणिनीयतन्त्रस्याल्पता तयोर्धातुपाठतुलनयापि स्पष्टीभवति। पाणिनीये धातुपाठे उपद्विसहस्रा धातवः, काशकृत्स्ने तु उपसार्धद्विसहस्रा उपलभ्यन्ते।

तदेवं संक्षिप्ततमं पाणिनीयं व्याकरणमाश्रित्य प्राचीनशिष्टजनपरिगृहीतानां शब्दानामपशब्दत्ववचनं साहसमात्रमेव। तस्मात् अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते इति साधूक्तं देवबोधेन।

३—अतिसंक्षिप्तस्य पाणिनीयतन्त्रस्य या व्याख्या सम्प्रति वैयाकरणैराद्रियते साऽर्धजरतीयदोषदुष्टा। तथाहि—

बहुत्र खलु पाणिनीया वैयाकरणाः पाणिनीयसूत्रादिषु प्रयुज्यमानानां पाणिनीयतन्त्रासिद्धानां पदानां पाणिनिप्रयोगसामर्थ्यात् साधुत्वं प्रतिजानते। तद्यथा—

क—सर्वनामपदे णत्वे प्राप्ते 'बाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इत्युक्त्वा भाष्यकारः सर्वनामपदस्य साधुत्वमाह (२।१।२७)।

ख—'पतितः' इत्यत्र 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) इत्यनेनेट्प्रतिषेधे प्राप्ते 'द्वितीया श्रितातीतपतित०' (२।१।२४) इत्यत्र निपातनादिडागम इत्युक्तम् काशिकाकृता (७।२।१५)।

ग—व्याजशब्दे घञि कुत्वे प्राप्ते 'व्यज व्याजीकरणे' (धातु० ६।१६) इति लिङ्गात् घञि कुत्वाभाव इति क्षीरस्वामी प्रतिपेदे (क्षीरतरङ्गिणी ६।१६)।

घ—शोभेति निपातनात् इत्याह वामनः (काव्या० ५।२।४१)। तच्च निपातनम्—शुभ शुम्भ शोभार्थे इति धातुसूत्रे (६।३४) द्रष्टव्यम्।

सत्यप्येवं पाणिनीयवचनप्रामाण्येऽभ्युपगते बहुत्र तदीयप्रयोगाणामप्रामाण्यमपि भणन्ति वैयाकरणाः। तद्यथा—

क—अन्वच्यानुलोम्ये (३।४।६४) इत्यत्र 'अयुक्तोऽयं निर्देशः। अनूचीति भवितव्यम्। सौत्रोऽयं निर्देशः' इति वदन् भगवान् पतञ्जलिरपि पाणिनिप्रयुक्तस्य 'अन्वचि' प्रयोगस्य लोके प्रयोगानर्हत्वमर्थादसाधुत्वमाह। एवं तिर्यच्यपवर्गे (३।४।६०) इत्यत्र तिर्यचिपदमपि द्रष्टव्यम्।

ख—वृद्धिरादैच् (१।१।१) इत्यत्र कुत्वाभावमसाधु मन्यमानो भाष्यकार आह—छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति। तेन भत्वात् कुत्वं न इत्युक्तं भवति। परन्तु स एवान्यत्र सिद्धमनच्त्वात्' 'कथमनच्त्वम्' (१।१।१०) इत्यादिषु स्वयं कुत्वाभावं प्रयुङ्क्ते। अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्ति इति संयोगसंज्ञासूत्रवृत्तिं जोघुष्यमाणा वैयाकरणा अद्ययावत् कुत्वाभावं प्रयुञ्जते।

ग—परशब्दयोगे पञ्चमीविधानात् 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) इत्यादिषु सूत्रेषु 'पञ्चम्यर्थे षष्ठी' इति प्रतिजानते व्याख्याकाराः पूर्ववत् सूत्रकारवचनसामर्थ्यात् परयोगे षष्ठ्यपि साध्वीति व्याचक्षते।

पर शब्द योगे षष्ठी न केवलं पाणिनीयसूत्रेष्वेव दृश्यते, अपितु बहुत्र तस्याः प्रयोग उपलभ्यते। यथा—एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिराः' इति कात्यायनीय सर्वानुक्रमसूत्रे (५।५)।

घ—युवोरनाकौ (७।१।१) इत्यत्र युवुशब्दयोः समाहारे नपुंसकत्वात् षष्ठ्येकवचने नुमि 'युवुनः' प्राप्नोति, इतरेतरयोगे तु 'युव्वोः' तत्परिहरन्नाह कैयटः—'सौत्रत्वान्निर्देशस्य नुममकृत्वा उकारलोपं वा अकृत्वा निर्देश इत्यदोषः इति। सौत्रत्वं नाम अपशब्दत्वम् इत्युक्तं प्राक्। दृश्यते हि 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' 'लिपिसिचिह्वश्च'[1] (३।१।५१) इत्यादिबहुषु सूत्रेषु समाहारेऽपि

१. समाहारस्य नपुंसकत्वात् ह्रस्वे कृते 'लिपिसिचिह्वाद्' प्रयोगः स्यात्, असमाहारे (इतरेतरयोगे) 'ह्वाभ्यः' इति बहुवचनं प्रसज्यते।

नपुंसकत्वाभावः। तस्माद्यथा पाणिनिप्रयोगसामर्थ्यात् 'सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति' इति ज्ञाप्यते, तथैव बहुत्र समाहारेऽपि पुंस्त्वोपलम्भात् समाहारद्वन्द्वो विभषया नपुंसकलिङ्गो भवतीति' कथं न ज्ञाप्यते ?

यदि हि नाम पाणिनीयव्याख्यातारः पाणिनीयप्रयोगाणामर्धजरतीयां व्याख्यां परित्यज्य 'पाणिनीयप्रयोगसामर्थ्यात् साधुः' इत्येकरूपां व्याख्यां कुर्युश्चेद् बहवः शिष्टप्रयोगाः साधुत्वं भजेरन्। तथाहि--

षण्मान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।

इत्यत्र (शान्तिपर्व २४०।३२) अन्यत्र च बहुकृत्वः षण्मासशब्दः पुँल्लिङ्गे प्रयुक्तः। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' इति वचनात् षण्मासी इति पदं साधु मन्यन्ते वैयाकरणाः ‡। परन्तु 'षण्मासाण्ण्यच्च' (५।१।८२) सूत्रे स्वयं पाणिनिना पुँल्लिङ्गः पठ्यते। यदि हि पाणिनीयवचनसामर्थ्यात् अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः पुँल्लिङ्गेऽपि क्वचित् प्रयुज्यते इति ज्ञाप्येत तर्हि न कोऽपि वैयासिकं 'षण्मास' प्रयोगमपशब्दं ब्रूयात्।

(क्रमशः)

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं

[ले०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी पाथिक, बी० ए०, विद्यावाचस्पति—कानपुर]

श्री सायणाचार्य यद्यपि पौराणिक संस्कार के कारण मन्त्र, ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं परन्तु काण्वसंहिताभाष्य की भूमिका में स्पष्ट लिखते हैं—

"तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति।"

[काण्वसंहिताभाष्यम् पृष्ठ ८][1]

अर्थात्—"शतपथ ब्राह्मण, मन्त्रों की व्याख्या रूप है, इसलिए जिन मंत्रों की व्याख्या करनी है उनका प्रतिपादक संहिता ग्रन्थ पूर्व भावी होने से प्रथम होता है।"

श्री सायणाचार्य जी ने "तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका" में ब्राह्मणों को मंत्र का व्याख्यान कहा है। आचार्य पं० सत्यव्रत शर्मा सामश्रमी श्री सायण के मत का समर्थन करते हुए स्पष्ट लिखते हैं—

"सायणाचार्येण स्वकण्ठरवेणैवास्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वमभाषि। तथाहि तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायाम्—"ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यान-रूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः" इति।"[2]

महर्षि दयानन्दजी ने अपनी "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के वेदसंज्ञाविचार में लिखा है—"ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है। अतः ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाए हुए ऐतरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं, इसी कारण से उनके किए ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ है।"

शतपथ में लिखते हैं कि "ब्रह्म" "ब्राह्मण" है और "क्षत्र" 'राजन्य' होता है। महर्षि दयानन्दजी के उक्त लेख की पुष्टि करते हुए आचार्य पं० सत्यव्रत शर्मा सामश्रमी लिखते हैं—

"ततो दयानन्दस्वामिना च ऋग्भाष्यभूमिकायां तदेव स्फुटमेवावादि तत्र हि वेदसंज्ञाविचारोपसंहारे—"ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति। अत्र प्रमाणम्। 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः (श०१३-१)' इति॥"[3]

सामश्रमी जी 'मन्त्रभाष्य' को ही ब्राह्मण मानते हैं—

"...वेदार्थवित्तमेन ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यनुस्यूतं मन्त्रभाष्यमेव ब्राह्मणम्।"[4]

---

‡ एतद्विषयेऽम्बिकादत्तशर्मणो मतं पूर्वनिर्दिष्टम्।

१. चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी से प्रकाशित।

२. "ऐतरेयालोचनम्" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २.

३. वही, पृष्ठ २.

४. वही, पृष्ठ २.

"अस्य मन्त्रस्य चार्थोऽयम्, अयं मन्त्रोऽत्र वर्तते।
तत्तस्य ब्राह्मणं ज्ञेयं, मन्त्रस्येति श्रुतिक्रमः ॥"

(बृहत्पाराशरीस्मृति २।४४)

अर्थात् "इस मन्त्र का यह अर्थ है, यह मन्त्र इस कार्य में विनियुक्त है, इसे बतानेवाले ग्रन्थ को उस मन्त्र वा मन्त्रसंहिता (वेद) का ब्राह्मण समझना चाहिए।"

मूल वेद के विषय में इसी स्मृति में लिखा है :—

"क्षीयन्ते नैव वेदाश्च नैवापि प्रभवन्ति ते।
न कश्चिद् वेदकर्तास्ति वेदस्मर्ता चतुर्मुखः ॥"

(बृहत्पाराशरीस्मृति १।२०)

अर्थात्—वेद न नष्ट होते हैं और न उत्पन्न होते हैं। वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं।

महर्षि जैमिनि की स्पष्टोक्तिः

"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥"

(मीमांसा द० २।१।३२)

अर्थ—(तच्चोदकेषु) अग्निहोत्रादि के विधायक तथा सिद्धार्थ के प्रतिपादक वेदवाक्यों की (मन्त्राख्या) मन्त्र-संज्ञा माननी चाहिए।

"शेषे ब्राह्मणशब्दः।"

(मी० द० २।१।३३)

अर्थ—(शेषे) मन्त्रों से अतिरिक्त मन्त्रों की व्याख्या रूप ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ भी (ब्राह्मणशब्दः) ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं।

अर्थात्—चारों वेदों के व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद का 'ऐतरेय' व्याख्यान अर्थात् ब्राह्मण है। सामवेद का 'ताण्ड्य' शेष अर्थात् व्याख्यान है। यजुर्वेद का व्याख्यान 'शतपथ' और अथर्ववेद का व्याख्यान 'गोपथ' ब्राह्मण कहलाता है।

यहाँ 'शेष' पद का अर्थ मन्त्र से शेष 'बचा हुआ नहीं' किन्तु महर्षि जैमिनि जी 'शेष' का अर्थ स्वयं निम्नलिखित सूत्रों में करते हैं:—

"अथातः शेषलक्षणम् ॥"

(मी० द० ३।१।१)

अर्थ:—अब शेष का लक्षण कहते हैं (जिसमें "ब्राह्मण" शब्द का व्यवहार है)।

"शेषः परार्थत्वात् ॥"

(मी० द० ३।१।२)

अर्थात्—'शेष' शब्द ब्राह्मणवाची है, परार्थत्वात्—वेदार्थ के प्रतिपादक होने से। कहीं अक्षरार्थ, कहीं भावार्थ और कहीं मन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोग को प्रदर्शित करता है। अत एव वह वेद का व्याख्यान तो है, पर मूल वेद नहीं।

यदि मीमांसाकार को 'शेष' शब्द से वेद ही अभीष्ट होता तो वे कदापि न कहते कि—

"अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः ॥"

(मी० द० २।१।३४)

अर्थात्—(अनाम्नातेषु) ईश्वरोक्त न होकर ऋषि-प्रोक्त होने के कारण ऐतरेयादि ब्राह्मण का (अमन्त्रत्वम्) वेदत्व नहीं है (हि) अतः उन्हें छोड़कर (आम्नातेषु) ईश्वर प्रदत्त मन्त्रों का (विभागः) विभाग कहते हैं।

यह कह कर अग्रिम सूत्रों में ऋग्, यजुः, साम भेद से स्पष्ट तीन प्रकार के मन्त्रों का विभाग दिखलाया है।

मीमांसाकार "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्।" (मी० द० १।३।१) इस सूत्र में शंका उठाकर कि—(धर्मस्य) धर्म में (शब्दमूलत्वात्) केवल वेद ही प्रमाण होने से (अशब्दम्) वेद से भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ (अनपेक्ष्यम् स्यात्) अप्रमाण हैं। अर्थात् जब वेद स्वतःप्रमाण हैं और धर्म में केवल वे ही मूलभूत प्रमाण माने जाते हैं, तो यह बात सिद्ध हो गई कि उनसे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ अप्रमाण हैं।

इसका समाधान करते हैं—

"अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥"

(मी० द० १।३।२)

अर्थ—(अपि, वा) सिद्धान्त सूचक शब्द हैं। (कर्तृसामान्यात्) इतरा के पुत्र महीदास आदि के रचे हुए ब्राह्मणादि ग्रन्थों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में, वेदानुकूल होने से (अनुमानं प्रमाणं स्यात्) अनुमान प्रमाण हो सकता है।

अर्थात्—धर्म में वेद को स्वतःप्रमाण माना था। इससे यह नहीं कह सकते कि वेदानुकूल होते हुए भी ब्राह्मण ग्रन्थ प्रमाण नहीं हैं। उन्हें भी अनुमान प्रमाण के द्वारा परतःप्रमाण में माना गया है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्त्ता ऋषि थे, न कि ईश्वर।

"विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।"

(मी० द० १।३।३)

अर्थ—(विरोधे) वेद और ब्राह्मणों का परस्पर

विरोध होने पर, ऐतरेयादि ब्राह्मण (अनपेक्ष्यम्) अप्रमाण हैं (तु) किन्तु (असति, हि) अविरुद्ध होने पर निश्चय ही वह प्रमाण (स्यात्) हैं, ऐसा (अनुमानम्) अनुमान कर लेना चाहिए।

अर्थात्—जिस बात का वेदों में निरूपण किया है, उसका प्रतिपादन न करके, यदि उसके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं, तो वे ब्राह्मण अप्रमाण हैं, परन्तु वेदानुकूल होने पर वे प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ परतः प्रमाण क्यों? इसका समाधान अग्रिम सूत्र से होता है—

"हेतुदर्शनाच्च ॥" (मी० द० १।३।४)

अर्थ—(च) और ऋषिप्रोक्त होने के अतिरिक्त (हेतुदर्शनात्) वेद उनके हेतु हैं, इस कारण से। अर्थात् वेदों की व्याख्या रूप होने से भी अनुमान के द्वारा उन्हें परतः प्रमाण में लिया गया है।

पुनः शंका उठाते हैं कि—

"शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्।"

(मी० द० १।३।५)

अर्थ—(शिष्टाकोपे) उसे (ऐतरेयादि ब्राह्मण को) शिष्टों ने बिना किसी विरोध के माना है, कि (अविरुद्धम्) वह सर्वथा वेदानुकूल है।

इसका समाधान अग्रिम सूत्र में करते हैं—

"न, शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥"

(मी. द. १।३।६)

अर्थ—(न) तो यह ठीक नहीं है। (शास्त्रपरिमाणत्वात्) क्योंकि ईश्वर रचित होने से केवल वेद ही स्वतः प्रमाण हो सकते हैं।

महर्षि कणाद की स्पष्टोक्ति

वैशेषिक सूत्र में आया है कि—

"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥" ६।१।१

"ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम् ॥" ६।१।२

"बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥" ६।१।३

"तथा प्रतिग्रहः ॥" ६।१।४

अर्थ—वेदों में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है ॥१॥

क्योंकि (वेदों का व्याख्यान करते हुए) ब्राह्मण में नामकरण सिद्धि का चिह्न है। अर्थात्—ब्राह्मण में वेद के जिस मन्त्र का विनियोग जिस कर्म में किया है, वह सिद्ध होता है। यदि वेद वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक न होती तो ब्राह्मणोक्त प्रकार से वेद प्रयोग सिद्ध न होते। अतः ब्राह्मण वेद नहीं है ॥ २ ॥

इसी प्रकार ददाति अर्थात् वेद में लिखा दान प्रयोग भी बुद्धि पूर्वक है ॥ ३ ॥

तथा प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना भी बुद्धि पूर्वक है ॥४॥

आचार्य पाणिनि का मत

अष्टाध्यायी में कल्प, ब्राह्मण, छन्द, मन्त्र इन चार शब्दों का वर्णन आता है।

"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥" अष्टा० ४।३।१०५

इस वचन में 'कल्प' और 'ब्राह्मण' दो ग्रन्थों के नाम हैं। यज्ञ में वेदमंत्रों के विवरण—अर्थवाद-विनियोग को वर्णन करने वाला ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाता है और उसकी वैनियोगिक विधि को विशद रूप से बतलाने वाला ग्रन्थ 'कल्प' है।

ब्राह्मण और छन्द

"छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि।" अष्टा० ४।२।६५

यहाँ छन्द और ब्राह्मण ये दो कहे गए हैं। छन्द अलग वस्तु है। पाणिनि जी ने 'छन्दस्' वाच्यता केवल मन्त्रों की ही मानी है ब्राह्मणों की नहीं। इस पर आचार्य पं० सत्यव्रत शर्मा सामश्रमी अपने "निरुक्तालोचन" ग्रन्थ में लिखते हैं—

"भगवता पाणिनिनाऽपि क्वचित्प्रायोजि मन्त्रेषु एव च छन्द इति। तथाहि छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि एवमादीनि समालोच्यानि। न हि तत्र छन्दःशब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानां पृथग्ग्रहणमुपपद्यते।"

पौराणिक पण्डित वेणी राम शर्मा गौड़ वेदाचार्य, अष्टाध्यायी के इस सूत्र पर लिखते हैं—"इत्यत्र मन्त्रेष्वेव छन्दश्शब्दः प्रायोजि। न हि तत्र छन्दश्शब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानाम् पृथग् ग्रहणमुपपद्यते। तत्समालोचनीयम् इति दिक्।"

इनके मन में भी ब्राह्मण को वेद मानने से झिझक ज्ञात होती है।

छन्द का स्वरूप

महाभाष्य में "तेन प्रोक्तम्" (अष्टा० ४।३।१०१) पर छन्दोर्थ इस सूत्र को पढ़ना चाहिए ऐसा प्रसङ्ग चलाकर "तत्र कृते ग्रन्थे इत्येव सिद्धम्। ननु चोक्तं न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति। छन्दांस्यपि

क्रियन्ते। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति।" (महाभाष्य ४।३।१०१)

अर्थात्—छन्द में प्रत्यय "कृते ग्रन्थे" (अष्टा० ४।३।११६) से सिद्ध हो जायगा। पुनः कहा गया कि छन्द तो किए-बनाये नहीं जाते हैं, छन्द नित्य हैं। उत्तर में कहा—छन्द भी किए जाते हैं। यद्यपि अर्थ नित्य है, परन्तु वर्णानुपूर्वी अनित्य है। वर्णानुपूर्वी के भेद से काठक संहिता, कालापकसंहिता, मौदक संहिता, पैप्पलादसंहिता इत्यादि नाम से संहिताएँ बन गईं अर्थात् कठ आदियों ने वर्णानुपूर्वी को बदल दिया, इससे उनकी बनाई हुई उक्त संहिताएँ हुईं।

यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि छन्दोविषय दो प्रकार का है, एक बिना हेरफेर वाला और दूसरा हेरफेर वाला। जो हेरफेर वाला छन्दोविषय है वह तो काठक आदि संहिताएँ हैं और दूसरा बिना हेरफेर वाला छन्दोविषय है वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध) जिसके सम्बन्ध में महाभाष्यकार ने कहा है—

"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता"। (महाभाष्य ५।२।५९)

यहाँ आम्नाय अर्थात् वेद में वर्णानुपूर्वी बिना हेर-फेर वाली कही गई है बिना हेर-फेर वाला छन्दोविषय 'मन्त्र' नाम से कहा जाता है।

छन्द और मन्त्र का भेद

"जुष्टार्पिते च छन्दसि॥
नित्यंमन्त्रे॥" अष्टा० ६।१।२०३, २०४

जुष्ट, अर्पित शब्दों को विकल्प से आदि उदात्त होने के लिए छन्दः, सामान्यरूप से हेरफेर वाला पूर्व सूत्र से था। उसमें से बिना हेरफेर वाले छन्दः में नित्य आदि उदात्त होने को मन्त्र शब्द से उत्तर सूत्र में कहा है। यहाँ मन्त्र वस्तु सामान्य नाम छन्दः से विशिष्ट है। इसी प्रकार—

"मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्॥"
अवे यजः॥
विजुपे छन्दसि॥" अष्टा० ३।२।७१,७२, ७३

यहाँ पूर्व सूत्र से मन्त्र में विधि है पुनः सामान्य से छन्दः में कही है। इससे स्पष्ट हुआ कि मन्त्र नाम बिना हेरफेर वाला छन्दोभाग जिस ग्रन्थ में है वह वेद कहलाता है।

निरुक्त की साक्षी

निरुक्त में कहा है—

"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने" (ऋ० १।१६४।१३)

इति पञ्चर्तुतया,। 'पञ्चर्तवः संवत्सरस्य' इति च ब्राह्मणम्...... (निरुक्त ४ नैगम काण्ड, २७ खं.)

यहाँ ब्राह्मग में वेद के 'पञ्चारे' का अर्थ 'वर्ष की पाँच ऋतुएँ' अपने को वेद से भिन्न सिद्ध करता है।

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं"...(ऋ० १।१६४।४८)
'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः' इति च ब्राह्मणम।"

(निरुक्त ४ नैगम काण्ड खं० २७)

यहाँ निरुक्तकार ने वेद के ३६० शङ्कुवों का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ में किए वर्ष के ३६० दिन रात दर्शाये हैं।

इससे भी 'ब्राह्मण' वेद के व्याख्यान ग्रन्थ सिद्ध होते हैं।

ब्राह्मणों की अन्तःसाक्षी

"यान् मन्त्रानपश्यत् स आथर्वणो वेदोऽभवत्।"

(गोपथ ब्राह्मण पू० १.५)

पुनः गोपथ ब्रा० पूर्वार्ध १।१ में लिखता है:—

तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य)
प्रथमया स्वरमात्रया ऋग्वेदम् अन्वभवत्॥१७॥
तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य)
द्वितीयया स्वरमात्रया यजुर्वेदम् अन्वभवत्॥१८॥
तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य)
तृतीयया स्वरमात्रया सामवेदम् अन्वभवत्॥१९॥
तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य)
वकारमात्रया अथर्ववेदम् अन्वभवत्॥२०॥
तस्य (ओमित्येतदक्षरस्य)
मकारश्रुत्या उपनिषदः अन्वभवत्॥२१॥

अर्थात्—'ओम् की प्रथम मात्रा से ऋग्वेद, दूसरी से यजुर्वेद, तीसरी से सामवेद, वकार मात्रा से अथर्ववेद, इतना कहकर, मकारश्रुति से उपनिषदों आदि का बनाना कहा है।'

यदि उपनिषद् वेदान्तर्गत होते तो ब्राह्मणवाले ऐसा

प्रयोग नहीं करते। प्रत्युत ऐसे प्रयोग से उनका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि उपनिषदादि वेद नहीं हैं।

"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः (अथर्ववेदः) इति।"

(गोपथ ब्रा० पू० २।१६)

यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ अपने से भिन्न वेदों की ओर इंगित करता है कि 'इमे' ये ऋग्वेदादि चार वेद हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' में वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों को यह कह कर छोड़ दिया कि "नात्र तिरोहितमिवास्ति" = अर्थात् मन्त्र का जितना अङ्ग जटिल था उसकी व्याख्या हमने कर दी, शेष स्पष्ट है। यह 'नात्र तिरोहितमिवास्ति' शतपथ ब्रा० के निम्नलिखित स्थानों में है—

"का. १, अ. १, ब्रा. १, क. ३; अ. ३, ब्रा. १, क. १६।

का. ३. अ. ६. ब्रा. ३. क. १४। का. १४. अ. १, ब्रा. ३ क. १०-११।"

शतपथ ब्रा. में 'व्याख्यान' शब्द भी स्पष्ट है—

"तदस्तद् दिवाकीर्त्यानाम् ब्राह्मणे व्याख्यायते यथा तद् यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतु।"

(का. ४. अ. १. ब्र. ५. १५)

अन्यत्र भी देखिए—"का. १. अ. ६. ब्र. १. क. ७. का. ३. अ. १. ब्रा. ३. क. १।"

"का. ४. अ. १. ब्रा. ५. क. १५।"

उपनिषदें अपने को वेद नहीं कहतीं

"स्वधर्मोऽभिहितो वेदेषु" (मैत्र्यु० ४।३)

धर्म वेदों में कहा गया है।

यहाँ उपनिषद् धर्म के स्वीकार करने को अपने से भिन्न वेदों का निर्देश कर रहा है।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति...तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥" (कठोपनिषद् १।२।१५)

सारे वेद जिसका वर्णन करते हैं उस 'ओ३म्' रूप पद का तुझे उपदेश देता हूँ।

यहाँ उपनिषद् 'ओ३म्' के श्रेष्ठ होने में वेद को आधार बनाता हुआ सिद्ध करता है कि उपनिषद् वेद नहीं है।

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्॥" [छान्दो० ७।१।२]

'नारद ने कहा, भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद चौथा अथर्ववेद पढ़ा है।'

ऐसा कथन वेद उक्त उपनिषद् से भिन्न है, यह सिद्ध कर रहा है।

पौराणिक पं० अखिलानन्द शर्मा कविरत्न अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अथर्ववेदालोचन" ५ में लिखते हैं—

"......विधिशब्दाच्च, पू० मी० १।२।५३

इस सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने [मंत्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्द इत्युच्यते] इस प्रकार लिखते हुए ब्राह्मण को मन्त्र का व्याख्यान माना है।

यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में

ॐकारं वेदेषु, अथकारं भाष्येषु, यह लिखते हुए कात्यायन ने भी वेद और ब्राह्मण को भिन्न भिन्न माना है।

विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि॥

यह पद्य सर्वानुक्रमणीवृत्ति भूमिका में लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्मों में विनियोग बतलानेवाला मन्त्र होता है और विधि तथा स्तुति के बतलानेवाले शेष को ब्राह्मण कहते हैं। यहाँ पर भी दो विभाग स्पष्ट रूप से विभक्त हैं।

शेषे ब्राह्मणशब्दः २।१।३३॥ अथातः शेषलक्षणम् ३।१।१॥ शेषः परार्थत्वात् ३।१।२ (पू० मी०)

मीमांसा दर्शन के इन सूत्रों में ब्राह्मण को शेष भाग बताया गया है। दूसरे के अधीन चलने के कारण इसका नाम शेष है। व्याख्यान मूल पर होने से मूल नहीं माना जा सकता है। ब्रह्मणादि ग्रन्थों के न मानने पर वानप्रस्थ-संन्यास ये दो आश्रम जिनका किसी वेद मन्त्र में देवतात्वेन वर्णन नहीं है उपादेय नहीं हो सकते हैं।

हमारे मत में तो जहाँ वेद का साक्षात् विरोध हो वहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ मानने योग्य नहीं हैं परन्तु जहाँ विरोध न हो वहाँ पर ऋषियों के ब्राह्मणादि वाक्य भी अवश्य मानने योग्य हैं।

अतएव उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि 'ब्राह्मण' वेदों के व्याख्यान हैं।

---

५. हिन्दी प्रेस, प्रयाग में मुद्रित और लेखक द्वारा ही प्रकाशित, "अवतरणिका" पृष्ठ ३४-३५।

वेद और अष्टाध्यायी

[ले० श्री पं० गोपाल शास्त्री जी, दर्शनकेसरी—ज्योतिर्मठ]

मनुजीने वेद के सम्बन्ध में लिखा है किः—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

ईश्वर ने सर्वप्रथम जिसकी न उत्पत्ति है न विनाश है ऐसी दिव्यवाणी 'वेदवाणी' का आविर्भाव किया जिसके द्वारा सारा जगत्व्यवहार सिद्ध होता है।

यह श्लोक है तो वेद के लिये, पर मेरी दृष्टि में यह पाणिनि मुनि के अष्टाध्यायी शब्दानुशासन पर भी लागू हो रहा है। 'अइउण्' इत्यादि जो १४ चौदह सूत्र हैं वे ईश्वर ने (महेश्वर-शिव जी ने) डमरूवाद्य द्वारा प्रगट किये हैं। यह नन्दिकेश्वर ने अपनी कारिका से स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

"नृत्तावसाने नटराजराजो
ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्" इत्यादि।

यदि वे चौदह सूत्र ईश्वर प्रदत्त हैं तो ये अनादि हैं और इनसे ही पाणीनि जी का सारा व्यवहार सिद्ध होता है। इसमें तो किसी को सन्देह ही नहीं है। पतञ्जलिने तो स्पष्ट ही कहा है—

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति। मातापितरौ चास्य सवर्गे लोके महीयेते।"

यह अक्षरवेद १४ चौदह सूत्र समुदाय वाग्वेद है, पदवेद है। इसे अष्टाध्यायी सूत्रों के अर्थज्ञान द्वारा पुष्पित तथा प्रयोगों की सिद्धि द्वारा जब फलित कर लिया जाता है तो यह ब्रह्मराशि वेदराशि हो जाता है। जबकि सारे वेदों के प्रयोगों को इससे आप ने सिद्ध किया है, तो क्या अब भी इसके वेदराशि होने में सन्देह है। इसी से सारे शब्दानुशासन के पढ़ने से सभी वेदों के अध्ययन का फल भी मिलेगा ही और माता-पिता भी अध्येता के पुण्य से स्वर्ग में महत्त्व पावेंगे ही इसमें कुछ सन्देह नहीं। मैं तो कैयटादि भाष्यव्याख्याताओं से भिन्न ही अर्थ करता हूँ इसका। इतने से ही पाठक मेरा अभिप्राय समझ जायेंगे। यहाँ मैं कुछ अष्टाध्यायी की खास विशेषताओं को बताना चाहता हूँ। जो इसे वेदतुल्य सिद्ध कर रही हैं।

वेद में आनुपूर्वी है। उसके मन्त्रों के पदों का संहितापाठ, पद पाठ वेदज्ञों को विदित ही है। अष्टाध्यायी सूत्र भी तो एक दूसरे में ऐसे आबद्ध हैं कि उन्हें पृथक् कर ही नहीं सकते हैं। इसके ज्ञाताओं को मैं क्या समझाऊं। दूसरे को तो समझाना भी इस संक्षिप्त लेख में दुस्तर है। देखिये—पाणिनि जी का चुटू (१।३।७) सूत्र है। इस सूत्र ने आदि ञिटुडवः (१।३।५) षः प्रत्ययस्य (१।३।६) इतने को तो अपने साथ में लिया ही है। किन्तु उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) इसे भी अपने साथ में बाँधे हुए है। देखिये 'चुटू' (१।३।७) की आनुपूर्वी उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से लेकर स्वयं चुटू तक बँधी है। तभी इसका पूरा अर्थ होगा—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चुटू इतौ भवतः। देखा आपने। उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ से उपदेशे, इत् दो पद आये। आदिर्ञिटुडवः १।३।५ से आदिः आया। षःप्रत्ययस्य १।३।६ से प्रत्ययस्य आया। स्वयं चुटू मिला तब अर्थ पूरा हुआ—उपदेश में प्रत्ययके आदि चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है। यह तो आनुपूर्वी की विशेषता है। इस विशेषता को जो तोड़ता है। वह वेद की आनुपूर्वी तोड़ने का अपराधी होगा कि नहीं ? इसी से सिद्धान्त कौमुदी लिखने वाले को स्वामी विरजानन्द जी ने पापी बताया है। क्योंकि ये सूत्र तो जब भी पढ़े जायेंगे, तब क्रमशः ही पढ़े जायगें। क्रम तोड़ देने पर तो इनका अर्थ ही टूट जायगा। ये सभी सूत्र डीटो क्रम से लिखे गये हैं। देखिये—

१—उपदेशेऽजनुनासिक इत्	१।३।२		
२—" हलन्त्यम्	"	"	३
३—" आदिर्ञिटुडवः	"	"	५
४—" " षःप्रत्ययस्य	"	"	६
५—" " चुटू	"	"	७
६—" " लशक्वतद्धिते	"	"	८
७—" तस्य लोपः	"	"	९

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

विविध समाचार

तृतीय साधारण निर्वाचन

प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने लोकसभा में घोषणा की कि आगामी आम चुनाव १९ से २५ फरवरी तक होंगे और २ मार्च तक सभी निर्वाचन फलों की घोषणा कर दी जायगी। हिमाचल प्रदेश एवं पंजाब के पर्वतीय स्थानों के चुनाव अप्रैल में होंगे। वर्त्तमान लोकसभा ३१ मार्च तक कार्य करेगी।

चीन द्वारा पुनः सीमातिक्रमण

भारतीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने लोकसभा में घोषित किया कि चीन ने लद्दाख में १९५६ और १९६० की सीमाओं के बीच में नई सैनिक चौकियाँ स्थापित करली हैं। इस के सम्बन्ध में भारत सरकार ने चीन को कड़ा विरोधपत्र भेजा है। कुछ सैनिक कदम भी उठाये गये हैं। विरोधी दल के सदस्यों तथा लोकसभा के अध्यक्ष ने भारतीय नीति की आलोचना की।

उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी शिक्षा तृतीय श्रेणी से आरम्भ होगी

उत्तर प्रदेश राज्य सरकार ने निश्चय किया है कि राज्य में अंग्रेज़ी शिक्षा तृतीय श्रेणी से प्रारम्भ होगी। पूरक बजट में ५ लाख रुपये अंग्रेज़ी के प्रसार पर व्यय करने की व्यवस्था की गई है। हाई स्कूल और इण्टर की परीक्षाओं में भी अंग्रेज़ी पूर्ववत् अनिवार्य विषय के रूप में चलती रहेगी। जुलाई १९६२ से माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाओं की शिक्षा चालू हो जायगी।

अकालियों का दुराग्रह

सिखों के साथ भेदभाव की जांच के लिये भारत सरकार ने आयोग नियुक्त किया है। इसके सदस्य हैं—भारत के अवकाशप्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री एस-आर. दास, डा० सी. पी. रामस्वामी अय्यर और श्री एम. सी. छागला। श्रीदास आयोग के अध्यक्ष हैं। मास्टर तारासिंह ने घोषणा की है कि आयोग के सदस्य नेहरूप्रभाव से मुक्त होने चाहियें। अकाली दल वर्त्तमान आयोग के सदस्यों को ऐसे नहीं मानता, अतः केन्द्रीय सरकार दूसरा आयोग नियुक्त करे। अकालियों की इस अड़ङ्गे की नीति की सर्वत्र आलोचना हुई है।

कर्नल भट्टाचार्य को ८ वर्ष कठोर कारावास का दण्ड

पाकिस्तान की सैनिक अदालत ने भारतीय सेनाधिकारी कर्नल भट्टाचार्य को ८ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया है। श्री भट्टाचार्य पर जासूसी सम्बन्धी ५ आरोप लगाये गये थे, जिन में से ४ प्रमाणित हुए। ज्ञातव्य है कि कर्नल भट्टाचार्य को भारतीय सीमा के अन्दर से पाकिस्तानी सीमा-सैनिक बलात् पकड़ ले गये थे और उन के ऊपर बन्द कमरे में मुकदमा चलाया गया था।

साधु आश्रम हरदुआ गंज की स्वर्ण जयन्ती सम्पन्न

वीतराग श्री स्वा० सर्वदानन्द जी महाराज द्वारा स्थापित साधु आश्रम हरदुआ गंज (अलीगढ़) की स्वर्ण जयन्ती सोत्साह सम्पन्न हुई। आर्य समाज के प्रतिष्ठित संन्यासी, नेता एवं विद्वान् इस अवसर पर भारी संख्या में उपस्थित हुए थे। उल्लासपूर्ण आर्य जनता की अपार भीड़ एकत्र हुई थी। यज्ञ, उपदेश तथा व्याख्यानों के आकर्षक तथा ज्ञानवर्धक पुरोगम रखे गये।

दश पञ्च चतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः। अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥६८॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्। कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥६९॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ। कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥७०॥
मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा। कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैर्वा मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः ॥७१॥
कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः। कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥
कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव। आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥
यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहाः। तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

विजय, षड्गुण,[८] देव मनुष्य संवन्धी आपत्तियाँ,[९] राजकृत्य,[१०] विंशतिवर्ग,[११] प्रकृति[१२] तथा मण्डल,[१३] यात्राविधान,[१४] दण्डविधान[१५] और संधि-विग्रह[१६]—इन सबको हेय-उपादेय रूप से समझते हो न? ॥ ६८-७० ॥ नीतिशास्त्र के अनुसार तीन, चार अथवा सब मन्त्रियों से एक साथ या पृथक्-पृथक् विचार विमर्श तो करते हो? ॥ ७१ ॥ तुम्हारे वेद, क्रियाएँ, स्त्रियाँ तथा ज्ञान सफल तो हैं अर्थात् तदनुसार आचार-व्यवहार तो करते हो? ॥ ७२ ॥ भरत! तुम्हारी बुद्धि वैसी ही है न? जैसी मैं ने बताई है क्योंकि यही आयु तथा यश देने वाली है और धर्म-अर्थ-काम को सिद्ध करने वाली है ॥ ७३ ॥ जिस शुभ सत्य मार्ग का अनुसरण पिता जी करते हैं तथा पूर्वजों ने किया था, तुम भी उसी के अनुसार चलते हो न? ॥ ७४ ॥ स्वादु पदार्थों का उपभोग अकेले तो नहीं करते हो? स्नेह के कारण याचक मित्रों को दान तो

८—सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा ॥ (मनु ७।१६०)
अर्थात्—मेल, युद्ध, चढ़ाई, स्थिर रहना, विभाग तथा किसी का सहारा लेना—छ गुणों का सदा चिन्तन करे।

९—हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं परम् ॥
आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च व्यसनं पञ्चधा भवेत् ॥ (कामन्दकीय)
अर्थात्—अग्निलगना, जलप्लावन, व्याधि, दुर्भिक्ष तथा मृत्यु ये पाँच दैव आपत्तियाँ हैं तथा अधिकारी, चोर, शत्रु, राजा के प्रिय तथा राजा के लोभ से होने वाली पाँच मानुष आपत्तियाँ हैं।

१०—शत्रु के अलब्धवेतन, निरादृत, कोपित तथा भयभीत व्यक्ति अपने पक्ष में कर लेना। (कामन्दकीय)

११—बाल, वृद्ध, दीर्घरोगी, ज्ञातिबहिष्कृत, भीरु, भीरु मन्त्री आदि वाला, लोभी, लोभी जनों वाला, विरक्त, विषयासक्त, अस्थिरबुद्धि, विद्वानों का निन्दक, अभिशप्त, पुरुषार्थहीन, दुर्भिक्षपीडित, सेनाविहीन, प्रवासी, बहुरिपु, अकाल आपत्तिग्रस्त तथा सत्य धर्म से विहीन—इन बीस पुरुषों से सन्धि न करे। (कामन्दकीय)

१२—अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश तथा दण्ड।

१३—मध्य में विजय का इच्छुक राजा, उसके सामने पाँच, पीछे चार तथा पार्श्व में दो व्यक्ति—इस प्रकार बीस मण्डल होते हैं।

१४—विग्रह, सन्धि, संभूय, प्रसङ्ग तथा उपेक्ष्य—यान पाँच प्रकार का है। (कामन्दकीय)

१५—सेना की व्यूहरचना।

१६—षड्गुणोक्त द्वैधीभाव-समाश्रय सन्धि के अन्तर्गत और यान-आसन विग्रह के अन्तर्गत आ जाते हैं।

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव । कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः संप्रयच्छसि ॥७५॥
राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथावदितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे कच्चित्सर्गो नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

एकाधिकशततमः सर्गः

पितृदिष्टान्तश्रवणम्

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह । किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥
शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ । ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राज्ञां कनीयान्न भवेन्नृपः ॥ २ ॥
ससमृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव । अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥ ३ ॥
राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे संमतो मम । यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥
केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते । दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥
निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे । दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥
[उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः । अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

देते हो ? ॥ ७५ ॥ इस प्रकार धर्मानुकूल दण्ड धारण करने वाला राजा प्रजा का पालन करके, सारी पृथ्वी को प्राप्त कर स्वर्ग को चला जाता है ॥ ७६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कुशलता आदि विषयक प्रश्न' विषयक सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१००॥

एक सौ पहला सर्ग

पिता के स्वर्गवास का श्रवण

श्रीरामचन्द्र की इन बातों को सुन कर भरत बोले—परम्परागत अपने कुल की मर्यादा को छोड़ने वाले धर्महीन मेरे लिये राजधर्म का उपदेश क्या करेगा ॥ १ ॥ परम्परागत हमारे कुल का यही सनातन नियम चला आता है कि ज्येष्ठ पुत्र के होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं होता ॥ २ ॥ इस लिये हे आर्य रामचन्द्र ! इस कुल के कल्याण के लिये धन धान्य से समृद्ध अयोध्या में मेरे साथ चलिये और अपना अभिषेक कराइये ॥ ३ ॥ यद्यपि सर्वसाधरण की दृष्टि में राजा मनुष्य माना जाता है किन्तु राजा के धर्मार्थ युक्त अमानुष व्यवहारों को देख कर मैं उसको देवता समझता हूँ ॥ ४ ॥ मेरे केकयदेश (मामा के गृह) में होने पर और आप के वनवासी हो जाने पर सज्जनों के माननीय, अश्वमेधादि यज्ञ के करने वाले पिताजी स्वर्गवासी हो गये ॥ ५ ॥ लक्ष्मण तथा सीता के साथ जिस समय आप वनवासी हुए, दुःख तथा शोक से आक्रान्त राजा स्वर्गवासी हो गये ॥ ६ ॥ हे नरशार्दूल रामचन्द्र ! उठिये, पिता को जलाञ्जलि दीजिये । मैं और शत्रुघ्न पहले ही जलदान कर चुके हैं ॥ ७ ॥ प्रायः प्रियजनों के द्वारा दिया हुआ जल दान पितृलोक में अक्षय माना

प्रियेण खलु दत्तं हि पितृलोकेषु राघव । अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रिय ॥ ८ ॥]

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सुस्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वया विहीनस्तव शोकरुणस्त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप राजा ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पितृदिष्टान्तश्रवणं नाम एकाधिकशततमः सर्गः ॥१०१॥

द्व्यधिकशततमः सर्गः

रामपरिदेवनम्

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम् । राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥
तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा । वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः ॥ २ ॥
प्रगृह्य बाहू रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः । वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥
तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् । कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शिताः । रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥
स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामस्रमुत्सृजन् । उपाक्रमत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

जाता है और आप पिताजी के अत्यन्त प्रिय हैं※ ॥ ८ ॥ आप के विषय में शोक करते हुए आपके दर्शनेच्छु, आप में ही ध्यान लगाने वाले, आप में ही जिनकी बुद्धि निबद्ध हो रही थी, आप के विना शोक से रुग्ण होते हुए तथा आपका स्मरण करते हुए पिताजी स्वर्गवासी हो गये ॥ ९ ॥

इस प्रकार बाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'पिता के स्वर्गवास का श्रवण' विषयक
एक सौ पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

एक सौ दूसरा सर्ग

राम का शोक

भरत के द्वारा पिता की करुणापूर्ण मृत्यु के समाचार को सुनकर रामचन्द्र मूर्छित हो गये ॥ १ ॥ संग्राम में इन्द्र के द्वारा छोड़े हुए वज्र के समान भरत के द्वारा अत्यन्त अप्रिय वाणी को सुनकर शत्रुतापी रामचन्द्र वन में कुल्हाड़ी से कटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े ॥२, ३॥ अपनी गुणगरिमाओं से विश्ववन्द्य, तट तोड़ने से परिश्रान्त सोये हुए गजराज की तरह पृथ्वी पर गिरे हुए, शोकाक्रान्त रामचन्द्र को देख कर वैदेही जानकी के सहित रोते हुए रामचन्द्र के तीनों भाईयों ने रामचन्द्र पर जल से सिञ्चन किया ॥ ४, ५ ॥ जल सिञ्चन आदि क्रिया के द्वारा होश आने पर आँखों से आँसू बहाते हुए रामचन्द्र ने बहुत करुणापूर्ण विलाप किया ॥ ६ ॥ पृथ्वीपति पूज्य पिता के स्वर्गवासी होने का समाचार सुन कर

※ मरने के पश्चात् जलदान-पिण्डदान आदि क्रिया पौराणिक काल की होने से तथा वेदशास्त्रादि विरुद्ध अवैदिक होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त माने गये हैं ।

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् । उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७॥
किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते । कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८॥
किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः । यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥ ९॥
अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ । शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥१०॥
निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विनाकृताम् । निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥११॥
समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप । को नु शासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥१२॥
पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् । वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥१३॥
एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः । उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥१४॥
सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण । भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥१५॥
ततो बहुगुणं तेषां बाष्पो नेत्रेष्वजायत । तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम्॥१६॥
ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य राघवम् । अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥१७॥
सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् । नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं पतिम् ॥१८॥
सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् । उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥१९॥
गच्छ लक्ष्मण स्नानार्थं चीरमाहर चोत्तरम् । जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥२०॥
सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज । अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषां सुदारुणा ॥२१॥

धर्मात्मा रामचन्द्र अपने भाई भरत से धर्मानुकूल वचन बोले ॥ ७ ॥ कर्मानुकूल पूज्य पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर अब मैं अयोध्या में जा कर क्या करूँगा । राजाओं के मुकुटमणि महाराज के विना अब अयोध्या का पालन कौन करेगा ॥ ८ ॥ मुझ ऐसे अभागे पुत्र के द्वारा उस महात्मा का क्या प्रयोजन जो मेरे शोक में मृत्यु को प्राप्त हुए और मैं उनका संस्कार भी न कर सका ॥ ९ ॥ हे निष्पाप भरत ! तुम बहुत भाग्यशाली हो जो भाई शत्रुघ्न के साथ पिता जी की सम्पूर्ण अन्त्येष्टि में सहयोग दिया ॥ १० ॥ वनवास के समाप्त होने पर भी प्रधान से हीन अनेक लोगों से परिपूर्ण राजा के बिना उस अयोध्या नगरी में मैं प्रवेश न करूँगा ॥ ११ ॥ पूज्य पिता जी के परलोक वासी हो जाने पर, वनवास की अवधि समाप्त हो जाने पर यदि मैं अयोध्या में प्रवेश करूँगा तो मुझे शिक्षा कौन देगा ॥ १२ ॥ मुझ आज्ञाकारी पुत्र के प्रति पिताजी जो सान्त्वना पूर्वक सुखदायी वचन कहते थे, अब वे कर्णप्रिय मधुर वचन किस से सुनूँगा ॥ १३ ॥ अपने भाई भरत से इस प्रकार बातें करके शोक सन्तप्त रामचन्द्र चन्द्रमुखी सीता के पास जा कर यह वचन बोले ॥ १४ ॥ हे सीते ! तुम्हारे ससुर का देहान्त हो गया । हे लक्ष्मण ! तुम आज पितृविहीन हो गये हो । पिताजी के स्वर्गवासी होने का दुःखद समाचार भाई भरत ने हमें सुनाया है ॥ १५ ॥ मर्यादा पुरुषोत्तम राम के ऐसा कहने पर उन यशस्वी राजकुमारों की आँखों से अधिक अश्रुप्रवाह होने लगा ॥ १६ ॥ सब भाईयों ने मिलकर दुःखी रामचन्द्र को आश्वासन देते हुए यह वचन कहा—जगतपति पिता के निमित्त स्नान कर लीजिये ॥ १७ ॥ वह सीता अपने ससुर महाराज दशरथ की मृत्यु को सुनकर रोदन करने लगी । अतः अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने पति को देख न सकी ॥१८॥ रोती हुई जानकी को दुःखित रामचन्द्र आश्वासन देकर अत्यन्त दुःखी अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥१९॥ हे लक्ष्मण ! जाओ, स्नान के लिये उत्तरीय वस्त्र को ले आओ । पूज्य पिता जी के निमित्त स्नान के लिये जाऊँगा ॥२०॥ सीता आगे-आगे चले और तुम इनके साथ साथ चलो, मैं उसके पीछे चलूँगा यह अवस्था अत्यन्त दुःखदायी है ॥२१॥

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः । मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥२२॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् । अवातारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥२३॥
ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः । नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥२४॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम् । सिषिचुस्तूदकं राज्ञे [तत्रैतत्ते भवत्विति ॥२५॥
प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् । दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥२६॥
एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् । पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥२७॥
ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युत्तीर्य स राघवः । पितुश्चकार तेजस्वी निवापं भ्रातृभिः सह ॥२८॥
ऐङ्गुदं बदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे । न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥२९॥
इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् । यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥३०॥]
ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य नदीतटात् । आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥३१॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः । परिजग्राह बाहुभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥३२॥
तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिशब्दोऽभवद्गिरौ । भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानामिव नर्दताम् ॥३३॥
महाबलानां रुदतां कुर्वतां स्मरणं पितुः । विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥३४॥

पश्चात् रघुकुल के अत्यन्त प्रेमी, आत्मज्ञानी, बुद्धिमान्, मृदुस्वभाव वाले सुन्दर, जितेन्द्रिय, राम में दृढ़ भक्ति रखने वाले सुमन्त्र ने राजकुमारों के साथ रामचन्द्र को समझा कर, सहारा देते हुए स्मरणीय मन्दाकिनी के तट पर उतारा ॥२२,२३॥ सदा समीप पुष्पित कानन वाली तथा सुन्दर घाटों वाली शीघ्रता से बहने वाली उस रमणीय मन्दाकिनी नदी के तट पर दुःखपूर्वक उन यशस्वियों ने किसी प्रकार जाकर कीचड़ रहित घाट पर स्नान किया। राजा के निमित्त जल देते हुए यह कहा कि यह जल आप को प्राप्त हो ॥२४,२५॥ रामचन्द्र ने अपनी अञ्जलि में जल भर कर दक्षिण दिशा को मुख करके रोते हुए यह वचन कहा ॥२६॥ हे राजशार्दूल! मेरे द्वारा दिया हुआ यह अक्षय विमल जल पितृलोक वासी आपको प्राप्त हो ॥२७॥ पश्चात् मन्दाकिनी नदी के तट पर उतर कर अपने भाईयों के साथ रामचन्द्र ने पिता को पिण्डदान दिया ॥२८॥ बेर मिश्रित इङ्गुदी के पिण्डों को कुशों पर रखकर रोते हुए दुःखपूर्वक रामचन्द्र यह वचन बोले ॥२९॥ हे राजन्! जो भोजन इस समय हम लोग करते हैं, उसी पिण्ड का आप भोग करें क्योंकि लोग जो अन्न खाते हैं, उनके देवता भी उसी अन्न को खाते हैं ॥ ३० ॥ ‡ स्नानादि से निवृत्त होकर वे रामचन्द्र उसी मार्ग से नदी तट से निकल कर रमणीय चोटी वाले उस पर्वत पर चढ़े ॥३१॥ पश्चात् विश्ववन्द्य रामचन्द्र ने पर्णकुटी के द्वार पर आकर अपने हाथों से भरत लक्ष्मण को पकड़ लिया ॥३२॥ सीता और भाईयों के साथ उन सभी का रोना पहाड़ पर ऐसा हुआ जैसे सिंह के गर्जन से आसपास की भूमि प्रतिध्वनित हो जाती है ॥३३॥ पिता को स्मरण करके रोते हुए उन महाबलवानों के तुमुल शब्द को जानकर भरत के सैनिक डर गये ॥ ३४ ॥ वे आपस में बोले—मालूम पड़ता है, राम

---

‡ २५–३० श्लोक प्रक्षिप्त हैं। मरे हुए पितरों को जलदान पिण्डदान के द्वारा श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध है। मृतक श्राद्ध या पिण्डदान की सारी प्रक्रिया पौराणिक जगत् की कल्पना है। राम के लिये रामायण में जगह-जगह आता है—'वेदविदां वरः' अर्थात् वेद के जानने वालों में सबसे श्रेष्ठ—ऐसे वेदानुयायी मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र अवैदिक पिण्डदान श्राद्ध आदि अनुचित काम क्यों करेंगे?

अनुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम् । तेषामेव महान्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥३५॥
अथ वासान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् । अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥३६॥
हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः । सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥३७॥
अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा । द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम् ॥३८॥
भ्रातॄणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् । ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिस्वनाकुलैः ॥३९॥
सा भूमिर्बहुभिर्यानैः खुरनेमिसमाहता । मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥४०॥
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः । आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥४१॥
वराहवृकसङ्घाश्च महिषाः सर्पवानराः । व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥४२॥
रथाङ्गसाह्वा नत्यूहा हंसाः कारण्डवाः प्लवाः । तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः॥
तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम् । मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥४४॥
ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम् । आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥४५॥
विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्थरामपि । अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥४६॥
तान्नरान् बाष्पपूर्णाक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान्। पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥४७॥
स तत्र कांश्चित्परिषष्वजे नरान्नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।
चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान् यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥४८॥

के साथ भरत का मिलाप निश्चय हो गया। मरे हुए पिता के दुःखद समाचार को सुनकर उन्हीं लोगों के रोने का यह महान् शब्द हो रहा है ॥ ३५ ॥ राजकुमारों के रोने के शब्द को सुन कर वे अयोध्यावासी तथा सैनिक लोग अपने-अपने वाहनों को छोड़ कर जिधर से शब्द आ रहा था एकचित्त होकर सब लोग उधर ही दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥ उनमें जो सुकुमार मति के लोग थे, उनमें से कुछ लोग अपने अलंकृत हाथी, घोड़े तथा रथों के द्वारा चल पड़े तथा कुछ लोग पैदल ही चल दिये ॥ ३७ ॥ अभी थोड़े दिनों से ही राम प्रवासी हुए हैं, उनको चिरकाल से प्रवासी समझ कर उनको देखने की कामना से लोग सहसा उनके आश्रम की ओर चल पड़े ॥ ३८ ॥ परस्पर भाईयों का सम्मिलन देखने की कामना से घोड़ों की टाप तथा रथनेमि के शब्दों से आकुल नाना प्रकार के यानों से शीघ्र ही चल पड़े ॥ ३९ ॥ वह वनस्थली रथ आदि यान तथा घोड़ों के चलने से इस प्रकार का तुमुल शब्द करने लगी जैसे वर्षाकाल में बादलों के आने से आकाश में शब्द होता है ॥ ४० ॥ उस तुमुल शब्द से डरे हुए मतवाले हाथी हथनियों के साथ अपने मदगन्ध से आसपास के स्थल को सुगन्धित करते हुए दूसरे वन में चले गये ॥ ४१ ॥ सूअर, हिरण, सिंह, भैंसे, सांप, वानर, बाघ, काले मृग तथा नील गाय अन्य प्रकार के मृगों के साथ सब डर कर भागने लगे ॥ ४२ ॥ चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, बटेर, सारस, कोयल, क्रौञ्च, ये सभी डरकर दिशाओं में भाग गये ॥ ४३ ॥ उन शब्दों से डरे हुये पक्षियों से आकाश भर गया और मनुष्यों से भूमि भर गई, उस समय ये दोनों ही शोभा को प्राप्त हुये ॥ ४४ ॥ तत्पश्चात् नरकेसरी, यशस्वी, पापरहित श्री रामचन्द्र को, चबूतरे पर बैठे हुये एकाएक जनता ने देखा ॥ ४५ ॥ कैकेयी तथा दासी मन्थरा की निन्दा करते हुए, आँखों में आँसू भर कर लोग रामचन्द्र के सामने गये ॥ ४६ ॥ आँखों में आँसू भरे हुए अति दुःखित लोगों को देखकर धर्मात्मा रामचन्द्र ने माता-पिता के समान उनका आलिङ्गन किया ॥ ४७ ॥ वहाँ पर रामचन्द्र ने किन्हीं लोगों का आलिङ्गन किया तथा बहुत से मनुष्यों ने रामचन्द्र का अभिवादन किया और राजकुमार रामचन्द्र ने शेष बन्धु-बान्धवों का यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४८ ॥ पश्चात्

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां भुवं च खं चानुनिनादयन् स्वनः ।
गुहा गिरीणां च दिशश्च सततं मृदङ्गघोषप्रतिमः प्रशुश्रुवे ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामपरिदेवनम् नाम द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

मातृदर्शनम्

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च । अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥
राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति । ददृशुस्तत्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥२॥
कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता । सुमित्रामब्रवीद्दीना याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥
इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् । वने प्राक्केवलं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥
इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः । स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥
जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः । भ्रातुर्यदर्थसहितं सर्वं तद्विहितं गुणैः ॥ ६ ॥
अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः । नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥
[दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले । पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

उन महात्माओं के रोदन शब्द से, आकाश और पृथ्वी गुञ्जायमान हो गई, पर्वत की गुफायें तथा सम्पूर्ण दिशाएं उनके शब्दों से ऐसी प्रतिध्वनित हुईं जैसे मृदङ्ग का घोष हो रहा हो ॥ ४९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम का शोक' विषयक एक सौ दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०२ ॥

एक सौ तीसरा सर्ग

माता का दर्शन

श्रीमान् राजा दशरथ की स्त्रियों को आगे करके गुरुदेव वसिष्ठ भी राम के दर्शन की उत्कण्ठा से उस स्थान पर गये ॥१॥ मन्द-मन्द गति से, मन्दाकिनी के तट पर जाती हुई महारानियों ने वहाँ पर राम लक्ष्मण के स्नान करने वाले घाट को देखा ॥२॥ मुख जिसका सूख रहा है ऐसी, आँखों में आँसू भरे हुये, कौसल्या ने अत्यन्त दुःखी सुमित्रा तथा अन्य रानियों से यह कहा—॥३॥ वन में विवासित वनवास के कष्ट सहने वाले धर्मव्रती उन अनाथों के स्नान करने का यह घाट है, इसको देखो ॥४॥ हे सुमित्रे ! आलस्य रहित तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण, मेरे पुत्र राम के लिये यहीं से पानी ले जाता है ॥५॥ दास का जघन्य काम करता हुआ भी तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण, इस काम से निन्दित नहीं हुआ है। भाई की सेवापरायणता से रहित जो कार्य होता है, उसकी गुणवानों ने निन्दा की है ॥६॥ (समझाने से रामचन्द्र के अयोध्या लौट जाने पर) कष्ट सहन करने योग्य तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण भी इस दास रूप नीच कर्म को छोड़ देवे ॥७॥ पृथ्वी पर दक्षिण की ओर अग्रभाग जिनके झुके हैं, ऐसे कुशों पर पिता के लिये इङ्गुदी के पिण्डों को, विशालाक्षी कौसल्या ने देखा ॥८॥ दुःखी रामचन्द्र के द्वारा भूमि पर उन पिण्डों को देखकर, कौसल्या रनवास की समस्त

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा । उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९॥
इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः । राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥ १०॥
तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः । नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११॥
चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि । कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२॥
अतो दुःखतरं लोके न किंचित्प्रतिभाति मे । यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान् ॥ १३॥
रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे । कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४॥
श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे । यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ १५॥]
एवमार्ता सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा । ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥१६॥
सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं संप्रेक्ष्य मातरः । आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७॥
तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् । मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥१८॥
ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः । प्रममार्जू रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥१९॥
सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातॄः संप्रेक्ष्य दुःखितः । अभ्यवादयतासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥२०॥
यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः । वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥२१॥
सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता । श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥२२॥
तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा । वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥२३॥

स्त्रियों से यह बोली—॥९॥ इक्ष्वाकुनाथ महात्मा राजा दशरथ के लिये, रामचन्द्र के द्वारा यथाविधि दिये हुए इन पिण्डों को देखो ॥१०॥ पृथ्वी के उत्तम भोग करने वाले, देव के समान महात्मा महाराज के लिये यह भोजन मैं उचित नहीं समझती ॥११॥ चारों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के समस्त भोग करने वाले महेन्द्र के समान चक्रवर्ती सम्राट् महाराज इन इङ्गुदी के पिण्डों को कैसे खायेंगे ॥१२॥ इससे बढ़कर संसार में और कोई दुःख मुझे प्रतीत नहीं होता, जो समृद्धिशाली राम अपने पिता के लिये इङ्गुदी के थोड़े से चूर्णों को देवें ॥१३॥ रामचन्द्र के द्वारा अपने पिता के लिये दिये हुये इस इङ्गुदी के पिण्ड को देखकर दुःख से मेरा हृदय सैकड़ों टुकड़े कैसे नहीं हो जाता ॥१४॥ संसार की यह किंवदन्ती मुझे आज सत्य प्रतीत हो रही है कि पुरुष जो अन्न खाता है उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं ॥१५॥‡ दुःखी राजा दशरथ की अन्य स्त्रियों ने कौसल्या को उस समय आश्वासन देकर आगे आश्रम में स्वर्ग से आए हुए देव के समान रामचन्द्र को देखा ॥१६॥ सर्व सुलभ भोगों से हीन रामचन्द्र को देखकर शोककर्शित, दुःखी माताएँ अश्रुपात करती हुई जोर से रोने लगीं ॥१७॥ सत्यव्रतधारी नरकेसरी रामचन्द्र ने उठकर उन माताओं के चरण कमलों को स्पर्श कर प्रणाम किया ॥१८॥ विशाल नेत्रोंवाली उन माताओं ने अपने सुख स्पर्श, कोमल अंगुलि वाले शुभ हाथों से, रामचन्द्र की पीठ की धूलि का परिमार्जन किया ॥१९॥ दुःखी लक्ष्मण ने भी उन माताओं को देखकर रामचन्द्र के अनन्तर प्रेम-पूर्वक उनका अभिवादन किया ॥२०॥ जैसा व्यवहार उन माताओं ने रामचन्द्र के साथ किया, वैसा ही व्यवहार दशरथ के पुत्र शुभ लक्षण वाले लक्ष्मण के साथ किया ॥२१॥ दुःखित जानकी ने भी अपनी सासुओं के चरणों को छूकर प्रणाम किया तथा आँखों में आँसू भरकर उनके सामने खड़ी हो गई ॥२२॥ वनवास के दुःखों से उस सीता को गोद में लेकर दुःखित कौसल्या उससे इस प्रकार बोली जैसे माता अपनी पुत्री से बोलती है ॥२३॥ विदेह राजकुमारी राजा दशरथ की पुत्रवधू तथा यशस्वी रामचन्द्र की धर्मपत्नी सीता

‡ देखो टिप्पणी पृ० ५०१

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च। रामपत्नी कथं दुःखं संप्राप्ता निर्जने वने ॥२४॥
पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्। काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥२५॥
मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्। भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसंभवः ॥२६॥
ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः। पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥२७॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥२८॥
ततो जघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवानुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥२९॥
उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यवांस्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम्।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिर्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥३०॥
किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥३१॥
स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे मातृदर्शनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥१०३॥

इस विजन वन में इस प्रकार क्यों दुःख भोग रही है ॥२४॥ घाम से सूखे हुये पद्म के समान, मसले हुये रक्त कमल के समान, धूल धूसरित काञ्चन के समान, मेघ से आच्छन्न चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुख मण्डल को देखकर, हे सीते ! दुःख रूपी अरणी से उत्पन्न यह मानसिक शोकाग्नि मुझको जला रही है ॥२५, २६॥ दुःखी माताओं के इस प्रकार बोलते हुये भरत के ज्येष्ठ बन्धु मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने अपने पूज्य गुरु वसिष्ठ के चरणों को छूकर प्रणाम किया ॥२७॥ देदीप्यमान अग्नि के समान बृहस्पति को जैसे इन्द्र ने प्रणाम किया, उसी प्रकार तेजस्वी रामचन्द्र अपने पूज्य गुरु वसिष्ठ को प्रणाम कर बैठ गये ॥२८॥ रामचन्द्र के बैठ जाने के पश्चात् अपने मन्त्रियों के, प्रधान कुल-वासियों के तथा सैनिकों के और अन्य धर्मात्माओं के साथ भरत रामचन्द्र के पास ही नीचे स्थान पर बैठ गये ॥२९॥ पास में बैठे हुये भरत ने अपने कान्ति से जाज्वल्यमान, तपस्वी वेष में रामचन्द्र को हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रणाम किया, जैसे इन्द्र ने ब्रह्मा को प्रणाम किया था ॥३०॥ श्री रामचन्द्र को प्रणाम करके तथा उनका सत्कार करके यह तपस्वी भरत अब उनसे क्या कहेंगे, इस प्रकार यह जानने का कौतूहल उन सभी शिष्ट जनों के मन में हुआ ॥ ३१ ॥ सत्यव्रतधारी रामचन्द्र, भरत तथा लक्ष्मण उन अपने मित्र नगरवासी लोगों से घिरे हुये इस प्रकार शोभा को प्राप्त हुये जैसे सदस्य ऋत्विजादिकों के बीच में अग्नित्रय (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) शोभा को प्राप्त होती हैं ॥३२॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'माता का दर्शन' विषयक एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

रामभरतसंवादः

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम् । लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥
किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया । यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः । हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
इत्युक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना । प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् । गतः स्वर्गं महाबाहो पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥
स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप । चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥
सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता । पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥
तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि । अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥
इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः । त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
तदानुपूर्व्या युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद । राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥
भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया । शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥
एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया । भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥
तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं प्रकृतिमण्डलम् । पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

एक सौ चौथा सर्ग

राम और भरत का संवाद

गुरु के आज्ञाकारी अपने भाई भरत को स्वस्थ जानकर अनुज लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र ने पुनः भरत से पूछना आरम्भ किया ॥ १ ॥ हे भरत ! मैं तुम्हारे मुख से यह सुनना चाहता हूँ कि जटावल्कल धारण कर तुम इस देश में क्यों आये ॥ २ ॥ काला मृगचर्म तथा जटिल अवस्था में राज्य छोड़ कर जिस कारण तुम ने वन में प्रवेश किया है, उसे आद्योपान्त सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ कैकेयी पुत्र भरत को आलिङ्गन कर के पुनः रामचन्द्र ने ऐसा पूछा तो भरत ने हाथ जोड़ कर उनको उत्तर दिया ॥ ४ ॥ हे महाबाहु रामचन्द्र ! स्त्री की प्रेरणा से आपको छोड़कर इस प्रकार अनर्थकारी कार्य को कर के पुत्रशोक से पीड़ित पिताजी स्वर्गवासी हो गये ॥ ५ ॥ हे शत्रुतापी रामचन्द्र ! स्त्री मेरी माता कैकेयी के द्वारा यह जो काम हुआ है, वह महान् अपयश तथा पापपूर्ण कार्य हुआ है ॥ ६ ॥ उस मेरी माता ने राज्य का फल तो प्राप्त नहीं किया, प्रत्युत विधवा होकर शोक से कर्शित, महान् अपयश रूपी नरक में पड़ेगी ॥ ७ ॥ इसलिये मुझ अनन्य दास पर आप कृपा करें और आज ही चलकर आप इन्द्र के समान राजसिंहासन पर अपना अभिषेक करायें ॥ ८ ॥ यह अयोध्या की सारी प्रजा तथा विधवा सब माताएं आप के पास आई हुई हैं, आप इन पर दया करें ॥ ९ ॥ वंशपरम्परानुसार हे सम्मान के देने वाले रामचन्द्र ! यह सम्पूर्ण राज्य आप का ही है। धर्मानुकूल इस राज्य को आप प्राप्त कीजिये तथा मित्रों की कामनाओं को पूर्ण कीजिये ॥ १० ॥ जैसे चन्द्रमा से युक्त शरद् काल की रात्रि शोभा को प्राप्त होती है, वैसे ही यह भूमि आप ऐसे पति को प्राप्त कर अविधवा कहलावे ॥ ११ ॥ इन मन्त्रियों के साथ सिर झुकाकर मैं आप से यह नम्र निवेदन करता हूँ—इस अपने भाई, शिष्य तथा दास मुझ पर आप दया करें ॥ १२ ॥ यह सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल सदा हमारे वंश से परम्परा-पूजित चला आ रहा है। हे नरकेसरी ! इनकी प्रार्थना का अतिक्रमण आपको नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ इस प्रकार विशाल भुजा वाले कैकेयी-पुत्र भरत ने आँखों

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः। रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥१४॥
तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः। भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥१५॥
कुलीनः सत्त्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः। राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥१६॥
न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन। न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि॥१७॥
कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ। उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥१८॥
वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः। भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि॥१९॥
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्। राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥२०॥
यावत्पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते। तावद्धर्मभृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥२१॥
एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव। मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥२२॥
त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम्। वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥२३॥
एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ। व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥२४॥
स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव। पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥२५॥
चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः। उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना॥२६॥

में आँसू भर कर श्री रामचन्द्र के चरणों में पुनः सिर झुका दिया ॥१४॥ उस मतवाले गजराज के समान बार-बार लम्बी सांस लेने वाले अपने भाई भरत का आलिङ्गन कर श्री रामचन्द्र बोले ॥ १५ ॥ सम्भ्रान्त कुल में उत्पन्न होने वाला, बुद्धिमान्, तेजस्वी, व्रती जीवन व्यतीत करने वाला मेरे समान व्यक्ति राज्य के लिये इस प्रकार का पाप कैसे करेगा ॥ १६ ॥ हे शत्रुसूदन ! तुम में कोई सूक्ष्म भी दोष नहीं देख पाता हूँ । बाल स्वभाव में आकर इस प्रकार माता की निन्दा मत करो ॥ १७ ॥ हे निष्कलङ्क भाई भरत ! अपने आश्रय में रहने वाले स्त्री और पुत्रों पर गुरुजनों का सदा से अधिकार माना गया है। (इसलिये उनकी आज्ञाओं का सदा सम्मान करना चाहिये)॥ १८ ॥ हे सौम्य ! इस लोक में जैसे स्त्री, पुत्र, शिष्य हम सभी लोग बड़ों की आज्ञा मानने के अधिकारी हैं, वैसे ही आप अपने को भी समझें ॥ १९ ॥ हे सौम्य ! कृष्ण मृगचर्म तथा चीरवसन पहना कर पिताजी मुझे वन में भेज सकते हैं या राज्य दे सकते हैं, उनको यह सभी अधिकार है ॥ २० ॥ हे धर्मज्ञ ! विश्ववन्द्य पिता में जितना आदर सन्तान को करना चाहिये, उतना ही आदर माता में भी करना चाहिये, यही धर्मशास्त्र का निर्णय है ॥ २१ ॥ अब जब कि माता-पिता दोनों ने मुझे वन में जाने की आज्ञा दी है, तो उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर के यह अन्याय मैं कैसे करूँगा ॥२२॥ सर्वजन प्रशंसित अयोध्या का राज्य तुम को दिया है तथा वल्कलवसनयुक्त दण्डकारण्य का वास मुझ को मिला है ॥ २३ ॥ सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल तथा गुरुजनों के समक्ष महाराज इस प्रकार का विभाग कर के तथा इसके पालन की आज्ञा देकर स्वयं स्वर्गवासी हो गये ॥ २४ ॥ धर्मात्मा चक्रवर्ती सम्राट् आपके लिये प्रमाण स्वरूप हैं, इस लिये पिता के दिये हुए राज्य का आपको उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥ हे सौम्य ! महात्मा पूज्य पिता के द्वारा दी हुई आज्ञा का पालन करते हुए मैं चौदह वर्ष दण्डकारण्य के वास का उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥ विश्ववन्द्य इन्द्र के समान महात्मा [illegible] पिता जी ने

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं न सर्वलोकेश्वरभावमप्यहम् ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामभरतसंवादो नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

रामवाक्यम्

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः । शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥
रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः । मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥२॥
तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किंचिदब्रवीत् । भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम । तद्ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे । दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥
गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः । अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥
सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते । राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

मुझे जो आज्ञा दी है, मैं उसी में अपना तथा दूसरों का कल्याण समझता हूँ। पिताजी की आज्ञा के विरुद्ध निष्कण्टक राज्य का प्राप्त करना मुझे उचित नहीं ॥ २७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम और भरत का संवाद' विषयक
एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ १०४ ॥

एक सौ पांचवां सर्ग

राम का कथन

उन शुभचिन्तकों से घिरे हुए राम आदि नरशार्दूलों की शोक करते हुए वह रात्रि दुःख पूर्वक व्यतीत हो गई ॥१॥ रात्रि के समाप्त हो जाने पर बन्धु-बान्धावों से युक्त भरत आदि सभी भाई मन्दाकिनी नदी में स्नान करके तथा हवन जप आदि से निवृत्त होकर रामचन्द्र के समीप आये ॥२॥ रामचन्द्र के समीप बैठकर सभी चुप रहे कोई किसी से कुछ बोला नहीं। ऐसी अवस्था में सभी शुभचिन्तकों के बीच भरत रामचन्द्र से यह वचन बोले ॥ ३ ॥ पूज्य पिताजी ने यह राज्य माता को प्रदान कर उनका सम्मान किया, माता ने उस राज्य को मुझे दे दिया। आप का अपना होने के नाते वही राज्य मैं आपको दे रहा हूँ, इस निष्कण्टक राज्य का आप भोग करें ॥ ४ ॥ जल के महावेग से टूटे हुए सेतु के समान इस विस्तृत राज्य का संचालन आपके विना कौन कर सकता है ॥ ५ ॥ जिस प्रकार गर्दभ अश्व की गति का अनुगमन नहीं कर सकता तथा जिस प्रकार अन्य साधारण पक्षी गरुड़ की गति का अनुगमन नहीं कर सकते, उसी प्रकार मैं भी आपकी गति का अनुकरण नहीं कर सकता ॥ ६ ॥ जो अन्य उपजीवी आश्रित लोगों की रक्षा करते हुए जीवन व्यतीत करता है उसी का जीवन उत्तम है। हे रामचन्द्र ! जो पराधीन जीवन व्यतीत करता है उसका जीवन अत्यन्त दुःखमय है ॥७॥ जैसे पुरुष के द्वारा लगाया हुआ वृक्ष शाखा आदि के द्वारा जब बढ़

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः। ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥
स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत्। स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥
एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि। यदि त्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान्न शाधि हि ॥१०॥
श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः। प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिंदमम् ॥११॥
तवानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः। अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥१२॥
तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः। भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥१३॥
तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्। रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥१४॥
नात्मनः कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः। इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥१५॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥१६॥
यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्। एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥१७॥
यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वावसीदति। तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशं गताः ॥१८॥
अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते। यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रं लवणार्णवम् ॥१९॥
अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह। आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥२०॥
आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि। आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥२१॥

जाता है तब छोटे लोग उस पर नहीं चढ़ सकते ॥ ८ ॥ जिसके लिये वृक्ष लगाया जाता है यदि वह वृक्ष बढ़ कर फूल-फल न देवे तो वृक्षारोपण करने वाले को उस पर प्रसन्नता नहीं होती है ॥ ९ ॥ हे विशाल भुजा वाले भाई !रामचन्द्र ! यही उपमा आप अपने लिये समझें, यदि हम अनुजीवियों के आश्रय-दाता होते हुए आप आश्रय नहीं देते हैं तो ॥ १० ॥ हे महाराज ! समाज की सम्पूर्ण श्रेणियों के नेता सूर्य के सदृश तपते हुए आदित्य की तरह सिंहासन पर बैठे हुए आपको देखें ॥ ११ ॥ हे काकुत्स्थ कुलभूषण ! आपके अयोध्या अनुगमन से मतवाले हाथियों का गर्जन आरम्भ हो तथा अन्तःपुर की स्त्रियाँ विश्वास पूर्वक आनन्द का अनुभव करें ॥ १२ ॥ इस प्रकार राम के प्रतिगमन की याचना करते हुए भरत की बातों को सुनकर विविध प्रकार के अयोध्यावासियों ने उनका अनुमोदन किया ॥ १३ ॥ इस प्रकार यशस्वी दुःखित भरत को विलाप करते हुए देख कर शुद्धान्तःकरण व्रती रामचन्द्र ने उन्हें आश्वासन दिया ॥ १४ ॥ अपने सुख-दुःख भोग के लिये मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, इस विषय में वह पराधीन है। उसे भाग्य ही जिधर चाहे उधर ले जाता है ॥१५॥ सभी संगृहीत वस्तुओं का नाश अवश्यंभावी है। उन्नति-पथ पर चलने वालों का पतन भी अपरिहार्य है। संयोग वियोग के साथ-साथ चलता है। इसी प्रकार उत्पन्न होने वालों की मृत्यु भी ध्रुव है ॥१६॥ जैसे पके हुए फलों को पतन के अतिरिक्त और कोई भय नहीं है, उसी प्रकार संसार में उत्पन्न होने वाले प्राणियों को मृत्यु के अतिरिक्त और कोई भय नहीं है ॥१७॥ जैसे दृढ़ खम्भे वाला गृह खम्भे के जीर्ण होने पर धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार प्राणी भी जरा और मृत्यु के आक्रमण से अवसान को प्राप्त हो जाता है ॥१८॥ जो रात्रि बीत जाती है वह फिर लौटकर नहीं आती। यमुना का जल जो समुद्र में चला जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता ॥१९॥ सम्पूर्ण प्राणियों के बीत जाने वाले रात-दिन उनकी आयु को इस प्रकार समाप्त करते हैं जैसे ग्रीष्म काल में सूर्य की किरणें जलाशय को समाप्त कर देती हैं ॥२०॥ तुम अपने लिये चिन्ता करो, अन्यों के लिये तुम चिन्तित क्यों हो रहे हो। चाहे जंगम [illegible] या स्थावर आयु सभी की क्षीण हो रही है ॥२१॥ मृत्यु साथ ही चलती है और साथ ही बैठती है [illegible]र से दूर मार्ग

सदैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति । गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥२२॥
गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः । जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥२३॥
नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ । आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥२४॥
हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् । ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयम् ॥२५॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे । समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥२६॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च । समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥२७॥
नात्र कश्चिद्यथाभावं प्राणी समभिवर्तते । तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥२८॥
यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः । अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥२९॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः । तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥
वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः । आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥
धर्मात्मा स शुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः । धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥३२॥
भृत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् । अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥३३॥
कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः । स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥३४॥
इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् । उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥३५॥

में जा कर भी प्राणियों के साथ में मृत्यु लौट आती है ॥२२॥ शरीर की त्वचा ढीली हो गई, सिर के सभी बाल श्वेत हो गये। वृद्धावस्था के द्वारा जीर्ण हुआ पुरुष अब किस शक्ति को लेकर दूसरों को प्रभावित करेगा ॥२३॥ सूर्योदय के समय मनुष्य आनन्द अनुभव करता है, तथा सूर्यास्त के समय भी आनन्द मनाता है, किन्तु जीवन का एक-एक क्षण समाप्त हो रहा है, इस विषय को वह अपने में आप अनुभव नहीं करता ॥२४॥ नई-नई ऋतुओं के आगमन को देखकर, मनुष्य प्रसन्नता प्रकट करता है, किन्तु इन ऋतुओं के परिवर्त्तन से प्राणियों का एक-एक क्षण में नाश हो रहा है ॥२५॥ जिस प्रकार महासमुद्र में लहरों के द्वारा एक काष्ठ दूसरों के साथ मिल जाता है तथा कुछ देर मिलने के पश्चात् समय पाकर पुनः अलग हो जाता है ॥ २६ ॥ इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति, धन समय से प्राप्त होते हैं, और पुनः इनका वियोग भी हो जाता है, क्योंकि इनका वियोग निश्चित है ॥ २७ ॥ जन्म और मृत्यु के विधान का अतिक्रमण करने वाला इस संसार में कोई प्राणी नहीं है, शोक करने वाले किसी प्राणी में यह सामर्थ्य नहीं है, कि किसी को मृत्यु से बचा ले ॥ २८ ॥ जैसे मार्ग में जाते हुए कोई कहे कि 'मैं भी आपके साथ-साथ चलूँगा' इसी प्रकार पूर्व में जाने वाले पिता पितामहादि जिस मार्ग से गये हैं उसी से हम सब को जाना है, अतः इस अपरिहार्य गति के लिये शोक ही क्या करना ॥ २९,३० ॥ न लौटने वाले नदियों के स्रोत के समान प्रतिदिन आयुको क्षीण होते हुये देखकर अपने आपको सुख-शान्ति के मूलतत्त्व में लगाना चाहिये, क्योंकि यह मानव जन्म विधान पूर्वक सुख-शान्ति को प्राप्त करने के लिये ही मिला है ॥ ३१ ॥ नाना प्रकार के शुभ यज्ञादि, यज्ञ करने वाले तथा भूरि-भूरि दक्षिणा देने वाले पूज्य पिताजी के लिये हे तात भरत ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि सज्जनों से सत्कृत होकर वे स्वयं स्वर्ग में गये हैं ॥ ३२ ॥ भृत्यों के भरण करने से, प्रजा का सम्यक् तरह पालन करने से, धर्मानुकूल प्रजा से कर लेने से, हम लोगों के पिताजी ने स्वर्ग लोक को प्राप्त किया है ॥ ३३ ॥ इष्ट शुभ कर्मों के द्वारा उत्तम दक्षिणा पूर्वक महायज्ञों के द्वारा अधिपति हम लोगों के पूज्य पिता राजा दशरथ ने स्वर्ग प्राप्त किया है ॥ ३४ ॥ नाना प्रका[illegible] यज्ञों के द्वारा, उत्तम पुष्कल भोगों को प्राप्त कर तथा उत्तम दीर्घायु को प्राप्त कर, पृथ्वीप[illegible] दशरथ स्वर्गवासी हुये हैं ॥ ३५ ॥ उत्तम आयु तथा उत्तम भोगों को प्राप्त कर

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः । स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥३६॥
स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः । दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥३७॥
तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति । तद्विधो यद्विधश्चासि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥३८॥
एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा । वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥३९॥
स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम् । तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर ॥४०॥
यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा । तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥४१॥
न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम । स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता॥४२॥
तद्वचः पितुरेवाहं संमतं धर्मचारिणाम् । कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥४३॥
धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना । भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥४४॥
आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ । निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥४५॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामवाक्यं नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

रघुकुल शिरोमणि पूज्य पिताजी ने सज्जनों से सत्कृत होकर स्वर्ग को प्राप्त किया है, इसलिये वह शोक करने योग्य नहीं हैं ।❀ ॥ ३६ ॥ हम लोगों के पूज्य पिताजी राजा दशरथ ने इस जीर्ण मानव-देह को छोड़कर ब्रह्मलोक में विहार करने वाली दैवी सम्पत्ति को प्राप्त किया है ॥ ३७ ॥ मेरे और तुम्हारे समान वेद-शास्त्र का ज्ञाता तथा बुद्धिमान् कोई भी प्राणी पूज्य पिता राजा दशरथ के लिये शोक नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥ इस प्रकार का शोक विलाप तथा रोना, धीर, बुद्धिमान् पुरुषों को प्रत्येक अवस्था में त्याग देना चाहिये ॥ ३९ ॥ हे बोलने वालों में श्रेष्ठ भरत ! तुम स्वस्थ हो जाओ, शोक को त्याग दो, अयोध्यापुरी में जाकर निवास करो, वशी पूज्य पिताजी ने आपको यही आज्ञा दी है ॥ ४० ॥ पुण्यकर्मा पूज्य पिताजी ने जहाँ मेरी नियुक्ति की है, वहाँ पर मैं श्रेष्ठ पिता की आज्ञा का पालन करूँगा ॥ ४१ ॥ हे शत्रुञ्जय भरत ! न्याय पूर्वक की हुई पिता की आज्ञा को मैं छोड़ नहीं सकता, उनकी आज्ञा का आपको भी आदर करना चाहिये । वे हम लोगों के शुभचिन्तक तथा पिता हैं ॥ ४२ ॥ हे रघुकुल शिरोमणि भरत ! धर्मात्माओं से अनुमोदित पूज्य पिताजी की बात को मैं वनवास के कर्म द्वारा पालन करूँगा ॥ ४३ ॥ हे नरकेसरी ! परलोक के जीतने वाले, धर्मात्मा दयावान् पुरुषों को सदा बड़ों की आज्ञा माननी चाहिये ॥४४॥ नरश्रेष्ठ ! हम लोगों के पूज्य पिता राजा दशरथ के शुभ आचरणों को देखकर तुम अपने धार्मिक स्वभाव से शुभ आचरणों का अनुष्ठान करो ॥ ४५ ॥ महात्मा रामचन्द्र ने पिता की आज्ञा पालन करने के लिये अर्थ-रूप वचन अपने छोटे भाई भरत से कह कर, पश्चात् अपनी वाणी को विराम दे दिया ॥ ४६ ॥

इस प्रकार बाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम का कथन विषयक' एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०५॥

❀ ३३—३६ श्लोक मद्रास संस्करण में उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र नहीं ।

षडधिकशततमः सर्गः

भरतवचनम्

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् । ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः । को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम ॥ २ ॥
न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् । संमतश्चासि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥
यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति । यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः॥ ४ ॥
परावरज्ञो यश्च स्यात्तथा त्वं मनुजाधिप । स एवं व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥
अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥
न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् । अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥
प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम् । क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम ॥ ८ ॥
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् । हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ॥ ९ ॥
कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः । जानन् धर्ममधर्मिष्ठं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥ १० ॥
गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च । तातं न परिगर्हेयं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥
को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् । स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन् कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥

एक सौ छठा सर्ग

भरत का कथन

रामचन्द्र के इस प्रकार सारगर्भित वचन कह कर चुप हो जाने के पश्चात् मन्दाकिनी के तट पर प्रजावत्सल, धर्मात्मा रामचन्द्र के प्रति युक्ति पूर्वक वचन धर्मात्मा भरत बोले कि हे शत्रुञ्जय ! इस संसार में आपके समान कौन होगा ॥१, २॥ संसार का कोई दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता और न कोई प्रसन्नता आपको प्रहर्षित कर सकती है, तो भी आप वृद्धों के प्रेम को प्राप्त होते हुये, संशय न होने पर भी संशय की बातें पूछा करते हैं ॥ ३ ॥ जो जीवन और मृत्यु को समान समझता है, जो भाव और अभाव को समान समझता है, जिसकी बुद्धि इस प्रकार की हो उसे संसार की कौन वस्तु दुःखित कर सकती है ॥ ४ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! आपके समान जो तत्त्ववेत्ता हो, वही व्यक्ति विपत्ति को प्राप्त होने पर दुःखी नहीं होता ॥ ५ ॥ हे रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र ! आप देवता के समान आत्मिक बलशाली, महान् आत्मा, सत्यव्रती, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा बुद्धिमान् हैं ॥ ६ ॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त तथा जन्म मृत्यु के रहस्य को जानने वाले, आप जैसे व्यक्ति को संसार का कोई भी असहनीय दुःख दुःखित नहीं कर सकता ॥ ७ ॥ प्रवास के कारण मेरी अनुपस्थिति में क्षुद्रा माता ने मेरे कारण जो महान् पाप किया है, तथा मेरा अनिष्ट किया है, उसके लिये आप मुझको क्षमा करें ॥ ८ ॥ धार्मिक नियमों के बन्धन में होने के कारण ही इस पापकारिणी प्राणान्त दण्ड प्राप्त करने वाली माता को, प्राणान्त दण्ड नहीं दे रहा हूँ ॥ ९ ॥ उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले शुभ कर्म करने वाले, राजा दशरथ से उत्पन्न होकर, धर्माधर्म का ज्ञान रखने वाला मैं इस प्रकार का निन्दित कर्म कैसे कर सकूँगा ॥ १० ॥ वे मेरे गुरु कर्मनिष्ठ वृद्ध पिता तथा राजा इस समय परलोक में हैं, ऐसी अवस्था में मैं इस सभा में उनकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि वे हम सभी लोगों के देवता हैं ॥११॥ धर्म का जानने वाला कौन धर्मात्मा केवल स्त्री को प्रसन्न करने के लिये धर्म अर्थ से हीन इस प्रकार का पाप करेगा ॥ १२ ॥ अन्तकाल में मनुष्यों की बुद्धि विनष्ट हो जाती है, यह प्राचीन

(पृष्ठ १९ का शेष)

कहिये जिन सूत्रों का इस प्रकार क्रम एक दूसरे में आबद्ध है । यदि आप उस क्रम को तोड़ते हैं तो "मन्त्रो-हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तः (क्रमध्वंसनात्) न तमर्थमाह । स वग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।" इस अपराध के भागी बनते हैं कि नहीं । ज़रा गहराई में चलिए तो इस क्रम को तोड़नेवाले वेदविरोधी बौद्ध हैं यह पता चल जायगा । धर्मकीर्ति ने सर्व प्रथम रूपावतार ग्रन्थ लिखकर इस क्रम को तोड़ा है । वेदविरोधी होने के कारण उसे पाणिनि जी का क्रम खटक रहा था । क्योंकि यहाँ (अष्टाध्यायी में) क्रम से चलने पर ही बीच-बीच में आनेवाले वैदिक सूत्रों का अर्थ लगेगा । तभी वैदिक प्रयोग सिद्ध होंगे जैसे—नीचे के सूत्र के 'छन्दसि' क्रममें—

१—क्त्वापि छन्दसि ।७।१।३८ ॥

२—सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः । ७।१।३९॥ इत्यादि १३ तेरह सूत्र हैं उन तेरहों सूत्रों के बाद—

१४—अश्वक्षीर वृष लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि । ७।१।५१ ॥

यह सूत्र आवेगा तब अश्वस्यति वडवा इत्यादि लौकिक प्रयोग बनेंगे । उपर्युक्त तेरह सूत्र तो वैदिक प्रयोग बनाते हैं । बौद्धों को वैदिक प्रयोगों से तो कोई मतलब नहीं था । वे वेदविरोधी जो ठहरे । इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण भी हैं कि लौकिक सूत्रों के साथ वैदिक सूत्रों का भी क्रम है जैसे—१—अतो भिस ऐस् ।७।१।९ ॥

२—बहुलं छन्दसि ।७।१।१० ॥

जब अतो भिस् ऐस् ७।१।९ के साथ छन्दसि बहुलं रहेगा तभी छन्दसि वेद में अतः = अदन्ताद् भिसःस्थाने ऐस् बहुलं भवति । अदन्त (अङ्ग से) भिस् के स्थान में ऐस् बहुल करके होगा (कहीं होगा कहीं नहीं होगा) तो देवेभिः कर्णेभिः इत्यादि प्रयोग भी वेद में देवैः कर्णैः की जगह होते हैं । यों अष्टाध्यायी के बीच बीच में वैदिक सूत्रों का आना बौद्धों को खटकता था । अतः उनके महापण्डित धर्मकीर्ति ने विक्रमी संवत् ११४० में वैदिक सूत्रों को निकाल कर तथा कुछ अन्य सूत्रों को भी कम करके अपना 'रूपावतार' नाम का ग्रन्थ (२६६४ सूत्र युक्त) लिखा । बस अब क्या पूछना है । हमारा देश तो भेडियाधसान का प्रेमी है ही । उसमें भी गुलामी के समय में जब यहाँ मुसलमानी सलतनत चल रही थी । रामचन्द्र दीक्षित ने प्रक्रियाकौमुदी (२४७० सूत्रयुक्त) १४८० विक्रमी संवत् में लिख मारी । उनकी नकल में भट्टोजी दीक्षित ने १६ सोलहवीं सदी में आकर उसी बौद्ध पण्डित की क्रमध्वंसक पद्धति पर अपनी सिद्धान्तकौमुदी लिखकर (३९६५ सूत्र-युक्त) छोड दी । अन्त में बड़े गर्व से कहते भी गये कि

"इत्थं वैदिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम् ।"

मैंने आखीर में (बेमन से) वैदिक शब्दों की भी दिशा मात्र दिखादी है । कहिये जिन वेदों की रक्षा के लिये ही यह शब्दानुशासन महामुनि पाणिनि ने बनाया था । उसका नाश करने वाले ये पण्डितगण कितने भ्रम में हैं कि बौद्ध की नकल में पाणिनिपद्धति का तो विनाश करते हैं और अन्त में वैदिक स्वर लिखकर ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं ।

अष्टाध्यायी की एक विशेषता यह भी है कि इससे भारतीय समाजशास्त्र का भी ज्ञान होता चलता है । देखिये यहाँ दो न्यायाधीश हैं । एक विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् (१।४।२) दूसरा पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) इन दोनों का दो किस्म का न्याय है और इनका क्षेत्र भी बड़ा है । एक तो विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् (१।४।२) दो सूत्रों में विवाद उपस्थित होने पर परको डिग्री देता है । दूसरा पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) पूर्वको ही डिग्री देता है । इनका क्षेत्र भिन्न भिन्न है । विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् १।४।२ तो वृद्धिरादैच् १।१।१ से लेकर ७।१।७४ के सूत्र विभाषितं विशेषवचने तक के परस्पर के विवाद को देखता है । पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ तो वृद्धिरादैच् १।१।१ से लेकर विभाषितं विशेष वचने तक के सूत्रों में किसी सूत्र के साथ यदि ८।२।१ के बाद सूत्र नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्-विधिषु कृति ८।२।२ से लेकर आठवें अध्याय के अन्तिम सूत्र अ अ ८।४।६८ तक के बीच के किसी सूत्र का विवाद खड़ा होगा तो लगेगा और आठ अध्याय के अन्तिम तीन पाद २-३-४ दो-तीन-चार पादों के बीच के सूत्र में ही परस्पर विवाद खड़ा होगा तो भी लगेगा । इस सूत्र का अर्थात् (पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ का) क्षेत्र लम्बा है । उस (विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२) का तो सवासात अध्याय ८।१।७४ तक ही क्षेत्र है जो सीमित है । इस पूर्वत्रा-सिद्धम् ८।२।१ का तो सारी अष्टाध्यायी भर क्षेत्र है । केवल इतना देखना होता है कि किसके साथ किसका झगड़ा है । यदि दोनों का उदाहरण देखना हो तो वह देख सकते हैं—

(शेष पृष्ठ २ पर)

सम्पादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥

